रा. रा. माननीय महोदय बाबूजी श्रीयुक्त

जुगलकिशोरजी मुख्तार महाशयजीको

सादर ~~लेखक~~ संपादकोंकी ओरसे उपहार

लि. पुण्यविजय.

पाटण. ता. २६. ६ १९३६

Shri Atmananda Jain Granth Ratnamala Serial No. 83

BRIHAT KALPA SUTRA

AND

ORIGINAL NIRYUKTI

OF

STHAVIR ARYA BHADRABAHU SWAMI

AND

A Bhashya by Shri Sanghadas Gani Kshamashramana thereon with a Commentary begun by Acharya Shri Malayagiri and Completed by Acharya Shri Kshemakirti.

Volume II

CONTAINING

PRATHAMA UDDESHA

[Pralamba Prakrita & Masakalpa Prakrita]

EDITED BY

GURU SHRI CHATURVIJAYA

AND HIS

SHISHYA PUNYAVIJAYA

THE FORMER BEING THE DISCIPLE OF

PRAVARTAKA SHRI KANTIVIJAYAJI

INITIATED BY

NYAYAMBHONIDHI SHRIMAD VIJAYANANDA SURIJI,

1ST ACHARYA OF

BRIHAT TAPA GACHCHHA SAMVIGNA SHAKHA.

Publishers:—SHRI ATMANAND JAIN SABHA, BHAVNAGAR

Vir Samvat	**2463**	Copies 500	**Atma Samvat**	**40**
Vikrama Samvat	**1992**		**A. D.**	**1936**

Printed by Ramchandra Yesu Shedge,
at the Nirnaya Sagar Press,
26-28, Kolbhat Lane,
Bombay.

Published by Vallabhadas Tribhuvandas
Gandhi, Secretary, Jain
Atmananda Sabha,
Bhavnagar.

श्रीआत्मानन्द-जैनग्रन्थरत्नमालायाः त्र्यशीतितमं रत्नम् (८३)

स्थविर-आर्यभद्रबाहुस्वामिप्रणीतस्वोपज्ञनिर्युक्त्युपेतं

बृहत् कल्पसूत्रम् ।

श्रीसङ्घदासगणिक्षमाश्रमणसङ्कलितभाष्योपबृंहितम् ।

जैनागम-प्रकरणाद्यनेकग्रन्थातिगूढार्थप्रकटनप्रौढटीकाविधानसमुपलब्ध-
'समर्थटीकाकारे'तिख्यातिभिः श्रीमद्भिर्मलयगिरिसूरिभिः
प्रारब्धया बृहद्पोशालिकतपागच्छीयैः श्रीक्षेमकीर्त्या-
चार्यैः पूर्णीकृतया च वृत्त्या समलङ्कृतम् ।

तस्यायं

द्वि ती यो वि भा गः

प्रथम उद्देशः ।

[प्रलम्बप्रकृत-मासकल्पप्रकृतात्मकः ।]

तत्सम्पादकौ—

सकलागमपरमार्थप्रपञ्चनप्रवीण-बृहत्तपागच्छान्तर्गतसंविग्नशाखीय–आद्याचार्य–
न्यायाम्भोनिधि–श्रीमद्विजयानन्दसूरीश(प्रसिद्धनाम–श्रीआत्मारामजी–
महाराज)शिष्यरत्नप्रवर्त्तक-श्रीमत्कान्तिविजयमुनिपुङ्गवानां
शिष्य-प्रशिष्यौ चतुरविजय-पुण्यविजयौ ।

प्रकाशं प्रापयित्री—

भावनगरस्था श्रीजैन-आत्मानन्दसभा ।

वीरसंवत् २४६३
ईस्वी सन १९३६

प्रतयः ५००

विक्रम संवत् १९९२
आत्मसंवत् ४०
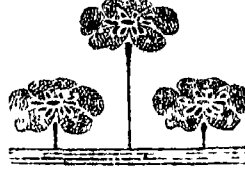
आ फोटो गुरुभक्ति निमित्त भावनगर निवासी वकील नानालाल हरिचंदे

तेमनां मातुश्री बाई गंगाना पुण्यार्थे कराव्यो छे.

अ र्प ण

जे महापुरुषे, स्वर्गवासी गुरुदेव

श्री १००८ श्री विजयानंद सूरीश्वर

(प्रसिद्ध नाम श्री आत्मारामजी महाराज)

नी आज्ञा अने आंतर इच्छाओने शिरोधार्य करी तेमज

तेने सांगोपांग पार उतारवा अथाग प्रयत्न सेवी.

एमना पवित्र पट्टने शोभावनार ए

ए. धर्मधुरंधर धर्मरक्षक पुरुषसिंह

श्री १००८ श्री विजयवल्लभ सूरीश्वरनी सेवामां

बृहत्कल्पसूत्रनो आ द्वितीय भाग

सादर अर्पण करीए छीए.

चरणसेवको—

मुनि चतुर विजय

अने

पुण्य विजय.

Phoenix P. Works, Kalupur Tankshal Ahmedabad.

बृहत्कल्पसूत्रसंशोधनकृते सङ्गृहीतानां प्रतीनां सङ्केताः ।

भा० पत्तनस्थभाभापाटकसत्कचित्कोशीया प्रतिः ।

त० पत्तनीयतपागच्छीयज्ञानकोशसत्का प्रतिः ।

डे० अमदावादडेलाउपाश्रयभाण्डागारसत्का प्रतिः ।

मो० पत्तनान्तर्गतमोंकामोदीभाण्डागारसत्का प्रतिः ।

ले० पत्तनसागरगच्छोपाश्रयगतलेहेरुवकीलसत्कज्ञानकोशगता प्रतिः ।

कां० प्रवर्तकश्रीमत्कान्तिविजयसत्का प्रतिः ।

ता० ताडपत्रीया मूलसूत्रप्रतिः भाष्यप्रतिर्वा । (सूत्रपाठान्तरस्थाने सूत्रप्रतिः, भाष्यपाठान्तरस्थाने भाष्यप्रतिरिति ज्ञेयम् ।)

प्र० प्रत्यन्तरे (टीप्पणीमध्योद्धृतचूर्णिपाठान्तः वृत्तकोष्ठकगतपाठेन सह यत्र प्र० इति स्यात् तत्र प्रत्यन्तरे इति ज्ञेयम्, दृश्यतां पृष्ठ २ पंक्ति २७-३२ इत्यादि ।)

मुद्यमाणेऽस्मिन् ग्रन्थेऽस्माभिर्येऽशुद्धाः पाठाः प्रतिषूपलब्धास्तेऽस्मत्कल्पनया संशोध्य (   ) एतादृग्वृत्तकोष्ठकान्तः स्थापिताः सन्ति, दृश्यतां पृष्ठ १० पङ्क्ति २६, पृ० १७ पं० ३०, पृ० २५ पं० १२, पृ० ३१ पं० १७, पृ० ४० पं० २४ इत्यादि । ये चास्माभिर्गलिताः पाठाः सम्भावितास्ते [   ] एतादृक्चतुरस्रकोष्ठकान्तः परिपूरिताः सन्ति, दृश्यतां पृष्ठ ३ पंक्ति ९, पृ० १५ पं० ६, पृ० २८ पं० ५, पृ० ४९ पं० २६ इत्यादि ।

टीकाकृताऽस्माभिर्वा निर्दिष्टानामवतरणानां स्थानदर्शकाः सङ्केताः ।

अनुयो०	अनुयोगद्वारसूत्र
आचा० श्रु० अ० उ०	आचाराङ्गसूत्र श्रुतस्कन्ध अध्ययन उद्देश
आव० हारि० वृत्तौ	आवश्यकसूत्र-हारिभद्रीय-वृत्तौ
आव० नि० गा० आव० निर्यु० गा०	आवश्यकसूत्र निर्युक्ति गाथा
आव० मू० भा० गा०	आवश्यकसूत्र मूलभाष्य गाथा
उ० सू०	उद्देश सूत्र
उत्त० अ० गा०	उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन गाथा
ओघनि० गा०	ओघनिर्युक्ति गाथा
कल्पबृहद्भाष्य	बृहत्कल्पबृहद्भाष्य
गा०	गाथा
चूर्णि	बृहत्कल्पचूर्णि
जीत० भा० गा०	जीतकल्पभाष्य गाथा
तत्त्वार्थ०	तत्त्वार्थाधिगमसूत्राणि
दश० अ० उ० गा०	दशवैकालिकसूत्र अध्ययन उद्देश गाथा
दश० अ० गा० दशवै० अ० गा०	दशवैकालिकसूत्र अध्ययन गाथा
दश० चू० गा०	दशवैकालिकसूत्र चूलिका गाथा
देवेन्द्र० गा०	देवेन्द्र-नरकेन्द्रप्रकरणगत देवेन्द्रप्रकरण गाथा
पञ्चव० गा०	पञ्चवस्तुक गाथा
पिण्डनि० गा०	पिण्डनिर्युक्ति गाथा
प्रज्ञा० पद	प्रज्ञापनोपाङ्गसटीक पद
प्रशम० आ०	प्रशमरति आर्या
मल०	मलयगिरीया टीका
महानि० अ०	महानिशीथसूत्र अध्ययन
विशे० गा०	विशेषावश्यकमहाभाष्य गाथा
विशेषचूर्णि	बृहत्कल्पविशेषचूर्णि
व्य० भा० पी० गा०	व्यवहारसूत्र भाष्य पीठिका गाथा
व्यव० उ० भा० गा०	व्यवहारसूत्र उद्देश भाष्य गाथा

श० उ०	शतक उद्देश
श्रु० अ० उ०	श्रुतस्कन्ध अध्ययन उद्देश
सि० सिद्ध०	सिद्धहेमशब्दानुशासन
सि० हे० औ० सू	सिद्धहेमशब्दानुशासन औणादिक सूत्र
हैमाने० द्विस्व०	हैमानेकार्थसङ्ग्रह द्विस्वरकाण्ड

यत्र टीकाकृद्भिर्ग्रन्थाभिधानादिकं निर्दिष्टं स्यात् तत्रास्माभिरुल्लिखितं श्रुतस्कन्ध-अध्ययन-उद्देश-गाथादिकं स्थानं तत्तद्ग्रन्थसत्कं ज्ञेयम्, यथा पृष्ठ १५ पं० ९ इत्यादि । यत्र च तन्नोल्लिखितं भवेत् तत्र सूचित-मुद्देशादिकं स्थानमेतन्मुद्यमाणबृहत्कल्पग्रन्थसत्कमेव ज्ञेयम्, यथा पृष्ठ २ पंक्ति २-३-४, पृ० ५ पं० ३, पृ० ८ पं० २७, पृ० ११ पं० २७, पृ० ६७ पं० १२ इत्यादि ।

प्रमाणत्वेनोद्धृतानां प्रमाणानां स्थानदर्शक-ग्रन्थानां प्रतिकृतयः ।

अनुयोगद्वारसूत्र—	शेठ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड सुरत ।
अनुयोगद्वारसूत्र चूर्णी—	रतलाम श्रीऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था ।
अनुयोगद्वारसूत्र सटीक मलधारीया टीका —	शेठ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सुरत ।
आचाराङ्गसूत्र सटीक—	आगमोदय समिति ।
आवश्यकसूत्र चूर्णी—	रतलाम श्रीऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था ।
आवश्यकसूत्र सटीक (श्रीमलयगिरिकृत टीका) —	आगमोदय समिति ।
आवश्यकसूत्र सटीक (आचार्य श्रीहरिभद्रकृत टीका) —	आगमोदय समिति ।
आवश्यक निर्युक्ति—	आगमोदय समिति प्रकाशित हारिभद्रीय टीकागत ।
ओघनिर्युक्ति सटीक—	आगमोदय समिति
कल्पचूर्णि—	हस्तलिखित ।
कल्पबृहद्भाष्य—	”
कल्पविशेषचूर्णि—	”
कल्प-व्यवहार-निशीथसूत्राणि—	जैनसाहित्यसंशोधक समिति ।

जीवाजीवाभिगमसूत्र सटीक—	आगमोदय समिति।
दशवैकालिक निर्युक्ति टीका सह—	शेठ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सुरत।
दशाश्रुतस्कन्ध अष्टमाध्ययन (कल्पसूत्र)—	शेठ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड सुरत।
देवेन्द्रनरकेन्द्र प्रकरण सटीक—	श्रीजैन आत्मानन्द सभा भावनगर।
नन्दीसूत्र सटीक (मलयगिरिकृत टीका)—	आगमोदय समिति।
निशीथचूर्णि—	हस्तलिखित।
पिण्डनिर्युक्ति—	शेठ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड सुरत।
प्रज्ञापनोपाङ्ग सटीक—	आगमोदय समिति।
बृहत्कर्मविपाक—	श्रीजैन आत्मानन्द सभा भावनगर।
महानिशीथसूत्र—	हस्तलिखित।
राजप्रश्नीय सटीक—	आगमोदय समिति।
विपाकसूत्र सटीक—	”
विशेषणवती—	रतलाम श्रीऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था।
विशेषावश्यक सटीक—	श्रीयशोविजय जैन पाठशाला बनारस।
व्यवहारसूत्रनिर्युक्ति भाष्य टीका—	श्रीमाणेकमुनिजी सम्पादित।
सिद्धप्राभृत सटीक—	श्रीजैन आत्मानन्द सभा भावनगर।
सिद्धहेमशब्दानुशासन—	शेठ मनसुखभाई भगुभाई अमदावाद।
सिद्धान्तविचार—	हस्तलिखित।
सूत्रकृताङ्ग सटीक—	आगमोदय समिति।
स्थानाङ्गसूत्र सटीक	”

प्रासंगिक निवेदन ।

प्रस्तुत निर्युक्ति-भाष्य-वृत्तिसहित बृहत्कल्पसूत्रना बीजा विभागना संशोधनमाटे अमे ते ज अने तेटली ज हस्तलिखित प्रतिओ कामे लीधी छे जे अने जेटली प्रतिओ पीठिका विभागना संशोधनमां कामे लीधी छे । ए प्रतिओनो विस्तृत परिचय पीठिका विभागमां (मुद्रित प्रथम विभागमां) आप्या पछी आ विभागमां पुनः ए प्रतिओनो परिचय आपवानी आवश्यकता रहेती नथी ।

मात्र पीठिकाविभागना 'लिखित प्रतिओनो परिचय'मां निर्युक्ति-भाष्य-वृत्तिसहित बृहत्कल्पसूत्रना खंडो–विभागोना संबंधमां अमे जणाव्युं छे के "पाटण खंभात लींबडी जेसलमेर आदिना भंडारोमांनी ताडपत्र उपर लखाएल प्रतिओ त्रण खंडमां अने कागळ उपर लखाएल प्रतिओ चार खंडमां लखाएल नजरे पडे छे" आ संबंधमां अमारे अहीं मात्र एटलुं ज उमेरवानुं छे के चालु बृहत्कल्पसूत्रनी ताडपत्रीय प्रतिओनी जेम केटलीक वार कागळनी प्रतिओ पण त्रण खंडमां लखाएली जोवामां आवे छे अने ए रीते अमारा पासे पाटण–भाभाना पाडाना भंडारनी कागळनी जे प्रति छे ए त्रण खंडमां लखाएली छे ।

प्रतिओना खंडो केटलीक वार पुस्तक लखनार-लखावनारनी गफलतने लीधे अनियत रीते लखाएला जोवामां आवे छे । दाखला तरीके दरेक हस्तलिखित प्रतोमां प्रथमखंडनी समाप्ति मासकल्पप्रकृतनी पूर्णता थाय छे त्यां थाय छे ज्यारे भाभाना पाडानी प्रतिमां २०५० गाथाना अवतरण पछी थाय छे (जुओ मुद्रित विभाग पत्र ५९३ पंक्ति २ अने टिप्पणी १) । आ ठेकाणे खंडनी समाप्ति थवी ए मात्र लखनार-लखावनारनी गफलतनुं ज परिणाम छे । कारण के ते पछी थोडे ज अंतरे मासकल्पप्रकृतनी समाप्ति थाय छे ।

मुद्रित प्रथम विभागमां पीठिकानो समावेश करवामां आव्यो छे अने ते पछीना आ बीजा विभागमां प्रथम उद्देशनी शरुआत थाय छे । ए उद्देशनां बे प्रकृतोनो–प्रकरणोनो अर्थात् 'प्रलंबप्रकृत' अने 'मासकल्पप्रकृत'नो आ विभागमां समावेश थाय छे । प्रथम उद्देशनां एकंदर पचास सूत्रो छे ए पैकीनां नव सूत्रोनो ज मात्र आ विभागमां समावेश थयो छे । आ पछीना मुद्रित त्रीजा विभागमां प्रथम उद्देश समाप्त थइ चूक्यो छे ।

आ विभागमां प्रलंबप्रकृत अने मासकल्पप्रकृत ए बे विभागो पाडवामां आव्या छे ए अमे पाड्या नथी परंतु भाष्यकार-चूर्णीकारना जमानाना ए विभागो छे ।

प्रतिओनी समविषमता—पीठिकाविभागमां प्रतिओनो परिचय आपतां अमे जणाव्युं छे के "कां० प्रति मो० ले० प्रतिओनी साथे समानता धरावे छे" परंतु अमे जेम जेम आगळ चाल्या तेम तेम कां० प्रति घणी खरी वार बधीये प्रतिओथी जुदी पडी गई छे । अमने लागे छे के कां० प्रतिनो आदर्श जे प्रति उपरथी थयो छे तेमां गमे तेणे

गमे त्यारे अने गमे ते कारणे केटलीक वार बहुज फेरफार कर्यो छे । आ फेरफार केटलीक वार संगत अने ठीक पण होय छे अने केटलीक वार तद्दन साधारण पण होय छे । केटलीक वार नवो फेरफार करतां भूलथी पहेलाना पाठो काढी नाखवा रही गया छे तेवे ठेकाणे नवा-जुना पाठोनुं खीचडुं थतां गोटाळो पण थइ गयो छे । अस्तु ए गमे तेम हो पण एवा पाठो जोतां आपणने खात्री थाय छे के आ जातनो सुधारो वधारो कोइए पाछळथी इरादा पूर्वक कर्यो छे । कां० प्रति घणी खरी वार भा० प्रतिना पाठभेद साथे अंत सुधी मळती पण रही छे । कां० भा० प्रतिना खास खास पाठभेदोने अमे टिप्पणमां ज नोंध्या छे अने मो० ले० त० डे० प्रतिना पाठोने ज मुख्यत्वे करीने मूळमां राख्या छे । खास करी चाली शके त्यांसुधी मो० ले० प्रतिना पाठोने ज मूळमां राखवा यत्न कर्यो छे।

प्रस्तुत प्रकाशनना संशोधन माटे निर्युक्ति-भाष्य-वृत्तिसहित बृहत्कल्पसूत्र प्रथमखंडनी एकंदर अमे जे छ प्रतो भेगी करी छे तेमां मो० ले० प्रतिनो एक वर्ग छे, त० डे० नो बीजो वर्ग छे, कां० त्रीजो वर्ग छे अने भा० नो चोथो वर्ग छे । आ चारे वर्गमां केटलीये वार एवुं बन्युं छे के अमुक उपयोगी पाठ अमुक एक ज वर्गमां होय अने बीजा वर्गनी प्रतिओमां ए पाठ सदंतर पडी ज गयो होय; आवे स्थळे घणी खरी वार अमे ते ते उपयोगी पाठने ◁ ▷ आवा चिह्नना वचमां मूळमां आपी, कई कई प्रतोमां ए पाठ नथी अथवा कई प्रतमां ए पाठ छे ए अमे नीचे टिप्पणीमां जणाव्युं छे ।

प्रस्तुत विभागना संशोधनमां तेम ज पाठान्तर वगेरेनी नोंध करवामां अमे गुरु-शिष्ये अति सावधनता राखी छे छतां ए संबंधमां जे स्खलनाओ थई होय ते बदल अमे 'मिथ्यादुष्कृत' दइए छीए । जे महाशयो अमारी स्खलनाओ तरफ अमारुं ध्यान खेंचशे तेनो यथायोग्य साभार स्वीकार करीशुं एटलुं कही विरमीए छीए ।

निवेदक—गुरु-शिष्य
मुनि चतुरविजय-पुण्यविजय

॥ अर्हम् ॥

बृहत्कल्पसूत्र द्वितीय विभागनो विषयानुक्रम ।

प्रथम उद्देश ।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

॥ अर्हम् ॥

पूज्यश्रीभद्रबाहुस्वामिविनिर्मितस्वोपज्ञनिर्युक्त्युपेतं

बृहत् कल्पसूत्रम् ।

श्रीसङ्घदासगणिक्षमाश्रमणसूत्रितेन लघुभाष्येण भूषितम् ।

आचार्यश्रीमलयगिरिपादविरचितयाऽर्धपीठिकावृत्त्या तपाश्रीक्षेमकीर्त्याचार्यवरानुसन्धितया शेषसमग्रवृत्त्या समलङ्कृतम् ।

प्रथम उद्देशः ।

[प्रलम्बप्रकृत-मासकल्पप्रकृतात्मकः द्वितीयो विभागः]

बृहत्कल्पसूत्रद्वितीयविभागस्य शुद्धिपत्रकम्

पत्रम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२७५	२९	°स्स गीयत्थे	°स्सऽगीयत्थे
२८४	१९	षड	षड्
२८५	८	यदुक्त	यदुक्तम्
२८७	२१	पश्चात्कृतः	'पश्चात्कृतः'
३०३	१३	तुल्ले राग°	तुल्लेऽराग°
३२५	१२	गाहित्तए	गाहित्तए,
३४४	३१	३	६
३५६	२८	सुमतयः	सुमतयः ।
३९२	२१-२२	[किं प्रमत्तः]	(किमु प्रमत्तः)
३९५	१०	°सुत्त°	°सत्त°
४४६	१८	एकैक°	एकैक°
४७६	१८	चार्थो-	वाऽर्थो-
४७६	१९	असई इ	असईइ
४८८	२४	प्रतिलेख निका°	प्रतिलेखनिका°
५०१	२४	कारणैःसङ्घा°	कारणैः सङ्घा°
५२१	३३	'इतरत्'	'इतरत्' भा० ॥
५२४	२६	अर्भूत°	अन्तर्भूत°
५५१	२५	अथापमा°	अथावमा°
५५६	७	आवृत्त्य	आवृत्य
५८८	३१	दा	दो
६०४	२८	किमुक्तं ॥	किमुक्तं त० डे० कां० ॥
६०६	३१	मात्रकं-	मात्रक-

॥ णमो त्थु णं अणुओगमहत्तराणं सुयहराणं ॥

पूज्यश्रीभद्रबाहुस्वामिसंदृब्धस्वोपज्ञनिर्युक्तिसमेतं

बृहत्कल्पसूत्रम् ।

श्रीसङ्घदासगणिक्षमाश्रमणसूत्रितेन लघुभाष्येण भूषितम् ।

तपाश्रीक्षेमकीर्त्याचार्यविहितया वृत्त्या समलङ्कृतम् ।

प्रथम उद्देशः ।

[प्रलम्बसूत्राधिकारः ।]

अथानुगमद्वारम् । स चानुगमो द्विधा—निर्युक्त्यनुगमः सूत्रानुगमश्च । निर्युक्त्यनुगमस्त्रिविधः—निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम उपोद्धातनिर्युक्त्यनुगमः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमश्च । तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोभिहितः, ओघनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययनपदस्य नामनिष्पन्ने च कल्पपदस्य निक्षिप्तत्वाद् वक्ष्यते च सूत्रालापकनिष्पन्ने सूत्रपदानां निक्षेप्स्यमानत्वात् १ । उपोद्धातनिर्युक्त्यनुगमः पुनराभ्यां द्वारगाथाभ्यामनुगन्तव्यः । तद्यथा— 5

उद्देसे निद्देसे, य निग्गमे खेत्त काल पुरिसे य ।
कारण पच्चय लक्खण, नए समोयारणाऽणुमए ॥ (आव० नि० गा० १४०)
किं कइविहं कस्स कहिं, केसु कहं केच्चिरं हवइ कालं ।
कइ संतरमविरहियं, भवाऽऽगरिस फासणनिरुत्ती ॥ (आव० नि० गा० १४१)

अनयोरर्थो **मूलावश्यकादिटीकातो**ऽवसातव्यः २ । सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमः सूत्रपदव्या- 10 ख्यानरूपः, स चावसरप्राप्तोऽपि नाभिधीयते; कुतः ? इति चेत्, उच्यते—सूत्रमेव तावदद्यापि न प्राप्यते, अतः सूत्राभावात् कस्य स्पर्शनं करोत्वसौ ? इति, अतः क्रमप्राप्ते सूत्रानुगमे यदा सूत्रं वक्ष्यते तदैव लाघवार्थं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमपि वक्ष्याम इति । ननु यदि इयमत्र प्राप्तावसराऽपि नोच्यते ततः कस्मादत्रावसरे पठ्यते ? उच्यते—(ग्रन्थाग्रम्—२०००) निर्युक्तिमात्रसाम्याद् असावत्राभिधीयत इत्यदोषः ३ । अथ सूत्रानुगमः, स चेदानीमवसरप्राप्त एवेत्यत्र सूत्रानुगमे सूत्र- 15 मुच्चारणीयम्, ततः सूत्रालापकनिक्षेपेण निक्षेपणीयम्, ततोऽपि सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या तदेव विस्तारणीयम् । अत्र च सूत्रानुगमादीनामित्थं विषयविभागव्यवस्था द्रष्टव्या—पदच्छेदसहि-

तथा संहितया सूत्रमुच्चार्य सूत्रानुगमः कृतार्थो भवति, नामादिनिक्षेपविनियोगं विधाय सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपः, पदार्थ-पदविग्रह-चालना-प्रत्यवस्थानलक्षणव्याख्याचतुष्टये कृते सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः। नैगमादयो नया अपि प्रायः सूत्रगतपदार्थादिगोचरा इति तत्त्वतो नयलक्षणं चतुर्थमनुयोगद्वारमपि सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यन्तःपाति प्रतिपत्तव्यम्।

5 तथा चाह श्री**जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण**पूज्यः—

होइ कयत्थो वोत्तुं, सपयच्छेयं सुयं सुयाणुगमो।
सुत्तालावगनासो, नामाइन्नासविणिओगं॥ (विशे० गा० १००९)
सुत्तप्फासियनिज्जुत्तिनिओगो सेसओ पयत्थाई।
पायं सो च्चिय नेगमनयादिमयगोअरो होइ॥ (विशे० गा० १०१०)

10 एते च सूत्रानुगमादयः सूत्रेण समकमेव व्रजन्ति। यत उक्तम्—

सुत्तं सुत्ताणुगमो, सुत्तालावगगओ य निक्खेवो।
सुत्तप्फासियनिज्जुत्ती, नया य वच्चंति समगं तु॥

तत्र प्रथमं सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम्, तच्चाहीनाक्षरादि गुणोपेतम्। तद्यथा—अहीनाक्षरम् अनत्यक्षरम् अव्याविद्धाक्षरं अस्खलितम् अमिलितम् अव्यत्याम्रेडितं प्रतिपूर्णं प्रतिपूर्णघोषं 15 कण्ठौष्ठविप्रमुक्तं गुरुवाचनोपगतम्। एवं च सूत्रे समुच्चारिते सति केषाञ्चिद् भगवतामुद्घटितज्ञानां केचिदर्थाधिकारा अधिगता भवन्ति, केचित् पुनरनधिगताः, ततोऽनधिगतार्थाधिगमनाय व्याख्या प्रवर्त्तते। अत्रान्तरे "निक्खेवे" (गाथा १४९) इत्यादि मूलगाथासूचितं सूत्रार्थद्वारं समापतितम्। तच्चेदं सूत्रम्—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे तालपलंबे
20 **अभिन्ने पडिगाहित्तए॥ [सूत्रम् १]**

अस्य च व्याख्या षोढा। तद्यथा—

संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः।
चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा॥

तत्र संहिता— नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा आमं तालप्रलम्बमभिन्नं प्रतिग्रहीतुम् १।

25 अथ पदमिति पदविच्छेदः कर्त्तव्यः। स चायम्—नो इति पदं कल्पते इति पदं निर्ग्रन्थानामिति पदं वा इति पदं निर्ग्रन्थीनामिति पदं वा इति पदम् आममिति पदं ताल इति पदं प्रलम्बमिति पदं अभिन्नमिति पदं प्रतिग्रहीतुमिति पदमिति गतः पदविच्छेदः २।

अथ पदार्थ उच्यते—स च चतुर्द्धा, तद्यथा—कारकविषयः समासविषयः तद्धितविषयो निरुक्तविषयश्च। तत्र कारकविषयः पचतीति पाचकः, पठतीति पाठकः, भुज्यत इति भोज-30 नम्, स्नाति जनोऽनेनेति स्नानीयं चूर्णम्, दीयतेऽस्मै इति दानीयोऽतिथिः, बिभेति जनोऽस्मादिति भीमः, शेरतेऽस्यामिति शय्या इत्यादि। समासविषयो यथा—आरूढो वानरो यं वृक्षं स आरूढवानरो वृक्ष इति बहुव्रीहिः १, गङ्गायाः समीपमुपगङ्गमित्यव्ययीभावः २, राज्ञः पुरुषो

१ °लक्षणं तुर्यानुयो° भा०॥

राजपुरुष इति तत्पुरुषः ३, नीलं च तदुत्पलं च नीलोत्पलमिति कर्मधारयः ४, चतुर्णां मासानां समाहारश्चतुर्मासी इति द्विगुः ५, धवश्च खदिरश्च पलाशश्च धव-खदिर-पलाशा इति द्वन्द्वः ६ इत्यादि । तद्धितविषयः—नाभेरपत्यं नाभेयः, जिनो देवताऽस्येति जैनः, भद्रबाहुणा प्रोक्तं शास्त्रं भाद्रबाहवमित्यादि । निरुक्तविषयः—भ्रमति च रौति चेति भ्रमरः, मह्यां शेते महिषः, जीवनस्य—जलस्य मूतः—पुटबन्धो जीमूत इत्यादि, कृतं विस्तरेण । एष चतुर्विधोऽपि पदार्थः 5 समस्तो व्यस्तो वा यो यत्र सूत्रे सम्भवति स तत्र योजनीय इति । सम्प्रति प्रकृतसूत्रस्य पदार्थ उच्यते—नोशब्दः प्रतिषेधे, "कृपौङ् सामर्थ्ये" इत्यस्य धातोर्वर्त्तमानाविभक्तेरात्मनेपदीयान्यद-थैकवचनान्तस्य कल्पते इति रूपम्, ततश्च 'नो कल्पते' नो समर्थीभवति, न युज्यते इत्यर्थः । एवं सर्वत्र प्रकृति-प्रत्ययविभागः शब्दशास्त्रानुसारेण स्वधिया योजनीयः । तथा ग्रन्थः—परिग्रहः, स च बाह्या-ऽऽभ्यन्तरभेदाद् द्विधा, बाह्यः क्षेत्र-वास्त्वादिः, आभ्यन्तरः क्रोधादिः, ततो निर्गता 10 ग्रन्थादिति निर्ग्रन्थाः—साधवस्तेषाम् । एवं 'निर्ग्रन्थीनां' साध्वीनाम् । वाशब्दावुभयस्यापि वर्गस्य प्रलम्बकल्प्यताप्रतिषेधमधिकृत्य तुल्यकक्षतासूचकौ । 'आमम्' अपक्वम् । तलः—वृक्षविशेषस्तत्र भवं तालं—तालफलम्, प्रकर्षेण लम्बते इति प्रलम्बं—मूलम्, तालं च प्रलम्बं च तालप्रलम्बं समाहारद्वन्द्वः । 'अभिन्नं' द्रव्यतो अविदारितं भावतोऽव्यपगतजीवम् । किम्? इत्याह—'प्रति-ग्रहीतुम्' आदातुमिति पदार्थः ३ । 15

पदविग्रहस्तु यानि समासभाञ्जि पदानि तेषु, पदार्थमध्य एव वर्णित इति ४ ।

चालना-प्रत्यवस्थाने तु भाष्यगाथाभिरेव सविस्तरं भावयिष्येते इति सूत्रसमासार्थः ॥ अथ[1] भाष्यकारः प्रतिपदमेव सूत्रं व्याचिख्यासुः प्रथमतो नोकारपदं निर्ग्रन्थपदं च व्याख्यानयति—

अकार-नकार-मकारा[2], पडिसेहा होंति एवमाईया ।
सहिरन्नगो सगंथो, अहिरन्न-सुवन्नगा समणा ॥ ८०६ ॥ 20

अकार-नकार-मकारा एवमादयः शब्दाः, अत्राऽऽदिग्रहणाद् नोकारो गृह्यते, एते प्रतिषेधवा-चका द्रष्टव्याः, 'अकरणीयं न करोषि, मा कार्षीः, नो कुरुषे' इत्यादिष्वमीषां प्रतिषेधवा-चिनां प्रयोगदर्शनात् । तथा सहिरण्यकः सग्रन्थ उच्यते, अत्र हिरण्यग्रहणं बाह्या-ऽऽभ्यन्तरपरि-ग्रहोपलक्षणम्, ततो यः सपरिग्रहः स सग्रन्थः । श्रमणाः पुनरहिरण्य-सुवर्णका अतो निर्ग्रन्थाः । हिरण्यं—रूप्यं सुवर्णं—कनकम् । अत्र च "कल्पते" इति पदं सुगमत्वाद् भाष्यकृता न 25 व्याख्यातम्, निर्ग्रन्थीशब्दव्युत्पत्तिरपि निर्ग्रन्थशब्दवद् द्रष्टव्या, लिङ्गमात्रकृतभेदत्वादनयोरिति ॥ ८०६ ॥ अथ नोकारशब्दस्यैव भावनां करोति—

नोकारो खलु देसं, पडिसेहयई कयाइ कप्पिज्जा ।
आमं च अणण्णत्ते, तलो य खलु उस्सए होइ ॥ ८०७ ॥

नोशब्दः प्रायो देशप्रतिषेधे वर्त्तते, यथा "नोघटः" इत्युक्ते घटैकदेशः कपालादिकः प्रतीयते, 30 एवमत्रापि नोकारो देशं प्रतिषेधयति । ततश्चेदमुक्तं भवति—कदाचित् कल्पेत तालप्रलम्बम्, उत्सर्गपदरूपे देशे तावन्न कल्पते आत्यन्तिके पुनरपवादपदे कल्पतेऽपीति भावः । 'आमं च'

[1] अथ सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिविस्तरेण प्रति° भा० ॥ [2] आकर-णकार-मकरा ता० ॥

आमशब्दश्च 'अनन्यत्वे' अनन्यभावे वर्त्तते । किमुक्तं भवति?—पूर्वकालभाविनीमपक्वावस्थामपेक्ष्य तदुत्तरकालभाविनी पक्वावस्था अन्या—अपराऽभिधीयते, तदभावरूपेऽनन्यत्वे अपक्वावस्थायामामशब्दो वर्त्तते । तलशब्दश्चोच्छ्रये भवति, द्राघीयःस्कन्धरूपेणोच्छ्रयेणोच्छ्रितो यो वृक्षविशेषः स तलः—तालवृक्ष इति भावः; तत्र भवं तालं—तालवृक्षफलम् ॥ ८०७ ॥

5 अथ प्रलम्बादिपदानि व्याचष्टे—

पडिलंबणा पलंबं, अविदारिय मो वयंति उ अभिन्नं ।
अहवा वि दव्व भावे, तंपइगहणं निवारेइ ॥ ८०८ ॥

'प्रतिलम्बनात्' प्रति—प्रकर्षेण लम्बत इति 'प्रलम्बम्' तस्यैव तलवृक्षस्य मूलम् । तथा यद् अविदारितं 'मो' इति पादपूरणे तद् वदन्ति श्रुतवेदिनो अभिन्नम् । अथवा अभिन्नं द्विधा—
10 द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतो यद् अविदारितम्, भावतः पुनरव्यपगतजीवम् । 'तत्प्रतिग्रहणं' तस्य—आमतालप्रलम्बस्याभिन्नस्यादानं निवारयति नोकार इति । एष सूत्रपदार्थः ॥ ८०८ ॥

अथ चालना-प्रत्यवस्थाने अभिधीयेते । तत्र सूत्रगोचरमर्थगोचरं वा दूषणं चाल्यते—आक्षिप्यते यया वचनपद्धत्या सा चालना । तथा प्रति इति—परोक्तदूषणप्रातिकूल्येनावस्थीयते अन्तर्भूतण्यर्थत्वादवस्थाप्यते—युक्तिपुरस्सरं निर्दोषमेतदिति शिष्यबुद्धावारोप्यते येन तत् प्रत्यवस्थानं—प्रति-
15 वचनम् । अत्र तावदियं चालना—ननु च सर्वाण्यपि शास्त्राणि माङ्गलिकाभिधानपुरस्सराणि प्रवर्त्तन्ते, इदं तु सूत्रं भवद्भिः प्रतिषेधकत्वात् प्रथमत एवामाङ्गलिकमारब्धम् । तथा चात्र प्रयोगः—अमाङ्गलिकमेतत् सूत्रम्, प्रतिषेधरूपत्वात्, इह यद् यत् प्रतिषेधरूपं तत् तद् अमाङ्गलिकम्, यथा गन्तुं प्रस्थितस्य कस्यापि पुरुषस्य 'मा यासीः' इत्यादि वचनम्, प्रतिषेधरूपं चेदं सूत्रम्, तस्मादमाङ्गलिकम्; एवं परेणोक्ते सति सूरिः प्रत्यवस्थानमाह—

20 **जं गालयते पावं, मं लाइ व कहममंगलं तं ते ।**
जा य अणुण्णा सव्वा, कहमिच्छसि मंगलं तं तु ॥ ८०९ ॥

इह मङ्गलशब्दस्य निरुक्तं पूर्वसूरिभिरित्थमभिधीयते—मां 'लाति' दुर्गतौ पतन्तं गृह्णाति पापं च गालयतीति मङ्गलम् । एतच्च निरुक्तमत्रापि घटते, यत आह—यदिदं "नो कप्पइ" इत्यादि सूत्रं तत् पापं सचित्तवनस्पतिग्रहणरूपं गालयति, तथा मामिति—आत्मद्रव्यं नरकादौ
25 पतन्तं लाति—धारयति तद् एवंविधमपि कथं नाम 'ते' तवामङ्गलं भणितुमुचितम्? न कथञ्चिदित्यर्थः । किञ्च—यदि प्रतिषेधमात्रमेवामङ्गलं भवत इष्टम् ततो या काचिदनुज्ञा पापस्य धर्मस्य वा सा सर्वाऽपि भवतो मङ्गलं प्राप्नोति । यदि नामैवं ततः किम्? इत्याह—'कथं' केन प्रकारेण 'तां' सर्वामप्यनुज्ञां मङ्गलमिच्छसि? । किमुक्तं भवति—यदि पापानुज्ञाऽपि प्रतिषेधविषयविद्वेषमात्रादेव भवता मङ्गलमभ्युपगम्यते तर्हि धर्म-पापानुज्ञयोः सङ्करदोषः प्रसज्येत, उभ-
30 योरपि मङ्गलरूपत्वात्; ततश्चाधर्मस्यापि मङ्गलरूपतया करणीयतापत्तिः स्यात्; न चैतद् दृष्टमिष्टं वा, ततो न सर्वाऽप्यनुज्ञा मङ्गलम् न वा प्रतिषेधः सर्वोऽप्यमङ्गलम्, किन्तु या धर्मस्यानुज्ञा यश्च पापस्य प्रतिषेध एतौ द्वावपि मङ्गलम्, तदितरावनुज्ञा-प्रतिषेधावमङ्गलमिति ॥ ८०९ ॥

अमुमेवार्थं द्रढयन्नाह—

पावाणं समणुण्णा, न चेव सव्वम्मिं अत्थि समयम्मि ।
तं जइ अमंगलं ते, कयरं णु हु मंगलं तुज्झं ॥ ८१० ॥

'पापानां' प्राणिवधादीनां समनुज्ञा नैवास्ति सर्वस्मिन्नपि 'समये' सिद्धान्ते, न केवलमत्रैव सूत्रे इत्यपिशब्दार्थः, किन्तु सर्वत्रापि प्रतिषेध एव; ततो यदि ते 'तत्' तथाविधमपि पापप्रतिषेधकं सूत्रममङ्गलम् ततः कतरद् 'नुः' इति वितर्के 'हुः' निश्चये तव मङ्गलं भविष्यति ?, न 5 किमपीत्यर्थः ॥ ८१० ॥ किञ्च—

पावं अमंगलं ति य, तप्पडिसेहो हु मंगलं नियमा ।
निक्खेवे वा वुत्तं, जं वा नवमम्मि पुव्वम्मि ॥ ८११ ॥

पापं नियमादमङ्गलम्, तत्प्रतिषेधः पुनर्नियमाद् मङ्गलम्, यत एवं ततो माङ्गलिकमेतत् सूत्रमिति । तथा चात्र प्रयोगः—माङ्गलिकं "नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा" (उ० १ 10 सू० १) इत्यादि सूत्रम्, पापप्रतिषेधकत्वात्, इह यद् यत् पापप्रतिषेधकं तत् तद् माङ्गलिकम्, यथा "सव्वे जीवा न हंतव्वा" इत्यादि वचनम्, पापप्रतिषेधकं चेदं सूत्रम्, तस्माद् माङ्गलिकम् । अथवा 'निक्षेपे' नामनिष्पन्नलक्षणे "छव्विह १ सत्तविहे या २, दसविह ३ वीसइविहे य ४ बायाला ५ ।" (गा० २७४) इति पञ्चविधभावकल्पसम्बन्धायातस्य **पञ्चकल्पस्यादौ**

वंदामि **भद्दबाहुं, पाईणं** चरिमसयलसुयनाणिं । 15
सुत्तस्स कारगमिसिं, **दसाण कप्पे य ववहारे** ॥ (गा० १)

इत्यधिकृतसूत्रकारनमस्काररूपं यद् मङ्गलमुक्तम्, यद्वा 'नवमे पूर्वे' **प्रत्याख्यान**नामके प्रथमप्रारम्भे यद् मङ्गलाभिधानं कृतं तेनैवास्य सूत्रस्य माङ्गलिकत्वं मन्तव्यमिति ॥ ८११ ॥ अथेत्थमपि स्थापितं सूत्रस्य माङ्गलिकत्वं स्वाग्रहाभिनिवेशादप्रतिपद्यमानं परमुपलभ्य सूरिरिदमाह—

अद्दागसमो साहू, एवं सुत्तं पि जो जहा वयइ । 20
तह होइ मंगलममंगलं व कल्लाणदेसिस्स ॥ ८१२ ॥

"अद्दाग"त्ति आदर्शः—दर्पणस्तत्समः—तत्सदृशः साधुः । किमुक्तं भवति ?—यथा दर्पणे स्वरूपतो निर्मलेऽपि तत्तदुपाधिवशतः सुन्दरा-ऽसुन्दररूपाणि प्रतिरूपाणि विलोक्यन्ते तथा साधुमपि परममङ्गलभूतं दृष्ट्वा मङ्गलबुद्धिं कुर्वतः प्रशस्तचेतोवृत्तेर्भव्यस्य मङ्गलं भवति, तदितरस्य संक्लिष्टकर्मणो दूरभव्यादेरमङ्गलबुद्धिं कुर्वाणस्यामङ्गलं भवति । 'एवम्' आदर्श-साधुदृष्टान्तेन 25 सूत्रमपि स्वरूपतः परममङ्गलभूतं यो यथा वदति तस्य तथैव 'मङ्गलममङ्गलं वा भवति' मङ्गलबुद्ध्या परिगृह्यमाणं मङ्गलम् अमङ्गलबुद्ध्या तु परिगृह्यमाणममङ्गलं भवतीत्यर्थः । एवं च माङ्गलिकेऽपि सूत्रे यदि त्वममङ्गलबुद्धिं करोषि भवतु तर्हि कल्याणद्वेषिणो भवतोऽमङ्गलम् ॥ ८१२ ॥ किञ्चान्यत्—

जइ वा सव्वनिसेहो, हवेज्ज तो कप्पणा भवे एसा । 30
नंदी य भावमंगल, वुत्तं तत्तो अणन्नमिदं ॥ ८१३ ॥

वाशब्दः प्रत्यवस्थानस्य प्रकारान्तरोपदर्शनार्थः । यद्यत्र सूत्रे 'सर्वनिषेधः' सर्वथैव प्रतिषेधः

१ अत्र टीकाकृदभिप्रायेण °म्मि वऽत्थि इति पाठः स्यात्, न चासौ क्वचिद् दृश्यत इति ॥

स्यात् ततो भवेत् तावकीना प्रतिषेधकत्वादमङ्गलमित्येषा कल्पना। यस्मात् पुनरत्र नोशब्दो देशप्रतिषेध एव वर्त्तते अतः परिफल्गुरियं भवदीया कल्पनेति। यद्वा 'नन्दी च' पञ्चप्रकारज्ञानरूपा भावमङ्गलमुच्यते, तच्च "नंदी य मंगलट्ठा" (गा० ३) इत्यादिना ग्रन्थेन **पीठिकायां** प्रोक्तमेव। यदि नाम प्रोक्तं ततः किमायातम्? इत्याह—'तस्माच्च' नन्दीरूपाद् भावमङ्गलात् 'अनन्यत्' अपृथग्भूतमिदं सूत्रम्, अस्यापि श्रुतत्वात् श्रुतस्य च ज्ञानपञ्चकान्तर्गतत्वादिति भाव इति; अतोऽपि माङ्गलिकमिदम् ॥ ८१३ ॥ तदेवं स्थापितमनेकधा भाष्यकृता सूत्रस्य माङ्गलिकत्वम्। सम्प्रति **निर्युक्तिकृद्** नोशब्दाभिधेयस्य प्रतिषेधस्य निक्षेपमनन्तरोक्तमर्थं च सूचयन्नाह[1]—

पडिसेहम्मि उ छक्कं, अमंगलं सो त्ति ते भवे बुद्धी।
पावाणं जदकरणं, तदेव खलु मंगलं परमं ॥ ८१४ ॥

'प्रतिषेधे' प्रतिषेधविषयं 'षट्कं' नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावलक्षणं निक्षेपणीयम्। तत्र नाम्नः प्रतिषेधः 'न वक्तव्यममुकं नाम' इतिलक्षणः, यथा—

अज्जए पज्जए वा वि, बप्पो चुल्लपिउ त्ति य।
माउलो भायणिज्ज त्ति, पुत्ता नत्तुणिय त्ति य ॥ (दश० अ० ७ गा० १८)
हे हो हले त्ति अन्ने त्ति, भट्टा सामिय गोमिय।
होल गोल वसुल त्ति, पुरिसं नेवमालवे ॥ (दश० अ० ७ गा० १९) इत्यादि।

स्थापना आकारो मूर्तिरिति पर्यायाः, तस्याः प्रतिषेधो यथा—

वितहं पि तहामुत्तिं, जो तहा भासए नरो।
सो वि ता पुट्ठो पावेणं, किं पुणं जो मुसं वए? ॥ (दश० अ० ७ गा० ५)

द्रव्यप्रतिषेधो ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तः पुनरयम्—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए त्ति।

क्षेत्रप्रतिषेधो यथा—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा [रातो वा वियाले वा] अद्धाणगमणं एत्तए (उ० १ सू० ४७)।

कालप्रतिषेधो यथा—

अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥ (दश० अ० ८ गा० २८)

भावप्रतिषेध औदयिकभावनिवारणरूपो यथा—

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो ॥ (दश० अ० ८ गा० ३७) इत्यादि।

अत्र च सूत्रे द्रव्यप्रतिषेधेनाधिकारः[2]। तथा 'स इति' प्रतिषेधोऽमङ्गलमिति 'ते' तव बुद्धिर्भवेत् सा चायुक्ता, यतः पापानां यदकरणं तदेव खलु परमं मङ्गलं ज्ञातव्यमिति पूर्वमेव भावि-

१ "अथेदानीमेनमेवार्थं **सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या** विस्तारयति" इति **चूर्णौ** ॥ २ "भावप्रतिषेधेनेहाधिकारः, शेषास्तदनुषङ्गेण व्याख्याताः। भावप्रतिषेधेऽपि एकेन्द्रियवनस्पतिप्रतिषेधेनाधिकारः" इति **चूर्णिकाराः** ॥

तम् ॥ ८१४ ॥ तदेवमुक्तः सङ्क्षेपतः सूत्रार्थः । सम्प्रति विस्तरार्थं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या प्रतिपादयितुमाह—

आइनकारे गंथे, आमे ताले तहा पलंबे य ।
भिन्नस्स वि निक्खेवो, चउक्कओ होइ एक्केक्के ॥ ८१५ ॥

आदौ नकार आदिनकारः स विचारणीयः । तथा ग्रन्थपदस्य आमपदस्य तालपदस्य प्रल- 5
म्बपदस्य भिन्नपदस्यापि च निक्षेपः 'चतुष्कः' नाम-स्थापना-द्रव्य-भावरूपः कर्त्तव्यो भवति 'एके-
कस्मिन्' एकैकपदविषयः ॥ ८१५ ॥

तत्राऽऽदिनकारपदं विव्रियते । शिष्यः प्रश्नयति—योऽयमादौ प्रतिषेधः स नकारेण भवतु मा नोकारेण, तद्यथा—

"न कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए" । 10

एवं च क्रियमाणे सूत्रं[3] लघु भवति, "मात्रयाऽपि च सूत्रस्य लाघवं महानुत्सवः" इति विद्वत्प्रवादः, नोशब्देन पुनः प्रतिषेधे विधीयमाने सूत्रगौरवं[4] भवति । अत्राचार्यः प्रतिवक्ति—भद्र ! कारणमत्रास्ति यतो नोकारेण प्रतिषेधः क्रियते । आह—किं पुनस्तत् कारणम् ? उच्यते—

पडिसेहो उ अकारो, माकारो नो अ तह नकारो अ[5] ।
तब्भाव दुविहकाले, देसे संजोगमाईसु ॥ ८१६ ॥ 15

प्रतिषिध्यतेऽनेनेति 'प्रतिषेधः' प्रतिषेधको वर्णः, स चतुर्धा—अकारो माकारो नोकारस्तथा नकारश्च । तत्राऽकारस्तद्भावप्रतिषेधं करोति । माकारः पुनर्द्विविधकालविषयं प्रतिषेधम्, तद्यथा—प्रत्युत्पन्नविषयम् अनागतविषयं च । नोकारो देशप्रतिषेधम् । नकारः पुनः 'संयोगादिषु' संयोग-समवाय-सामान्य-विशेषचतुष्टयप्रतिषेधं करोति ॥ ८१६ ॥

तत्राकार-माकार-नोकाराणामुदाहरणान्याह— 20

निदरिसणं अघडोऽयं, मा य घडं भिंद मा य भिंदिहिसि ।
नो उ घडो घडदेसो, तव्विवरीयं च जं दव्वं ॥ ८१७ ॥

◁ निदर्शनमिति जातावेकवचनम्, ततोऽमीषां प्रतिषेधकवर्णानां यथाक्रमं निदर्शनानि । ▷[6] अकारस्य तद्भावप्रतिषेधे निदर्शनं यथा—अघटोऽयमिति, न घटो अघटः, घटव्यतिरिक्तः पटादिकः पदार्थ इत्यर्थः । माकारो वर्त्तमाना-ऽनागतकालप्रतिषेधको यथा—मा घटं भिन्द्धि, मा 25
घटं भेत्स्यसि, चकारौ समुच्चयार्थौ । नोकारो देशप्रतिषेधकस्तदन्यभावसूचको वा यथा—नोघट इत्युक्ते घटैकदेशः कपालादिकोऽवयवः, तद्विपरीतं वा अन्यद् द्रव्यं[7] पटादिकम् ॥ ८१७ ॥

अथ संयोगादिविषयं नकारप्रतिषेधं भावयति—

संजोगे समवाए, सामन्ने खलु तहा विसेसे अ ।
कालतिए पडिसेहो, जत्थुवओगो नकारस्स ॥ ८१८ ॥ 30

१ °थः । "गंथे" त्ति ग्रन्थस्य भेदा वक्तव्याः । तथा आमपदस्य भा० ॥ २ °कः' इति एकैकपद° भा० ॥ ३ सूत्रलाघवं भव° भा० ॥ ४ सूत्रे गौ° भा० ॥ ५ मकर-नोकार तह ता० ॥ ६ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः भा० त० डे० नास्ति ॥ ७ °व्यं द्रव्यादिकम् मो० ले० कां० ॥

संयोगे समवाये सामान्ये विशेषे चेति चतुर्धा प्रतिषेधो नकारस्य भवति । स च प्रत्येकमतीता-ऽनागत-वर्त्तमानलक्षणकालत्रिकविषयत्वादेकैकस्त्रिविध इति सर्वसङ्ख्यया द्वादशविधो नकारप्रतिषेधः । यत्र च क्वापि नकारस्योपयोगो भवति तत्रामीषां द्वादशानां भेदानामन्यतमः प्रतिषेधः प्रतिपत्तव्य इति ॥ ८१८ ॥ अथ संयोगादिषु यथाक्रमं प्रतिषेधमुदाहरति—

5 **नत्थि घरे जिणदत्तो, पुव्वपसिद्धाण तेसि दोण्हं पि ।**
संजोगो पडिसिज्झइ, न सव्वसो तेसि अत्थित्तं ॥ ८१९ ॥
समवाए खरसिंगं, सामन्ने नत्थि चंदिमा अन्नो ।
नत्थि य घडप्पमाणा, विसेसओ होंति मुत्ताओ ॥ ८२० ॥

'नास्ति गृहे जिनदत्तः' इत्यत्र प्रयोगे पूर्वप्रसिद्धयोस्तयोर्गृह-जिनदत्तयोर्द्वयोरपि 'संयोगः' 10 सम्बन्धमात्रं प्रतिषिध्यते न पुनः सर्वथैव तयोरस्तित्वमिति संयोगप्रतिषेधः ॥ ८१९ ॥

समवायप्रतिषेधे तु खरशृङ्गमुदाहरणम्—खरोऽप्यस्ति शृङ्गमप्यस्ति परं खरशिरसि शृङ्गं नास्तीति 'समवायः' एकत्र संश्लेष उभयोरपि प्रतिषिध्यते इति समवायप्रतिषेधः । सामान्यप्रतिषेधो यथा—नास्त्यस्मिन् स्थानेऽन्य ईदृशश्चन्द्रमा इति । विशेषमाश्रित्य पुनरयं प्रतिषेधः—न सन्ति घटप्रमाणाः 'मुक्ताः' मुक्ताफलानीत्यर्थः, सन्ति मुक्ताफलानि परं न घटप्रमाणानीति घट-15 प्रमाणत्वलक्षणस्य विशेषस्य प्रतिषिध्यमानत्वाद् विशेषप्रतिषेधः ॥ ८२० ॥

भावितः संयोगादिचतुष्टयविषयः प्रतिषेधः । सम्प्रति कालत्रयविषयं तमेव भावयति—

नेवाऽऽसी न भविस्सइ, नेव घडो अत्थि इति तिहा काले ।
पडिसेहेइ नकारो, सज्जं तु अकार-नोकारा ॥ ८२१ ॥

नैवासीत् न भविष्यति नैवास्ति घट इति यथाक्रममतीता-ऽनागत-वर्त्तमानभेदात् त्रिधा काल-20 विषयं वस्तु नकारः प्रतिषेधयति । अकार-नोकारौ तु 'सद्यः' वर्त्तमानकालमेव प्रायः प्रतिषेधयतः, यथा—अकरोषि[3] त्वम्, नो कल्पते तालप्रलम्बं प्रतिग्रहीतुमित्यादि । माकारस्य तु द्विविधकालप्रतिषेधकत्वं पूर्वमुक्तमेवेति न पुनरुच्यते ॥ ८२१ ॥

इत्थं सप्रपञ्चं प्रतिषेधमुपवर्ण्य प्रस्तुतार्थयोजनामाह—

जम्हा खलु पडिसेहं, नोकारेणं करेंति णऽण्णोणं ।
25 **तम्हा उ होज्ज गहणं, कयाइ अववायमासज्ज ॥ ८२२ ॥**

यस्मात् खलु प्रतिषेधं नोकारेणैव कुर्वन्ति भगवन्तः सूत्रकृतो नान्येन नकारादिना तत एव ज्ञायते—भवेद् ग्रहणं कदाचित् तालप्रलम्बस्यापवादपदमासाद्येति ॥ ८२२ ॥

व्याख्यातमादि[4]नकारपदम् । अथ ग्रन्थपदम्—तस्य च नामादिभेदाच्चतुर्धा निक्षेपः । तत्र नाम-स्थापने गतार्थे । द्रव्यग्रन्थस्त्रिधा—सचित्ता-ऽचित्त-मिश्रभेदात् । तत्र सचित्तश्चम्पकमाले-30 त्यादि[5], अचित्त एकावलिहारादिकः, मिश्रः शुष्कपत्रमिश्रिता प्रसूनमाला । भावग्रन्थस्तु स

१ °षस्य प्र° मो० ले० कां० ॥ २ "आह माकारस्य कालोपदेशः कृतः, यथा—द्विविधकालप्रतिषेधक इति, न तु शेषाणाम्, तस्मादुच्यतां शेषाणां कालनियम उच्यते ? ण वा ?" इत्यवतरणं **चूर्णौ** ॥ ३ **अकारोषि** डे० मो० ले० ॥ ४ °**मादिनोका**° मो० ले० ॥ ५ °**त्यादिमाला । अचि**° मो० ले० ॥

उच्यते येन क्षेत्र-वास्त्वादिना क्रोधादिना वा अमी जन्तवः कर्मणा सहाऽऽत्मानं ग्रन्थयन्ति । तं च भाष्यकार एव सविस्तरं व्याख्यानयति—

सो वि य गंथो दुविहो, बज्झो अब्भिंतरो अ बोधव्वो ।
अंतो अ चोद्दसविहो, दसहा पुण बाहिरो गंथो ॥ ८२३ ॥

सोऽपि च भावग्रन्थो द्विविधः, तद्यथा—बाह्योऽभ्यन्तरश्च बोद्धव्यः । तत्राभ्यन्तरो ग्रन्थश्च- 5 तुर्दशविधो वक्ष्यमाणः । बाह्यः पुनर्ग्रन्थो 'दशधा' दशप्रकारो वक्ष्यमाण एव ॥ ८२३ ॥

यदि नामैवं द्विविधो ग्रन्थस्ततो निर्ग्रन्थ इति किमुक्तं भवति ? इत्याह—

सहिरण्णगो सगंथो, नत्थि से गंथो त्ति तेण निग्गंथो ।
अहवा निराऽवकरिसे, अवचियगंथो व निग्गंथो ॥ ८२४ ॥

सहिरण्यक इति "एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम्" इति न्यायाद् हिरण्य-सुवर्णादिबाह्यग्रन्थसहित 10 उपलक्षणत्वाद् आन्तरग्रन्थयुक्तश्च सग्रन्थ उच्यते । 'नास्ति' न विद्यते "से" तस्य तथाविधो द्विविधोऽपि ग्रन्थः स निर्ग्रन्थः । अथवा निर्ग्रन्थ इत्यत्र यो निर्शब्दः सः 'अपकर्षे' अपचये वर्तते, ततश्चापचितः—प्रतनूकृतो ग्रन्थो बाह्य आभ्यन्तरश्च येन स निर्ग्रन्थ उच्यते ॥ ८२४ ॥

अथ यदुक्तं "बाह्यो ग्रन्थो दशधा" (गा० ८२३) इति तद् विवरीषुराह—

खेत्तं १ वत्थुं २ धण ३ धन्न ४ संचओ ५ मित्त-णाइ-संजोगो ६ । 15 दश बाह्य ग्रन्थ
जाण ७ सयणा-ऽऽसणाणि य ८, दासी-दासं च ९ कुवियं च १० ॥ ८२५ ॥

'क्षेत्रं' धान्यनिष्पत्तिस्थानम् १, 'वास्तु' भूमिगृहादि २, 'धनं' सुवर्णादि ३, 'धान्यं' बीजजातिः ४, 'सञ्चयः' तृण-काष्ठादिसङ्ग्रहः ५, मित्राणि—सुहृदो ज्ञातयः—स्वजनाः संयोगः—श्वसुरकुलसम्बन्ध इति त्रिभिरप्येक एव ग्रन्थः ६, 'यानानि' वाहनानि ७, 'शयना-ऽऽसनानि च' पल्यङ्क-पीठकादीनि ८, दास्यश्च दासाश्च दासी-दासम् ९, 'कुप्यं च' उपस्कररूपम् १० इति । 20 एष दशविधो ग्रन्थः ॥ ८२५ ॥ अथैनमेव प्रतिभेदं यथाक्रमं व्याचष्टे—

खेत्तं सेउं केउं, सेयऽरहट्टाइ केउ वरिसेणं ।
भूमिघर वत्थु सेउं, केउं पासाय-गिहमाई ॥ ८२६ ॥

क्षेत्रं द्विधा—सेतु केतु च । तत्र "सेयऽरहट्टाइ"त्ति अरहट्टादिना सिच्यमानं यद् निष्पद्यते तत् सेतु, अत्राऽऽदिशब्दात् तडागादिपरिग्रहः । यत् पुनः 'वर्षेण' मेघवृष्ट्या निष्पद्यते 25 तत् केतु । वास्त्वपि सेतु-केतुभेदाद् द्विधा । भूमिगृहं सेतु, प्रासाद-गृहादिकं केतु । तत्र नरेन्द्राध्यासितः सप्तभूमादिरावासविशेषः प्रासादः, गृहं शेषजनाधिष्ठितमेकभूमादिकम्, आदिग्रहणात् कुटी-मण्डपा-ऽपवरकादिकं[3] परिगृह्यते ॥ ८२६ ॥

तिविहं च भवे वत्थुं, खायं तह ऊसियं च उभयं च ।
भूमिघरं पासाओ, संबद्धघरं भवे उभयं ॥ ८२७ ॥ 30

अथवा वास्तु त्रिविधं भवेत्, तद्यथा—खातं तथा उच्छ्रितं च 'उभयं च' खातोच्छ्रित-

१ **दासो दासी य कु॰** ता० ॥ २ भा० कां० विनाऽन्यत्र—**बीजजाति ४** डे० ता० लें० । **बीजादि ४** मो० ॥ ३ **॰पवारिका॰** मो० ले० कां० ॥

मित्यर्थः । त्रिविधमपि क्रमेणोदाहरति—"भूमिघर"मित्यादि । खातं भूमिगृहम् । उच्छ्रितं प्रासादः, उपलक्षणत्वादन्यदप्येकभूम-द्विभूमादिकं गृहमुच्छ्रितम् । यत् पुनः प्रासाद-गृहादिकं भूमिगृहेण सम्बद्धं तद् भवेत् 'उभयं' खातोच्छ्रितम् ॥ ८२७ ॥

घडिएयरं खलु धणं, सणसत्तरसा बिया भवे धन्नं ।
5 **तण-कट्ठ-तेल्ल-घय-मधु-वत्थाई संचओ बहुहा ॥ ८२८ ॥**

यद् घटितम् 'इतरद् वा' अघटितं सुवर्णादिकं तद् धनमुच्यते । तथा शणं सप्तदशं येषां तानि शणसप्तदशानि बीजानि धान्यं भवेदिति । तानि चामूनि—

धान्यसप्तदशकम्

व्रीहिर्यवो मसूरो, गोधूमो मुद्ग-माष-तिल-चणकाः ।
अणवः प्रियङ्गु-कोद्रवमकुष्ठकाः शालिराढक्यः ॥
10 किञ्च कलाय-कुलत्थौ, शणसप्तदशानि बीजानि । इति ।

तथा तृण-काष्ठ-तैल-घृत-मधु-वस्त्रादीनाम् आदिशब्दाद् बुस-पलालादीनां सङ्ग्रहरूपः सञ्चयो बहुधा द्रष्टव्य इति ॥ ८२८ ॥

सहजायगाइ मित्ता, नाई माया-पिईहिँ संबद्धा ।
ससुरकुलं संजोगो, तिण्णि वि मित्तादयो छट्ठो ॥ ८२९ ॥

15 सहजातकादयः सुहृदो मित्राणि, आदिग्रहणात् सहवर्द्धितकाः सहपांशुक्रीडितकाः सहदारदर्शिनश्चेति । ज्ञातयो मातृ-पितृसम्बद्धाः, मातृकुलसम्बद्धाः पितृकुलसम्बद्धाश्चेत्यर्थः । तत्र मातृकुलसम्बद्धाः मातुल-मातामहादयः, पितृकुलसम्बद्धाः पितृव्य-पितामहादयः । श्वसुरकुलं संयोगोऽभिधीयते, किमुक्तं भवति ?—श्वसुरकुलपाक्षिका ये केचित् श्वसुर-श्वश्रू-शालकादयस्तेषां सम्बन्धः संयोग उच्यते । एते मित्रादयस्त्रयोऽपि पक्षाः षष्ठो ग्रन्थः ॥ ८२९ ॥

20 **जाणं तु आसमाई, पल्लंकग-पीढिगाइ अट्ठमओ ।**
दासाइ नवम दसमो, लोहाइउवक्खरो कुप्पं ॥ ८३० ॥

यानमिति जातावेकवचनम्, ततोऽयमर्थः—यानानि पुनरश्वादीनि, आदिशब्दाद् गज-वृषभ-रथ-शिबिकादीनि । तथा पल्यङ्कादीनि शयनानि, पीठिकादीनि च आसनानि, एष शयना-ऽऽसनरूपोऽष्टमो ग्रन्थः । दासादिकः सर्वोऽप्यनुजीविवर्गो नवमो ग्रन्थः । तथा लोहादिक
25 उपस्करः कुप्यमुच्यते । तत्र लोहोपस्करो लोहमयकवल्ली-कुद्दालिका-कुठारादिकः । आदिशब्दाद् मार्त्तिकोपस्करो घटादिकः, कांस्योपस्करः स्थाल-कच्चोलकादिक इत्यादिकः सर्वोऽपि परिगृह्यते । एष दशमो ग्रन्थः ॥ ८३० ॥

प्ररूपितो दशविधोऽपि बाह्यग्रन्थः, सम्प्रति चतुर्दशविधमभ्यन्तरं ग्रन्थमाह—

चतुर्दशप्रकारोऽभ्यन्तरग्रन्थः

कोहो १ माणो २ माया ३, लोभो ४ पेज्जं ५ तहेव दोसो अ ६ ।
30 **मिच्छत्त ७ वेद ८ अरइ ९, रइ १० हास ११ सोगो १२ भय १३ दुगुंछा १४ ॥ ८३१ ॥**

क्रोधो मानो माया लोभश्चेति चत्वारोऽपि प्रतीताः ४ । प्रेमशब्देनाभिष्वङ्गलक्षणो रागोऽभिधीयते ५ । दोषशब्देन त्वप्रीतिकलक्षणो द्वेषः ६ । 'मिथ्यात्वम्' अर्हत्प्रणीततत्त्वविपरीताव-

१ तू रहमाई ता० ॥ २ °ठारिकादि° डे० ॥

बोधरूपम् । तच्च द्विविधं वा त्रिषष्ठ्यधिकशतत्रयभेदं वा अपरिमितभेदं वा । तत्रानाभिग्रहिक-माभिग्रहिकं चेति द्विविधम् । अनाभिग्रहिकं पृथिव्यादीनाम् । आभिग्रहिकं तु षड्विधम्—

नत्थि न निच्चो न कुणइ, कयं न वेएइ नत्थि निव्वाणं ।
नत्थि य मोक्खोवाओ, छव्विह मिच्छत्तऽभिग्गहियं ॥ (कल्पबृहद्भाष्ये)

त्रिषष्ठ्यधिकशतत्रयविधं पुनरिदम्—   5

असियसयं किरियाणं, अकिरियवाईण होइ चुलसीई ।
अण्णाणी सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीसा ॥ (सूत्रकृ० नि० गा० ११९)

अपरिमितभेदं तु —

जावइया नयवाया, तावइया चेव होंति परसमया ।
जावइया परसमया, तावइया चेव मिच्छत्ता ॥   10

एवमनेकविकल्पमपि सामान्यतो मिथ्यात्वशब्देन गृह्यते इति सप्तमो भेदः ७ । वेदस्त्रि-विधः स्त्री-पुं-नपुंसकभेदात् । तत्र यत् स्त्रियाः पित्तोदये मधुराभिलाष इव पुंस्यभिलाषो जायते स स्त्रीवेदः, यत् पुनः पुंसः श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत् स्त्रियामभिलाषो भवति स पुंवेदः, यत्तु पण्डकस्य पित्त-श्लेष्मोदये मज्जिकाभिलाषवदुभयोरपि स्त्री-पुंसयोरभिलाषः समुदेति स नपुंसकवेद इति त्रयोऽप्येक एव भेदः ८ । तथा यदमनोज्ञेषु शब्दादिविषयेषु संयमे वा जीवस्य चित्तो-15 द्वेगः सा अरतिः ९ । यत् पुनस्तेष्वेव मनोज्ञेषु असंयमे वा रमणं सा रतिः १० । यत्तु सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तद् हास्यम् ११ । प्रियविप्रयोगादिविह्वलचेतोवृत्तिराक्रन्दनादिकं यत् करोति स शोकः १२ । सनिमित्तमनिमित्तं वा यद् बिभेति तद् भयम् १३ । यत् पुनर-स्नाना-ऽदन्तपवन-मण्डलीभोजनादिकमपरं वा मृतकलेवर-विष्टादिकं जुगुप्सते सा जुगुप्सा १४ । एष चतुर्दशविधोऽप्याभ्यन्तरग्रन्थ उच्यते ॥ ८३१ ॥ प्रस्तुतयोजनामाह—   20

सावज्जेण विमुक्का, सब्भिंतर-बाहिरेण गंथेण ।
निग्गहपरमा य विदू, तेणेव य होंति निग्गंथा ॥ ८३२ ॥

सावद्यः—सपापः कर्मोपादाननिबन्धनत्वाद् यो ग्रन्थस्तेन साभ्यन्तर-बाह्येन ये मुक्तास्ते निर्ग्रन्था उच्यन्ते, येऽपि चाऽऽन्तरग्रन्थेन न सर्वथा मुक्तास्तेऽपि; येन विद्वांसः क्रोधादिदोष-वेदिनस्तथा 'निग्रहपरमाः' तन्निर्जयप्रधानाः, तेनैव कारणेन ते निर्ग्रन्था भवन्ति ॥ ८३२ ॥   25

अथाऽऽन्तरग्रन्थमधिकृत्य ये मुक्ता ये चामुक्तास्तदेतदभिधित्सुराह—

केई सव्वविमुक्का, कोहाईएहिँ केइ भइयव्वा ।
सेढिदुगं विरएत्ता, जाणसु जो निग्गओ जत्तो ॥ ८३३ ॥

'क्रोधादिभिः' आन्तरग्रन्थैः केचित् 'सर्वविमुक्ताः' सर्वैरपि विप्रमुक्ताः, केचित् पुनः 'भक्तव्याः' विकल्पनीयाः, कैश्चिद् मुक्ताः कैश्चिदपि न मुक्ता इत्यभिप्रायः । अत्र शिष्यः 30 प्राह—कथं नु नामेदं ज्ञास्यते 'अमी सर्वथा मुक्ता अमी च न मुक्ताः' ? इति, उच्यते—'श्रेणिद्विकम्' उपशमश्रेणि-क्षपकश्रेणिलक्षणं 'विरचय्य' यथोक्तपरिपाट्या स्थापयित्वा ततो जानीहि

१ °न्यशब्देन° मो० ले० ॥ २ सावज्जगंथमुक्का ता० ॥

यः 'यतः' क्रोधादेर्निर्गतो अनिर्गतो वेति ॥ ८३३ ॥ अथ केयमुपशमश्रेणिः ? का वा क्षपक-श्रेणिः ? इत्याशङ्कापनोदाय प्रथमत उपशमश्रेणिमाह—

उपशम-श्रेणिः

अण दंस नपुंसि-त्थीवेय च्छक्कं च पुरिसवेयं च ।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ८३४ ॥

5 इहोपशमश्रेणेः प्रारम्भकोऽप्रमत्तसंयतः, समाप्तौ पुनः प्रमत्तसंयतोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्वा भवेत् । यत उक्तम्—

उवसामगसेढीए, पट्ठवओ अप्पमत्तविरओ उ ।
पज्जवसाणे सो वा, होइ पमत्तो अविरओ वा ॥ (विशे० गा० १२८५)

अविरत-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतानामन्यतमः प्रतिपद्यते इत्येके । प्रतिपत्तिक्रमश्चायम्—10 "अण"त्ति प्रथमतो युगपदन्तर्मुहूर्त्तेनानन्तानुबन्धिनः क्रोध-मान-माया-लोभानुपशमयति । ततः 'दर्शनं' मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यग्दर्शनभेदात् त्रिविधमपि युगपदुपशमयति । सर्वत्र युगपदुपशमनकालोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणो द्रष्टव्यः । ततो यदि पुरुषः प्रारम्भकस्ततः प्रथमं नपुंसकवेदम्, पश्चात् स्त्रीवेदम्, ततो हास्य-रत्य-ऽरति-शोक-भय-जुगुप्साषट्कम्, ततः पुरुषवेदम्; अथ स्त्री प्रारम्भिका ततः प्रथमं नपुंसकवेदम्, पश्चात् पुरुषवेदम्, ततो हास्यादिषट्कम्, ततः स्त्रीवेदम्; 15 अथ नपुंसक एव प्रारम्भकस्ततः प्रथमं स्त्रीवेदम्, पश्चात् पुरुषवेदम्, ततः षट्कम्, ततो नपुंसकवेदम् । तथा 'द्वौ द्वौ' अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानरूपौ क्रोधादिकौ 'एकान्तरितौ' सञ्ज्वलनक्रोधाद्यन्तारितौ 'सदृशौ' तुल्यावुपशमय्य सदृशमेवोपशमयति । इयमत्र भावना—अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानौ क्रोधौ क्रोधत्वेन परस्परं सदृशौ युगपदुपशमयति, ततः सञ्ज्वलनक्रोधमेकाकिनमेव; ततोऽप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानौ मानौ, ततः सञ्ज्वलनमानम्; ततोऽप्रत्याख्यान-प्रत्याख्याने 20 माये, ततः सञ्ज्वलनमायाम्; ततोऽप्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानौ लोभौ, ततः सञ्ज्वलनलोभम् । तं चोपशमयँस्त्रिधा करोति, आद्यौ द्वौ भागौ युगपदुपशमयति, तृतीयं भागं सङ्ख्येयानि खण्डानि करोति, तान्यपि पृथक् पृथक् कालभेदेनोपशमयति, पुनः सङ्ख्येयखण्डानां चरमखण्डमसङ्ख्येयानि खण्डानि करोति, ततः समये समये एकैकं खण्डमुपशमयति । इह च दर्शनसप्तके उपशान्ते सति निवृत्तिबादरः, तत ऊर्द्धमनिवृत्तिबादरो यावद् लोभस्य द्विचरमं सङ्ख्येयखण्डम्, 25 चरमसङ्ख्येयखण्डस्य पुनरसङ्ख्येयखण्डान्युपशमयन् सूक्ष्मसम्पराय उच्यते । स्थापना—

---

१ "ततो अपच्चक्खाणं च लोभं पच्चक्खाणावरणं च लोभं जुगवं उवसामेति, ततो संजलणं लोभं संखेज्जाणि खंडाणि करोति, पढमेल्लं च खंडं पउवसामितो बादरसंपरायो य उवसामओ लब्भति, एगेगं खंडं उवसामेंतो जाधे संखेज्जतिमं अंतिल्लं खंडं पत्तो भवति ताधे ते असंखेज्जाणि खंडाणि करोति, पढमिल्लं च खंडयं च पउवसामितो सुहुमसंपराओ य उवसामओ लब्भति, समए समए एक्केक्कं खंडं उवसामेति, जदा तं अंतिल्लं असंखेज्जतिमं खंडं उवसामियं भवति तदा उवसामियणियंठो भवति" इति **चूर्णिः** ॥

एवं समापितोपशमश्रेणीक उपशान्तमोह-वीतरागगुणस्थानकमनुभवन् यथाख्यातचारित्री भवति । स च यदि बद्धायुः प्रतिपद्यते तद्-वस्थश्च म्रियते ततो नियमादनुत्तरविमानवा-सिषूपपद्यते, श्रेणिप्रच्युतस्य पुनरनियमः । अथाबद्धायुस्ततो जघन्येनैकसमयमुत्कर्षतोऽन्त-र्मुहूर्त्तमुपशमकनिर्ग्रन्थो भूत्वा नियमतः क्वापि वस्तुनि लुब्धः पुनरप्युदितकषायः श्रेणिप्रति-लोममावर्त्त्य देशप्रतिपातेन सर्वप्रतिपातेन वा प्रतिपतति, यतो नासौ जघन्यतोऽपि तद्भव एव निःश्रेयसपदमश्नुते, उत्कर्षतः पुनर्देशो-नापार्द्धपुद्गलपरावर्त्तं संसारं संसरति । यत उक्तम्—

तम्मि भवे निव्वाणं, न लहइ उक्कोसओ वि संसारं ।
पोग्गलपरियट्टद्धं, देसूणं कोइ हिंडेज्जा ॥ (विशे० गा० १३०८)

अस्यां चोपशमश्रेण्यां प्रविष्टेन येन यद् अनन्तानुबन्ध्यादिकमुपशमितं स उपशमनां प्रतीत्य तेन विप्रमुक्त उच्यते ॥ ८३४ ॥ प्ररूपिता उपशमश्रेणिः । क्षपकश्रेणिमाह—

क्षपक-श्रेणिः

अण ४ मिच्छ ५ मीस ६ सम्मं ७, अट्ठ १५ नपुंसि १६ त्थिवेय १७ छक्कं च २३ ।
पुमवेयं च २४ खवेई, कोहाईए अ संजलणे २८ ॥ ८३५ ॥

इह क्षपकश्रेणिमविरत-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतानामन्यतम उत्तमसंहननः प्रशस्तध्यानो-पगतमानसः प्रतिपद्यते । तदुक्तं क्षपकश्रेणिप्रक्रमे—

पडिवत्तीए अविरय-देस-पमत्ता-ऽपमत्तविरयाणं ।
अन्नयरो पडिवज्जइ, सुद्धज्झाणोवगयचित्तो ॥ (विशे० गा० १३१४)

तत्र पूर्वविदप्रमत्तः शुक्लध्यानोपगतोऽपि प्रतिपद्यते, शेषास्तु धर्मध्यानोपगता एवेति । प्रति-पत्तिक्रमश्चायम्—प्रथममन्तर्मुहूर्त्तेनानन्तानुबन्धिनः क्रोधादींश्चत्वारोऽपि युगपत् क्षपयति । तद-नन्तभागं तु मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य तेन सह मिथ्यात्वं क्षपयति । तस्याप्यनन्तभागं सम्यग्मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य तदपि सावशेषं क्षपयति । आह किं पुनः कारणं सावशेषं क्षपयति ? इति, उच्यते— यथा खल्वतिसम्भृतो दावानलो दरदग्धेन्धन एवेन्धनान्तरमासाद्योभयमपि दहति एवमसावपि क्षपकस्तीव्रशुभपरिणामत्वात् प्राक्तने कर्मण्यनिःशेषित एवापरं क्षपयितुमारभते । एवं सम्यग्मि-थ्यात्वस्यावशेषं सम्यक्त्वे प्रक्षिप्य तेन सह सम्यक्त्वं निरवशेषमेव क्षपयति । यदाह **चूर्णिकृत्**—

जं तं सेसं तं सम्मत्ते छुभित्ता निरवसेसं खवेइ त्ति ।

एतच्च बद्धायुष्कापेक्षं सम्भाव्यते, **आवश्यकादौ** तमेवाधिकृत्य सम्यक्त्वनिरवशेषक्षपणस्यो-क्तत्वात् । इह च यदि बद्धायुः प्रतिपद्यते अनन्तानुबन्धिक्षये च व्युपरमते ततो मिथ्यादर्शनोद-

१ यदुक्तं डे० त० ॥ २ °ण्यल्पशे° डे० त० ॥ ३ हारिभद्रीयटीका पत्र ८४-१ ॥

यतस्तान् पुनरप्यनुचिनोति, मिथ्यात्वे तद्बीजसम्भवात्; क्षीणमिथ्यात्वस्तु नोपचिनोति, मूलाभावात्; तदवस्थश्च मृतोऽवश्यमेव त्रिदशेषूपपद्यते। क्षीणदर्शनसप्तकोऽप्यप्रतिपतितपरिणामो म्रियमाणः सुरगतावेवोपपद्यते। प्रतिपतितपरिणामस्तु नानामतित्वात् सर्वगतिभाग् भवति।

तथा चोक्तम्—

5 बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा।
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि॥ (विशे० गा० १३१६)
तम्मि मओ जाइ दिवं, तप्परिणामो य सत्तए खीणे।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामइ-गईओ॥ (विशे० गा० १३१७)

स च यदि बद्धायुः प्रतिपद्यते ततो नियमाद् दर्शनसप्तके क्षीणे सत्युपरमते। अबद्धायुष्कः 10 पुनरनुपरत एव समस्तां श्रेणिं समापयति। स च स्वल्पसम्यग्दर्शनावशेष एवाप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं क्षपयितुं युगपदारभते। एतेषां च सङ्ख्येयतमं भागं क्षपयन् एताः षोडश प्रकृतीः क्षपयति। तद्यथा—नैरयिकगतिनाम तिर्यग्गतिनाम एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम नरकानुपूर्वीनाम तिर्यगानुपूर्वीनाम अप्रशस्तविहायोगतिनाम स्थावरनाम सूक्ष्मनाम अपर्याप्तनाम साधारणनाम निद्रानिद्रां प्रचलाप्रचलां 15 स्त्यानगृद्धिमिति। ततोऽष्टानां कषायाणामवशेषं क्षपयति। ततो नपुंसकवेदम्। ततः स्त्रीवेदम्। ततो हास्यादि षट्कम्। ततः पुरुषवेदं त्रिधा कृत्वा खण्डद्वयं युगपत् क्षपयति, तृतीयं तु खण्डं सञ्ज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति, पुरुषे प्रतिपत्तर्ययं क्रमः। स्त्री-नपुंसकयोः प्रतिपत्त्रोरुपशमश्रेणिन्यायो वक्तव्यः। क्रोधादींश्च सञ्ज्वलनान् प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तेनानेनैव खण्डत्रयरचनान्यायेन क्षपयति। श्रेणिपरिसमाप्तिकालोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण एव द्रष्टव्यः। केवलं बृहत्तरमत्रान्तर्मुहूर्तम्, अन्तर्मु- 20 हूर्त्तानामसङ्ख्येयभेदत्वात्। लोभचरमखण्डं तु सङ्ख्येयानि खण्डानि कृत्वा पृथक् पृथक् क्षपयति। चरमसङ्ख्येयखण्डं पुनरसङ्ख्येयानि खण्डानि करोति। तेषामपि समये समये एकैकं क्षपयति। इह च क्षीणदर्शनसप्तको निवृत्तिबादरसम्पराय उच्यते, तत ऊर्ध्वमनिवृत्तिबादरसम्परायो यावत् सञ्ज्वलनलोभस्य द्विचरमसङ्ख्येयखण्डम्, चरमसङ्ख्येयखण्डस्य पुनरसङ्ख्येयानि खण्डानि क्षपयन् सूक्ष्मसम्पराय उच्यते, तत ऊर्द्धं क्षीणमोहच्छद्मस्थवीतरागो यथाख्यातचारित्री भवति। ततो यथा 25 कश्चिद् महापुरुषो बाहुभ्यामपारगम्भीरां महानदीं तीर्त्वा स्ताघमासाद्य क्षणमेकं विश्राममादत्ते एवमयमपि दुस्तरं मोहसागरं तीर्त्वा सञ्जातपरिश्रमो विश्राम्यतीति। ततश्छद्मस्थवीतरागत्वसम्बन्धिनि समयद्वयेऽवशिष्यमाणे प्रथमे समये निद्रां १ प्रचलां २ देवगतिं ३ देवानुपूर्वीं ४ वैक्रियशरीरनामकर्म ५, वज्रर्षभनाराचसंहननं मुक्त्वा शेषाणि संहननानि १० षण्णां संस्थानानां मध्ये यस्मिन् व्यवस्थितस्तदेकं मुक्त्वा शेषाणि संस्थानानि १५ आहारकशरीरनाम १६ यद्यती- 30 र्थकरः प्रतिपत्ता ततस्तीर्थकरनामकर्मापि १७ इत्येवं सप्तदश प्रकृतीः क्षपयति। ततो द्वितीये समये पञ्चप्रकारं ज्ञानावरणं चतुर्विधं दर्शनावरणं पञ्चविधमन्तरायं च क्षपयित्वा विमलकेवलश्रियमवाप्नोतीति। स्थापना चेयम्—

एनां च क्षपकश्रेणिमभ्यासीनेन येन यदनन्तानुबन्ध्यादिकं क्षपितं स तेन मुक्त इत्यवसातव्यम् । येऽपि श्रेणिद्वयमद्यापि न प्रतिपद्यन्ते किन्तु सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकानामन्यतमस्मिन् संयमे वर्त्तन्ते तेऽपि सञ्ज्वलनचतुष्टयवर्जैर्द्वादशभिः कषायैर्मुक्ता इत्यवगन्तव्यम् । यत उक्तम्—

बारसविहे कसाए, खविए उवसामिए व जोगेहिं ।
लब्भइ चरित्तलंभो, तस्स विसेसा इमे पंच ॥ (आव० नि० गा० ११३) ॥८३५॥

ततश्च—

जे वि अ न सव्वगंथेहिँ निग्गया होंति केइ निग्गंथा ।
ते वि य निग्गहपरमा, हवंति तेसिं खउज्जुत्ता ॥ ८३६ ॥

येऽपि च सरागसंयमवर्तिनः सर्वेभ्य आन्तरग्रन्थेभ्यो न निर्गताः तेऽपि 'तेषां' सञ्ज्वलनकषायादीनां 'क्षयोद्युक्ताः' उदयनिरोधोदयप्राप्तविफलीकरणाभ्यां क्षयकरणायोद्यताः सन्तः 'निग्रहपरमाः' आन्तरग्रन्थनिग्रहप्रधाना भवन्ति इत्यतो निर्ग्रन्था उच्यन्ते ॥ ८३६ ॥ अपि च—

कलुसफलेण न जुज्जइ, किं चित्तं तत्थ जं विगयरागो ।
संते वि जो कसाए, निगिण्हई सो वि तत्तुल्लो ॥ ८३७ ॥

कलुषयन्ति—सहजनिर्मलं जीवं कर्मरजसा मलिनयन्तीति "अच्" (सिद्ध० ५-१-४९) इति अच्प्रत्यये कलुषाः—कषायास्तेषां यत् फलं—परुषभाषण-नयनमुखविकार-रौद्रध्यानानुबन्धादिकं तेन सह यद् 'न युज्यते' न सम्बन्धमुपयाति 'विगतरागः' विशेषेण—अपुनर्भावेन गतो रागो यस्मात् स विगतरागः, क्षीणमोह इत्यर्थः । तत्र 'किं चित्रम् ?' किमाश्चर्यम् ? कषायलक्षणकारणाभावाद् न किञ्चिदित्यर्थः । यस्तु 'सतोऽपि' विद्यमानानपि कषायान् 'निगृह्णाति' उदीयमानानेव प्रथमतो निरुणद्धि कथञ्चिदुदयप्राप्तान् वा विफलीकरोति सोऽपि 'तत्तुल्यः' वीतराग इव निष्कषायो मन्तव्यः, सतामपि कषायाणामसत्कल्पताकरणात् । अतः सरागसंयतोऽपि निर्ग्रन्थोऽभिधीयते इति ॥ ८३७ ॥ अथ परः प्रश्नयति—

जइ अब्भिंतरमुक्का, बाहिरगंथेण मुक्कया किह णु ।
गिण्हंता उवगरणं, जम्हा अममत्तया तेसु ॥ ८३८ ॥

यद्यनन्तरोक्तप्रकारेणाऽभ्यन्तरग्रन्थमुक्तास्ततो वस्त्र-पात्रादिकमुपकरणं गृह्णन्तः कथं 'नुः' इति वितर्के बाह्यग्रन्थेन मुक्ता उच्येरन् ?, वस्त्रादेरपि ग्रन्थरूपत्वादित्यभिप्रायः । सूरिराह—यस्मात् 5 'तेषु' वस्त्र-पात्रादिषु न विद्यते ममत्वं—मूर्च्छा येषां ते 'अममत्वकाः' "शेषाद्वा" (सिद्ध० ७–३–१७५) इति कच्प्रत्ययः मूर्च्छारहितास्तेन बाह्यग्रन्थमुक्ता अप्यभिधीयन्ते । इयमत्र भावना—मूर्च्छा परिग्रहो गीयते न तूपकरणादिधारणमात्रम्, "मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" (दशवै० अ० ६ गा० २१) इति वचनात् । अतः संयमोपष्टम्भादिनिमित्तमुपकरणं धारयन्नपि विशुद्ध-चेतोवृत्तिरपरिग्रह एव ज्ञातव्यः । तदुक्तं परमगुरुभिः—

10 अज्झत्थविसोहीए, उवगरणं बाहिरं परिहरंतो ।
अपरिग्गहो त्ति भणिओ, जिणेहिँ तेलोक्कदंसीहिँ ॥ (ओघनि० गा० ७४५) ॥ ८३८ ॥

गतं ग्रन्थपदम् । अथाऽऽमपदं विवरीषुराह—

नामं ठवणा आमं, दव्वामं चेव होइ भावामं ।
उस्सेइम संसेइम, उवक्खडं चेव पलियामं ॥ ८३९ ॥

15 आमं चतुर्धा, तद्यथा—नामामं स्थापनामं द्रव्यामं भावामम् । तत्र नाम-स्थापने गतार्थे । द्रव्यामं पुनश्चतुर्धा, तदेव दर्शयति—"उस्सेइम" इत्यादि । उत्—ऊर्ध्वं निर्गच्छता बाष्पेण यः स्वेदः स उत्स्वेदः, उत्स्वेदेन निर्वृत्तमुत्स्वेदिमम्, "भावादिमः" (सिद्ध० ६–४–२१) इति सूत्रेण इमप्रत्ययः, उत्स्वेदिमं च तदामं च उत्स्वेदिमामम् १ । सम्—एकीभावेन स्वेदः संस्वेदः, तेन निर्वृत्तं संस्वेदिमम्, तदेवामं संस्वेदिमामम् २ । तथोपस्कृता—राद्धा ये वल्ल-चणकादयः, 20 तेषां मध्ये यदामं तदुपस्कृतामम् ३ । पर्यायः—स्वाभाविक औपाधिको वा फलानां पाकपरिणामः, तस्मिन् प्राप्तेऽपि यदामं तत् पर्यायामम् ४ ॥ ८३९ ॥ अथोत्स्वेदिमादिचतुष्टयमेव व्याचष्टे—

उस्सेइम पिट्ठाई, तिलाइ संसेइमं तु णेगविहं ।
कंकडुयाइ उवक्खड, अविपक्करसं तु पलियामं ॥ ८४० ॥

उत्स्वेदिमं 'पिष्टादि' पिष्टं—सूक्ष्मतन्दुलादिचूर्णनिष्पन्नम्, तद्धि वस्त्रान्तरितमधःस्थितस्यो-25 ष्णोदकस्य बाष्पेणोत्स्विद्यमानं पच्यते, तत्र यदामं तद् उत्स्वेदिमामम्, आदिग्रहणाद् भरोलादि-परिग्रहः । संस्वेदिमं पुनस्तिलादिकमनेकविधम्, इह क्वचित् पिठरादौ पानीयं तापयित्वा पिठ-रिकायां प्रक्षिप्तास्तिलास्तेनोष्णोदकेन सिच्यन्ते[1] ततस्ते तिलाः संस्विद्यन्ते, तेषां संस्विन्नानां मध्ये ये आमास्तत् संस्वेदिमामम्, आदिग्रहणेन यदन्यदप्येतेन क्रमेण संस्विद्यते तत् संस्वेदिमामम् । तथा चणक-मुद्गादीनामुपस्कृतानां ये कङ्कटुकादय आमास्ते उपस्कृतामम् । पर्यायामं पुनरविपक्वरसं 30 फलादिकमुच्यते ॥ ८४० ॥ तच्चतुर्विधम्, तद्यथा—

इंधण धूमे गंधे, वच्छप्पलियामए अ आमविही ।
एसो खलु आमविही, नेयव्वो आणुपुव्वीए ॥ ८४१ ॥

---
१ सिच्यन्ते डे० त० कां० ॥

इन्धनपर्यायामं धूमपर्यायामं गन्धपर्यायामं वृक्षपर्यायाममित्येवं पर्यायामे आमविधिश्चतुः-प्रकारः । एष खलु आमविधिर्ज्ञातव्यः 'आनुपूर्व्या' यथोक्तया परिपाट्या । यद्वा आनुपूर्वी नाम वक्ष्यमाणलक्षणा पलालवेष्टन-गर्त्ताखनन-करीषप्रक्षेपणादिका यथायोगमामफलपाचनाय रचना तया ज्ञातव्य आमविधिरिति ॥ ८४१ ॥ अथेन्धन-धूमपर्यायामे विवृणोति—

कोद्दवपलालमाई, धूमेणं तिंदुगाइ पच्चंते । 5
मज्झऽगडाऽगणि पेरंत तिंदुया छिद्दधूमेणं ॥ ८४२ ॥

कोद्रवपलालादिकमिन्धनमुच्यते, आदिग्रहणेन शालिपलालपरिग्रहः, तेन चाऽऽम्रफलादीनि फलानि वेष्टयित्वा पाच्यन्ते, तत्र यान्यपक्वानि फलानि तद् इन्धनपर्यायामम् । तथा धूमेन तिन्दुकादीनि फलानि पाच्यन्ते, कथं पाच्यन्ते ? इत्याह—"मज्झऽगडाइ"त्ति प्रथमतो गर्त्ताया मध्ये करीषः प्रक्षिप्यते, तस्याश्च गर्त्तायाः पार्श्वेष्वपरा गर्त्ताः खन्यन्ते, तासु च गर्त्तासु तिन्दु- 10 कादीनि फलानि प्रक्षिप्य मध्यमायां करीषगर्त्तायां "अगणि"त्ति अग्निर्दीयते, तासां च "पेरंत"त्ति पर्यन्तगर्त्तानां श्रोतांसि मध्यमगर्त्तया सह मीलितानि क्रियन्ते, ततस्तस्याः करीषगर्त्तायाः सकाशाद् धूमस्तैः श्रोतोभिः पर्यन्तगर्त्तासु प्रविशति, ततस्तच्छिद्रसम्बन्धिना धूमेन प्रसरता तानि फलानि पाच्यन्त इति, तेषां मध्ये यदामं तद् धूमपर्यायामम् ॥ ८४२ ॥

अथ गन्ध-वृक्षपर्यायामे भावयति— 15

अंबग-चिब्भिडमाई, गंधेणं जं च उवरि रुक्खस्स ।
कालप्पत्त न पच्चइ, वत्थप्पलियामगं तं तु ॥ ८४३ ॥

आम्रक-चिर्भटादीनि आदिशब्दाद् बीजपूरकादीनि यान्यपक्वानि फलानि तेषां मध्ये पक्वानि प्रक्षिप्यन्ते, तेषां गन्धेन प्राक्तनान्यामकानि पच्यन्ते, तत्र यद् अपक्वं फलं तद् गन्धपर्यायामम् । तथा "जं च"त्ति चशब्दस्य पुनरर्थत्वाद् यत् पुनर्वृक्षस्योपरि शाखायां वर्त्तमानं काले—वसन्ता- 20 दिलक्षणे पाकसमये प्राप्तेऽपि परिपक्वेष्वप्यपरफलेषु न पच्यते तद् वृक्षपर्यायामम् ॥ ८४३ ॥

व्याख्यातं चतुर्विधमपि पर्यायामम् । तद्व्याख्याने च समर्थितं द्रव्यामम् । अथ भावामस्वरूपं निरूपयति—

भावामं पि य दुविहं, वयणामं चेव नो य वयणामं ।
वयणाम अणुमयत्थे, आमं ति हि जो वदे वक्कं ॥ ८४४ ॥ 25
नोवयणामं दुविहं, आगमतो चेव नो अ आगमतो ।
आगमेँ नाणुवउत्तो, नोआगमओ इमं होइ ॥ ८४५ ॥

भावाममपि द्विविधम्—वचनामं चैव नोवचनामं च । वचनरूपमामं वचनामम्, अनुमतार्थे 'आमम्' इति यः 'वाक्यं' वचनं वदेत् तद् वचनामम् । यथा—कोऽपि साधुर्गुरूणां कार्येण गच्छन्न-परेण पृष्टः—आर्य ! किं गुरुकार्येण गम्यते ?, स प्रत्याह—आमम्, एवमेतदित्यर्थः ॥ ८४४ ॥ 30

नोवचनामं द्विविधम्—आगमतश्चैव नोआगमतश्च । तत्रागमत आमपदार्थज्ञानयुक्तस्तत्र चोपयुक्तः, उपयोगस्य भावरूपत्वाद् ज्ञानस्य चागमरूपत्वात् । नोआगमतो भावाममिदं भवति ॥ ८४५ ॥ तदेवाह—

उग्गमदोसाईया, भावतो अस्संजमो अ आमविही ।
अन्नो वि य आएसो, जो वरिससयं न पूरेइ ॥ ८४६ ॥

उद्गमदोषाः—आधाकर्मादयः, आदिग्रहणाद् उत्पादनादोषा एषणादोषाश्च, एतद् भावामं प्रतिपत्तव्यम् । तथा च **आचाराङ्गसूत्रम्**—

5 सवामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए (श्रु० १ अ० २ उ० ५) ।

'**असंयमश्च**' पृथिव्याद्युपमर्दलक्षणो भावतः आमविधिरेव ज्ञातव्यः, चारित्रापक्वताकरणात् । यद्वाऽन्योऽपि 'आदेशः' प्रकारो भण्यते—यो वर्षशतायुः पुरुष आयुष्कोपक्रमेण वर्षशतमपूरयित्वा म्रियते सोऽपि भावत आमः, आयुषः परिपाकमन्तरेण मरणात् । अत्र च द्रव्यामेणाधिकारः, तत्रापि वृक्षपर्यायामेण, शेषाणामुच्चारितसदृशतया विनेयव्युत्पादनार्थं प्रसङ्गतः प्ररूपित-
10 त्वात् ॥ ८४६ ॥ व्याख्यातमामपदम् । अथ तालपदं विवृणोति—

नामं ठवणा दविए, तालो भावे य होइ नायव्वो ।
जो भविओ सो तालो, दव्वे मूलुत्तरगुणेसु ॥ ८४७ ॥

नामतालः स्थापनातालो द्रव्यतालो भावतालश्च भवति ज्ञातव्यः । तत्र नाम-स्थापने क्षुण्णे । द्रव्यतालः पुनरयम्—"जो भविउ" त्ति यः खलु 'भव्यः' भावितालपर्यायः । स च त्रिधा—
15 एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनाम-गोत्रश्च । तत्रैकभविको नाम यो विवक्षितभवानन्तरं तालत्वेनोत्पत्स्यते, बद्धायुष्को येन तालोत्पत्तिप्रायोग्यमायुःकर्म बद्धम्, अभिमुखनाम-गोत्रः पुनर्विपाकोदयाभिमुखतालसम्बन्धिनाम-गोत्रकर्मा तालत्वेनोत्पित्सया विक्षिप्तजीवप्रदेशः । यद्वा द्रव्यतालो द्विविधः—मूलगुणनिर्वर्त्तित उत्तरगुणनिर्वर्त्तितश्च । तत्र स्वायुषः परिक्षयादपगतजीवो यः स्कन्धादिरूपस्तालः स मूलगुणनिर्वर्त्तितः, यस्तु काष्ठ-चित्रकर्मादिष्वालिखितः स उत्तरगुणनि-
20 र्वर्त्तितः । एष द्रव्यतालः ॥ ८४७ ॥ सम्प्रति भावतालमाह—

भावम्मि होंति जीवा, जे तस्स परिग्गहे समक्खाया ।
बिइओ वि य आदेसो, जो तस्स विजाणओ पुरिसो ॥ ८४८ ॥

'भावे' भावविषयस्तालो ये जीवाः 'तस्य' तालस्य परिग्रहे मूल-कन्दादिगतास्ते सर्वेऽपि समुदिताः सन्तो भावताल इति समाख्याताः, नोआगमत इति भावः । द्वितीयोऽप्यत्रादेशोऽस्ति—
25 यः 'तस्य' तालस्य 'विज्ञायकः' उपयुक्तः पुरुषः सोऽपि भावताल उच्यते, आगमत इत्यर्थः । अत्र च नोआगमतो भावतालेनाधिकारः, तस्य सम्बन्धि यत् फलं तदिह तालशब्देन प्रत्येतव्यम् ॥ ८४८ ॥

गतं तालपदम् । अथ प्रलम्बपदं विवृणोति—

नामं ठवण पलंबं, दव्वे भावे अ होइ बोधव्वं ।
अट्ठविह कम्मगंठी, जीवो उ पलंबए जेणं ॥ ८४९ ॥

30 नामप्रलम्बं स्थापनाप्रलम्बं द्रव्यप्रलम्बं भावप्रलम्बं च भवति बोद्धव्यम् । नाम-स्थापने सुगमे । द्रव्यप्रलम्बमेकभविक-बद्धायुष्का-ऽभिमुखनामगोत्रभेदभिन्नं मूलोत्तरगुणभेदभिन्नं च द्रव्यतालवद् भावप्रलम्बं च भावतालवद् वक्तव्यम् । यद्वा अष्टविधः कर्मग्रन्थिर्भावप्रलम्बमुच्यते । कुतः ?

---

१ °णातालो दव्वे भावे ता० ॥

इत्याह—येन कर्मणा जीवः तुशब्दः संसारीति विशेषणार्थः 'प्रलम्बते' नैरयिकादिकां गतिं गतिं प्रति लम्बत इति तद् भावतः प्रलम्बम् ॥ ८४९ ॥ अत्र परः प्राह—

तालं तलो पलंबं, तालं तु फलं तलो हवइ रुक्खो ।
पलंबं च होइ मूलं, झिज्झिरिमाई मुणेयव्वं ॥ ८५० ॥

किमिदं तालम्? को वा तलः? किं वा प्रलम्बम्? । अत्र सूरिराह—तालं तावत् फलं तल- 5 वृक्षसम्बन्धि, तच्चाग्रप्रलम्बमुच्यते । तलः पुनस्तदाधारभूतो वृक्षः । प्रलम्बं पुनर्मूलं भवति, प्रल- म्बशब्देनेह मूलप्रलम्बं गृहीतमिति भावः । तच्च 'झिज्झिर्यादिकं' झिज्झिरिप्रभृतिवृक्षसम्बन्धि "मुणेयव्वं" ज्ञातव्यम् ॥ ८५० ॥ तदेव मूलप्रलम्बमाह—

झिज्झिरि-सुरभिपलंबे, तालपलंबे अ सल्लइपलंबे ।
एतं मूलपलंबं, नेयव्वं आणुपुव्वीए ॥ ८५१ ॥ 10

झिज्झिरी—वल्लीपलाशकः सुरभिः—सिग्गुकः तयोः प्रलम्बं—मूलम् । एवं तालप्रलम्बं च सल्लकीप्रलम्बम्, चशब्दादन्यदपि मूलं यद् लोकस्योपभोगमायाति तदेतद् मूलप्रलम्बं ज्ञातव्यमानु- पूर्व्या ॥ ८५१ ॥ अथाग्रप्रलम्बं विवृणोति—

तल नालिएर लउए, कविट्ठ अंबाड अंबए चेव ।
एअं अग्गपलंबं, नेयव्वं आणुपुव्वीए ॥ ८५२ ॥ 15

तलफलं नालिकेरफलं लकुचफलं कपित्थफलम् आम्रातकफलम् आम्रफलं चशब्दस्यानुक्त- समुच्चयार्थत्वाद् अन्यदपि कदलीफल-बीजपूरादिकम् एतदग्रप्रलम्बं ज्ञातव्यमानुपूर्व्या ॥ ८५२ ॥

अथ परः प्राह—

जइ मूल-ऽग्गपलंबा, पडिसिद्धा न हु इयाणि कंदाई ।
कप्पंति न वा जीवा, को व विसेसो तदग्गहणे ॥ ८५३ ॥ 20

यदि मूलप्रलम्बा-ऽग्रप्रलम्बे प्रतिषिद्धे न पुनः 'इदानीम्' अस्मिन् सूत्रे 'कन्दादयः' कन्द- स्कन्ध-त्वक्-शाखा-प्रवाल-पत्र-पुष्प-बीजानि प्रतिषिद्धानि, यतश्चैतेषां प्रतिषेधं न करोति सूत्रं ततो मदीयायां मतौ प्रतिभासते—अवश्यमेते कन्दादयः कल्पन्ते प्रतिग्रहीतुं जीवा अपि सन्तः, अथवा तत्त्वतो नाऽमी जीवा भवन्ति, यदि हि जीवा भवेयुस्ततः प्रतिषेधोऽप्यमीषाम- स्मिन् सूत्रे कृतः स्यात्; अथेत्थं भणिष्यन्ति भवन्तः—जीवा एवामी न च कल्पन्ते ततः सूत्रं 25 दुर्बद्धम्; अथ ब्रवीध्वम्—जीवा अमी न च कल्पन्ते सूत्रं च सुबद्धम्, ततः को वा विशेष- हेतुस्तेषां—कन्दादीनामग्रहणे येन ते न गृहीताः? इति ॥ ८५३ ॥ अत्र सूरिः प्रतिवचनमाह—

चोयग! कन्नसुहेहिं, सद्देहिँ अमुच्छितो विसह फासे ।
मज्झम्मि अट्ठ विसया, गहिया एवऽट्ठ कंदाई ॥ ८५४ ॥

हे नोदक! यथा दशवैकालिके— 30

---

१ °दन्यदप्येवंविधमेतद् मूलप्रलम्बं ज्ञातव्यमानुपूर्व्या । आह किमन्येषां सहकारादीनां मूलानि न भवन्ति येनैतान्येवाभिधीयन्ते? उच्यते—भवन्ति, परमेतेषामेव बाहुल्येन लोकस्य भक्षणोपयोगितेत्येतान्येवोपात्तानीति ॥ ८५१ ॥ अथाग्र° भा० ॥

कण्णसोक्खेहिँ सद्देहिं, पेमं नाभिनिवेसए ।
दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहियासए ॥ (अ० ८ गा० २६)

इत्यस्मिन् श्लोके "कर्णसुखैः' सुश्रवैः शब्दैरमूर्च्छितो भवेत्" इति शब्दविषयो रागः प्रतिषिद्धः, "विषहेत स्पर्शं दारुणम्" इत्यनेन तु स्पर्शविषयो द्वेष इति शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानामिष्टा-
5 निष्टरूपतया दशविधानां मध्यादिष्टशब्दा-ऽनिष्टस्पर्शयोराद्यन्तयोरेव सूत्रलाघवार्थं ग्रहणं कृतम्, अन्यथा ह्येवमभिधातव्यं स्यात्—

कन्नसोक्खेहिँ सद्देहिं, पेमं नाभिनिवेसए ।
दारुणं कक्कसं सद्दं, सोएण अहियासए ॥
चक्खुसोक्खेहिँ रूवेहिं, पेमं नाभिनिवेसए ।
10 दारुणं कक्कसं रूवं, चक्खुणा अहियासए ॥ इत्यादि,

परम् "आद्यन्तग्रहणे मध्यस्यापि ग्रहणम्" इति न्यायादष्टावपि मध्यवर्तिनोऽनिष्टशब्दाद्या इष्टस्पर्शान्ता विषया गृहीता भवन्ति; एवमत्रापि 'सूत्रं बृहत्तरं मा भूत्' इति हेतोराद्यान्त्ययोरग्र-मूलप्रलम्बयोर्ग्रहणे मध्यवर्तिनः कन्दादयोऽष्टावपि गृहीता द्रष्टव्याः । एतेषां मूल-कन्दादीनां दशानामपि भेदानां सुखप्रतिपत्त्यर्थमियं गाथा लिख्यते—

15 मूले कंदे खंधे, तया य साले पवाल पत्ते य ।
पुप्फे फले य बीए, पलंबसुत्तम्मि दस भेया ॥ ॥ ८५४ ॥

प्रकारान्तरेण प्रतिवचनमाह—

अहवा एगग्गहणे, गहणं तज्जातियाण सव्वेसिं ।
तेणऽग्गपलंबेणं, तु सूइया सेसगपलंबा ॥ ८५५ ॥

20 अथवा "एकग्रहणे तज्जातीयानां सर्वेषां ग्रहणं भवति" इति न्यायो यतः समस्ति तेनाग्रप्रलम्बग्रहणेन तुशब्दाद् मूलप्रलम्बग्रहणेन च शेषाणि—कन्दादीनि प्रलम्बानि सूचितानि ॥ ८५५ ॥

अथ पुनरपि परः प्राह—

तलगहणाउ तलस्सा, न कप्पें सेसाण कप्पई नामं ।
एगग्गहणा गहणं, दिट्ठंतो होइ सालीणं ॥ ८५६ ॥

25 'तलग्रहणात्' इति उपलक्षणत्वात् तालप्रलम्बग्रहणात् तालस्यैव सम्बन्धीनि मूल-कन्दादीनि प्रलम्बानि न कल्पन्ते 'शेषाणां पुनः' आम्रादीनां प्रलम्बानि कल्पन्त इत्यर्थादापन्नम् । 'नाम' इति सम्भावनायाम्, सम्भाव्यते अयमर्थ इति भावः । सूरिराह—एकग्रहणात् तज्जातीयानां सर्वेषां ग्रहणं भवति, दृष्टान्तः शालिसम्बन्धी अत्र भवति । यथा 'निष्पन्नः शालिः' इत्युक्ते नैक एव शालिकणो निष्पन्नः प्रतीयते किन्तु शालिजातिः, तथाऽत्रापि तालप्रलम्बग्रहणेन न केवलस्यैव तालस्य
30 किन्तु सर्वेषां वृक्षजातीयानां प्रलम्बान्युपात्तानि प्रतिपत्तव्यानि ॥ ८५६ ॥ अथ पुनरपि प्रश्नयति—

को नियमो उ तलेणं, गहणं अन्नेसि जेण न कयं तु ।

---

१ °योरेतत्सूत्र° त० डे० ॥ २ °द्यान्तयो° मो० ले० विना ॥ ३ °व्याः । **मूलादीनां दशानामपि सुखावबोधाय इयं संग्रहगाथा—मूले** भा० ॥

उभयमवि एइ भोगं, परित्त साउं च तो गहणं ॥ ८५७ ॥

को नाम नियमस्तलेन येन तस्यैव ग्रहणं कृतं नान्येषां वृक्षाणाम् ? । सूरिराह—तालस्य सम्बन्धि मूला-ऽग्रप्रलम्बरूपमुभयमपि 'भोगम्' उपयोगमेति, तथा 'परीत्तं' प्रत्येकशरीरं 'स्वादु च' मधुरं तद् भवति, अतस्तस्य प्रतिषेधे सुतरामनन्तकायिकादीनां प्रतिषेधः कृतो भवति, ततस्तालस्य ग्रहणं कृतमिति ॥ ८५७ ॥ गतं प्रलम्बपदम् । अथ भिन्नपदं व्याचिख्यासुराह— 5

नामं ठवणा (ग्रन्थाग्रम्–२५००) भिन्नं, दव्वे भावे अ होइ नायव्वं ।
दव्वम्मि घड-पडाई, जीवजढं भावतो भिन्नं ॥ ८५८ ॥

नामभिन्नं स्थापनाभिन्नं द्रव्यभिन्नं भावभिन्नं च भवति[1] बोद्धव्यम् । नाम-स्थापने क्षुण्णे । द्रव्यभिन्नं घट-पटादिकं वस्तु यद् भिन्नं–विदारितम् । भावतो भिन्नं तु यद् जीवेन जढं–परित्यक्तं तद् मन्तव्यम् ॥ ८५८ ॥ अत्र चतुर्भङ्गीमाह— 10

भावेण य दव्वेण य, भिन्ना-ऽभिन्ने चउक्कभयणा उ ।
पढमं दोहि अभिन्नं, बिइयं पुण दव्वतो भिन्नं ॥ ८५९ ॥
तइयं भावतो भिन्नं, दोहि वि भिन्नं चउत्थगं होइ ।
एएसिं पच्छित्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ८६० ॥

भावेन च द्रव्येण च भिन्ना-ऽभिन्नयोः 'चतुष्कभजना' चतुर्भङ्गीरचना कर्त्तव्या । तत्र 'प्रथमं' 15 प्रथमभङ्गवर्त्ति प्रलम्बं 'द्वाभ्यामपि' भावेन द्रव्येण च अभिन्नम् । द्वितीयं पुनर्द्रव्यतो भिन्नं भावतस्त्वभिन्नम् ॥ ८५९ ॥

तृतीयं भावतो भिन्नं द्रव्यतः पुनरभिन्नम् । चतुर्थं 'द्वाभ्यामपि' भावतो द्रव्यतश्च भिन्नं भवति । 'एतेषां' चतुर्णामपि प्रायश्चित्तं 'यथाऽऽनुपूर्व्या' यथोक्तपरिपाट्या 'वक्ष्यामि' भणिष्यामि ॥ ८६० ॥ प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति— 20

लहुगा य दोसु दोसु य, लहुओ पढमम्मि दोहि वी गुरुगा ।
तवगुरुअ कालगुरुओ, दोहि वि लहुओ चउत्थो उ ॥ ८६१ ॥

प्रथम-द्वितीययोर्द्वयोर्भङ्गयोश्चत्वारो लघुकाः, भावतोऽभिन्नतया सचेतनत्वात् । 'द्वयोस्तु' तृतीय-चतुर्थयोर्मासलघु । तथा प्रथमे भङ्गे ये चत्वारो लघुकास्ते द्वाभ्यामपि गुरवः तपसा कालेन च । द्वितीये भङ्गे ये चत्वारो लघवस्ते तपसा गुरवः कालेन लघवः । तृतीयभङ्गे यद् मासलघु 25 तत् कालेन गुरु तपसा लघु । चतुर्थस्तु भङ्गो द्वाभ्यामपि लघुकः तपसा कालेन च । लघुकं तत्र (त्वत्र) मासलघु द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ ८६१ ॥

उग्घाइया परित्ते, होंति अणुग्घाइया अणंतम्मि ।
आणाऽणवत्थ मिच्छा, विराहणा कस्स गीयत्थे ॥ ८६२ ॥

एतानि प्रायश्चित्तानि 'उद्घातिकानि' लघुकानि 'परीत्ते' प्रत्येकप्रलम्बे भणितानि । 'अनन्ते' 30 अनन्तकाये पुनरेतान्येव 'अनुद्घातिकानि' गुरुकाणि ज्ञातव्यानि, प्रथम-द्वितीययोश्चत्वारो गुरुकाः तृतीय-चतुर्थयोस्तु भङ्गयोर्मासगुरु प्रायश्चित्तं तपः-कालविशेषितं पूर्ववद् वक्तव्यमिति भावः ।

---

१ °वति ज्ञातव्यम् भा० ॥

तथा प्रलम्बं गृह्णता तीर्थकृतामाज्ञाभङ्गः कृतो भवति, अनवस्था मिथ्यात्वं विराधना च संयमाऽऽत्मविषया कृता भवति । शिष्यः पृच्छति—कस्यैतत् प्रायश्चित्तमाज्ञादयश्च दोषाः ? । गुरुराह—अगीतार्थस्य भिक्षोरिति । एतच्च सप्रपञ्चमुपरिष्टाद् भावयिष्यते ॥ ८६२ ॥

अथ प्रलम्बग्रहणे विस्तरेण प्रायश्चित्तं वर्णयितुकाम इमां द्वारगाथामाह—

5 **अन्नत्थ-तत्थगहणे, पडिते अचित्तमेव सचित्ते ।**
छुभणाऽऽरुहणा पडणे, उवही तत्तो य उड्डाहो ॥ ८६३ ॥

प्रलम्बग्रहणं द्विधा—अन्यत्रग्रहणं तत्रग्रहणं च । वृक्षादन्यत्र–अन्यस्मिन् प्रदेशे ग्रहणम् अन्यत्रग्रहणम्, तत्रैव–वृक्षप्रदेशे ग्रहणं तत्रग्रहणम् । तथा पतितं वृक्षस्याधस्ताद् यद् गृह्णाति तद् द्विधा—अचित्तं सचित्तं च । तस्य पतितस्याप्राप्तौ वृक्षोपरिस्थितप्रलम्बपातनाय "छुभण"त्ति 10 काष्ठादेः प्रक्षेपणम् । तथाऽप्यप्राप्तौ "आरुहण" त्ति तस्मिन् वृक्षे आरोहणं करोति । आरूढस्य च कदाचित् पतनं भवेत् । प्रलम्बं गृह्णन्तं दृष्ट्वा च प्रान्तेन केनचिदुपधिरपहियेत । ततश्चोड्डाहः सञ्जायेतेति द्वारगाथासमासार्थः ॥ ८६३ ॥

विस्तरार्थं प्रतिद्वारं बिभणिषुः प्रथमतोऽन्यत्रग्रहणं विवृणोति—

अण्णगहणं तु दुविहं, वसमाणेऽडवि वसंति[1] अंतो बहिं ।
15 **अंताऽऽवण तव्वज्जे, रच्छा गिह [2]अंतो पासे वा ॥ ८६४ ॥**

अन्यत्रग्रहणं द्विविधम्, तद्यथा—वसति अटव्यां च । तत्र यद् वसति प्रदेशे तद् द्विधा—ग्रामादीनामन्तो बहिश्च । यद् ग्रामादीनामन्तस्तत् पुनर्द्विविधम्—आपणे तद्वर्जे च । आपणः–हट्टः, तत्र स्थितस्य प्रलम्बस्य यद् ग्रहणं तद् आपणविषयम् । यत् पुनरापणवर्जे गृहे वा रथ्यायां वा गृह्णाति तत् तद्वर्जविषयम् । तत्र यद् आपणविषयं तद् आपणस्यान्तर्वा भवेत् पार्श्वतो वा । यत् 20 तद्वर्जविषयं तदपि रथ्याया गृहस्य वा अन्तर्वा भवेत् पार्श्वतो वेति । एतच्च सर्वमपि द्विधा—अपरिग्रहं सपरिग्रहं च । तत्रापणे तद्वर्जे वा अपरिग्रहे गृह्णानस्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावभेदात् चतुर्विधं प्रायश्चित्तम् ॥ ८६४ ॥ तत्र द्रव्यतस्तावदाह—

कप्पट्ठदिट्ठे लहुओ, अट्ठुप्पत्तीय लहुग ते चेव ।
परिवड्ढमाणदोसे, दिट्ठाई अन्नगहणम्मि ॥ ८६५ ॥

25 कल्पस्थः समयपरिभाषया बालक उच्यते, तेन प्रलम्बमचित्तं गृह्णानो यदि दृष्टस्तदा मासलघु । अथ संयतं प्रलम्बं गृह्णन्तं दृष्ट्वा कल्पस्थकस्यार्थः–प्रयोजनं तस्योत्पत्तिः–'अहमपि गृह्णामि' इत्येवंलक्षणा भवति ततश्चतुर्लघवः । अथ न कल्पस्थेन किन्तु महता पुरुषेण प्रलम्बं गृह्णानो दृष्टस्तदा "ते चेव" त्ति त एव चत्वारो लघवः । अथ तस्याप्यर्थोत्पत्तिः–'अहमपि गृह्णामि' इति[3]लक्षणा जायते ततोऽपि चत्वारो लघवः । अत्र च ये दृष्टादयः परिवर्द्धमाना दोषा अन्यत्रग्रहणे 30 भवन्तिताननन्तरगाथया वक्ष्यमाणान् शृणुत ॥ ८६५ ॥ तानेवाह—

दिट्ठे संका भोइय-घाडि-निआ-ऽऽरक्खि-सेट्ठि-राईणं ।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ ८६६ ॥

---

१ वसंते ता० ॥ २ अंत पा° ता० ॥ ३ इति ततो भा० त० डे० ॥

युवादिना महता पुरुषेण प्रलम्बानि गृह्णन् दृष्टः चतुर्लघु । ततस्तस्य शङ्का जायते 'किं सुवर्णादिकं गृहीतम्? उत प्रलम्बम्?' तदाऽपि चतुर्लघु । निःशङ्किते चत्वारो गुरवः । अथासौ "भोइय" त्ति भोजयति भर्त्तारमिति भोजिका–भार्या तस्याः कथयति—'प्रिये! मया संयतः फलानि गृह्णानो दृष्टः' इत्युक्ते यदि तया प्रतिहतः 'मैवं वादीः, न सम्भवत्येवेदृशं महात्मनि साधौ' इति ततश्चतुर्गुरुकमेव । अथ तया न प्रतिहतस्ततः षड् लघवः । आसन्नतरः सम्बन्ध इति 5 कृत्वा प्रथमं भोजिकाया अग्रे कथयतीति, एवं मित्रादिष्वपि मन्तव्यम् । ततः "घाडि" त्ति घाटः सङ्घाटः सौहृदमित्येकोऽर्थः, स विद्यतेऽस्येति 'घाटी' सहजातकादिः वयस्य इत्यर्थः, तस्याग्रे तथैव कथयति, तेनापि यदि प्रतिहतस्तदा षड् लघव एव । अथ न प्रतिहतस्ततः षड् गुरवः । ततो निजाः–माता-पित्रादयस्तेषां कथयति, तैः प्रतिहतः षड् गुरव एव । अप्रतिहते पुनश्छेदः । तत आरक्षिकेण आरक्षिकपुरुषैर्वा तस्य सकाशादन्यतो वा प्रलम्बग्रहणवृत्तान्ते श्रुते ततः प्रतिहते 10 छेद एव । अप्रतिहते पुनर्मूलम् । ततः श्रेष्ठिनः श्रीदेवताध्यासितसौवर्णपट्टविभूषितोत्तमाङ्गस्य[1] ततोऽन्यतो वा वृत्तान्तश्रवणे तेन च प्रतिहते मूलमेव । अप्रतिहतेऽनवस्थाप्यम् । ततो राज्ञा उपलक्षणत्वाद् अमात्येन च ज्ञाते ततः प्रतिहतेऽनवस्थाप्यम् । अप्रतिहते पाराञ्चिकम् । पश्चार्द्धे यथाक्रमममीषामेव प्रायश्चित्तान्यभिहितानि, तानि च भावितान्येव । नवरं "दुगं" ति अनवस्थाप्य-पाराञ्चिकद्वयम् ॥ ८६६ ॥ 15

एवं[2] ता अदुगुंछिएँ, दुगुंछिए लसुणमाइ एमेव ।
नवरिं पुण चउलहुगा, परिग्गहे गिण्हणादीया ॥ ८६७ ॥

एवं तावद् 'अजुगुप्सिते' आम्रादौ प्रलम्बे गृह्यमाणे प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । जुगुप्सिते पुनरिदं नानात्वम् । जुगुप्सितं द्विधा—जातिजुगुप्सितं स्थानजुगुप्सितं च । तत्र जातिजुगुप्सितं लशुनादि, आदिग्रहणेन[3] पलाण्डुप्रभृतिपरिग्रहः । स्थानजुगुप्सितं पुनरशुचिस्थाने कर्दमादौ 20 पतितम् । द्विविधेऽपि जुगुप्सिते 'एवमेव' अजुगुप्सितवत् प्रायश्चित्तं वक्तव्यम् । 'नवरं' केवलं पुनः कल्पस्थकदृष्टं जुगुप्सितं गृह्णानस्य चतुर्लघवोऽत्र ज्ञातव्याः । अजुगुप्सिते पुनः "कब्बट्ठदिट्ठे लहुओ" (गा० ८६५) त्ति लघुमास एवोक्त इति विशेषः । एतच्च सर्वमप्यपरिग्रहमधिकृत्योक्तम् । "परिग्गहे गिण्हणादीय" त्ति यत् पुनः प्रलम्बं कस्यापि परिग्रहे वर्त्तते तस्मिन् जुगुप्सिते वा अजुगुप्सिते वा प्रायश्चित्तं तथैव वक्तव्यम्, परं यस्य श्रेष्ठ्यादेः परिग्रहे तानि प्रलम्बानि 25 वर्त्तन्ते तत्कृता ग्रहणा-ऽऽकर्षण-व्यवहारादयो दोषा अत्राधिका भवन्तीति ॥ ८६७ ॥

गतं द्रव्यतः प्रायश्चित्तम् । अथ क्षेत्रतः कालतश्च प्ररूपयति—

[4]खेत्ते निवेसणाई, जा सीमा लहुगमाइ जा चरिमं ।
केसिंची विवरीयं, काले दिण अट्ठमे सपदं[5] ॥ ८६८ ॥

क्षेत्रतो निवेशनमादौ कृत्वा यावद् ग्रामस्य सीमा एतेषु स्थानेषु गृह्णानस्य लघुकादिकं यावत् 30 'चरिमं' पाराञ्चिकम् । किमुक्तं भवति?—निवेशने–महागृहपरिवारभूतगृहसमुदायरूपे गृह्णाति

---

१ °देव्यध्या° डे० ॥ २ गाथेयं चूर्णौ "भावऽट्ठवार सपदं०" ८७० गाथाऽनन्तरं व्याख्याताऽस्ति ॥
३ आदिशब्देन पला° कां० ॥ ४ खेत्ततो नि° ता० ॥ ५ अट्ठहिं सप° ता० चूर्णिं विना ॥

चत्वारो लघवः, पाटके गृह्णाति चत्वारो गुरवः, साहिकायां—गृहपङ्क्तिरूपायां गृह्णाति षड् लघवः, एवं ग्राममध्ये षड् गुरवः, ग्रामद्वारे च्छेदः, ग्रामस्य बहिर्मूलम्, उद्यानेऽनवस्थाप्यम्, ग्रामसीमायां पाराञ्चिकम्। केषाञ्चिदाचार्याणां मतेन 'विपरीतम्' उक्तविपर्यस्तं प्रायश्चित्तम्। तद्यथा—सीमायामन्यग्रामे वा गृह्णाति चतुर्लघु, उद्याने च चतुर्गुरु, ग्रामबहिः षड्लघु, ग्रामद्वारे षड्गुरु, 5 ग्राममध्ये च्छेदः, साहिकायां मूलम्, पाटकेऽनवस्थाप्यम्, निवेशने पाराञ्चिकमिति। तथा 'काले' कालविषयं प्रायश्चित्तमष्टमे दिने 'स्वपदं' पाराञ्चिकम्। इयमत्र भावना—प्रलम्बानि गृह्णतः प्रथमे दिवसे चत्वारो लघवः, द्वितीये चत्वारो गुरवः, तृतीये षड् लघवः, चतुर्थे षड्गुरवः, पञ्चमे च्छेदः, षष्ठे मूलम्, सप्तमेऽनवस्थाप्यम्, अष्टमे पाराञ्चिकम् ॥ ८६८ ॥

अथ प्रकारान्तरेण क्षेत्रत एव प्रायश्चित्तमाह—

10 **निवेसण वाडग साही, गाममज्झे अ गामदारे अ।**
उज्जाणे सीमाए, अन्नग्गामे य खेत्तम्मि ॥ ८६९ ॥

क्षेत्रे प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमिदम्—निवेशने चतुर्लघु, पाटके चतुर्गुरु, साहिकायां षड्लघु, ग्राममध्ये षड्गुरु, ग्रामद्वारे च्छेदः, उद्याने मूलम्, सीमायामनवस्थाप्यम्, अन्यग्रामे पाराञ्चिकम् ॥ ८६९ ॥ अथ भावतः प्रायश्चित्तमाह—

15 **भावऽट्ठवार सपदं, लहुगाई मीस दसहिँ चरिमं तु।**
एमेव य बहिया वी, सत्थे जत्ताइठाणेसु ॥ ८७० ॥

भावे अष्टाभिर्वारैः 'स्वपदं' पाराञ्चिकम्। किमुक्तं भवति ?—एकं वारं प्रलम्बानि गृह्णाति चत्वारो लघवः, द्वितीयं वारं चत्वारो गुरवः, तृतीयं वारं षड् लघवः, चतुर्थं वारं षड् गुरवः, पञ्चमं वारं छेदः, षष्ठं वारं मूलम्, सप्तमं वारमनवस्थाप्यम्, अष्टमं वारं गृह्णतः पाराञ्चिकम्। 20 एतच्च सर्वमपि सचित्तप्रलम्बविषयं भणितम्। मिश्रप्रलम्बे तु गृह्यमाणे लघुमासादिकं दशभिः स्थानैः 'चरमं' पाराञ्चिकम्। तद्यथा—मिश्रप्रलम्बं गृह्णाने कल्पस्थकेन दृष्टे मासलघु, महता पुरुषेण दृष्टे शङ्कायां मासलघु, निःशङ्के मासगुरु, भोजिकायाः कथने चतुर्लघु, घाटिनो निवेदने चतुर्गुरु, ज्ञातीनां ज्ञापने षड्लघु, आरक्षिकाणां निवेदने षड्गुरु, सार्थवाहज्ञाते च्छेदः, श्रेष्ठिकथने मूलम्, अमात्यनिवेदिते अनवस्थाप्यम्, राज्ञो ज्ञापिते पाराञ्चिकम्। एतद् द्रव्यतः प्रायश्चित्तम्, 25 क्षेत्रतः पुनरिदम्—निवेशने मासलघु, पाटके मासगुरु, साहिकायां चतुर्लघु, ग्राममध्ये चतुर्गुरु, ग्रामद्वारे षड्लघु, ग्रामबहिः षड्गुरु, उद्याने च्छेदः, उद्यानसीम्नोरन्तरे मूलम्, सीमायामनवस्थाप्यम्, सीमायाः परतोऽन्यग्रामादौ पाराञ्चिकम्। कालतः पुनः प्रथमे दिवसे मासलघु, द्वितीये मासगुरु, एवं यावद् दशभिर्दिवसैः पाराञ्चिकम्। भावतः प्रथमं वारं गृह्णतो मासलघु, द्वितीयं मासगुरु, एवं यावद् दशभिर्वारैः पाराञ्चिकम्। गतमापण-तद्वर्जभेदाद् द्विविधमपि ग्रामान्तर्वि- 30 षयं ग्रहणम्। अथ ग्रामबहिर्भावग्रहणमाह—"एमेव य" इत्यादि पश्चार्द्धम्। एवमेव बहिरपि ग्रामस्य ग्रहणं भणितव्यम्। तत् पुनर्बहिर्ग्रहणं "सत्थे" त्ति सार्थावासस्थाने वा भवेद् यात्रादिस्थाने वा। यात्रास्थानं यत्र लोक उद्यानिकादियात्रया गच्छति, आदिशब्दादन्यस्याप्येवंविधस्थानस्य परिग्रहः ॥ ८७० ॥ अथ बहिर्ग्रहणे प्रायश्चित्तमतिदिशन्नाह—

अंतो आवणमाईगहणे जा वण्णिया सवित्थारा ।
बहिया उ अन्नगहणे, पडियम्मि उ होइ स चेव ॥ ८७१ ॥

ग्रामादीनाम् 'अन्तः' मध्ये आपणादौ–आपणे आपणवर्जे वा जुगुप्सितेऽजुगुप्सिते वा सपरिग्रहेऽपरिग्रहे वा ग्रहणे या सविस्तरा "दिट्ठे संका भोइय" (गा० ८६६) इत्यादिलक्षणप्रपञ्चसहिता वर्णिता शोधिरित्युपस्कारः सैव ग्रामादीनां बहिः पतितप्रलम्बविषयेऽन्यत्रग्रहणे 5 निरवशेषा द्रष्टव्या ॥ ८७१ ॥ उक्तं बहिर्ग्रहणम्, तद्भणने च समर्थितं वसत्प्रदेशविषयं ग्रहणम् । अथाटवीविषयमाह—

कोट्टगमाई रन्ने, एमेव जणो उ जत्थ पुंजेइ ।
तहियं पुण वचंते, चउपयभयणा उ छद्दसिया ॥ ८७२ ॥

'जनः' लोकः प्रचुरफलायामटव्यां गत्वा फलानि यावत्पर्याप्तं गृहीत्वा यत्र गत्वा शोषयति, 10 पश्चाद् गन्त्री-पोट्टलकादिभिरानीय नगरादौ विक्रीणाति तत् कोट्टकमुच्यते । ततश्चारण्ये कोट्टकादौ प्रदेशे यत्र जनः फलानि शोषणार्थं 'पुञ्जयति' पुञ्जीकरोति तत्र प्रलम्बग्रहणे 'एवमेव' यथा वसिमे "दिट्ठे संका भोइय" (गा० ८६६) इत्यादिकमुक्तं तथैव प्रायश्चित्तमवसातव्यम् । विशेषः पुनरयम्—"तहियं पुण" इत्यादि । 'तत्र पुनः' कोट्टकादौ व्रजतः चतुर्भिः पदैः 'भजना' भङ्गकरचना 'षड्दशिका' षोडशभङ्गप्रमाणा कर्त्तव्या ॥ ८७२ ॥ कथम्? इति चेद् उच्यते— 15

वचंतस्स य दोसा, दिया य राती य पंथ उप्पंथे ।
उवउत्त अणुवउत्ते, सालंब तहा निरालंबे ॥ ८७३ ॥

तत्र व्रजतो बहवो दोषा भवन्ति, ते चोपरिष्टाद् भणिष्यन्ते । दिवा च रात्रिश्च पन्था उत्पथश्च उपयुक्त अनुपयुक्तः सालम्बस्तथा निरालम्बश्चेति अक्षरयोजना । अथ भावार्थ उच्यते—दिवा गच्छति पथा उपयुक्तः सालम्बः १ दिवा गच्छति पथा उपयुक्तो निरालम्बः २ दिवा गच्छति 20 पथा अनुपयुक्तः सालम्बः ३ दिवा गच्छति पथा अनुपयुक्तो निरालम्बः ४, एवमुत्पथपदेनापि चत्वारो भङ्गाः प्राप्यन्ते, जाता अष्टौ भङ्गाः ८, एते दिवापदममुञ्चता लब्धाः, एवं रात्रिपदममुञ्चताऽप्यष्टौ भङ्गा लभ्यन्ते, सर्वसङ्ख्यया षोडश भङ्गाः ॥ ८७३ ॥ अमीषां रचनोपायमाह—

अट्ठग चउक्क दुग एक्कगं च लहुगा य होंति गुरुगा य ।
सुद्धा एगंतरिया, पढमरहिय सेसगा तिण्णि ॥ ८७४ ॥ 25

इहाक्षाणां चतस्रः पङ्क्तयः स्थाप्यन्ते । तत्र प्रथमपङ्क्तौ प्रथममष्टौ लघुकास्ततोऽप्यष्टौ गुरुका इत्येवं षोडशाक्षा निक्षेपणीयाः, द्वितीयपङ्क्तौ चत्वारः प्रथमं लघुकास्ततश्चत्वारो गुरुकाः पुनश्चत्वारो लघुकास्तदनु चत्वारो गुरुकाः, तृतीय[3]पङ्क्तावपि षोडशाक्षा द्वौ लघुकौ द्वौ गुरुकावित्य-

---

१ "कोट्टगं णाम जत्थ भिल्ला लोगो वा अडवीए पउरफलाए गंतुं फलाणि पुंजेति" इति चूर्णिः ॥
२ °प्यन्ते । एकैकस्यां च पङ्क्तौ षोडश षोडशाक्षाः स्थाप्याः । तत्र च प्रथमपङ्क्तौ दिवाग्रहणं कुर्वद्भिरधोऽधोऽक्षान् निक्षिपद्भिरष्टौ लघुका अक्षाः स्थापनीयाः तेषामधो रात्रिग्रहणं कुर्वाणैरष्टौ गुरुका अक्षा निक्षेपणीयाः । द्विती° भा० ॥ ३ °यपङ्क्तौ द्वौ लघुकौ द्वौ गुरुकौ पुनर्द्वौ लघुकौ द्वौ गुरुकावित्यनेन क्रमेण षोडशाक्षा निक्षेप्याः । चतुर्थं° भा० ॥

नेन क्रमेण निक्षेप्याः, चतुर्थपङ्क्तावेको लघुक एको गुरुक इत्येकान्तरितलघु-गुरुरूपाः षोडशै-
वाक्षाः स्थापयितव्याः । एवमन्यत्रापि भङ्गकप्रस्तारे यत्र यावन्तो भङ्गकास्तत्र तावदायामः चर-
मपङ्क्तावेकान्तरितानाम् अर्वाक्तनपङ्क्तिषु पुनर्द्विगुणद्विगुणानां लघु-गुरूणामक्षाणां निक्षेपः कर्तव्यः ।
उक्तञ्च—

5 भंगपमाणायामो, लहुओ गुरुओ य अक्खनिक्खेवो ।
आरओ दुगुणा दुगुणो, पत्थारे होइ निक्खेवो ॥ (कल्पबृहद्भाष्ये)

एतेष्वेव शुद्धा-ऽशुद्धस्वरूपं दर्शयति—"सुद्धा एगंतरिया" इत्यादि । प्रथमे भङ्गकाष्टके
प्रथमभङ्गरहिताः शेषास्त्रयो भङ्गका एकान्तरिताः शुद्धाः । इदमुक्तं भवति—प्रथमो भङ्गकश्चतु-
र्ष्वपि पदेषु निरवद्यत्वादेकान्तेन शुद्ध इति न काचित् तदीया विचारणा, तं मुक्त्वा ये प्रथ-
10 माष्टके शेषा भङ्गकास्ते एकान्तरितास्तृतीय-पञ्चम-सप्तमरूपास्त्रयः क्वचिदुत्पथादौ पदेऽशुद्धा अपि
सालम्बनत्वाच्छुद्धाः प्रतिपत्तव्याः । अर्थादापन्नं द्वितीय-चतुर्थ-षष्ठा-ऽष्टमा भङ्गका दिवादौ पदे शुद्धा
अपि निरालम्बनत्वादशुद्धाः । एवं द्वितीयाष्टकेऽपि प्रथमो भङ्गः शुद्धः शेषास्त्रयः एकान्तरिताः
शुद्धाः, सालम्बनत्वात्[१] ॥ ८७४ ॥ अत एवाह—

पढमो एत्थ उ सुद्धो, चरिमो पुण सव्वहा असुद्धो उ ।
15 **अवसेसा वि य चउदस, भंगा भइयव्वगा होंति ॥ ८७५ ॥**

प्रथमो भङ्गः 'अत्र' एषां षोडशानां भङ्गानां मध्ये 'शुद्धः' सर्वथा निर्दोषः, चरमश्च भङ्गः
सर्वथा अशुद्धः, अवशेषाश्चतुर्दश भङ्गाः 'भक्तव्याः' विकल्पयितव्या भवन्ति, केचित् शुद्धाः
केचित् पुनरशुद्धा इति भावः ॥ ८७५ ॥ कथम् ? इति चेद् उच्यते—

आगाढम्मि उ कज्जे, सेस असुद्धो वि सुज्झए भंगो ।
20 **न विसुज्झे अणागाढे, सेसपदेहिं जइ वि सुद्धो ॥ ८७६ ॥**

'आगाढे कार्ये' पुष्टे आलम्बने गच्छतः 'शेषैः' राज्युत्पथानुपयुक्तलक्षणैः पदैरशुद्धोऽपि भङ्गः
शुध्यति । 'अनागाढे' आलम्बनाभावे शेषैः—दिवापथोपयुक्तलक्षणैः पदैर्यद्यपि शुद्धस्तथापि न
विशुध्यति ॥ ८७६ ॥ अथ किं कुत्र प्रायश्चित्तं भवति ? इत्युच्यते—

लहुगा य निरालंबे, दिवसतो रत्तिं हवंति चउगुरुगा ।
25 **लहुगो य उप्पहेणं, रीयादी चेवऽणुवउत्ते ॥ ८७७ ॥**

यत्र यत्र निरालम्बस्तत्र तत्र दिवसतो गच्छतः चत्वारो लघुकाः, रात्रौ चत्वारो गुरुकाः ।
यत्र यत्र दिवसत उत्पथेन गच्छति तत्र तत्र मासलघु । यत्र यत्र दिवसत ईर्याप्रभृतिसमिति-
ष्वनुपयुक्तो गच्छति तत्र तत्र मासलघु । रात्रावुत्पथगमनेऽनुपयुक्तगमने च मासगुरु ॥ ८७७ ॥

---

१ °व्याः । "सुद्धा एगंतरिया" इत्यादिना पश्चार्द्धेन भङ्गकानां शुद्धा-ऽशुद्धस्वरूपं निर्द्धा-
रितम् । तथाहि—प्रथमे भङ्गकाष्टके भा० ॥ २ एतद्गाथानन्तरं चूर्णिकृद्भिः "इदाणिं एतेसिं
पच्छित्तं भण्णति" इत्यवतीर्य "दिव-रातो लहु-गुरुगा०" ८७८ गाथा स्वीकृताऽस्ति, तदनन्तरम् "अस्य
व्याख्या" इत्युल्लिख्यैतद्गाथाव्याख्यानरूपेण "लहुगा य णिरालंबे०" ८७७ गाथा व्याख्याता वर्त्तते ॥
३ °वसेसा° त० डे० ॥

अथ प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमाह—

दिय-राओ लहु-गुरुगा, आणा चउ गुरुग लहुग लहुगा य ।
संजम-आयविराहण, संजमें आरोवणा इणमो ॥ ८७८ ॥

अशुद्धेषु भङ्गेषु सर्वेष्वपि दिवसतो गच्छतश्चत्वारो लघुकाः, रात्रौ पुनश्चत्वारो गुरुकाः । तीर्थकराणामाज्ञाभङ्गे चतुर्गुरुकाः । अनवस्थायां चत्वारो लघुकाः । मिथ्यात्वेऽपि चत्वारो 5 लघुकाः । अत्र चानवस्था-मिथ्यात्वे प्रक्रमाद् द्रष्टव्ये । विराधना द्विविधा—संयमे आत्मनि च । तत्र संयमविराधनायाम् 'इयं' वक्ष्यमाणा 'आरोपणा' प्रायश्चित्तम् ॥ ८७८ ॥ तामेवाह—

छक्काय चउसु लहुगा, परित्त लहुगा य गुरुग साहारे ।
संघट्टण परितावण, लहु गुरुगऽतिवायणे मूलं ॥ ८७९ ॥

'षट्कायाः' पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसरूपाः । तेषां मध्ये 'चतुर्षु' पृथिव्यप्तेजोवायुषु सङ्घ- 10 ट्टनादौ लघुकपर्यन्तं प्रायश्चित्तम् । 'परीत्ते' प्रत्येकवनस्पतिकायेऽपि लघुकान्तम् । 'साधारणे' अनन्तवनस्पतौ गुरुकान्तम् । तथा द्वीन्द्रियादीनां सङ्घट्टने परितापने च यथायोगं लघुका गुरुकाश्च प्रायश्चित्तम्, 'अतिपातने' विनाशने मूलम् । इयमत्र भावना—पृथिवीकायं सङ्घट्टयति मासलघु, परितापयति मासगुरु, अपद्रावयति चतुर्लघु; एवमप्काये तेजःकाये वायुकाये प्रत्येकवनस्पतिकाये च द्रष्टव्यम्; अनन्तवनस्पतिं यदि सङ्घट्टयति तदा मासगुरु, परितापयति चतुर्लघु, 15 अपद्रावयति चतुर्गुरु; द्वीन्द्रियं सङ्घट्टयति चतुर्लघु, परितापयति चतुर्गुरु, जीविताद् व्यपरोपयति षड्लघु; त्रीन्द्रियं सङ्घट्टयतश्चतुर्गुरु, परितापयतः षड्लघु, जीविताद् व्यपरोपयतः षड्गुरु; चतुरिन्द्रियं सङ्घट्टयतः षड्लघु, परितापयतः षड्गुरु, जीविताद् व्यपरोपयतः छेदः; पञ्चेन्द्रियं सङ्घट्टयतः षड्गुरु, परितापयतो लघुमासिकच्छेदः, अपद्रावयतो मूलम् ॥ ८७९ ॥

अथैतदेव प्रायश्चित्तं रात्रौ विशेषयन्नाह— 20

जहिँ लहुगा तहिँ गुरुगा, जहिँ गुरुगा कालगुरुग तहिँ ठाणे ।
छेदो य लहुय गुरुओ, काएसाऽऽरोवणा रत्तिं ॥ ८८० ॥

यत्र दिवसतः 'लघुकानि' मासलघु-चतुर्लघु-षड्लघुरूपाणि तत्र रात्रावेतान्येव 'गुरुकाणि' मासगुरु-चतुर्गुरु-षड्गुरुरूपाणि कर्त्तव्यानि । यत्र पुनरग्रेऽपि गुरुकाणि मासादीनि तत्र स्थाने तान्येव कालगुरुकाणि दातव्यानि । यत्र च च्छेदो लघुकस्तत्र स एव गुरुकः कर्त्तव्यः । 'काये' 25 कायविषया एषा आरोपणा रात्रौ ज्ञातव्या ॥ ८८० ॥ अथाऽऽत्मविराधनामाह—

कंट-ऽट्ठि खाणु विज्जल, विसम दरी निन्न मुच्छ-सूल-विसे ।
वाल-ऽच्छभल्ल-कोले, सीह-विग-वराह-मेच्छित्थी ॥ ८८१ ॥
तेणे देव-मणुस्से, पडिणीए एवमाइ आयाए ।
मास चउ छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ ८८२ ॥ 30

स साधुः कोट्टकादौ व्रजन् कण्टकेन वा अस्थ्ना वा स्थाणुना वा पदयोः परिताप्येत । 'विज्जलं' पङ्किलम् 'विषमं' निम्नोन्नतम् 'दरी' कुसारादिका 'निम्नं' गम्भीरा गर्त्ता; एतेषु पतितस्य मूर्च्छा वा भवेत्, शूलं वा अनुधावेत, "विसं" ति विषकण्टकेन वा विध्येत, विषफलं वा भक्षयेत्, तथा

व्यालेन—सर्पादिना अच्छभल्लेन वा—ऋक्षेण कोलेन वा—महाशूकरेण सिंहेन वा वृकेण वा वराहेण वा उपद्रूयेत, म्लेच्छः पुरुषः प्रान्ततया प्रहारादिकं दद्यात्, स्त्री वा तं साधुमुपसर्गयेत्, अथवा म्लेच्छस्त्री—पुलिन्दीप्रभृतिका तमुपसर्गयेत्, तन्निमित्तं म्लेच्छः कुपितो वध-बन्धादि कुर्यात्॥ ८८१ ॥

5 स्तेनो द्विविधः—शरीरस्तेन उपधिस्तेनश्च, तेनोपद्रवः क्रियेत, देवता वा प्रान्ता तं साधुं प्रमत्तं दृष्ट्वा च्छलयेत्, अपरो वा कोऽपि प्रत्यनीको मनुष्यो विजनमरण्यं मत्वा मारणादि कुर्यात्, एवमादिका आत्मनि विराधना भवति । तत्रेदं प्रायश्चित्तम्—"मास चउ" इत्यादि पश्चार्द्धम् । कण्टकादिभिरनागाढं परिताप्यते चतुर्लघु, आगाढं परिताप्यते चतुर्गुरु, अथ महादुःखमुत्पद्यते ततः षड्लघु, मूर्च्छामूर्च्छे षड्गुरु, कृच्छ्रप्राणे च्छेदः, कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलम्, मारणान्तिकसमुद्घातेऽ-
10 नवस्थाप्यम्, कालगते पाराञ्चिकम् ॥८८२॥ अथाऽऽत्मविराधनायामेव सामान्यतः प्रायश्चित्तमाह—

कंटं-ऽट्ठिमाइएहिं, दिवसतो सव्वत्थ चउगुरू होंति ।
रत्तिं पुण कालगुरू, जत्थ व अन्नत्थ आयवहो ॥ ८८३ ॥

कण्टका-ऽस्थिकादिभिः परितापनायां सर्वत्र दिवसतश्चतुर्गुरवो भवन्ति । रात्रौ पुनस्त एव चतुर्गुरवः कालगुरवो ज्ञातव्याः । अन्यत्रापि यत्र 'आत्मवधः' आत्मविराधना भवति तत्र सर्वत्रापि
15 चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तम् ॥ ८८३ ॥ तथा—

पोरिसिनासण परिताव ठावणं तेण देह उवहिगतं ।
पंतादेवयछलणं, मणुस्सपडिणीयवहणं च ॥ ८८४ ॥

कण्टकादिना पीडितः सन् सूत्रपौरुषीं न करोति मासलघु, अर्थपौरुषीं न करोति मासगुरु, सूत्रं नाशयति चतुर्लघु, अर्थं नाशयति चतुर्गुरु । "परिताव" त्ति अनागाढपरितापे चतुर्लघु,
20 आगाढपरितापे चतुर्गुरु । "ठावण" त्ति अनाहारं स्थापयति चतुर्लघु, आहारं स्थापयति चतुर्गुरु, परीत्तं स्थापयति चतुर्लघु, अनन्तं स्थापयति चतुर्गुरु, अस्नेहं स्थापयति चतुर्लघु, सस्नेहं स्थापयति चतुर्गुरु । तथा "तेण" त्ति उपधिस्तेनाः, तैः उपधौ ह्रियमाणे उपधिगतं जघन्यमध्यमोत्कृष्टोपधिनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । "देह" त्ति देहस्तेनाः—शरीरापहारिणस्तैरेकः साधुः ह्रियते मूलम्, द्वयोर्ह्रियमाणयोरनवस्थाप्यम्, त्रिषु ह्रियमाणेषु पाराञ्चिकम् । प्रान्तया देवतया यदि च्छलनं
25 क्रियते ततश्चतुर्गुरु । प्रत्यनीकमनुष्येण पुरुषेण स्त्रिया नपुंसकेन वा हन्येत चत्वारो गुरवः ॥८८४॥

अथ प्रकृतमर्थमुपसंहरन्नर्थान्तरमुपन्यस्यन्नाह—

एवं ता असहाए, सहायसहिए इमे भवे भेदा ।
जय अजय इत्थि पंडे, अस्संजइ संजईहिं च ॥ ८८५ ॥

एवं तावत् 'असहायस्य' एकाकिनो व्रजतो दोषा उक्ताः । सहायसहिते व्रजति विचार्यमाणे
30 एते सहायस्य भेदा भवन्ति । तद्यथा—'यताः' संयताः 'अयताः' असंयताः "इत्थि" त्ति पाषण्डिस्त्रियः 'पण्डकाः' नपुंसकाः 'असंयत्यः' गृहस्थस्त्रियः 'संयत्यः' साध्व्यः, एतैः सार्द्धं गच्छति ॥ ८८५ ॥ इदमेव व्याचष्टे—

१ गाथेयं चूर्णौ नास्त्यादृता ॥

संविग्गाऽसंविग्गा, गीया ते चेव होंति अग्गीया ।
लहुगा दोहि विसिट्ठा, तेहिँ समं रत्ति गुरुगा उ ॥ ८८६ ॥

संविग्ना गीतार्थाः, असंविग्ना गीतार्थाः, संविग्ना अगीतार्थाः, असंविग्ना अगीतार्थाः; एतैः समं गच्छतः 'द्वाभ्यां' तपः-कालाभ्यां विशिष्टा लघुकाः प्रायश्चित्तम् । तद्यथा—संविग्नैर्गीतार्थैः समं व्रजति चत्वारो लघवस्तपसा कालेन च लघुकाः, असंविग्नैर्गीतार्थैः समं गच्छति चतुर्लघवः 5 तपसा लघुकाः कालेन गुरुकाः, संविग्नैरगीतार्थैः सार्द्धं याति चतुर्लघु कालेन लघु तपसा गुरु, असंविग्नैरगीतार्थैः समं व्रजति चतुर्लघु तपसा कालेन च गुरु । एतद् दिवसतो ज्ञातव्यम् । रात्रौ तैः समं व्रजतः एवमेव तपः-कालविशेषिताश्चतुर्गुरुकाः ॥ ८८६ ॥

अस्संजय-लिंगीहिँ उ, पुरिसागिइपंडएहिँ य दिवा उ ।
अस्सोय सोय छल्लहु, ते चेव उ रत्ति गुरुगा उ ॥ ८८७ ॥ 10

असंयता द्विविधाः—गृहिणो लिङ्गिनश्च । लिङ्गमेषां विद्यत इति लिङ्गिनः—अन्यपाषण्डिन इत्यर्थः । तथा पुरुषाकृतयः—पुरुषनेपथ्यधारिणः पण्डकाः । एते त्रयोऽपि प्रत्येकं द्विविधाः—शौचवादिनोऽशौचवादिनश्च । तत्राशौचवादिभिर्गृहिभिः समं व्रजति षड्लघु उभयलघुकम्, शौचवादिभिः समं व्रजति षड्लघु कालगुरुकम् । अन्यलिङ्गिभिरशौचवादिभिः सार्द्धं व्रजति षड्-लघु कालगुरुकम्, शौचवादिभिः समं व्रजति षड्लघु तपोगुरुकम् । पुरुषाकृतिभिः पण्डकैरशौच- 15 वादिभिः समं व्रजति षड्लघु तपोगुरुकम्, शौचवादिभिः समं व्रजति षड्लघु तपसा कालेन च गुरुकम् । एतद् दिवसतः प्रायश्चित्तमुक्तम् । रात्रौ तु 'त एव' षण्मासाः गुरुकाः, षड् गुरवस्तपः-कालविशेषिता एवमेव दातव्या इति भावः ॥ ८८७ ॥

पासंडिणित्थि पंडे, इत्थीवेसेसु दिवसतो छेदो ।
तेहिँ चिय निसि मूलं, दिय-रत्ति दुगं तु समणीहिँ ॥ ८८८ ॥ 20

तापसी-परिव्राजिकादिभिः पाषण्डिनीभिः "इत्थि" त्ति गृहस्थस्त्रीभिः स्त्रीवेषधारिभिश्च पण्ड-कैरशौचवादिभिः सह दिवसतो गच्छतो लघुकश्छेदः शौचवादिभिः सह गुरुकश्छेदः । तैरेव सह 'निशि' रात्रौ गच्छतो मूलम् । श्रमणीभिः समं दिवा गच्छतोऽनवस्थाप्यम् । रात्रौ श्रमणीभिः सह गच्छति पाराञ्चिकम् ॥ ८८८ ॥ प्रकारान्तरेणात्रैव प्रायश्चित्तमाह—

अहवा समणा-ऽसंजय-अस्संजइ-संजईहिँ दियराओ । 25
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च ॥ ८८९ ॥

'अथवा' इति प्रकारान्तरद्योतने । 'श्रमणाः' संयतास्तैः सार्द्धं दिवा गच्छति चतुर्लघु, रात्रौ गच्छति चतुर्गुरु । असंयतैः सार्द्धं दिवा गच्छति षड्लघु, रात्रौ गच्छति षड्गुरु । असंयतीभिः समं दिवा व्रजति च्छेदः, रात्रौ गच्छति मूलम् । संयतीभिः सह दिवसतो गच्छति अनवस्थाप्यम्, रात्रौ गच्छति पाराञ्चिकम् ॥ ८८९ ॥ तदेवमुक्तमटवीविषयं ग्रहणम् । तदुक्तौ चावसित- 30 मन्यत्रग्रहणम् । अथ तत्रग्रहणं बिभावयिषुरुक्तार्थसदृशं विधिमतिदिशन्नाह—

जह चेव अद्धगहणेऽरण्णे गमणाइ वण्णियं एयं ।
तत्थगहणे वि एवं, पढियं जं होइ अचित्तं ॥ ८९० ॥

यथैवान्यत्रग्रहणेऽरण्यविषयं षोडशभङ्गरचनया गमनम् आदिशब्दात् संयमा-ऽऽत्मविराधना-समुत्थं दोषजालं प्रायश्चित्तं च 'एतद्' अनन्तरमेव वर्णितं 'तत्रग्रहणेऽपि' विवक्षितप्रलम्बाधारभूत-वृक्षस्याधःपतितं यदचित्तं प्रलम्बं तद् गृह्णानस्याप्येवमेव निरवशेषं वर्णनीयं यावत् श्रमणीभिः सह गमनमिति ॥ ८९० ॥ यस्तु विशेषस्तमुपदिदर्शयिषुराह—

5 **तत्थग्गहणं दुविहं, परिग्गहमपरिग्गहं दुविहभेयं ।**
दिट्ठादपरिग्गहिए, परिगहिएँ अणुग्गहं कोइ ॥ ८९१ ॥

तत्रग्रहणं द्विविधम्, तद्यथा—सपरिग्रहमपरिग्रहं च । यद् देवतादिभिः परिगृहीतं वृक्षादि तद्विषयं सपरिग्रहम्, तद्विपरीतमपरिग्रहम् । तदुभयमपि 'द्विविधभेदं'[1] द्विविधेन—सचित्ता-ऽचित्त-भेदद्वयेन भेदः—पार्थक्यं यस्य तद् द्विविधभेदम्, सचित्ता-ऽचित्तभेदभिन्नमिति भावः । 10 तत्र यदपरिगृहीतमचित्तं[2] तद् गृह्णानस्य "दिट्ठाइ" त्ति "दिट्ठे संका भोइय" (गा० ८६६) इत्या-दिका आरोपणा सर्वाऽपि प्राग्वद् द्रष्टव्या[3] । यत् पुनः परिगृहीतमचित्तं तद् गृह्णतः कश्चिद् भद्रकः परिग्रहीता अनुग्रहं मन्येत । एतदग्रतो भावयिष्यते (गा० ८९५) ॥ ८९१ ॥

अथ सपरिग्रहस्यैव स्वरूपं निरूपयति—

तिविह परिग्गह दिव्वे, चउलहु चउगुरुग छल्लहुकोसे ।
15 **अहवा छल्लहुग चिय, अंत गुरू तिविह दिव्वम्मि ॥ ८९२ ॥**

सपरिग्रहं त्रिविधम्, तद्यथा—देवपरिगृहीतं मनुष्यपरिगृहीतं तिर्यक्परिगृहीतं [च] । तत्र यद् दिव्यं—देवपरिगृहीतं तद् त्रिविधम्—जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं च । व्यन्तरपरिगृहीतं जघन्यम्, भवनपति-ज्योतिष्कपरिगृहीतं मध्यमम्, वैमानिकपरिगृहीतमुत्कृष्टम् । तत्र जघन्यपरिगृहीतं प्रलम्बं गृह्णाति चत्वारो लघवः, मध्यमपरिगृहीतं गृह्णाति चत्वारो गुरवः, उत्कृष्टपरिगृहीतं गृह्णाति षड् 20 लघवः । अथवा त्रिष्वपि जघन्य-मध्यमोत्कृष्टेषु षड् लघव एव प्रायश्चित्तम्, केवलं तपः-काल-विशेषितम्—जघन्ये तपोलघु कालगुरुकम्, मध्यमे काललघु तपोगुरुकम्, 'अन्त्ये च' उत्कृष्टे द्वाभ्यामपि गुरुकं कर्तव्यमिति त्रिविधदिव्यविषयं प्रायश्चित्तम् ॥ ८९२ ॥

गतं देवपरिगृहीतम् । अथ मनुष्यपरिगृहीतमाह—

सम्मेतर सम्म दुहा, सम्मे लिंगि लहु गुरुओं गिहिएसुं ।
25 **मिच्छा लिंगि गिही वा, पागय-लिंगीसु चउलहुगा ॥ ८९३ ॥**
गुरुगा पुण कोडुंबे, छल्लहुगा होंति दंडियारामे ।

मनुष्यपरिगृहीतं द्विधा—सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं "इयर" त्ति मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं च । तत्र यत् सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं तद् द्विधा—पार्श्वस्थादिलिङ्गस्थपरिगृहीतं गृहस्थपरिगृहीतं च । लिङ्गस्थपरि-गृहीते मासलघु, गृहिभिः सम्यग्दृष्टिभिः परिगृहीते मासगुरु । यत् पुनर्मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं तद् 30 द्विविधम्—"लिंगि" त्ति अन्यपाषण्डिपरिगृहीतं गृहस्थपरिगृहीतं च । तत्र गृहस्थपरिगृहीतं

---

१ °धभेदं' द्वाभ्यां विधाभ्यां-सचित्ता-ऽचित्तरूपाभ्यां भेदः भा० ॥ २ °मचित्तं सचित्तं वा तद् भा० ॥ ३ °व्या । नवरं सचित्ते कायप्रायश्चित्तम् । तत्र प्रत्येकसचित्ते चतुर्लघु, अनन्तसचित्ते चतुर्गुरु । यत् पुनः परिगृहीतं सचित्तमचित्तं वा तत्र कश्चिद् भा० ॥

त्रिधा—प्राकृतपरिगृहीतं कौटुम्बिकपरिगृहीतं दण्डिकपरिगृहीतं च । तत्र प्राकृतपरिगृहीते लिङ्गि-परिगृहीते च चतुर्लघुकाः ॥ ८९३ ॥

कौटुम्बिकपरिगृहीते पुनश्चत्वारो गुरुकाः । 'दण्डिकारामे' दण्डिकपरिगृहीते उद्याने षड् लघुकाः । गतं मनुष्यपरिगृहीतम् । अथ तिर्यक्परिगृहीतं भाव्यते—

तिरिया य दुट्ठ-ऽदुट्ठा, दुट्ठे गुरुगाइरे(गेयरे) लहुगा ॥ ८९४ ॥ 5

तिर्यञ्चश्च द्विविधाः—दुष्टा अदुष्टाश्च । दुष्टाः हस्ति-शुनकादयः, अदुष्टाः रोझ-हरिणादयः । दुष्टतिर्यक्परिगृहीते चतुर्गुरुकाः, 'इतरैः' अदुष्टैः परिगृहीते चतुर्लघुकाः ॥ ८९४ ॥ गतं तिर्यक्परिगृहीतम् । अथ यदुक्तं "परिगहिएँ अणुग्गहं कोइ" (गा० ८९१) त्ति तदेतद् भावयति—

भद्देतर सुर-मणुया, भद्दो घिप्पंति दट्ठुणं भणइ ।

अन्ने वि साहु! गिण्हसु, पंतो छण्हेगयर कुज्जा ॥ ८९५ ॥ 10

यस्य सुरस्य मनुजस्य वा परिग्रहे स आरामो वर्त्तते स भद्रो वा भवेत् 'इतरो वा' प्रान्तः । तत्र भद्रः प्रलम्बं गृह्यमाणं दृष्ट्वा तं साधुं भणति—साधु त्वया कृतम्, तारिता वयं संसारसागरात्, अन्यान्यपि हे साधो ! पर्याप्तानि गृहाण इत्यादि । प्रान्तः पुनः षण्णां प्रकाराणामेकतरं कुर्यात् ॥ ८९५ ॥ अथ क एते षट् प्रकाराः ? उच्यते—

पडिसेहणा खरंटण, उवलभ पंतावणा य उवहिम्मि । 15

गिण्हण-कड्ढण-ववहार-पच्छकडुड्डाह-निव्विसए ॥ ८९६ ॥

प्रतिषेधनं प्रतिषेधना—निवारणेत्यर्थः १ 'खरण्टना' खर-परुषवचनैर्निर्भर्त्सना २ 'उपालम्भः' सपिपासवचनैः शिक्षा ३ 'प्रान्तापना' यष्टि-मुष्ट्यादिभिस्ताडना ४ "उवहिम्मि" त्ति उपधिहरणम् ५ इति पञ्च भेदाः, ग्रहणाकर्षणव्यवहारपश्चात्कृतोड्डाहनिर्विषय इत्येक एव षष्ठो भेदः ६ इति सङ्ग्रहगाथासमासार्थः ॥ ८९६ ॥ अथैनामेव विवरीषुराह— 20

जं गहियं तं गहियं, बिइयं मा गिण्ह हरइ वा गहियं ।

जायसु ममं व कज्जे, मा गिण्ह सयं तु पडिसेहो ॥ ८९७ ॥

'यद् गृहीतं प्रलम्बं तद् गृहीतं नाम, द्वितीयं पुनर्वारं मा ग्रहीः' इति वचनं यद् वक्ति, यद्वा गृहीतं सत् प्रलम्बं तस्य प्रव्रजितस्य हस्ताद् 'हरति' उद्दालयति, भणति वा 'कार्ये समापतिते मामेव याचस्व, स्वयं पुनर्मा गृहाण' इत्येष सर्वोऽपि प्रतिषेध उच्यते ॥ ८९७ ॥ 25

अथ खरण्टनामाह—

धी मुंडितो दुरप्पा, धिरत्थु ते एरिसस्स धम्मस्स ।

अन्नत्थ वा वि लब्भिसि, मुक्को सि खरंटणा एसा ॥ ८९८ ॥

धिग् मुण्डितो दुरात्मा । धिगस्तु 'ते' तव सम्बन्धिन ईदृशस्य धर्मस्य, यत्र चौर्यं क्रियत इति भावः । यद्वा मया मुक्तोऽसि परमन्यत्रापि त्वमीदृशैश्चेष्टितैर्विडम्बनां लप्स्यसे । एषा निष्पिपासनिर्भर्त्सना खरण्टना भण्यते ॥ ८९८ ॥ उपालम्भमाह— 30

१ °गाइ इतरे लहुगा उ ता० ॥ २ °ष्टाः शृगाल-हरि° मो० ले० विना ॥ ३ उच्यन्ते मो० ले० कां० ॥ ४ उलंभ ता० ॥

आमफलाणि न कप्पंति तुम्ह मा सेसए वि दूसेहिं ।
मा य सकज्जे मुज्झसु, एमाई होउवालंभो ॥ ८९९ ॥

आमफलानि युष्माकं ग्रहीतुं न कल्पन्ते, अतः शेषानपि साधून् 'मा दूषय' निजदुश्चरितेन मा कलङ्कितान् कुरु, मा च 'स्वकार्ये' निरवद्यप्रवृत्त्यात्मके चारित्रे मुहः, एवमादिकः सपिपास-
5 शिक्षारूप उपालम्भो भवति ॥ ८९९ ॥

प्रान्तापनोपधिहरणे भावयति—

कर-पाय-दंडमाइसु, पंतावणगाढमाइ जा चरिमं ।
अप्पो अ अहाजाओ, सव्वो दुविहो वि जं च विणा ॥ ९०० ॥

कर-पाद-दण्डादिभिः आदिशब्दाद् लतादिभिश्च ताडनं प्रान्तापना । तस्यां चानागाढपरि-
10 तापादिषु 'चरमं' पाराञ्चिकं यावत् प्रायश्चित्तम् । अल्पं वा बहुं वा स उपधिं हरेत् । अल्पो नाम यथाजातः, निषद्याद्वयोपेतं रजोहरणं मुखवस्त्रिका चोलपट्टकश्चेत्यर्थः । बहुः पुनः 'सर्वः' चतुर्दशविध उपधिः । अथवा 'द्विविधः' औघिकौपग्रहिकरूपः । यच्च तृणग्रहणादिकमुपधिं विना भवेत् तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ॥ ९०० ॥ सम्प्रत्यनुग्रहादिपदेषु प्रायश्चित्तमाह—

लहुगा अणुग्गहम्मी, अप्पत्तिय गुरुग तीसु ठाणेसु ।
15 **पंतावणे चउगुरुगा, अप्प बहुम्मी हिए मूलं ॥ ९०१ ॥**

यस्य सम्बन्धी स आरामः स यदि चिन्तयति 'अनुग्रहो मे यद् मदीयानि प्रलम्बानि साधवो गृह्णन्ति' इत्यनुग्रहे मन्यमाने चतुर्लघवः । अथाप्रीतिकं करोति तूष्णीकश्च तिष्ठति ततश्चतुर्गुरुकाः । अथाप्रीतिकवशात् प्रतिषेधं खरण्टनामुपालम्भं वा कुर्यात् ततस्त्रिष्वपि स्थानेषु प्रत्येकं चतुर्गुरवः । प्रान्तापनेऽपि चतुर्गुरुकाः । अल्पे वा बहौ वा उपधौ हृते मूलम् । यद्वोपधिनिष्पन्नम्, तद्यथा—
20 उत्कृष्टे उपधौ चतुर्लघवः, मध्यमे मासलघु, जघन्ये रात्रिन्दिवपञ्चकम् । आह कथमेकत्रैव मूलम् ? उपधिनिष्पन्नं वा ? उच्यते—प्रमादतः प्रलम्बानि गृह्णत उपधिहरणे उपधिनिष्पन्नम्, दर्पतस्तु प्रलम्बानि गृह्णानस्योपकरणापहारे मूलम् ॥ ९०१ ॥

अथ "पंतावणगाढमाइ चरिमं पि (जा चरिमं)" (गा० ९००) पदं व्याचष्टे—

परितावणाइ पोरिसि, ठवणा महय मुच्छ किच्छ कालगए ।
25 **मास चउ छच्च लहु गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च ॥ ९०२ ॥**

प्रान्तापितस्य सतोऽनागाढा परितापना भवति चतुर्लघु, आगाढा भवति चतुर्गुरु, परितापनाभिभूतः सन् सूत्रपौरुषीं न करोति मासलघु, अर्थपौरुषीं न करोति मासगुरु, सूत्रं नाशयति चतुर्लघु, अर्थं नाशयति चतुर्गुरु, प्राशुकं स्थापयति चतुर्लघु, अप्राशुकं स्थापयति चतुर्गुरु, प्रत्येकस्थापने चतुर्लघु, अनन्तस्थापने चतुर्गुरु इत्यादि प्राग्वद् वक्तव्यम् । "महय" त्ति महादुःखे षड्-
30 लघु, मूर्च्छायां षड्गुरु, कृच्छ्रप्राणे च्छेदः, कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलम्, समवहतेऽनवस्थाप्यम्, कालगते पाराञ्चिकम् ॥ ९०२ ॥ अथ "यच्च तृणग्रहणादिकमुपधिना विना भवेत्" (गा० ९००) इति पदं विवृणोति—

---

१ प्रतापना मो० के० ॥

तणगहणे झुसिरेतर, अग्गी सङ्घाण अभिनवे जं च ।
एसणपेल्लण गहणे, काया सुत मरण ओहाणे ॥ ९०३ ॥

वर्षाकल्पादावुपकरणे हृते शीताभिभूतास्तृणानि गृह्णन्ति—सेवन्ते । तत्र शुषिरतृणसेवने चतुर्लघु, अशुषिरतृणसेवने मासलघु । अग्निं सेवन्ते तत्र स्वस्थानप्रायश्चित्तम्, चतुर्लघु इत्यर्थः । अथाभिनवमग्निं जनयन्ति मूलम्, यच्चाग्निसमारम्भेऽन्येषां जीवानां विराधनं तन्निष्पन्नमपि प्राय- 5 श्चित्तम् । अथोपकरणाभावे उद्गमादिदोषदुष्टं वस्त्रादि गृह्णन्त[1] एषणां प्रेरयन्ति ततस्तन्निष्पन्नम्; "गहणे" त्ति शीतादिभिः परिताप्यमाना गृहस्थैरदत्तमपि[3] वस्त्रादि गृह्णीयुस्तन्निष्पन्नम् । **निशीथचूर्णिकृता** तु "गमणे" त्ति **पाठो गृहीतः**, तत्र चोपधिं विना शीतादिपरीषहमविषहमाणो यद्यन्यतीर्थिकेष्वेकः साधुर्गच्छति मूलम्, द्वयोर्गच्छतोरनवस्थाप्यम्, त्रिषु पाराञ्चिकम् । "काय" त्ति अग्निं सेवमाना एषणां प्रेरयन्तो[4] वा यत् पृथिव्यादिकायान् विराधयन्ति तन्निष्पन्नम् । 10 "सुत" त्ति 'श्रुतं' सूत्रं तस्य पौरुषीं न कुर्वन्ति, उपलक्षणत्वाद् अर्थपौरुषीं न कुर्वन्ति सूत्रं नाशयन्ति अर्थं नाशयन्ति तन्निष्पन्नम् । "मरण" त्ति उपकरणं विना यद्येकोऽपि म्रियते तथापि पाराञ्चिकम्, "ओहाण" त्ति यद्येकः साधुरवधावति मूलम्, द्वयोरनवस्थाप्यम्, त्रिषु पाराञ्चिकम् ॥ ९०३ ॥ अथ ग्रहणाकर्षणादिरूपं षष्ठं प्रकारं भावयति—

गेण्हण गुरुगा छम्मास कड्ढणे छेदो होइ ववहारे । 15
पच्छाकडम्मि मूलं, उड्डहण विरुंगणे नवमं ॥ ९०४ ॥
उद्दवणे निव्विसए, एगमणेगे पदोस पारंची ।
अणवट्ठप्पो दोसु य, दोसु य पारंचिओ होइ ॥ ९०५ ॥

प्रलम्बानि गृह्णानो यदि प्रलम्बस्वामिना दृष्ट्वा गृहीतस्ततो ग्रहणे चतुर्गुरुकाः । अथ तेनोपकरणे हस्ते वा गृहीत्वा राजकुलाभिमुखमाकृष्टस्तत आकर्षणे षण्मासा गुरवः । अथ कारणिकानां 20 समीपे व्यवहारं कारयितुमारब्धः ततश्छेदः । व्यवहारे विधीयमाने यदि पश्चात्कृतः पराजितस्ततो मूलम् । अथ चतुष्क-चत्वरादिषु 'एष प्रलम्बचौरः' इतिघोषणापुरस्सरमुद्दग्धः हस्त-पादादौ वा अवयवे व्यङ्गितस्तत एवमुद्दहने "विरुंगणे" त्ति व्यङ्गने वा 'नवमम्' अनवस्थाप्यम् ॥ ९०४ ॥

अथान्यायोदीर्णकोपानलेन राजादिना अपद्रावितो निर्विषयो वा आज्ञप्तस्ततोऽपद्रावणे निर्विषये वा कृते पाराञ्चिकम् । अथवा एकस्यानेकेषां वा साधूनामुपरि प्रद्वेषं यदि व्रजति तदा पाराञ्चि- 25 कम् । अत्र च 'द्वयोः' उद्दहन-व्यङ्गनयोरनवस्थाप्यो भवति, 'द्वयोश्च' अपद्रावण-निर्विषययोः पाराञ्चिक इति ॥ ९०५ ॥ अथ परिग्रहविशेषेण प्रायश्चित्तविशेषमाह—

आराम मोल्लकीए, परतित्थिय भोइएण गामेण ।
वणि-घड-कुडुंबि-राउलपरिग्गहे चेव भद्दितरा ॥ ९०६ ॥

इहाऽऽरामः कश्चिदादित एवाऽऽत्मीयो वा भवेद् मूल्येन क्रीतो वा । यो मूल्येन क्रीतः स 30 केन क्रीतो भवेत्? उच्यते—परतीर्थिकेन वा १ भोगिकेन वा २ ग्रामेण वा ३ वणिजा वा ४ घट्या वा गोष्ठ्येत्यर्थः ५ कौटुम्बिकेन वा ६ आरक्षिकेण वा ७ राज्ञा वा ८ एतद् द्वयमपि राज-

१ °तादिभिरभिभू° मो० ले० ॥ २ °ह्णन्ते(न्ति)षणां प्रेरयन्ति भा० ॥ ३ °दत्तानि वस्त्रादीनि गृह्णते तन्नि° भा० ॥ ४ °यन्तो यावत् पृ° त० डे० कां० ॥

कुलशब्देन गृहीतम् । एतेषां परिग्रहे वर्त्तमानादारामात् प्रलम्बानि गृह्णतो यथाक्रमं प्रायश्चित्तं चतुर्लघु १ चतुर्गुरु २ षड्लघु ३ षड्गुरु ४ छेदः ५ मूलं ६ अनवस्थाप्यं ७ पाराञ्चिकम् ८ । अत्रापि त एव 'भद्रेतराः' भद्रक-प्रान्तकृता अनुग्रह-प्रतिषेधादयो दोषा वक्तव्याः । एतत् सर्व-मयाचिते प्रलम्बे द्रष्टव्यम् । याचिते तु ग्रहणा-ऽऽकर्षणादिदोषान् विना शेषमिति ॥ ९०६ ॥

5 एतावता वृक्षस्याधःप्रपतितमचित्तं व्याख्यातम् । अथ सचित्तादिद्वारचतुष्टयमभिधित्सुराह—

एमेव य सचित्ते, छुभणा आरोहणा य पडणा य ।
जं इत्थं नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ ९०७ ॥

यथा अचित्ते "दिट्ठे संका भोइय" (गा० ८६६) इत आरभ्य "आराम मोल्लकीए" (गा० ९०६) इति पर्यन्तं भणितम् एवमेव सचित्तेऽपि द्रष्टव्यम् । प्रक्षेपणमारोहणं पतनमित्येतान्यपि 10 द्वाराणि तथैव वक्तव्यानि । यत् पुनरत्र 'नानात्वं' विशेषस्तदहं वक्ष्ये समासेन ॥ ९०७ ॥

तत्र सचित्ते तावद् विशेषमाह—

तं सच्चित्तं दुविहं, पडियाऽपडियं पुणो परित्तियरं ।
पडितऽसति अपावंते, छुभई कट्ठाइए उवरिं ॥ ९०८ ॥

तत् पुनः सचित्तं द्विविधम्—पतितमपतितं च । पुनरेकैकं द्विधा—'परीत्तं' प्रत्येकम् 'इत-15 रद्' अनन्तं च । तत्र पतितस्य 'असति' अभावे वृक्षप्रतिष्ठितेऽपि हस्तादिना अप्राप्यमाणे ततः प्रलम्बपातनार्थं काष्ठादीन्युपरि क्षिपति ॥ ९०८ ॥

तत्र यद् वृक्षोपरिस्थितं भूमिस्थितो हस्तेन गृह्णाति तत्र प्रायश्चित्तमाह—

सजियपयट्ठिएँ लहुगो, सजिए लहुगा य जत्तिया गाहा ।
गुरुगा होंति अणंते, हत्थप्पत्तं तु गेण्हंते ॥ ९०९ ॥

20 सजीववृक्षप्रतिष्ठितमचित्तफलं गृह्णाति मासलघु । अत्र च यावतो ग्राहान् करोति तावन्ति मासलघुकानि । अथ सजीवं सचित्तवृक्षप्रतिष्ठितं गृह्णाति चतुर्लघु, सचित्तप्रतिष्ठितप्रत्ययं च मास-लघु, तत्रापि यावतो ग्राहान् करोति तावन्ति चतुर्लघूनि मासलघूनि च । एतत् प्रत्येके भणितम् । अनन्ते पुनरेतान्येव प्रायश्चित्तानि 'गुरुकाणि' मासगुरु-चतुर्गुरुस्वरूपाणि भवन्ति । एवं भूमिस्थि-तस्य वृक्षस्थितं हस्तप्राप्तं प्रलम्बं गृह्णतः प्रायश्चित्तमुक्तम् ॥ ९०९ ॥

25 अथ यदुक्तम् "छुभई कट्ठाइए उवरिं" (गा० ९०८) ति तदेतद् विवरीषुराह—

छुभमाण पंचकिरिए, पुढवीमाई तसेसु तिसु चरिमं ।
तं काय परिच्चयई, आवडणे अप्पगं चेव ॥ ९१० ॥

प्रलम्बपातनार्थं काष्ठ-लेष्टु-शुष्कगोमयादिकं गवेषयति चतुर्लघु । काष्ठादिकं लब्ध्वा वृक्षाभि-मुखं क्षिपति चतुर्लघव एव । स च क्षिपन्नेव 'पञ्चक्रियः' पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः, तद्यथा—30 कायिक्या १ आधिकरणिक्या २ प्राद्वेषिक्या ३ पारितापनिक्या ४ प्राणातिपातक्रियया ५ चेति । पृथिव्यादिषु च जीवेषु सङ्घट्टना-परितापना-ऽपद्रावणैर्लघुमासादिकं प्रायश्चित्तं यथास्थानं ज्ञातव्यम् । "तसेसु तिसु चरिमं" ति त्रिषु पञ्चेन्द्रियरूपेषु त्रसेषु व्यपरोपितेषु 'चरमं' पाराञ्चिकम् । तथा

१ "पुढविकायादिसु तसावसाणेसु जीवेसु संघट्टणाए परियावणाए उद्दवणाए एतेसु तिसु ठाणेसु मासादी आढत्तं चरिमं पावति" इति चूर्णिकाराः ॥

काष्ठादिकं क्षिपन् 'तं कायं' वनस्पतिलक्षणं नियमादेव परित्यजति । स च लगुडादिरूर्द्धं क्षिप्तः शाखादौ प्रतिस्खल्य निवृत्तस्तस्यैव शरीराभिमुखमापतति, तस्यापतने आत्मानं च परित्यजतीति ॥ ९१० ॥ कथं पुनः पृथिव्यादिकायानां विराधको भवति ? इत्युच्यते—

पावंते पत्तम्मि य, पुणोपडंते अ भूमिपत्ते अ ।
रय-वास-विज्जुयाई, वाय-फले मच्छिगाइ तसे ॥ ९११ ॥ 5

तत् काष्ठादिकं हस्तात् च्युतं सद् यावद् वृक्षेनाऽऽस्फलति तावत् प्राप्नुवद् भण्यते तस्मिन् प्राप्नुवति, तथा वृक्षं प्राप्ते पुनःपतति च भूमिप्राप्ते च षट्कायविराधना ज्ञातव्या । कथम् ? इति चेद् इत्याह—"रय" इत्यादि । आदिशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, ततश्च रजःप्रभृतिकं पृथिवीकायं वर्षोदकादिकमप्कायं विद्युदादिकं तेजःकायं 'वातं च' तत्रैव वातं फलानि तस्यैव वृक्षस्य सत्कानि उपलक्षणत्वात् पत्रादीन्यपि मक्षिकादींश्च त्रसान् विराधयति ॥ ९११ ॥ इदमेव स्पष्टयन्नाह— 10

खोल्ल-तयाईसु रओ, महि-वासोस्साइ अग्गि दरदड्ढे ।
तत्थेवऽनिल वणस्सइ, तसा उ किमि-कीड-सउणाई ॥ ९१२ ॥

"खोल्लं" ति देशीशब्दत्वात् कोटरम्, त्वक् प्रतीता, तदादिषु स्थानेषु वृक्षे रजः सम्भवेत् ततः पृथिवीकायविराधना । महिकायां निपतन्त्यां वर्षे अवश्याये वा निपतति आदिग्रहणेन हरतनुकादिसम्भवेऽप्कायविराधना । वनदवादिना दरदग्धे वृक्षे उपलक्षणत्वाद् विद्युति वाऽग्निकाय- 15 विराधना । तत्रैवाग्नौ नियमाद् 'अनिलः' वायुः सम्भवतीति वायुकायविराधना । वनस्पतिः स एव प्रलम्बलक्षणः पत्र-पुष्पादिर्वा । त्रसास्तु कृमि-कीट-शकुनादिका विराध्यन्ते । कृमयः—विष्ठादिसमुद्भवाः, कीटकाः—घुणादयः, शकुनाः—काक-कपोतादयः, आदिग्रहणेन सरटादिपरिग्रहः । एवं वृक्षमप्राप्ते काष्ठादौ षट्कायविराधना । एवमेव प्राप्ते पुनःपतति भूमिप्राप्तेऽपि ज्ञातव्यम् ॥ ९१२ ॥ यत आह— 20

अप्पत्ते जो उ गमो, सो चेव गमो पुणोपडंतम्मि ।
सो चेव य पडियम्मि वि, निक्कंपे चेव भोमाई ॥ ९१३ ॥

य एवाप्राप्ते 'गमः' प्रकारः स एव गमः पुनःपतति उपलक्षणत्वात् प्राप्तेऽपि, भूयो गमशब्दोच्चारणं षट्कायविराधनां प्रतीत्याऽऽत्यन्तिकतुल्यताख्यापनार्थम्, स एव भूमौ पतितेऽपि काष्ठादौ प्रकारः प्रतिपत्तव्यः । केवलं "निक्कंपे चेव भोमाइ" त्ति तत् काष्ठादिकं महता भारगौ- 25 रवेण 'निष्कम्पं' निस्सहं पृथिव्यां यद् निपतति तेन 'भौमादीनां' पृथिव्यादीनां महती विराधनेति **चूर्णिकृद**भिप्रायः । **निशीथचूर्णिकारा**भिप्रायेण तु "निक्कंपे चेव भूमीए" इति **पाठः** । अस्य व्याख्या—यस्यां भूमौ स्थितः काष्ठादिक्षेपणाय विशिष्टं स्थानबन्धमध्यास्ते तत्रापि पादयोर्निष्कम्पत्वेन षण्णां कायानां विराधको भवति ॥ ९१३ ॥

एवं दव्वतो छण्हं, विराधओ भावओ उ इहरा वि । 30
चिज्जइ हु घणं कम्मं, किरियग्गहणं भयनिमित्तं ॥ ९१४ ॥

---

१ "णिक्कंपे चेव भोमादि" त्ति जत्थ तं कट्ठादि णिक्कंपेणं ति णिज्जामेण पडति तत्थ भोमादि छक्काया विराधेज्जा, एवं तं कातं परिच्चयति" इति **चूर्णिः** ॥

'एवम्' एतेन प्रकारेण चतुर्ष्वप्यप्रासादिपदेषु द्रव्यतः षण्णां कायानां विराधकः प्रतिपत्तव्यः। भावतस्तु 'इतरथाऽपि' द्रव्यतो विराधनां विनाऽप्यसौ षट्कायविराधको लभ्यते, संयमं प्रति निरपेक्षतया तस्य भावतः प्राणातिपातसद्भावात्। भावप्राणातिपातेन च यथा 'घनं' निबिडं कर्म चीयते न तथा द्रव्यप्राणातिपातेन। आह यदुक्तं "पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः" (गा० ९१०) 5 तत् कथं संवादमश्नुते? यावता यदि न विराधयति तदा कायिकी आधिकरणिकी च क्रिये सम्भवतः पारितापनिक-प्राणातिपातिकक्रिययोस्तु कुतः सम्भवः?, अथ विराधयति तदेताश्चतस्रोऽपि भवेयुः प्राद्वेषिकी पुनः कथं भवेत्? । सूरिराह—क्रियाग्रहणं 'भयनिमित्तं' भयजननार्थं क्रियते, येन साधवः क्रियापञ्चकापत्तिदोषभीता मूलत एव प्रलम्बग्रहणे न प्रवर्त्तन्ते; यद्वा दृष्टिवादनयाभिप्रायनैपुण्याद् यत्रैका क्रिया तत्र पञ्चापि क्रियाः सम्भवन्तीति न दोषः।

10 यदाह **निशीथचूर्णिकृत्**—

अहवा जत्थ एगा किरिया तत्थ दिट्ठिवायनयसुहुमत्तणतो पञ्च किरियाओ भवंति, अतो पंचकिरियग्गहणे न दोसो। ॥ ९१४ ॥

एवं तावत् संयमविराधना भाविता। अथाऽऽत्मविराधनां भावयति—

कुवणय पत्थर लेट्ठू, पुव्वच्छूढे फले व पवडंते।

15 **पच्चुप्फिडणे आया, अच्चायामे य हत्थाई ॥ ९१५ ॥**

अन्येन केनचित् प्रलम्बार्थिना पूर्वं "कुवणउ" त्ति लगुडः क्षिप्तः, स तत्रैव वृक्षशाखायां विलग्नः सन् वायुप्रयोगेण विवक्षितसाधुक्षिप्तकाष्ठादिप्रयोगेण वा सञ्चालितस्तस्यैव साधोरुपरि निपतन् विराधनां कुर्यात्। एवं 'प्रस्तरः' पाषाणः 'लेष्टुः' इष्टकाशकलं मृत्तिकापिण्डो वा पूर्वक्षिप्तः पतेत्, फलं वृन्तच्युतं वृक्षात् प्रपतेत्। तस्यैव काष्ठादेः प्रतिनिवृत्त्य स्वसम्मुखं प्रत्यास्फलने 20 आत्मविराधना भवेत्। 'अत्यायामेन च' अतीवहस्तसमुच्छ्रयणेन काष्ठादौ क्षिप्यमाणे हस्तादेः परितापना भवेदिति ॥ ९१५ ॥ गतं क्षेपणाद्वारम्। अथाऽऽरोहणद्वारमाह—

खिवणे वि अपावंतो, दुरुहइ तहिँ कंट-विच्छु-अहिमाई।

पक्खि-तरच्छाइवहो, देवयखेत्ताइकरणं च ॥ ९१६ ॥

तत्थेव य निट्ठवणं, अंगेहिँ समोहएहिँ छकाया।

25 **आरोवण स च्चेव य, गिलाणपरितावणाईया ॥ ९१७ ॥**

काष्ठादेः क्षेपणे कृतेऽपि यदा प्रलम्बानि न पतन्ति तदाऽधःस्थितस्तानि 'अप्राप्नुवन्' अलभमानस्तं वृक्षं "दुरुहइ" त्ति आरोहति। स च यावद्भिर्बाहुक्षेपकैरारोहति तावन्ति चतुर्लघुकानि, अनन्ते पुनश्चतुर्गुरुकाणि। 'तत्र' वृक्षे आरोहन् यत् कण्टकैर्विध्यते, यच्च वृश्चिकेनाऽहिना वा आदिशब्दाद् नकुलादिना वा दश्यते, यच्च पक्षिभिः—श्येनादिभिः तरक्षादिभिश्च—आटव्यजीवैर्वधो 30 भवति, यया वा देवतया अधिष्ठितोऽसौ वृक्षस्तया यदसौ साधुः क्षिप्तचित्तः क्रियते, आदिग्रहणेनापरया कयाचिद् विडम्बनया विडम्ब्यते ॥ ९१६ ॥

यद्वा सा देवता स्वाधिष्ठितवृक्षारोहणकुपिता तत्रैव 'निष्ठापनम्' आयुषः समापनं तस्य यत्

१ यदि निवारयति त० डे० कां० ॥

कुर्यात्, अथवा तं साधुमारोहन्तमेव यत् पातयेद् एषा सर्वाऽप्यात्मविराधना । पातितस्य च तस्याङ्गानि 'समवहन्यन्ते' भज्यन्त इत्यर्थः, तैरङ्गैर्हस्त-पादादिभिः समवहतैर्यत्र भूमावसौ पतति तत्र षट् काया विराध्यन्ते । तेषां च सङ्घट्टनादिभिरारोपणा सैव द्रष्टव्या या "छक्काय चउसु लहुगा" इत्यादि (८७९) गाथायामुक्ता । आत्मविराधनायां च ग्लानविषया परितापनादिनि-ष्पन्ना या आरोपणा साऽपि प्राग्वदवसातव्या ॥ ९१७ ॥ गतमारोहणद्वारम् । अथ पतनद्वारमाह— 5

मरण-गिलाणाईया, जे दोसा होंति दूहमाणस्स ।
ते चेव य सारुवणा, पवडंते होंति दोसा उ ॥ ९१८ ॥

कदाचिदसौ तं वृक्षमारोहन् पतेत्, ततश्च मरण-ग्लानत्वादिका ये दोषा आरोहतो भवन्ति प्रपततोऽपि त एव दोषाः 'सारोपणाः' सप्रायश्चित्ता निरवशेषा वक्तव्याः । "पवडंते होंति सवि-सेसा" इति **निशीथचूर्णिलिखितः पाठः**, तत्रायमर्थः—आरोहतो दोषाणां सम्भव एव भणितः, 10 पततः पुनरवश्यम्भाविनो गात्रभङ्गादयो दोषा इति सविशेषग्रहणम् ॥ ९१८ ॥

गतं पतनद्वारम् । अथोपधिद्वारं विवृणोति—

तंमूल उवहिगहणं, पंतो साहूण कोइ सव्वेसिं ।
तण-अग्गिगहण परितावणा य गेलन्न पडिगमणं ॥ ९१९ ॥

यस्य परिग्रहे तानि प्रलम्बानि सः 'तन्मूलं' प्रलम्बग्रहणनिमित्तं तस्यैव साधोरुपधिग्रहणं कुर्यात्, 15 यद्वा कश्चित् प्रान्तः सर्वेषां साधूनामुपधिं गृह्णीयात् । तत्र यथाजाते रजोहरणादिके उपधौ हृते मूलम्, शेषे पुनरुत्कृष्टे चतुर्लघु, मध्यमे मासलघु, जघन्ये पञ्चकम् । उपधिं विना तृणानि गृह्णी-यात्, अग्निग्रहणं वा कुर्यात्, अग्निं सेवेतेति भावः, अथाग्निं न सेवते ततः शीतेन परितापना तस्य भवेत्, शीतेन वा भुक्ते अजीर्यमाणे ग्लानत्वं भवेत्, शीताभिभूता वा साधवः पार्श्वस्था-दिषु प्रतिगमनं कुर्युः ॥ ९१९ ॥ सम्प्रत्यत्रैव प्रायश्चित्तमाह— 20

तणगहण अग्गिसेवण, लहुगा गेलन्ने होइ तं चेव ।
मूलं अणवट्टप्पो, दुग तिग पारंचिओ होइ ॥ ९२० ॥

अशुषिरतृणानि गृह्णाति मासलघु, शुषिरतृणानि गृह्णाति चतुर्लघु । परकृतमग्निं सेवते चतुर्लघु, अभिनवमग्निं जनयति मूलम्, अग्निशकटिकायां वा तापयन् यावतो वारान् हस्तं वा पादं वा सञ्चालयति तावन्ति चतुर्लघूनि । यस्तु धर्मश्रद्धालुरग्निं न सेवते स शीतेन ग्लानः सञ्जायते, 25 ग्लानत्वे चानागाढपरितापनादौ तदेव प्रायश्चित्तम् । अथ शीतपरीषहमसहिष्णुः पार्श्वस्थादिषु व्रजति चतुर्लघु, यथाच्छन्देषु व्रजति चतुर्गुरु । यद्येकोऽवधावते अन्यतीर्थिकेषु वा याति ततो मूलम्, द्वयोरनवस्थाप्यम्, त्रिषु पाराञ्चिकम् ॥ ९२० ॥ गतमुपधिद्वारम् । अथोड्डाहद्वारं विवृणोति—

अपरिग्गहिय पलंबे, अलभंतो समणजोगमुक्कधुरो ।
रसगेहीपडिबद्धो, इतरे गिण्हंतो गहिओ य ॥ ९२१ ॥ 30

अपरिगृहीतानि प्रलम्बान्यलभमानः 'श्रमणयोगमुक्तधुरः' परित्यक्तश्रमणव्यापारभार इति भावः, रसगृद्धिप्रतिबद्धः 'इतराणि' परिगृहीतप्रलम्बानि गृह्णन् प्रलम्बस्वामिना दृष्ट्वा गृहीतः ॥ ९२१ ॥

---

१ गृह्णीयात् चतु° त० ॥

ततश्च—

महजणजाणणया पुण, सिंघाडग-तिग-चउक्क-गामेसु ।
उड्डहिऊण विसज्जिते, महजणणाए ततो मूलं ॥ ९२२ ॥

तेन प्रलम्बस्वामिना गृहीत्वा शृङ्गाटक-त्रिक-चतुष्कस्थानेषु ग्रामेषु वा बहुषु नीत्वा महाजनस्य—
5 पौर-जानपदरूपस्य ज्ञापना कृता, यथा 'एतेन मदीयानि प्रलम्बानि चोरितानि' इत्यादि महाजनस्य पुरत उड्डह्य 'विसर्जितः' मुक्तः तत एवं महाजनज्ञाते सति मूलं नाम प्रायश्चित्तम् ॥ ९२२ ॥

कथमुड्डाहः ? इत्याह—

एस उ पलंबहारी, सहोढ गहिओ पलंबठाणेसु ।
सेसाण वि छाघाओ, सविहोढ विलंबिए होइ ॥ ९२३ ॥

10 येनाऽऽरामाधिपतिना स प्रलम्बानि गृह्णानो गृहीतः स [तं] रासभारोपितं शृङ्गाटक-त्रिक-चतुष्कादिषु सर्वतः परिभ्रामयन्नेवमुद्घोषयति—'भो भोः पौराः ! श्रूयतामस्य प्रव्रजितकस्य दुश्चरितम्—एषः 'प्रलम्बहारी' मदीयारामसत्कप्रलम्बचौरः 'सहोढः' सलोप्त्रो गृहीतो मया दुरात्मा 'प्रलम्बस्थानेषु' आरामप्रदेशेषु इत्यादिघोषणापुरस्सरमितश्चेतश्च नीयमानो महाजनेन सखेदमवलोक्यमानः स्वकृतेन कर्मणा विडम्ब्यते । ततश्च 'सविहोढं' सजुगुप्सनीयं यथा भवत्येवं
15 विडम्बिते तस्मिन् शेषाणामपि साधूनां 'छायाघातः' 'सर्वेऽप्यमी एवंविधा एव' इति प्रभापरिभ्रंशो भवतीति ॥ ९२३ ॥

व्याख्यातमुड्डाहद्वारम् । तद्व्याख्याने च समर्थिता "अन्नत्थ-तत्थगहणे" (८६३) इत्यादिद्वारगाथा । अथ यदुक्तमधस्तात् "आणाऽणवत्थ मिच्छा, विराहणा कस्सऽगीयत्थे" (गा० ८६२) तदिदानीं प्राप्तावसरं व्याख्यायते । तत्र आज्ञेति द्वारम्—भगवता प्रतिषिद्धं यत्
20 "प्रलम्बं न कल्पते" तद्ग्रहणं कुर्वता भगवतामाज्ञाभङ्गः कृतो भवति, तस्मिंश्चाज्ञाभङ्गे चतुर्गुरुकाः । अत्र परः प्राह—

अवराहे लहुगतरो, आणाभंगम्मि गुरुतरो किह णु ।
आणाए च्चिय चरणं, तब्भंगे किं न भग्गं तु ॥ ९२४ ॥

'अपराधे' चारित्रातिचारे लघुतरो दण्डो भवद्भिः पूर्वं भणितः; तथाहि—अचित्ते प्रलम्बे
25 मासलघु, सचित्ते तु चतुर्लघु; इह पुनराज्ञाभङ्गे चतुर्गुरुकमिति गुरुतरो दण्डः 'कथं' कस्मात् ?, 'नुः' इति वितर्के; अपि च अपराधे जीवोपघातो दृश्यते तेन तत्र गुरुतरो दण्डो युक्तियुक्तः, आज्ञायां पुनर्नास्ति जीवोपघात इति लघुतर एवात्र भणितुमुचित इति । आचार्यः प्राह—आज्ञायामेव[1] भागवत्यां 'चरणं' चारित्रं व्यवस्थितम्, अतः 'तद्भङ्गे' तस्याः—आज्ञाया भङ्गे[3] 'किम् ?' इति परिप्रश्ने आचार्यः शिष्यं प्रश्नयति—किं तद् मूलोत्तरगुणादिकं वस्तु समस्ति यदाज्ञाभङ्गे
30 न भग्नम् ? अपि तु सर्वमपि भग्नमिति, अत आज्ञायां गुरुतरो दण्ड उच्यते ॥ ९२४ ॥

---

१ °घु इत्येतावदेव प्रायश्चित्तमुक्तम्, अतो लघुतर एव तत्र दण्डः; इह भा० ॥ २ °व भगवतां तीर्थकृतां सम्बन्धिन्यां 'चरणं' भा० ॥ ३ भङ्गे किं तद् मूलोत्तरगुणादिकं वस्तु [यद्] न भग्नम् ? अपि तु त० डे० कां० ॥

अस्यैवार्थस्य प्रसाधनार्थं दृष्टान्तमाह—

सोऊण य घोसणयं, अपरिहरंता विणास जह पत्ता ।
एवं अपरिहरंता, हियसव्वस्सा उ संसारे ॥ ९२५ ॥

राज्ञा कारितां घोषणां श्रुत्वा घोषणया च निवारितमर्थमपरिहरन्तो यथा द्रव्यापहारलक्षणं विनाशं प्राप्ताः, एवं तीर्थकरनिषिद्धं प्रलम्बग्रहणमपरिहरन्तः 'हृतसर्वस्वाः' अपहृतसंयमरूप- 5 सर्वसाराः संसारे दुःखमवाप्नुवन्ति । **एषा श्रीभद्रबाहुस्वामिविरचिता गाथा ॥ ९२५ ॥**

अथास्या एव भाष्यकारो व्याख्यानं करोति—

छ प्पुरिसा मज्झ पुरे, जो आसादेज्ज ते अजाणंतो ।
तं दंडेमि अकंडे, सुणेंतु पउरा ! जणवया ! य ॥ ९२६ ॥[1]
आगमिय परिहरंता, निद्दोसा सेसगा न निद्दोसा । 10
जिणआणागमचारि, अदोस इयरे भवे दंडो ॥ ९२७ ॥

जह कोइ नरवई, सो छहिं पुरिसेहिं अन्नतरे कज्जे तोसितो इमेणऽत्थेण घोसणं कारेइ— 'इमे छ प्पुरिसा मज्झ पुरे अप्पणो इच्छाए विहरमाणा महाजणेणं अदिट्ठपुव्वा अणुवलद्धविभव- नेवत्था अच्छंति, जो ते छिवइ वा पीडेइ वा मारेइ वा तस्स उग्गं दंडं करेमि,[2] हंदि सुणंतु एअं पउरा ! य जणवया ! य' त्ति । एयं घोसणयं सोऊण ते पउरा जणवया य दंडभीता ते पुरिसे 15 पयत्तेण वन्न-रूवाईहिं चिंधेहिं आगमिऊणं पीडापरिहारकयबुद्धी तेसिं छण्हं पुरिसाणं पीडं परिहरंति ते निद्दोसा । जे पुण अणायारमंता न परिहरंति ते रन्ना सव्वस्सावहारदंडेणं दंडिया । एस दिट्ठंतो । अयमत्थोवणओ—रायत्थाणीया तित्थयरा । पुरत्थाणीओ लोगो । छप्पुरिसत्था- णीया छक्काया । घोसणत्थाणीया छक्कायरक्खणपरूवणपरा छज्जीवणियादओ आगमा । छिवणा- इत्थाणीया संघट्टणादी । पउर-जणवयत्थाणीया साहू । दंडत्थाणीओ संसारो । तत्थ जे पयत्तेण 20 छण्हं कायाणं सरूवं रक्खणोवायं च आगमेऊण जहुत्तविहीए पीडं परिहरंति ते कम्मबंधदंडेणं न दंडिज्जंति, इयरे पुण संसारे पुणो पुणो सारीर-माणसेहिं दुक्खसयसहस्सेहिं दंडिज्जंति त्ति ॥

अथाक्षरगमनिका—"षट् पुरुषा मम पुरे वर्त्तन्ते, यस्तानजानन्नपि 'आशातयेत्' स्पर्शादिनाऽपि पीडयेत् तमहं दण्डयामि 'अकाण्डे' अकाले, शृण्वन्तु एतत् 'पौराः !' पुरवासिनः ! 'जानपदाश्च' ग्रामवासिनो लोकाः !" इति राज्ञा कारितां घोषणां श्रुत्वा तान् पुरुषान् 'आगम्य' उपलक्ष्य 25 परिहरन्तः सन्तो निर्दोषाः, (ग्रन्थाग्रम्—३०००) 'शेषाः' पुनर्ये पीडां न परिहरन्ति ते न निर्दोषा इति दण्डिताः । एवमत्रापि जिनाज्ञया यः षट्कायानामागमः—परिज्ञानं तत्पूर्वक- चारिणः—संयमाध्वगामिनः सन्तोऽदोषाः, इतरेषां 'भवे' संसारे शारीर-मानसिकदुःखलक्षणो दण्डः ॥ ९२६ ॥ ९२७ ॥ गतमाज्ञाद्वारम् । अथानवस्थाद्वारमाह—

एगेण कयमकज्जं, करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो । 30
सायाबहुल परंपर, वोच्छेदो संजम[3]-तवाणं ॥ ९२८ ॥

१ भा० पुस्तके एतद्गाथानन्तरं **ग्रन्थाग्रम् ३०००** इति वर्तते ॥ २ **करेमि ।' एयं घोसणयं** भा० विना ॥ ३ **°मगुणाणं** ता० ॥

◁ इह प्रायः सर्वेऽपि प्राणिनः कर्मगुरुकतया दृष्टमात्रसुखाभिलाषिणः, न दीर्घसुखदर्शिनः, ततः सातलम्पटतया ▷ 'एकेन' केनचिदाचार्यादिना किमपि 'अकार्यं' प्रमादस्थानं 'कृतं' प्रतिसेवितं ततोऽन्योऽपि तत्प्रत्ययाद् 'एष आचार्यादिः श्रुतधरोऽप्येवं करोति नूनं नास्त्यत्र दोषः' इति तदेवाकार्यं करोति, ततोऽपरोऽपि तथैव करोति, तदन्योऽपि तथैव इत्येवं 'सातबहुलानां' सात-
5 गौरवप्रतिबद्धानां प्राणिनां परम्परया प्रमादस्थानमासेवमानानां संयम-तपसोर्व्यवच्छेदः प्राप्नोति । यद्धि संयमस्थानं तपःस्थानं वा पूर्वाचार्येण सातगौरवगृद्धुतया वर्जितं तत् पाश्चात्यैरदृष्टमिति कृत्वा व्यवच्छिन्नमेवेति ॥ ९२८ ॥ गतमनवस्थाद्वारम् । अथ मिथ्यात्वद्वारं विवृणोति—

मिच्छत्ते संकाई, जहेय मोसं तहेव सेसं पि ।
मिच्छत्तथिरीकरणं, अब्भुवगम वारणमसारं ॥ ९२९ ॥

10 मिथ्यात्वे विचार्यमाणे शङ्कादयो दोषा वक्तव्याः । शङ्का नाम—किं मन्ये अमी यथावादिनस्तथाकारिणो न भवन्ति येन प्रलम्बानि गृह्णन्ति?, आदिशब्दात् काङ्क्षादयो दोषाः । तथा यथैतद् मृषा तथैव 'शेषम्' अन्यदप्येतेषां मिथ्यारूपमेवेति चित्तविप्लुतिः स्यात् । मिथ्यात्वाद् वा चलितभावस्य सम्यक्त्वाभिमुखस्य प्रलम्बग्रहणदर्शनात् पुनरपि मिथ्यात्वे स्थिरीकरणं भवति । अभ्युपगमं वा प्रव्रज्याया अणुव्रतानां सम्यग्दर्शनस्य वा कर्तुकामस्यापरः कश्चिद् वारणं कुर्यात्—
15 मा एतेषां समीपे प्रतिपद्यस्व, 'असारं' निस्सारममीषां प्रवचनम्, मयेदं चेदं दृष्टमिति ॥ ९२९ ॥

गतं मिथ्यात्वद्वारम् । अथ विराधना, सा च द्विविधा—संयमे आत्मनि च । द्वे अपि प्रागेव सप्रपञ्चं भाविते, तथापि विशेषमुपदर्शयितुमाह—

तं काय परिच्चयई, नाणं तह दंसणं चरित्तं च ।
बीयाईपडिसेवग, लोगो जह तेहिँ सो पुट्ठो ॥ ९३० ॥

20 प्रलम्बं गृह्णन् 'तं कायं' वनस्पतिलक्षणं परित्यजति, तथा ज्ञानं दर्शनं चारित्रं चेति । बीजादिप्रतिसेवको लोको यथा असंयमेन स्पृष्टस्तथा सोऽपि साधुस्तैः प्रलम्बैरासेवितैरसंयमेन स्पृष्ट इति **निर्युक्तिगाथा**क्षरार्थः ॥ ९३० ॥ अथैनामेव विवरीषुराह—

कायं परिच्चयंतो, सेसे काए वए वि सो चयई ।
णाणे णाणुवदेसे, अवट्टमाणो उ अन्नाणी ॥ ९३१ ॥

25 प्रलम्बानि गृह्णानो वनस्पतिकायं परित्यजति, तं च परित्यजन् शेषानपि कायानसौ भावतः परित्यजति, तत्परित्यागे च प्रथमव्रतपरित्यागः, प्रथमव्रतपरित्यागे च शेषव्रतपरित्यागोऽप्युपजायत इति "व्रतान्यप्यसौ परित्यजति" इत्युक्तम् । तथा 'ज्ञाने' ज्ञानविषये परित्यागे चिन्त्यमाने ज्ञानोपदेशे क्रियाद्वारेणाऽवर्त्तमानोऽसौ ज्ञान्यपि अज्ञानी मन्तव्यः ॥ ९३१ ॥

दंसण-चरणा मूढस्स नत्थि समया व नत्थि सम्मं तु ।
30 **विरईलक्खण चरणं, तदभावे नत्थि वा तं तु ॥ ९३२ ॥**

ज्ञानाभावादसौ मूढो भवति, मूढस्य दर्शन-चारित्रे न स्तः । यद्वा प्रलम्बग्रहणादस्य जीवेषु समता न विद्यते । समताया अभावाच्च सम्यक्त्वमपि नास्ति, तस्यापि सामायिकभेदतया समता-

१ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव विद्यते ॥

रूपत्वात् । विरतिलक्षणं चरणं भणितम्, तच लक्षणं प्रलम्बानि गृह्णतो न विद्यते । 'तदभावे' लक्षणाभावे 'तत्तु' तत् पुनश्चारित्रं नास्ति । वाशब्दः प्रकारान्तरद्योतकः ॥ ९३२ ॥

अथ "बीयाई" (गा० ९३०) इत्यादि व्याख्यायते—फलाद् बीजं भवतीति कृत्वा बीजग्रहणम्, आदिशब्दात् फल-पुष्प-पत्र-प्रवाल-शाखा-त्वक्-स्कन्ध-कन्द-मूलानि गृह्यन्ते । शिष्यः प्राह—सर्वेऽपि वनस्पतयस्तावद् मूलादय एव भवन्ति अतः "मूलाईपडिसेवग" इति कर्तुमुचितम् किमिति "बीयाईपडिसेवग" त्ति कृतम् ? सूरिराह— 5

पाएण बीयभोई, चोयग ! पच्छाणुपुव्वि वा एवं ।
जोणिग्घाते व हतं, तदादि वा होइ वणकाओ ॥ ९३३ ॥

लोकः प्रायेण बीजभोजी, तेन कारणेन बीजमादौ कृतम् । यद्वा हे नोदक ! स्वसमये त्रिविधाऽऽनुपूर्वी प्ररूप्यते, तद्यथा—पूर्वानुपूर्वी पश्चानुपूर्वी अनानुपूर्वी च । त्रिविधाऽपि च यथावसरं 10 व्याख्याङ्गमित्यत्र पश्चानुपूर्वी गृहीता । अथवा बीजं वनस्पतीनां योनिः—उत्पत्तिस्थानम् अतस्तस्य घाते—विनाशे सर्वमपि मूलादिकं निरपेक्षतया हतं भवति । यदि वा तदादिर्वनस्पतिकायो भवति । तद्—बीजमादिर्यस्य स तदादिः, सर्वेषामपि वनस्पतीनां तत एव प्रसूतेः । अतो बीजादिग्रहणं कृतम् ॥ ९३३ ॥ ततश्च—

विरइसभावं चरणं, बीयासेवी हु सेसघाती वि । 15
अस्संजमेण लोगो, पुट्ठो जह सो वि हु तहेव ॥ ९३४ ॥

यो बीजासेवी स नियमात् 'शेषाणां' मूलादीनामपि घाती विज्ञेयः । यश्च मूलादीनि घातयति तस्य विरतिस्वभावं यत् 'चरणं' चारित्रं तन्न भवति । यथा च बीजादिप्रतिसेवको लोकोऽसंयमेन स्पृष्टस्तथैवासावपि तैः प्रलम्बैरासेवितैरसंयमेन स्पृष्ट इति ॥ ९३४ ॥

गता संयमविराधना । अथाऽऽत्मविराधनामाह— 20

तं चेव अभिहणेज्जा, आवडियं अहव जीहलोलुयता(यया) ।
बहुगाइं भुंजित्ता, विसूचिकाईहिँ आयवहो ॥ ९३५ ॥

तद् लगुडादिकं क्षिप्तं पुनरापतितं सत् 'तमेव' साधुमभिहन्यात् । इदं च प्रागुक्तमपि स्थानाशून्यार्थमत्रोपात्तमिति न पुनरुक्तदोषः । अथवा जिह्वालोलुपतया बहुकानि प्रलम्बानि भुक्त्वा विसूचिकादिभिः आदिशब्दाद् ज्वरा-ऽतीसारादिभी रोगैरुत्पन्नैरात्मवधो भवति ॥ ९३५ ॥ 25

उक्ताऽऽत्मविराधना । तदुक्तौ च व्याख्याता आज्ञादयश्चत्वारोऽपि दोषाः । अथ "कस्स अगीयत्थे" (गा० ८६२) त्ति पदं व्याचिख्यासुराह—

कस्सेयं पच्छित्तं, गणिणो गच्छं असारवेंतस्स ।
अहवा वि अगीयत्थस्स भिक्खुणो विसयलोलस्स ॥ ९३६ ॥

शिष्यः प्रश्नयति[2]—यद् 'एतद्' अन्यत्रग्रहणादावनेकधा प्रायश्चित्तमुक्तं तत् कस्य भवति ? । 30 सूरिराह—'गणिनः' आचार्यस्य गच्छम् असारयतः सतः । असारणा नाम अगवेषणा—कः

---

१ °णं ता० ॥ २ °यति—कस्य 'एतत्' पूर्वोक्तं प्रायश्चित्तं भवति ? भा० । "कस्सेतं० गाथा । अह कस्सेतं पच्छित्तं ? उच्यते—गणिणो गच्छं असारवेंतस्स" इति चूर्णिः ॥

कुत्र गतः ? को वा मामापृच्छ्य गतः ? को वा अनापृच्छया ? यद्वा प्रलम्बं गृहीत्वा आगत्या-लोचितेऽन्येन वा निवेदिते यत् प्रायश्चित्तं तन्न ददाति, दत्त्वा वा न कारयति, न वा नोद-नादिना स्मरण्टयति; एषा सर्वोऽप्यसारणाऽभिधीयते । आह किं कारणमाचार्यस्य षट्कायान-विराधयतोऽपि प्रायश्चित्तम् ? उच्यते—स्वसाधूनुत्पथे प्रवर्त्तमानानसारयन्नसौ गच्छस्य विराध-
5 नायां वर्त्तते । तथा चोक्तमिदमेव सहेतुकं बृहद्भाष्ये—

किं कारणं तु गणिणो, असारवेंतस्स होइ पच्छित्तं ? ।
वेंट्टति जेण गणहरो, विराहणाए उ गच्छस्स ॥
किह पुण विराहणाए, गच्छस्स गणी उ वट्टती स खलु ? ।
भन्नइ सुणसु जह गणी, विराहओ होइ गच्छस्स ॥
10 जह सरणमुवगयाणं, जीवियववरोवणं णरो कुणइ ।
एवं सारणियाणं, आयरिओ असारओ गच्छे ॥
किह सरणमुवगया पुण ?, पक्खे पक्खम्मि जं उवट्टंति ।
इच्छामि खमासमणो !, कतकितिकम्मा उ जं अम्हे ॥

अत आचार्यस्य सर्वमेतत् प्रायश्चित्तम् । अथवा यो भिक्षुरगीतार्थः अपिशब्दाद् गीतार्थो-
15 ऽपि विषयलोलः—सुस्वादुरसास्वादलम्पटो भूत्वा प्रलम्बानि गृह्णाति तस्यैतत् प्रायश्चित्तम् । अत्र चाऽऽचार्यविषया अष्टौ भङ्गाः—अगीतार्थ आचार्यो गच्छं न सारयति विषयलोलश्च १ अगी-तार्थ आचार्यो गच्छं न सारयति विषयनिस्पृहश्च २ इत्यादि । अत्र चान्तिमो भङ्गः शुद्धः, शेषाः सप्त परित्यक्तव्याः ॥ ९३६ ॥ यत आह—

देसो व सोवसग्गो, वसणी व जहा अजाणगनरिंदो ।
20 **रज्जं विलुत्तसारं, जह तह गच्छो वि निस्सारो ॥ ९३७ ॥**

भङ्गसप्तकवर्ती आचार्यो देश इव सोपसर्गो व्यसनी वा यथा अज्ञायकनरेन्द्रः परित्यज्यते तथा परित्याज्यः । यथा च राज्ञा अचिन्त्यमानं राज्यं विलुप्तसारं भवति तथा गच्छोऽप्याचा-र्येणाऽसार्यमाणो निस्सारो भवतीति परिहरणीय इति सङ्ग्रहगाथाक्षरार्थः ॥ ९३७ ॥

अथैनामेव विवरीषुः प्रथमतो "देसो व सोवसग्गो" इति पदं व्याचष्टे—

25 **ओमोदरिया य जहिं, असिवं च न तत्थ होइ गंतव्वं ।**
उप्पन्ने न वसियव्वं, एमेव गणी असारणीओ ॥ ९३८ ॥

यत्र देशेऽवमौदरिका अशिवं च उपलक्षणत्वाद् अपरोऽप्युपद्रवो भवति तत्र गन्तव्यं न भवति, अथ तत्र देशे वसतामेवाऽवमौदर्यादिकमुत्पन्नं तत उत्पन्ने सति तत्र न वस्तव्यम्, एवमेव 'गणी' आचार्यः 'असारणिकः' गच्छसारणाविकलो नानुगन्तव्यः ॥ ९३८ ॥

30 अथ "वसणी व जहा अजाणगनरिंदो" (गा० ९३७) त्ति व्याख्याति—

सत्तण्हं वसणाणं, अन्नयरजुतो न जाणई रज्जं ।
अंतेउरे व अच्छइ, कज्जाइँ सयं न सीलेइ ॥ ९३९ ॥

---

१ चिट्ठति येण त० डे० ॥

यथा सप्तानां व्यसनानामन्यतरेण व्यसनेन युतो राजा राज्यं पालयितुं न जानाति, [1]यो वा शेषव्यसनैरनभिभूतोऽपि विषयलोलुपतया नित्यमन्तःपुरे [2]आस्ते सोऽपि 'कार्याणि' व्यवहारादीनि स्वयमात्मना 'न शीलयति' नावलोकत इत्युक्तं भवति, ततश्च यथेच्छमुच्छृङ्खलाः प्रजाः सञ्जायन्ते । एवमाचार्योऽप्यगीतार्थो गीतार्थो वा सातगौरवादिव्यसनोपहततया यदि स्वगच्छं न सारयति तदा गच्छः सर्वोऽपि निरङ्कुशः सञ्जायते । यतश्चैवमतोऽसारणिक आचार्यो दूरंदूरेण परिहर्त्तव्यः 5 ॥ ९३९ ॥ अथ व्यसनसप्तकमाह—

इत्थी जूयं मज्जं, मिगव्व वयणे तहा फरुसया य ।
दंडफरुसत्तमत्थस्स दूसणं सत्त वसणाइं ॥ ९४० ॥

यद् राजा अन्तःपुरस्त्रीषु नित्यमासक्तस्तिष्ठति तत् स्त्रीव्यसनम् । यत्तु द्यूतविनोदेनानवरतं दीव्यति तद् द्यूतव्यसनम् । यत् पुनर्मद्यपानकेन नित्यं मूर्च्छित इवाऽऽस्ते तद् मद्यव्यसनम् । यत्तु 10 मृगया—आखेटकस्तत्रानेकेषां मृगादिजन्तूनां वधं करोति तद् मृगयाव्यसनम् । एतेषु चतुर्ष्वप्यासक्तो राज्यकार्याणि न शीलयति । तथा यत् खर-परुषवचनैः सर्वानपि जनान् निर्विशेषमाक्रोशति तद् वचनपरुषताव्यसनम्, अत्र वचनदोषेण दुरधिगमनीयो भवति । यत् पुनरनपराधे स्वल्पे वाऽपराधे अत्युग्रं दण्डं निर्वर्त्तयति तद् दण्डपारुष्यव्यसनम्, अत्र च पौर-जानपदानामत्युग्रदण्डभयेन नश्यतां क्रमेण च प्रजाया अभावे कीदृशं राज्यम्? इति । अर्थोत्पत्तिहेतवो ये सामाद्युपाय- 15 चतुष्टयप्रभृतयः प्रकारास्तेषां यद् दूषणं तद् अर्थदूषणव्यसनम्, अत्र चार्थोत्पत्तिहेतून् दूषयतो न तथाविधोऽर्थ उत्पद्यते, अर्थोत्पत्त्यभावे चाचिरादेव कोशः परिहीयते, परिहीणकोशस्य च विनष्टमेव राज्यम् । एतानि सप्त व्यसनानि ॥ ९४० ॥ अथ प्रकारान्तरेण भङ्गानाह—

अहवा वि अगीयत्थो, गच्छं न सारेइ इत्थ चउभंगो ।
बिइए अगीयदोसो, तइतो न सारेतरो सुद्धो ॥ ९४१ ॥ 20

अथवा अगीतार्थो गच्छं न सारयतीत्यत्र चतुर्भङ्गी । गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । सा चेयम्—अगीतार्थो गच्छं न सारयति १ अगीतार्थो गच्छं सारयति २ गीतार्थो गच्छं न सारयति ३ गीतार्थो गच्छं सारयति ४ । अत्र प्रथमस्य द्वौ दोषौ अगीतार्थत्वदोषः असारणादोषश्च । द्वितीयस्य पुनरेक एवागीतार्थत्वदोषः । तृतीयस्तु यन्न सारयति स एकस्तस्याऽसारणादोषः । 'इतरः' चतुर्थो भङ्गः शुद्धः ॥ ९४१ ॥ आद्यानां त्रयाणां भङ्गानां भावनामाह— 25

देसो व सोवसग्गो, पढमो तइओ तु होइ वसणी वा ।
बिइओ अजाणतुल्लो, सारो दुविहो दुहेक्केको ॥ ९४२ ॥

'प्रथमः' प्रथमभङ्गवर्त्ती आचार्यः सोपसर्गदेश इव परित्यक्तव्यः । 'तृतीयः' गीतार्थोऽप्यसारणिकत्वाद् व्यसनीव राजा [3]परिहर्त्तव्यः । 'द्वितीयः' सारणिकोऽप्यगीतार्थत्वादज्ञनरेन्द्रतुल्य इति कृत्वा परिहार्य इति [4]चूर्ण्यभिप्रायः । 30

---

१ यद्वा भा० ॥ २ आस्ते, यस्तु राज्यनीतेरज्ञायको नरेन्द्रः सः 'कार्याणि' भा० ॥ ३ परित्यक्तव्यः त० डे० ॥ ४ यद्यपि वृत्तिकृद्भिः "चूर्ण्यभिप्रायः" इत्यावेदितं तथापि चूर्णौ किल निशीथचूर्ण्यभिप्रायानुसारिण्येव व्याख्या वरीवृत्यते । तथाहि चूर्णिपाठः—"तत्थ जो पढमो अगीतत्थो

अथ निशीथचूर्ण्यभिप्रायेण व्याख्यायते—प्रथमः सोपसर्गदेश इव परिहार्यः । द्वितीयः पुनरगीतार्थः परं सारणिकः स च व्यसनीव ज्ञातव्यः । किमुक्तं भवति ?—सोऽगीतार्थः सन् यत् किमपि स्वशिष्यान् नोदयति सा नोदना तस्य व्यसनमिव द्रष्टव्यम्, अतो व्यसनाभिभूतभूपतिवदसौ परिहार्यः । तृतीयः पुनरसारणिकत्वाद् गीतार्थोऽप्यज्ञनृपतुल्य इति कृत्वा परित्याज्यः । 5 अस्मिंश्च व्याख्याने "देसो व सोवसग्गो, पढमो बिइओ उ होइ वसणी वा । तइओ अजाणतुल्लो" त्ति पाठो द्रष्टव्यः । पुस्तकेष्वपि बहुष्वयमेव दृश्यत इति ।

यदुक्तं "रज्जं विलुत्तसारं, जह तह गच्छो वि निस्सारो" (गा० ९३७) त्ति तदेतद् भावयति—"सारो दुविहो दुहेक्केक्को" सारो द्विविधः—लौकिको लोकोत्तरिकश्च । पुनरेकैको द्विधा—बाह्य आभ्यन्तरश्च ॥ ९४२ ॥ एतदेव व्याचष्टे—

10 **गो-मंडल-धन्नाई, बज्झो कणगाइ अंतो लोगम्मि ।**
लोगुत्तरिओ सारो, अंतो बहि नाण-वत्थाई ॥ ९४३ ॥

गोशब्देन गावो बलीवर्दाश्चोच्यन्ते, उपलक्षणत्वाद् हस्त्यश्वादीनामपि परिग्रहः; मण्डलमिति देशखण्डम्, यथा—षण्णवतिमण्डलानि सुराष्ट्रादेशः; अथवा गोमण्डलं नाम गोवर्गः, उपलक्षणत्वाद् महिष्यादिवर्गोऽपि; धान्यानि शालिप्रभृतीनि, आदिशब्दाद् वास्तु-कुप्यादिपरिग्रहः; एष 15 लौकिको बाह्यः सारः । कनकं—सुवर्णम्, आदिग्रहणेन रूप्य-रत्नादीनि; एषः 'अन्तः' इति आभ्यन्तरः सारः 'लोके' लोकविषयो मन्तव्यः । एतेन द्विप्रकारेणापि सारेण राज्यं पार्थिवेनाऽचिन्त्यमानं निस्सारं भवति । लोकोत्तरिकः सारो द्विधा—अन्तर्बहिश्च । तत्रान्तःसारो ज्ञानम्, आदिशब्दाद् दर्शन-चारित्रे च । बहिःसारो वस्त्रादिकः, आदिग्रहणेन शय्या-पात्रादीनि गृह्यन्ते । अनेन च द्विविधेनापि लोकोत्तरिकसारेणाऽऽचार्येणाऽसार्यमाणो गच्छो निस्सारो भवतीति प्रक्र- 20 तम् । तस्माद् गणिनो गच्छमसारयत एतत् प्रायश्चित्तम् । अथवा यो भिक्षुरगीतार्थो गुरूणामनुपदेशेन प्रलम्बानि गृह्णाति तस्य सर्वमेतत् प्रायश्चित्तम् । गीतार्थोपदेशमन्तरेण वाऽगीतार्थस्य स्वयमेव कार्येषु प्रवर्त्तमानस्याऽयं दोषो भवति ॥ ९४३ ॥

सुहसाहगं पि कज्जं, करणविहूणमणुवायसंजुत्तं ।
अन्नायऽदेस-काले, विवत्तिमुवजाति सेहस्स ॥ ९४४ ॥

25 सुखेन साधः—साधनं यस्य तत् सुखसाधकम्, "शेषाद्वा" (सिद्ध० ७-३-१७५) इति कच्प्रत्ययः, सुखसाध्यमित्यर्थः । तदपि कार्यं करणम्—आरम्भः प्रयत्न इत्येकोऽर्थस्तद्विहीनम्, तथा यस्य कार्यस्य यः साधनोपायस्तद्विपरीतेनानुपायेन संयुक्तम्, "अन्नाय" त्ति यद् यस्य कार्यमज्ञातं तत् तेनाऽऽरभ्यमाणम्, 'अदेश-काले च' अनवसरे विधीयमानं शैक्षस्याऽज्ञस्य विपत्तिमुपयाति । विपत्तिशब्देन कार्यस्याऽसिद्धिरत्राभिधीयते । तदुक्तम्—

गच्छं ण सारेति सो देसो व सोवसग्गो चइतव्वो । बिइओ जो अगीतत्थो गच्छं सारेति सो वसणीव राया चइतव्वो । ततिओ जो गीतत्थो गच्छं ण सारेति सो अजाणगणरिंदो व्व चइतव्वो ।" इत्यादि ॥

१ °स्य पयोजति । अस्मिंश्च भा० ॥ २ "मंडलं जधा—णावोतयमंडलं बंभाणमंडलं कोट्टुगमंडलमिच्चादि । अथवा गोमंडलं गोउलं, आदिग्गहणेणं कुवियं" इति चूर्णौ ॥ ३ °न्तः तद्वि° मो० ले० विना ॥

सम्प्राप्तिश्च विपत्तिश्च, कार्याणां द्विविधा स्मृता ।
सम्प्राप्तिः सिद्धिरर्थेषु, विपत्तिश्च विपर्यये ॥

ततो न निष्पद्यत इत्युक्तं भवति ॥ ९४४ ॥ अत्रैव निदर्शनमाह—

नक्खेणावि हु छिज्जइ, पासाए अभिनवुट्ठितो रुक्खो ।
दुच्छेओ वड्ढंतो, सो चिय वत्थुस्स भेदाय ॥ ९४५ ॥ 5
जो य अणुवायछिन्नो, तस्सइ मूलाइँ वत्थुभेदाय ।
अहिनव उवायछिन्नो, वत्थुस्स न होइ भेदाय ॥ ९४६ ॥

प्रासादे वट-पिप्पलकादिर्वृक्षः 'अभिनवोत्थितः' अधुनोद्गतः सन् नखेनाऽपि 'हुः' निश्चितं 'छिद्यते' छेत्तुं शक्यते इति, अनेन कार्यस्य सुखसाध्यतोक्ता । स एव वृक्षः 'वर्धमानः' शाखा-प्रशाखाभिः प्रसरन् दुश्छेद्यो भवति, कुठारेणापि च्छेत्तुं न शक्यत इति भावः । अपरं च 'वास्तुनः' 10 प्रासादस्य भेदाय जायते ॥ ९४५ ॥

यश्चानुपायेन—मूलोद्धरणलक्षणोपायमन्तरेण छिन्नः तस्यापि मूलान्यनुद्धृतानि वास्तुभेदाय जायन्ते । एतेन चानारम्भे अदेश-कालारम्भेऽनुपायारम्भे च सुखसाध्यस्यापि कार्यस्य विपत्तिः क्लेशसाध्यता चोक्ता । अथ देश-काले उपायेन विधीयमानस्य यथा निष्पत्तिर्भवति तथा निदर्श-यति—"अहिनव" इत्यादि उत्तरार्द्धम् । यस्तु वृक्षः 'अभिनवः' उद्गतमात्र उपायेन—प्रयत्नपूर्वकं 15 छिन्नो मूलान्यपि तस्योद्धृत्य करीषाग्निना दग्धानि स वास्तुनो भेदाय न भवति ॥ ९४६ ॥

एष दृष्टान्तः । अयमस्यैवोपनयः—

पडिसिद्ध त्ति तिगिच्छा, जो उ न कारेइ अभिनवे रोगे ।
किरियं सो उ न मुच्चइ, पच्छा जत्तेण वि करेंतो ॥ ९४७ ॥
सहसुप्पइअम्मि जरे, अट्ठम काऊण जो वि पारेइ । 20
सीयल-अंबदवाणी, न हु पउणइ सो वि अणुवाया ॥ ९४८ ॥

यस्य साधोर्ज्वरादिको रोग उत्पन्नः स यदि

"तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खऽत्तगवेसए ।
एवं खु तस्स सामन्नं, जं न कुज्जा न कारवे ॥" (उत्त० अ० २ गा० ३३)

इति सूत्रमनुश्रित्य "प्रतिषिद्धा चिकित्सा" इति कृत्वा अभिनवे रोगे 'क्रियां' चिकित्सां न कार- 25 यति स पश्चात् तस्मिन् रोगे प्रवर्धिते सति 'यत्नेनापि' महताऽप्यादरेण क्रियां कुर्वाणो न मुच्यते रोगात् । यदि पुनरधुनोत्थित एव रोगे क्रियामकारयिष्यत् ततो नीरुगभविष्यत् ॥ ९४७ ॥

यो वा अनुपायेन क्रियां करोति सोऽपि न प्रगुणीभवति, यथा सहसोत्पन्ने ज्वरेऽन्यस्मिन् वा अजीर्णप्रभवे रोगे "सहसुप्पन्नं रोगं, अट्ठमेण निवारए" इति वचनादष्टमं कृत्वा योऽपि न केवलं क्रियाया अकारक इत्यपिशब्दार्थः "सीयलअंबदवाणि" त्ति शीतलकूरा-ऽम्लद्रवादीनि पारयति 30 'या पेया कारणीया भवतु' इति कृत्वा सोऽपि न प्रगुणीभवति 'अनुपायात्' उपायाभावात्, प्रत्युत तेन शीतलकूरादिना स रोगस्तस्य गाढतरं प्रकुप्यति । यदि पुनस्तेन पेयादिनोपायेनाऽपार-

१ °वाणि उ न ता० ॥ २ प्रवृद्धिं गते सति डे० त० ॥

यिष्यत् ततः पटुरभविष्यत्, यच्चानेषणीयपारणकसमुत्थं पापं तत् पश्चात् प्रायश्चित्तेनाऽशोधयिष्यद् इत्युपाया-ऽनुपायस्वरूपमगीतार्थो न जानाति। ततश्च "अज्ञातमदेशकाले वा कार्यं कुर्वतस्तस्य शैक्षस्य विपत्तिमुपयाति" (गा० ९४४) इति प्रकृतम् ॥ ९४८ ॥ अत्रैव तात्पर्यमाह—

संपत्ती य विपत्ती, य होज्ज कज्जेसु कारगं पप्प ।
5 **अणुवायतो विवत्ती, संपत्ती कालुवाएहिं ॥ ९४९ ॥**

सम्प्राप्तिश्च विपत्तिश्च कार्येषु 'कारकं' कर्त्तारं प्राप्य भवति। यदि अज्ञः कर्त्ता ततस्तेनाऽदेश-काले अनुपायत आरब्धस्य कार्यस्य विपत्तिर्भवति। अथासौ ज्ञस्ततस्तेन कालोपायाभ्यां देशकाले उपायेन चारब्धस्य कार्यस्य 'सम्प्राप्तिः' सिद्धिर्भवति ॥ ९४९ ॥ उपसंहरन्नाह—

इय दोसा उ अगीए, गीयम्मि उ कालहीणकारिम्मि ।
10 **गीयत्थस्स गुणा पुण, होंति इमे कालकारिस्स ॥ ९५० ॥**

"इय" एवमगीतार्थे कार्यकर्त्तरि दोषा भवन्ति। गीतार्थेऽपि कालहीनकारिणि हीने वा अधिके वा काले कार्यकारिणि एत एव दोषाः। यः पुनर्गीतार्थ उपायेनाऽन्यूनातिरिक्ते काले कार्यं करोति तस्य गीतार्थस्य कालकारिण इमे गुणा भवन्ति ॥ ९५० ॥ तानेवाह—

आयं कारण गाढं, वत्थुं जुत्तं ससत्ति जयणं च ।
15 **सव्वं च सपडिवक्खं, फलं च विधिवं वियाणाइ ॥ ९५१ ॥**

'आयं' लाभं 'कारणम्' आलम्बनं 'गाढम्' आगाढग्लानत्वं 'वस्तु' द्रव्यं दलिकमित्यनर्थान्तरं 'युक्तं' योग्यं 'सशक्तिकं' समर्थं 'यतनां' त्रिःपरिभ्रमणादिलक्षणाम्; एतदायादिकं सर्वमपि सप्रतिपक्षं गीतार्थो विजानाति। तत्राऽऽयस्य प्रतिपक्षोऽनायः, कारणस्याऽकारणम्, आगाढस्याऽनागाढम्, वस्तुनोऽवस्तु, युक्तस्याऽयुक्तम्, सशक्तिकस्याऽशक्तिकः, यतनाया अयतनेति यथाक्रमं 20 प्रतिपक्षाः। तथा फलं चैहिकादिकं 'विधिवान्' गीतार्थो विजानातीति **निर्युक्तिगाथा**समासार्थः ॥ ९५१ ॥ अथ प्रतिपदं विस्तरार्थमाह—

सुंकादीपरिसुद्धे, सइ लाभे कुणइ वाणिओ चिट्ठं ।
एमेव य गीयत्थो, आयं दट्ठुं समायरइ ॥ ९५२ ॥

शुल्कं—राजदेयं द्रव्यम्, आदिशब्दाद् भाटक-कर्मकरवृत्त्यादिपरिग्रहः, यथा शुल्कादिभिर्द्र-25 व्योपक्षयहेतुभिः परिशुद्धः—निर्वटितो यदि कोऽपि लाभ उत्तिष्ठते तत एवं शुल्कादिपरिशुद्धे लाभे सति वाणिजो देशान्तरं गत्वा वाणिज्यचेष्टां 'करोति' आरभते, अथ लाभमुत्तिष्ठमानं न पश्यति ततो नारभते। एवमेव च गीतार्थोऽपि ज्ञानादिकम् 'आयं' लाभं दृष्ट्वा प्रलम्बाद्यकल्प्यप्रतिसेवां समाचरति नान्यथा ॥ ९५२ ॥ इदमेव स्पष्टयन्नाह—

असिवाईसुंकत्थाणिएसु किंचिखलियस्स तो पच्छा ।
30 **वायण वेयावच्चे, लाभो तव-संजम-ऽज्झयणे ॥ ९५३ ॥**

१ **फलं च 'विविधम्' ऐहिकादिकं गीतार्थो विजानातीति समासार्थः** भा०। "फलं च विविधं वियाणाइ" इति पाठानुसारेणेयं टीका, न चायं पाठः कस्मिंश्चिदपि पुस्तक उपलभ्यते। "विधिवानिति गीतार्थः" इति **चूर्णौ** ॥

स हि गीतार्थः प्रलम्बादिकं प्रतिसेवमान एवं चिन्तयति—अशिवादिषु शुल्कस्थानीयेषु अकल्प्यप्रतिसेवया केभ्योऽपि संयमस्थानेभ्यः स्खलितस्यापि मम 'ततः पश्चात्' अशिवादिषु व्यतीतेषु वाचनां ददत आचार्यादीनां वैयावृत्त्ये तपः-संयमा-ऽध्ययनेषु वा उद्यमं कुर्वाणस्य भूयानन्यो लाभो भविष्यति, अकल्प्यप्रतिसेवाजनितं चातीचारं प्रायश्चित्तेन शोधयिष्यामि—इति बहुतरं लाभमल्पतरं व्ययं परिभाव्य गीतार्थः समाचरति । अगीतार्थः पुनरेतदाय-व्ययस्वरूपं न जाना- 5 तीति ॥ ९५३ ॥ गतमायद्वारम् । अथ कारणा-ऽऽगाढद्वारद्वयमाह—

नाणाइतिगस्सऽट्ठा, कारण निक्कारणं तु तव्वज्जं ।
अहिडक्क विस विसूइय, सज्जक्खयसूलमागाढं ॥ ९५४ ॥

गीतार्थः कारण एव प्रतिसेवते नाकारणे । आह किमिदं कारणम् ? किं वा अकारणम् ? इत्याह—'ज्ञानादित्रयस्य' ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपस्याऽर्थाय यत् प्रतिसेवते तत् कारणम्, 'तद्वर्जं' 10 ज्ञानादित्रयवर्जं सेवमानस्य निष्कारणमुच्यते । तथा गीतार्थो यादृशमागाढे प्रतिसेव्यं तादृशमागाढ एव यादृशं पुनरनागाढे तादृशमनागाढ एव प्रतिसेवते । अथ किमिदमागाढम् ? किं वा अनागाढम् ? उच्यते—अहिना—सर्पेण दष्टः कश्चित् साधुः, विषं वा केनचिद् भक्तादिमिश्रितं दत्तम्, विसूचिका वा कस्यापि जाता, सद्यःक्षयकारि वा कस्यापि शूलमुत्पन्नम्, एवमादिकमाशुघाति सर्वमप्यागाढम्; एतद्विपरीतं तु चिरघाति कुष्ठादिरोगात्मकमनागाढम् ॥ ९५४ ॥ 15

अथ वस्तु-युक्तद्वारे व्याचष्टे—

आयरियाई वत्थुं, तेसिं चिय जुत्त होइ जं जोग्गं ।
गीय परिणामगा वा, वत्थुं इयरे पुण अवत्थुं ॥ ९५५ ॥

आचार्यादिः प्रधानपुरुषो यद्वा गीतार्थः सामान्यतो वस्तु भण्यते, परिणामका वा साधवो वस्तु । एतादृशमात्मानं परं वा वस्तुभूतं ज्ञात्वा प्रतिसेवते प्रतिसेवाप्यते वा । 'इतरे' प्रतिपक्ष- 20 भूताः पुनरनाचार्यादिरगीतार्थो वा अपरिणामका-ऽतिपरिणामका वा सर्वेऽप्यवस्तु भण्यन्ते । एतेषामेवाचार्यादीनां यद् योग्यं भक्त-पानौषधादिकं तद् युक्तम्, तद्विपरीतं पुनरयुक्तम् । एतद् युक्ता-ऽयुक्तस्वरूपं गीतार्थ एव जानाति नेतर इति ॥ ९५५ ॥ अथ सशक्तिक-यतनाद्वारद्वयमाह—

धिइ सारीरा सत्ती, आय-परगता उ तं न हावेति ।
जयणा खलु तिपरिरया, अलंभे पच्छा पणगहाणी ॥ ९५६ ॥ 25

शक्तिर्द्वेधा, धृति-संहननभेदात् । तत्र धृतिरूपां शारीरां च—संहननरूपामात्मगतां परगतां च शक्तिं ज्ञात्वा आचार्योऽन्यो वा गीतार्थस्तां न हापयतीत्यत्र चतुर्भङ्गी सूचिता । सा चेयम्—आत्मगता शक्तिर्विद्यते न परगता १ परगता नात्मगता २ आत्मगताऽपि परगताऽपि ३ नात्मगता न परगता ४ । तत्र प्रथमभङ्गे आचार्य आत्मनः शक्तिं न हापयति, परस्य पुनरशक्तत्वाद् यथायोगं प्रतिसेवनामनुजानीते । द्वितीयभङ्गे अशक्तत्वादात्मना प्रतिसेवते, परस्य तु समर्थत्वाद् 30 नानुजानाति । तृतीयभङ्गे उभयोरपि शक्तिसद्भावादात्मनाऽपि न प्रतिसेवते परस्यापि न वितरति । चतुर्थभङ्गे पुनरुभयोरप्यशक्तत्वादात्मनाऽपि प्रतिसेवते परेणापि प्रतिसेवापयति । तथा यतना

---

१ °ण्यते भा० ॥

खलु त्रिपरिरया द्रष्टव्या, "रीङ् गतौ" परि–समन्ताद् रयणं परिरयः–परिभ्रमणमित्यर्थः, त्रयः परिरया यस्यां सा त्रिपरिरया । किमुक्तं भवति ?—एषणीयाहारान्वेषणार्थं स्वग्रामादौ त्रिसो वाराः सर्वतः पर्यट्य यद्येषणीयं न लभते ततः पश्चाद् 'अलाभे' अप्राप्तौ पञ्चकपरिहाण्या यतते ॥ ९५६ ॥ अथ फलद्वारम्—गीतार्थः प्रथममेव कार्यं प्रारभमाणः परिभावयति—एवमनु-
5 तिष्ठतो ममान्यस्य वा फलं भविष्यति ? न वा ? । तच्च फलं द्विविधम् । तदेवाह—

इह-परलोगे य फलं, इह आहाराइ इक्कमेक्कस्स ।
सिद्धी सग्ग सुकुलता, फलं तु परलोइयं एयं ॥ ९५७ ॥

इहलोकफलं परलोकफलं चेति फलं द्विधा । तत्रेहलोकफलमाहारादि, आदिशब्दाद् वस्त्र-पात्रादि । तथा सिद्धिगमनं स्वर्गगमनं सुकुलोत्पत्तिश्च एतत् पारलौकिकं फलम् । 'एतद्' द्वयमपि
10 'एकैकस्य' आत्मनः परस्य च परस्परोपकारेण यथा भवति तथा गीतार्थः समाचरति । यश्च गीतार्थोऽरक्त-द्विष्टः प्रतिसेवते तत्र नियमादप्रायश्चित्ती भवति ॥ ९५७ ॥

आह केन पुनः कारणेनाप्रायश्चित्ती ? उच्यते—

खेत्तोयं कालोयं, करणमिणं साहओ उवाओऽयं ।
कत्त त्ति य जोगि त्ति य, इय कडजोगी वियाणाहि ॥ ९५८ ॥

15 यो न रागे न द्वेषे किन्तु तुला-दण्डवद् द्वयोरपि मध्ये प्रवर्त्तते स ओजा भण्यते । क्षेत्रे–अध्वादौ ओजाः क्षेत्रौजाः, काले–अवमौदर्यादौ ओजाः कालौजाः, क्षेत्रे काले च प्रतिसेवमानो न राग-द्वेषाभ्यां दूष्यते इत्यर्थः । कथम् ? इत्याह—यतः स गीतार्थः 'करणमिदं' 'सम्यक्क्रियेयम्, एवं क्रियमाणे महती कर्मनिर्जरा भवति' इति विमृशति । तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि साधनीयानि, तेषां च साधकोऽयमुपायः, यद् असंस्तरणे यतनया प्रलम्बसेवनम् । तथा 'कृतयोगी'
20 गीतार्थः स कर्त्तेति च योगीति च भण्यते, "इय" एवं विजानीहि इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ॥ ९५८ ॥ अथैनामेव विवृणोति—

ओयब्भूतो खित्ते, काले भावे य जं समायरइ ।
कत्ता उ सो अकोप्पो, जोगीव जहा महावेज्जो ॥ ९५९ ॥

यः 'ओजोभूतः' राग-द्वेषविरहितो गीतार्थः 'क्षेत्रे' अध्वादौ 'काले' दुर्भिक्षादौ 'भावे च'
25 ग्लानत्वादौ प्रलम्बादिप्रतिसेवारूपं यत् किमपि समाचरति सः 'सम्यक्क्रियेयम्, साधकोऽयमुपायः' इत्यालोच्यकारी कर्त्ता 'अकोप्यः' अकोपनीयः, अदूषणीय इत्युक्तं भवति । क इव ? इत्याह—'योगीव यथा महावैद्यः' इति, 'यथा' इति दृष्टान्तोपन्यासे, 'योगी' धन्वन्तरिः, तेन च विभङ्गज्ञानबलेनाऽऽगामिनि काले प्राचुर्येण रोगसम्भवं दृष्ट्वा अष्टाङ्गायुर्वेदरूपं वैद्यकशास्त्रं चक्रे, तच्च यथाम्नायं येनाधीतं स महावैद्य उच्यते । स च आयुर्वेदप्रामाण्येन क्रियां कुर्वाणो 'योगीव'
30 धन्वन्तरिरिव न दूषणभाग् भवति, यथोक्तक्रियाकारिणश्च तस्य तत् चिकित्साकर्म सिध्यति;

---

१ "रीङ् गति-रेषणयोः" इति हैमधातुपाठे ॥ २ °णादि ता० ॥ ३ °लम्बादिप्रतिसेवनम् । 'कर्त्तेति च योगीति च' इतिशब्दौ स्वरूपपरामर्शे एवमर्थे वा, 'इति' अमुना प्रकारेण 'कृतयोगी' गीतार्थो भवति 'इति' एवं विजानीहि इति गाथास° भा० ॥

एवमत्रापि योगी तीर्थकरः, तदुपदेशानुसारेणोत्सर्गा-ऽपवादाभ्यां यथोक्तां क्रियां कुर्वन् गीतार्थोऽपि न वाच्यतामर्हति ॥ ९५९ ॥ अथ "कत्त त्ति य जोगि त्ति य" (गा० ९५८) पदद्वयमेव प्रकारान्तरेण व्याख्याति—

अहवण कत्ता सत्था, न तेण कोविज्जती कयं किंचि ।
कत्ता इव सो कत्ता, एवं जोगी वि नायव्वो ॥ ९६० ॥ 5

"अहवण" त्ति अखण्डमव्ययं अथवार्थे वर्त्तते । कर्त्ता 'शास्ता' तीर्थकर उच्यते । यथा 'तेन' तीर्थकरेण कृतं कार्यं किञ्चिदपि न कोप्यते एवमसावपि गीतार्थो विधिना क्रियां कुर्वन् 'कर्त्ता इव' तीर्थकर इवाकोपनीयत्वात् कर्त्ता द्रष्टव्यः । एवं योग्यपि ज्ञातव्यः । किमुक्तं भवति ?— यथा तीर्थकरः प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुञ्जानो योगी भण्यते, एवं गीतार्थोऽप्युत्सर्गा-ऽपवाद-बलवेत्ता अपवादक्रियां कुर्वाणोऽपि प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुञ्जानो योगीव ज्ञातव्यः ॥ ९६० ॥ 10

एवमाचार्येणोक्ते शिष्यः प्राह—

किं गीयत्थो केवलि, चउव्विहे जाणणे य गहणे य ।
तुल्ले राग-दोसे, अणंतकायस्स वज्जणया ॥ ९६१ ॥

किं गीतार्थः केवली येन तीर्थकृत इव तस्य वचनं करणं चाकोपनीयम् ? । सूरिराह— ओमिति ब्रूमः । तथाहि—द्रव्यादिभेदाद् यत् चतुर्विधं ज्ञानं तद् यथा केवलिनस्तथा गीतार्थ- 15 स्यापि; तथा यत् प्रलम्बानामेकानेकग्रहणविषयं विषमप्रायश्चित्तप्रदानम्, यश्च तत्र तुल्येऽपि जीवत्वे राग-द्वेषाभावः, या चाऽनन्तकायस्य वर्जना एतानि यथा केवली प्ररूपयति तथा गीतार्थोऽपीति द्वारगाथासमासार्थः ॥ ९६१ ॥ विस्तरार्थं प्रतिपदं बिभणिषुराह—

सव्वं नेयं चउहा, तं वेइ जिणो जहा तहा गीतो ।
चित्तमचित्तं मीसं, परित्तऽणंतं च लक्खणतो ॥ ९६२ ॥ 20

'सर्वमपि' जगत्त्रयगतं ज्ञेयं चतुर्धा । तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । 'तत्' चतुर्विधमपि यथा 'जिनः' केवली ब्रूते तथा गीतार्थोऽपि । यद्वा "तं वेइ" त्ति 'तत्' चतुर्विधं ज्ञेयं यथा जिनः 'वेत्ति' जानाति तथा गीतार्थोऽपि श्रुतज्ञानी जानात्येव । तथाहि—यथा केवली सचित्तमचित्तं मिश्रं परीत्तमनन्तं च लक्षणतो जानाति प्रज्ञापयति वा तथा श्रुतधरोऽपि श्रुतानुसारेणैव सचित्तलक्षणेन सचित्तं एवमचित्त-मिश्र-परीत्ता-ऽनन्तान्यपि स्वस्वलक्षणावैपरीत्येन जानाति प्ररू- 25 पयति चेति केवलीव द्रष्टव्यः ॥ ९६२ ॥ आह केवली समस्तवस्तुस्तोमवेदी, श्रुतकेवली पुनः केवलज्ञानानन्ततमभागमात्रज्ञानवान् ततः कथमिव केवलितुल्यो भवितुमर्हति ? इत्याह—

कामं खलु सव्वन्नू, नाणेणऽहिओ दुवालसंगीतो ।
पन्नत्तीइ उ तुल्लो[2], केवलनाणं जओ मूयं ॥ ९६३ ॥

[3]काममनुमतं खल्वस्माकं 'सर्वज्ञः' केवली 'द्वादशाङ्गिनः' श्रुतकेवलिनः सकाशाद् ज्ञानेनाऽ- 30

---

१ °षयं तुल्ये जीवत्वेऽजीवत्वे वा विषमप्रायश्चित्तप्रदानम्, यश्च तत्र राग-द्वेषा° भा० ॥ २ तुल्ला भा० ॥ ३ "कामं खलु० गाथा कण्ठ्या । काममत्रावधृतार्थे, कामाभिधानमर्थद्वये भवति—कामार्थेऽवधृतार्थे च । तत्र कामार्थे यथा—कामं जानामि ते मूलं, सङ्कल्पात् किल जायसे । न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि,

धिकः परं 'प्रज्ञाप्या' प्रज्ञापनया श्रुतकेवलिनः केवली 'तुल्यः' सदृशवाक्पर्यायः । कुतः ? इत्याह— यतः केवलज्ञानं 'मूकं' अमुखरम् । किमुक्तं भवति ?—यावतः पदार्थान् श्रुतकेवली भाषते तावत एव केवल्यपि, ये तु श्रुतज्ञानस्याऽविषयभूता भावाः केवलिनाऽवगम्यन्ते तेषामप्रज्ञापनीयतया केवलिनाऽपि वक्तुमशक्यत्वात् ॥ ९६३ ॥ आह कियन्तः प्रज्ञापनीयाः ? कियन्तोवा 5 अप्रज्ञापनीया भावाः ? इति तावद् वयं जिज्ञासामहे अतो निरुच्यतामेतद् भगवद्भिरित्याशङ्क्याह—

पन्नवणिज्जा भावा, अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं ।
पन्नवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुअ निबद्धो ॥ ९६४ ॥

ये प्रज्ञापयितुं—वक्तुं शक्यन्ते ते प्रज्ञापनीयाः अभिलाप्या इत्येकोऽर्थः, ते च भू-भूधर-विमान-ग्रह-नक्षत्रादयः । एतद्विपरीता अप्रज्ञापनीयाः । द्वावपि च राशी अनन्तौ, परं महान् पर-10 स्परं विशेषः । तथाहि—प्रज्ञापनीया भावाः सर्वेऽपि समुदिताः सन्तोऽनभिलाप्यानां भावानामनन्तभागो भवति, अनन्ततमे भागे वर्त्तन्त इति भावः । तेषामपि प्रज्ञापनीयानां भावानामनन्ततम एव भागः 'श्रुते' द्वादशाङ्गलक्षणे सूत्ररचनया निबद्धः, अनन्तकस्याऽनन्तभेदभिन्नत्वादित्यभिप्रायः ॥ ९६४ ॥ आह कथमेतत् प्रतीयते यथा 'प्रज्ञापनीयानामनन्तभागः श्रुते निबद्धः' ? उच्यते—

जं चउदसपुव्वधरा, छट्ठाणगया परोप्परं होंति ।
15 **तेण उ अणंतभागो, पन्नवणिज्जाण जं सुत्तं ॥ ९६५ ॥**

'यद्' यस्मात् चतुर्दशपूर्वधराः 'षट्स्थानगताः' अनन्तभागादिषट्स्थानवर्त्तिनः परस्परं भवन्ति । कथम् ? इति चेद् उच्यते—इह चतुर्दशपूर्वी चतुर्दशपूर्विणः किं तुल्यः ? किं वा हीनः ? किं वाऽभ्यधिकः ? इति चिन्तायां निर्वचनं तुल्यो वा हीनो वा अभ्यधिको वा । यदि तुल्यस्तदा तुल्यत्वादेव नास्ति विशेषः । अथ हीनस्ततो यदपेक्षया हीनस्तमुद्दिश्याऽनन्तभागहीनो वा अस-20 ङ्ख्येयभागहीनो वा सङ्ख्येयभागहीनो वा सङ्ख्येयगुणहीनो वा असङ्ख्येयगुणहीनो वा अनन्तगुणहीनो वा । अथाभ्यधिकस्ततो यदपेक्षयाऽभ्यधिकस्तं प्रतीत्याऽनन्तभागाभ्यधिको वा असङ्ख्येयभागाभ्यधिको वा सङ्ख्येयभागाभ्यधिको वा सङ्ख्येयगुणाभ्यधिको वा असङ्ख्येयगुणाभ्यधिको वा अनन्तगुणाभ्यधिको वा । आह समाने सर्वेषामप्यक्षरलाभे षट्स्थानपतितत्वमेव कथं जाघटीति ? उच्यते—एकस्मात् सूत्रादनन्ता-ऽसङ्ख्येय-सङ्ख्येयगम्यार्थगोचरा ये मतिविशेषाः श्रुतज्ञानाभ्यन्तर-25 वर्त्तिनस्तैः परस्परं षट्स्थानपतितत्वं न विरुध्यते । तदुक्तम्—

अक्खरलंभेण समा, ऊणहिया हुंति मइविसेसेहिं ।
ते पुण मईविसेसे, सुयनाणब्भंतरे जाण ॥ (विशे० गा० १४३)

ततो मे न भविष्यति ॥ १ ॥ अवधृतार्थे तु यद् नियतं निश्चितं वा तदपि काममित्युच्यते । इह त्ववधृतार्थे द्रष्टव्यः ॥" इति चूर्णिः ॥

१ °वलि-केवलिनौ परस्परं द्वावपि तुल्यौ । कुतः ? इत्याह—यतः केवलज्ञानं 'मूकं' स्वस्वरूपप्रतिपादनेऽप्यमुखरं श्रुतज्ञानं तु स्वपरस्वरूपप्रत्यायनपटीय इति कृत्वा यावतः पदार्थान् श्रुतकेवली भाषते तावत एव केवलीति । ये तु भा० ॥ २ °न्ततम एव भागो भा० ॥ ३ °ग एव श्रु° भा० ॥

एवंविधं च षट्स्थानपतितत्वं प्रज्ञापनीयानामनन्ततमभागमात्र एव श्रुतनिबद्धे घटमानकं भवति । यदि हि सर्वे एव प्रज्ञापनीया भावाः श्रुते निबद्धा भवेयुस्तर्हि चतुर्दशपूर्विणोऽपि परस्परं तुल्या एव भवेयुर्न षट्स्थानपतिता इति । अत एवाह—'तेन' कारणेन यत् किमपि 'श्रुतं' चतुर्दशपूर्वरूपं तत् प्रज्ञापनीयानामनन्ततमो भागो वर्त्तते इति ॥ ९६५ ॥

अथ यदुक्तं "प्रज्ञापनया द्वावपि तुल्यौ" (गा० ९६३) तद्भावनामाह— 5

केवलविन्नेयत्थे, सुयनाणेणं जिणो पगासेइ ।
सुयनाणकेवली वि हु, तेणेवऽत्थे पगासेइ ॥ ९६६ ॥

केवलेन विज्ञेया येऽर्थास्तान् यावतः श्रुतज्ञानेन 'जिनः' केवली प्रकाशयति । इह च केवलिनः सम्बन्धी वाग्योग एव श्रोतॄणां भावश्रुतकारणत्वात् कारणे कार्योपचारात् श्रुतज्ञानमुच्यते, न पुनस्तस्य भगवतः किमप्यपरं केवलज्ञानव्यतिरिक्तं श्रुतज्ञानं विद्यते, "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए 10 नाणे" (आव० नि० गा० ५३९) इति वचनात् । श्रुतज्ञानकेवल्यपि[2] तानेव तावतः 'तेनैव' श्रुतज्ञानेन 'अर्थान्' जीवादीन् प्रकाशयति । अतः "श्रुतकेवलि-केवलिनौ द्वावपि प्रज्ञापनया तुल्यौ" इति स्थितम् । तदेवं यथा केवली द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैर्वस्तु जानाति तथा गीतार्थोऽपि जानीते ॥ ९६६ ॥ अत्र पुनः प्रलम्बाधिकाराद् द्रव्यतः परीत्तमनन्तं वा येन लक्षणेन जानाति तदभिधित्सुराह— 15

गूढछिरागं पत्तं, सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं ।
जं पि य पणट्ठसंधिं, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ ९६७ ॥

यत् पत्रं सक्षीरं निःक्षीरं वा 'गूढशिराकं भवति' गूढाः—गुप्ता अनुपलक्ष्याः शिराः—स्नायवो यस्य तद् गूढशिराकम्, तथा यदपि च 'प्रनष्टसन्धिकं' सर्वथाऽनुपलक्ष्यमाणपत्रार्द्धद्वयसन्धि, तदेवंविधं पत्रम् 'अनन्तजीवम्' अनन्तकायिकं विजानीहीति ॥ ९६७ ॥ 20

अथ मूल-स्कन्धादीनां सर्वेषामप्यनन्तकायत्वे लक्षणमाह—

चक्कागं भज्जमाणस्स, गंठी चुण्णघणो भवे ।
पुढविसरिसेण भेएणं, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ ९६८ ॥

यस्य मूलादेर्भज्यमानस्य चक्राकारो भङ्गो भवति सम इत्यर्थः । तथा 'ग्रन्थिः' पर्व सामान्यतो भङ्गस्थानं वा स यस्य चूर्णघनो भवति । कोऽर्थः ?[3]—यस्य भज्यमानस्य ग्रन्थेर्घनश्चूर्ण उड्डी- 25 यमानो दृश्यते । पृथिवी नाम केदाराद्युपरिवर्त्तिनी शुष्ककोप्पटिका श्लक्ष्णखटिकानिर्मिता वा, यथा तस्या भिद्यमानायाः समो भेदो भवति एवं समभेदेन भिद्यमानं तदेवंविधं मूलादिकमनन्तजीवं विजानीहि ॥ ९६८ ॥ इदमेव स्पष्टयन्नाह—

जस्स मूलस्स भग्गस्स, समो भंगो पदीसई ।
अणंतजीवे उ से मूले, जे याऽवऽन्ने तहाविहे ॥ ९६९ ॥ 30

---

१ °न् प्रज्ञापनायोग्यान् श्रुत° भा० ॥ २ °ल्यपि 'हुः' निश्चितं 'तेनैव' भा० ॥ ३ °त्यर्थः । यस्य चार्द्रकादिग्रन्थिकस्य भिद्यमानस्य चूर्णघनो भेदो भवति, चूर्णघनो नाम घनीकृतो लोलीकृतो यस्तन्दुलादीनां चूर्णस्तत्समानो भेदो भवतीति; यद्वा 'ग्रन्थिः' भा० ॥

यस्य मूलस्य भग्नस्य समो भङ्गः प्रदृश्यते अनन्तजीवं तु तद् मूलम्। यश्च 'अन्योऽपि' स्कन्धादिकस्तथाविधः समभङ्गेन भज्यते सोऽप्यनन्तजीवो ज्ञातव्य इति ॥ ९६९ ॥

जस्स मूलस्स भग्गस्स, हीरो भंगे पदिस्सए ।
परित्तजीवे उ से मूले, जे याऽवऽन्ने तहाविहे ॥ ९७० ॥

5 यस्य मूलस्य भग्नस्य 'हीरः' तन्तुकविशेषो भङ्गे वंशस्येव प्रदृश्यते परीत्तजीवं तु तद् मूलम् । यश्च 'अन्योऽपि' स्कन्धादिकस्तथाविधो भङ्गे दृश्यमानहीरः सोऽपि प्रत्येकजीव इति ॥ ९७० ॥

जस्स मूलस्स कट्ठातो, छल्ली बहलतरी भवे ।
अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवऽन्ना तहाविहा ॥ ९७१ ॥

यस्य मूलस्य सम्बन्धिनः 'काष्ठात्' सारात् 'छल्ली' बाह्या त्वक् 'बहलतरा' स्थूलतरा भवेत्, 10 यथा शतावर्याः, अनन्तजीवा तु सा छल्ली । या चान्याऽपि तथाविधा । काष्ठमपि तस्यानन्तजीवं द्रष्टव्यम् ॥ ९७१ ॥

जस्स मूलस्स कट्ठातो, छल्ली तणुयतरी भवे ।
परित्तजीवा तु सा छल्ली, जा याऽवऽण्णा तहाविहा ॥ ९७२ ॥

यस्य मूलस्य काष्ठात् छल्ली 'तनुकतरा' श्लक्ष्णतरा भवेत् परीत्तजीवा तु सा छल्ली, यथा 15 सहकारादेः, या चान्याऽपि तथाविधा ॥ ९७२ ॥ गतं द्रव्यतो लक्षणम् । अथ क्षेत्रत आह—

जोअणसयं तु गंता, अणहारेणं तु भंडसंकंती ।
[1]वाया-ऽगणि-धूमेण य, विद्धत्थं होइ लोणाई ॥ ९७३ ॥

लवणादिकं स्वस्थानाद् गच्छत् प्रतिदिवसं बहुबहुतरादिक्रमेण विध्वस्यमानं योजनशतात् परतो गत्वा सर्वथैव 'विध्वस्तम्' अचित्तं भवति । आह शस्त्राभावे योजनशतगमनमात्रेणैव कथमचित्ती-20 भवति ? इत्याह— अनाहारेण, यस्य यद् उत्पत्तिदेशादिकं साधारणं तत् ततो व्यवच्छिन्नं स्वोपष्टम्भकाहारव्यवच्छेदाद् विध्वस्यते । तच्च लवणादिकं भाण्डसङ्क्रान्त्या पूर्वस्मात् पूर्वस्माद् भाजनादपरापरभाजनेषु, यद्वा पूर्वस्या भाण्डशालाया अपरस्यां भाण्डशालायां सङ्क्रम्यमाणं विध्वस्यते । तथा वातेन [2]वा अग्निना वा महानसादौ धूमेन वा लवणादिकं विध्वस्तं भवति ॥ ९७३ ॥

"लोणाई" इत्यत्र आदिशब्दादमी द्रष्टव्याः—

25 **हरियाल मणोसिल पिप्पली य खज्जूर मुद्दिया अभया ।**
आइन्नमणाइन्ना, ते वि हु एमेव नायव्वा ॥ ९७४ ॥

हरितालं मनःशिला पिप्पली च खर्जूरः एते प्रतीताः, '[3]मुद्रिका' द्राक्षा 'अभया' हरीतकी । एतेऽपि 'एवमेव' लवणवद् योजनशतगमनादिभिः कारणैरचित्तीभवन्तो ज्ञातव्याः । परमेकेऽत्राचीर्णा अपरेऽनाचीर्णाः । तत्र पिप्पली-हरीतकीप्रभृतय आचीर्णा इति कृत्वा गृह्यन्ते । खर्जूर-मुद्रि-30 कादयः पुनरनाचीर्णा इति न गृह्यन्ते ॥ ९७४ ॥ अथ सर्वेषां सामान्येन परिणमनकारणमाह—

---

१ **"वाया-ऽऽयव-धूमेण य"** इति पाठः **चूर्णिकृतो**ऽभिमतः, भा० पुस्तकेऽप्येतदनुसारेणैव टीका वर्त्तते, (दृश्यतां टिप्पणी २), न चायं पाठोऽस्मत्पार्श्वस्थादर्शेषु क्वचिद् दृश्यते ॥ **२ वा आतपेन वा अग्नि°** भा० । "वाया-ऽऽतव-धूमेण य विद्धत्थं भवति लोणादी" इति **चूर्णौ** ॥ ३ **'मृद्वीका'** मो० ले० ॥

आरुहणे ओरुहणे, निसियण गोणादिणं च गाउम्हा ।
भुम्माहारच्छेदे, उवक्कमेणं च परिणामो ॥ ९७५ ॥

शकटे गवादिपृष्ठेषु च लवणादीनां यद् भूयो भूय आरोहणमवरोहणं च, तथा यत् तस्मिन् शकटादौ लवणादिभरोपरि मनुष्या निषीदन्ति, तेषां गवादीनां च यः कोऽपि पृष्ठादिगात्रोष्मा तेन च परिणामो भवति । तथा यो यस्य भौमादिकः-पृथिव्यादिक आहारस्तद्व्यवच्छेदे तस्य 5 'परिणामः' उपक्रमः शस्त्रम्, उपक्रम्यन्ते जीवानामायूंषि अनेनेति व्युत्पत्तेः । तच्च शस्त्रं त्रिधा— स्वकायशस्त्रं परकायशस्त्रं तदुभयशस्त्रं चेति । तत्र स्वकायशस्त्रं यथा—लवणोदकं मधुरोदकस्य, कृष्णभूमं वा पाण्डुभूमस्येति । परकायशस्त्रं यथा—अग्निरुदकस्य, उदकं वा अग्नेरिति । तदुभयशस्त्रं यथा—उदकमृत्तिका शुद्धोदकस्येत्यादि । एवमादीनि सचित्तवस्तूनां परिणमनकारणानि मन्तव्यानि ॥ ९७५ ॥ 10

चोएई वणकाए, पगए लोणादियाण किं गहणं ।
आहारेणऽहिगारो, तस्सुवकारी अतो गहणं ॥ ९७६ ॥

शिष्यो नोदयति—'वनस्पतिकाये' प्रलम्बलक्षणे प्रकृते लवणादीनां पृथिवीकायिकानां किमर्थमत्र ग्रहणं क्रियते? इति । सूरिराह—आहारेण तावदत्र सूत्रेऽधिकारः, तस्य चाहारस्य लवणमतिशयेनोपकारि, तद्विरहितस्याऽऽहारस्य नीरसत्वात्, अतस्तद्ग्रहणमिति ॥ ९७६ ॥ 15

यद्येवं ततः—

छहिँ निप्फज्जइ सो ऊ, तम्हा खलु आणुपुव्वि किं न कया ।
पाहन्नं बहुयत्तं, निप्फत्ति सुहं च तो न कमो ॥ ९७७ ॥

'षड्भिः' पृथिवीकायादिभिः 'सः' आहारो निष्पद्यते अतः षडपि कायाः किं नानुपूर्व्या सूत्रे 'कृताः' गृहीताः?, यथा—"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुढविकाइए गिण्हित्तए" 20 इत्यादि । आचार्यः प्राह—तस्मिन्नाहारे वनस्पतेः प्राधान्यम्, मुख्यतया तस्यैवाऽऽहरणीयत्वात् । तथा 'बहुत्वम्' उपयोगबाहुल्यं वनस्पतिरागच्छति । वनस्पतिकायेन च यथा सुखमाहारस्य निष्पत्तिर्न तथा पृथिव्यादिभिः कायैः । तत एभिः कारणैर्न 'क्रमः' पृथिव्यादीनामानुपूर्वीग्रहणलक्षणः कृतः, किन्तु केवलस्यैव वनस्पतेः सूत्रे ग्रहणं कृतमिति ॥ ९७७ ॥

गतं क्षेत्रतो लक्षणम् । अथ कालत आह— 25

उप्पल-पउमाइं पुण, उण्हे दिन्नाइँ जाम न धरिंती ।
मोग्गरग-जूहियाओ, उण्हे छूढा चिरं होंति ॥ ९७८ ॥
मगदंतियपुप्फाइं, उदए छूढाइँ जाम न धरिंती ।
उप्पल-पउमाइं पुण, उदए छूढा चिरं होंति ॥ ९७९ ॥

उत्पलानि पद्मानि च 'उण्णे' आतपे दत्तानि 'यामं' प्रहरमात्रं कालं 'न म्रियन्ते' नावति- 30

१ °न वा परि° त० डे० विना ॥ २ °मने का° मो० ले० ॥ ३ °कायिकादिभिः मो० ॥
४ मो० ले० विनाऽन्यत्र—च उदकयोनिकत्वात् 'उण्णे' भा० त० डे० । च शीतयोनिकत्वात् 'उण्णे' कां० ॥

ष्ठन्ते किन्तु प्रहरादर्वागेवाचित्तीभवन्ति । 'मुद्गरकाणि' मगदन्तिकापुष्पाणि यूथिकापुष्पाणि चोष्णयोनिकत्वाद् उष्णे क्षिप्तानि चिरमपि कालं भवन्ति, सचित्तान्येव तिष्ठन्तीति भावः ॥ ९७८ ॥

मगदन्तिकापुष्पाणि उदके क्षिप्तानि 'यामं' प्रहरमपि न भ्रियन्ते । उत्पल-पद्मानि पुनरुदके क्षिप्तानि चिरमपि भवन्ति, उदकयोनिकत्वात् ॥ ९७९ ॥

5 गतं कालतो लक्षणम् । अथ भावत आह—

पत्ताणं पुप्फाणं, सरडुफलाणं तहेव हरियाणं ।
विंटम्मि मिलाणम्मी, नायव्वं जीवविप्पजढं ॥ ९८० ॥

पत्राणां पुष्पाणां 'सरडुफलानाम्' अबद्धास्थिकफलानां तथैव 'हरितानां' वास्तुलादीनां सामान्यतस्तरुणवनस्पतीनां वा 'वृन्ते' मूलनाले म्लाने सति ज्ञातव्यम्, यथा—जीवविप्रमुक्तमेतत् 10 पत्रादिकम् ॥ ९८० ॥ उक्तं भावतोऽपि लक्षणम् । तदुक्तौ च समर्थितं चतुर्विधज्ञानद्वारम् । अथ ग्रहणद्वारमाह—

चउभंगो गहण पक्खेवए अ एगम्मि मासियं लहुयं ।
गहणे पक्खेवम्मि, होंति अणेगा अणेगेसु ॥ ९८१ ॥

चतुर्भङ्गी ग्रहणे प्रक्षेपके च द्रष्टव्या । तद्यथा—एकं ग्रहणं एकः प्रक्षेपकः १ एकं ग्रहणम- 15 नेके प्रक्षेपकाः २ अनेकानि ग्रहणानि एकः प्रक्षेपकः ३ अनेकानि ग्रहणानि अनेके प्रक्षेपकाः ४ । अत्र च हस्तेन यत् प्रलम्बानामादानं तद् ग्रहणम्, यत् पुनर्मुखे प्रवेशनं स प्रक्षेपकः । तत्र प्रथमभङ्गे एकस्मिन् ग्रहणे प्रक्षेपके च प्रत्येकं मासलघु । द्वितीयभङ्गे एकस्मिन् ग्रहणे मासलघु, प्रक्षेपस्थाने यावतः प्रक्षेपकान् करोति तावन्ति मासलघूनि । तृतीयभङ्गे तु यावन्ति ग्रहणानि तावन्ति मासलघुकानि, प्रक्षेपविषयस्त्वेको लघुमासः । चतुर्थभङ्गेऽनेकेषु ग्रहणेष्वनेकेषु प्रक्षेप- 20 केषु चानेकान्येव मासलघुकानि । एतच्चासामाचारीनिष्पन्नं मन्तव्यम् । यत् पुनर्जीवघातनिष्पन्नं चतुर्लघुकादिकं तत् स्थितमेव । एतच्च ग्रहण-प्रक्षेपकनिष्पन्नं प्रायश्चित्तं यथा केवली जानाति तथा गीतार्थोऽपीति ॥ ९८१ ॥

गतं ग्रहणद्वारम् । अथ तुल्ये राग-द्वेषाभाव इति द्वारम् । तत्र शिष्यः प्राह—

पडिसिद्धा खलु लीला, बिइए चरिमे य तुल्लदव्वेसु ।
25 **निद्दयता वि हु एवं, बहुधाए एगपच्छित्तं ॥ ९८२ ॥**

अहो ! भगवन्तो राग-द्वेषाध्यासितमनसः । तथाहि—'तुल्यद्रव्येषु' समानेऽपि प्रलम्बद्रव्याणां जीवत्वे इत्यर्थः द्वितीयभङ्गे एकफलस्य चरमभङ्गे तु बहूनां फलानां बहून् वारान् प्रक्षेपं करोतीति बहूनि मासिकानि दत्थ, तृतीयभङ्गे तु बहूनि वनफलानि गृहीत्वा छित्त्वा वा एकः प्रक्षेपक इति कृत्वैकं मासिकं दद्ध्वे, तद् मम मनसि प्रतिभासते नूनं लीलयैव युष्माभिः प्रतिषिद्धा न 30 पुनर्जीवोपघातः । एवं च भगवतां द्वितीयभङ्गे प्रलम्बजीवानामुपरि रागो बहुमासिकदानात्, तृतीयभङ्गे तु द्वेषः एकस्यैव मासिकस्य दानात्; यद्वा द्वितीयभङ्गे गृह्णतां शिष्याणामुपरि द्वेषः, तृतीये

---

१ मो० ले० विनाऽन्यत्र—°वन्तीति ॥ गतं भा० । °वन्ति ॥ गतं त० डे० कां० ॥ २ "सरडुफलाणि णाम जाणि आमयाणि तरुणगाणि अबद्धट्ठिगाणि" इति चूर्णौ ॥ ३ °कानि मा° भा० ॥ ४ तु यद् ब° भा० ॥

तु रागः, कारणं प्राग्वदेव । किञ्च युष्माकमेवं 'बहुघाते' युगपद् बहूनां मुखे प्रक्षिप्य भक्षणे एकमेव मासिकं [प्रायश्चित्तं] ददतां निर्दयता भवति ॥ ९८२ ॥

अथ राग-द्वेषाभावं समर्थयन् सूरिः परिहारमाह—

चोयग ! निद्दयतं चिय, णेच्छंता विडसणं पि नेच्छामो ।
निव मिच्छ छगल सुरकुड, मता-ऽमताऽऽलिंप भक्खणता ॥ ९८३ ॥ 5

हे नोदक! निर्दयतामेवानिच्छन्तो वयं विदशनमपि नेच्छामः, विविधं दशनं–भक्षणं विदशनं लीला इत्यर्थः । अत्र चाचार्या म्लेच्छद्वयदृष्टान्तं वर्णयन्ति—

जहा एगस्स रन्नो दो मिच्छा ओलग्गगा । तेण रन्ना तेसिं मिच्छाणं तुट्ठेण दो सुरकुडा दो य छगला दिन्ना । ते तेहिं गहिया । तत्थ एगेणं छगलो एगप्पहारेणं मारितूण खइओ दोहिं तिहिं वा दिणेहिं । बितिओ एक्केक्कं अंगं छेत्तुं खायति, तं पि सो छेदथामं लोणेणं आसुरीहिं वा छग-10
णेण वा लिंपइ । एवं तस्स छगलस्स जीवंतस्सेव गाताणि छेत्तुं खइयाणि, मतो य । पढमस्स एगप्पहारेण एक्को वधो । बितियस्स जत्तिएहिं छेदेहिं मरति तत्तिया वधा, लोगे य पावो गणिज्जति । एवं जेण पलंबस्स एक्को पक्खेवो कओ तस्स एक्कं मासियं, जो विडसंतो खायति तस्स तत्तिया पच्छित्ता, घणचिक्कणाए य पारितावणियाए किरियाए वट्टति । विडसणा णाम आसादेंतो थोवं थोवं खायइ ॥ 15

अत एवाह—"निव मेच्छ" इत्यादि । कस्यचिद् नृपस्य द्वौ म्लेच्छाववलगकौ । तेन तुष्टेन तयोः छगलकौ सुराकुटौ च दत्तौ । तत्रैकेन च्छगलकस्य मृतस्य द्वितीयेन पुनरमृतस्यैवैकैकमङ्गं छित्त्वा लवणादिभिरालिम्प्य भक्षणं कृतमिति ॥ ९८३ ॥ किञ्च—

अचित्ते वि विडसणा, पडिसिद्धा किमु सचेयणे दव्वे ।
कारणें पक्खेवम्मि उ, पढमो तइओ अ जयणाए ॥ ९८४ ॥ 20

अचित्तेऽपि द्रव्ये विदशना प्रतिषिद्धा किं पुनः सचेतने द्रव्ये ?, सचित्तं प्रलम्बं सुतरां विदशनया न भक्षणीयमिति भावः । यत्र पुनः कारणे सचित्तं मुखे प्रक्षिपति तत्रापि 'प्रथमभङ्गः' एकग्रहणैकप्रक्षेपरूपः 'तृतीयभङ्गश्च' अनेकग्रहणैकप्रक्षेपरूपो यतनया सेवितव्यः ॥ ९८४ ॥

अथानन्तकायस्य वर्जनेति द्वारम् । तत्र प्रथमतो द्वारगाथामाह—

पायच्छित्ते पुच्छा, उच्छुकरण महिड्ढि दारु थली य दिट्ठंतो । 25
चउत्थपदं च विकडुभं पलिमंथो चेवऽणाइन्नं ॥ ९८५ ॥

प्रथमं प्रायश्चित्ते पृच्छा कर्त्तव्या । ततः 'इक्षुकरणेन' इक्षुवाटेन 'महर्द्धिकेन' राज्ञा "दारु" त्ति दारुभारेण 'स्थल्या च' देवद्रोण्या दृष्टान्तः कर्त्तव्यः । चतुर्थं च–द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि भिन्नमिति यत् पदं तत्र त्रीणि द्वाराणि—विकटुभं परिमन्थः अनाचीर्णमिति समासार्थः ॥ ९८५ ॥

अथ विस्तरार्थमाह— 30

चोएइ अजीवत्ते, तुल्ले कीस गुरुगो अणंतम्मि ।
कीस य अचेयणम्मी, पच्छित्तं दिज्जए दव्वे ॥ ९८६ ॥

शिष्यो नोदयति—भावतो भिन्नं द्रव्यतोऽभिन्नं भावतो भिन्नं द्रव्यतोऽपि भिन्नमिति तृती-

य-चतुर्थयोर्भङ्गयोः परीत्ते अनन्ते च अजीवत्वे तुल्येऽपि कस्माद् अनन्ते गुरुमासः परीत्ते लघुमासो दीयते? कस्माच्चाचेतने द्रव्ये परीत्तेऽनन्ते वा जीवोपघातं विनाऽपि प्रायश्चित्तं दीयते?। अपरं च राग-द्वेषवन्तो भवन्तः, यदचेतने परीत्ते मासलघु अनन्तेऽचेतनेऽपि मासगुरु प्रयच्छत ॥ ९८६ ॥ तत्र यत् तावद् नोदितम् "कस्मात् परीत्ते मासलघु अनन्ते मासगुरु?" तद्वि-
5 षयं समाधानमाह—

साऊ जिणपडिकुट्ठो, अणंतजीवाण गायनिप्फन्नो ।
गेही पसंगदोसा, अणंतकाए अतो गुरुगो ॥ ९८७ ॥

परीत्ताद् अनन्तकायः स्वादुः स्वादुतरः । तथा जिनैः—तीर्थकरैः प्रतिकुष्टः, 'कारणेऽपि परीत्तं ग्रहीतव्यं नानन्तम्' इति जिनोपदेशात् । अनन्तानां च जीवानां गात्रेण स निष्पन्नः । सुस्वादु-
10 स्वाद्वाधिकतरा तत्र गृद्धिर्भवति । तस्याश्च प्रसङ्गेनानेषणीयमपि गृह्णीयादित्यादयो बहवो दोषाः, अतोऽनन्तकायेऽचित्तेऽपि गुरुको मासः प्रायश्चित्तम् । एवं च द्रव्यानुरूपं प्रायश्चित्तं ददतामस्माकं राग-द्वेषावपि दूरापास्तप्रसराविति ॥ ९८७ ॥

यच्चोक्तम् "कस्मादचित्ते प्रायश्चित्तं प्रयच्छत?" (गा० ९८६) इति तत्रापि समाधीयते— अनवस्थाप्रसङ्गनिवारणार्थं सजीवग्रहणपरिहारार्थं चाचित्तेऽपि प्रायश्चित्तप्रदानमुपपन्नमेव । तथा
15 चात्राचार्या **इक्षुकरणदृष्टान्त**मुपदर्शयन्ति—

न वि खाइयं न वि वई, न गोण-पहियाइए निवारेइ ।
इति करणभई छिन्नो, विवरीय पसत्थुवणओ य ॥ ९८८ ॥

एगेण कुडुंबिणा उच्छुकरणं रोवियं । तस्स परिपेरंतेण तेण न वि खाइया कया, न वि वईए फलिहियं, न वि गोणाई निवारेइ, नावि पहिए खायंते वारेइ । ताहे तेहिं गोणाईहिं अवारि-
20 ज्जमाणेहिं तं सव्वं उच्छाइयं । एवंकरिंतो सो कम्मकराण भईए छिन्नो । जं च परायय खेत्तं वाविंतेणं वुत्तं 'एत्तियं ते दाहं' ति तं पि दायव्वं । एवं सो उच्छुकरणे विणट्ठे मूलच्छिन्ने जं जस्स देयं तं अदेंतो बद्धो विणट्ठो य । एस अप्पसत्थो ॥

अन्नेण वि उच्छुकरणं कयं । सो विवरीओ भाणियव्वो । खाइयादि सव्वं कयं । जे य गोणाई पडंति ते तहा उत्तासयति जहा अन्ने वि न ढुक्कंति । एस पसत्थो ॥

25 अथाक्षरार्थः—कश्चित् कुटुम्बी इक्षुकरणं रोपयित्वा नापि खातिकां नापि वृतिं कृतवान्, न वा गो-पथिकादीन् खादतो निवारयति । 'इति' एवंकुर्वन् इक्षुकरणस्य सम्बन्धिनी या भृतिः—कर्मकरादिदेयं द्रव्यं तया 'छिन्नः' त्रुटितः सन् विनष्टः । एतद्विपरीतश्च प्रशस्तदृष्टान्तो वक्तव्यः । उपनयश्च द्वयोरपि दृष्टान्तयोर्भवति ॥ ९८८ ॥ स चायम्—

को दोसो दोहिँ भिन्ने, पसंगदोसेण अणरुई भत्ते ।
30 **भिन्नाभिन्नग्गहणे, न तरइ सजिए वि परिहरिउं ॥ ९८९ ॥**

कश्चिद् निर्धर्मा प्रलम्बानि ग्रहीतुकामः "को दोषः स्यात् 'द्वाभ्यां' द्रव्य-भावाभ्यां भिन्ने प्रलम्बे गृह्यमाणे?" इति परिभाव्य द्रव्य-भावभिन्नानि प्रलम्बान्यानीतवान् । यदि च तस्य प्रायश्चित्तं न दीयते तदा स निर्विशङ्कं भूयो भूयस्तानि गृह्णाति । ततश्च लब्धप्रलम्बरसास्वादस्य प्रसङ्गदोषेण

तैः प्रलम्बैरलभ्यमानैस्तस्य भक्ते 'अरुचिः' अरोचको भवति । ततो यानि भावतो भिन्नानि द्रव्यतोऽभिन्नानि तेषां ग्रहणे प्रवर्त्तते । यदा तान्यपि न लभते तदाऽसौ प्रलम्बरसगृद्धः सजीवान्यपि प्रलम्बानि न शक्नोति परिहर्तुमिति । विशेषयोजना त्वेवम्—कुटुम्बिस्थानीयः साधुः, इक्षुकरणस्थानीयं चारित्रम्, परिखास्थानीया अचित्तप्रलम्बादिनिवृत्तिः, वृतिस्थानीया गुर्वाज्ञा, गो-पथिकादिस्थानीया रसगौरवादयः, तैरुपद्रूयमाणं प्रलम्बग्राहिणश्चारित्रमचिरादेव विनश्यति, 5 यथा चासौ कर्षक एकभविकं मरणं प्राप्तस्तथाऽयमप्यनेकानि जन्म-मरणानि प्राप्नोतीत्येष अप्रशस्त उपनयः । प्रशस्तः पुनरयम्—यथा तेन द्वितीयकर्षकेण कृतं सर्वमपि परिखादिकम्, उत्रासिता गवादयः, रक्षितं स्वक्षेत्रम्, सञ्जातोऽसावैहिकानां कामभोगानामाभागी; एवमत्रापि केनापि साधुना द्रव्यभावभिन्नं प्रलम्बमानीतमाचार्याणामालोचितम्, तैराचार्यैः स साधुरत्यर्थं खरण्टितः ॥ ९८९ ॥

ततश्च— 10

छड्डाविय-कयदंडे, न कमेति मती पुणो वि तं घेत्तुं ।
न य से वड्डइ गेही, एमेव अणंतकाए वि ॥ ९९० ॥

स साधुराचार्यैः प्रलम्बानि च्छर्दापितः—त्याजितः प्रायश्चित्तदण्डश्च तस्य कृतः, ततश्च च्छर्दापित-कृतदण्डस्य पुनरपि 'तत्' प्रलम्बजातं ग्रहीतुं मतिः 'न क्रमते' नोत्सहते, 'न च' नैव "से" तस्य प्रलम्बे गृद्धिर्वर्धते, ततश्चासौ विरतिरूपया परिखया गुर्वाज्ञारूपया वृत्या परिक्षिप्तमिक्षुक- 15 रणकल्पं चारित्रं रसगौरवादिगो-पथिकैरुपद्रूयमाणं सम्यक् परिपालयितुमीष्टे, जायते चैहिकाऽऽमुष्मिककल्याणपरम्पराया भाजनम् । एवं तावत् प्रत्येके भणितम्, अनन्तकायेऽप्येवमेव द्रष्टव्यमिति ॥ ९९० ॥ अथ **महर्द्धिक-दारुभरदृष्टान्तद्वयमाह**—

कन्नंतेपुर ओलोयणेण अनिवारियं विणट्ठं तु ।
दारुभरो य विलुत्तो, नगरद्दारे अवारिंतो ॥ ९९१ ॥ 20
बितिएणोलोयंती, सव्वा पिंडितु तालिता पुरतो ।
भयजणणं सेसाण वि, एमेव य दारुहारी वि ॥ ९९२ ॥

महिड्ढिओ राया भण्णइ । तस्स कन्नंतेपुरं वायायणेहिं ओलोएइ तं न को वि वारेइ । ताहे तेण पसंगेणं निग्गंतुमाढत्ताओ तह वि ण कोति वारेइ । पच्छा विडपुत्तेहिं समं आलावं काउमाढत्ताओ । एवं अवारिज्जंतीओ विणट्ठाओ ॥ 25

दारुभरदिट्ठंतो—

एगस्स सेट्ठिस्स दारुभरिया भंडी पविसति । णगरदारे एगं दारुअं सयं पडियं तं चेडरूवेण गहितं । तं पासित्ता 'न वारियं' ति (ग्रन्थाग्रम्–३५००) काउं अण्णेण चेडरूवेण भंडीओ च्चेव गहियं । तं अवारिज्जमाणं पासित्ता सव्वो दारुभरो विलुत्तो लोगेणं । एते अपसत्था ॥

इमे पसत्था—बितिएणं अंतेपुरवालगेण एगा ओलोयंती दिट्ठा, ताहे तेण सव्वाओ पिंडिया 30 तासिं पुरओ सा तालिता । ताहे सेसियाओ वि भीयाओ ण पलोएंति । एवं अंतेउरं रक्खियं ॥

एवं पढमदारुहारी वि पिट्टित्ता दारुभरो वि रक्खितो ॥

अथाक्षरगमनिका—कन्यान्तःपुरम् 'अवलोकनेन' वातायनेनाऽवलोकमानमनिवारितं सत्

क्रमेण विटपुत्रैः सार्द्धमालापकरणाद् विनष्टम् । एवं दारुभरोऽपि नगरद्वारे दारूणि गृह्णन्ति चेट-रूपाण्यवारयति शाकटिके सर्वोऽपि 'विलुप्तः' मुषितः । द्वितीयेन पुनरन्तःपुरपालकेनैका कन्यका अवलोकमाना दृष्टा, ततः सर्वा अपि कन्यकाः पिण्डीकृत्य तासां पुरतः ताडिता, यथा शेषाणा-मपि भयजननं भवति । एवमेव च दारुहार्येपि प्रथमः कुट्टितो यथा शेषा बिभ्यतीति ॥ ९९१ ॥

5 ९९२ ॥ स्थलीदृष्टान्तमाह—

थलि गोणि सयं मुय भक्खणेण लद्धपसरा थलिं तु पुणो ।
घातेसु बितिएहिं उ, कोट्टग बंदिग्गह नियत्ती ॥ ९९३ ॥

थली नाम देवद्रोणी । ततो गावीणं गोयरं गयाणं एक्का जरग्गवी मया । सा पुलिंदेहिं 'सयं मय' त्ति खइया । कहियं गोवालएहिं देवद्रोणीपरिचारगाणं । ते भणंति—जइ खइया 10 खइया नाम । पच्छा ते पसंगेणं अवारिज्जंता अप्पणा चेव मारेउमारद्धा । पच्छा तेहिं लद्धप-सरेहिं थली चेव घातिता । एस अपसत्थो ॥

इमो पसत्थो—तहेव गावीणं गोयरं गयाणं एक्का मया । सा पुलिंदेहिं खइया । गोवालेहिं सिट्ठं परिचारगाणं । तेहिं गंतूणं बिइयदिवसे तं कोट्टं भग्गं 'मा पसंगं काहिन्ति' त्ति काउं । तत्थ बंदिग्गहो कओ ॥

15 अथाक्षरार्थः—स्थलीसम्बन्धिनीनां गवां गोचरगतानामेका जरद्गवी स्वयं मृता । तस्या भक्षणेन लब्धप्रसराः पुलिन्दाः पुनः स्वयमेवागम्य स्थलीं घातितवन्तः । द्वितीयैः पुनर्देवद्रोणी-परिचारकैः 'कोट्टकं' पुलिन्दपल्ली तद् गत्वा भग्नं 'मा भूत् प्रसङ्गः' इति कृत्वा, तेषां पुलिन्दानां बन्दिगृहे निवृत्तिः कृता । उपनययोजना "को दोसो दोहिँ भिन्ने, पसंगदोसेण अणरुई भत्ते" (गा० ९८९) इत्यादि प्रागुक्तानुसारेण सर्वत्रापि द्रष्टव्या ॥ ९९३ ॥

20 अथ विकडुभ-पलिमन्थद्वारे व्याख्यानयति—

विकडुभमग्गणे दीहं, च गोयरं एसणं च पिल्लिज्जा ।
[3]निप्पिसिय सोंड नायं, मुग्गछिवाडीएँ पलिमंथो ॥ ९९४ ॥

इह प्रलम्बरसभिन्नदाढतया प्रलम्बैर्विना केवलः कूरो यदा न प्रतिभासते, ततोऽन्यस्मिन् भक्त-पाने लब्धेऽपि विकडुभं—शालनकं तद् मार्गयन् अलभमानो दीर्घं गोचरं करोति, एषणीयं वा अल-25 भमानोऽनेषणीयं विकडुभं गृह्णन्नेषणां प्रेरयेत् ।

अत्र च 'निष्पिशितः' पिशितवर्जी 'शौण्डः' मद्यपः 'ज्ञातम्' उदाहरणम्—

जहा एगो अमंसभक्खी पुरिसो । तस्स य मज्जपाएहिं सह संसग्गी । अन्नया तेहिं भणि-ओ—मज्जे निज्जीवे को दोसो ? । तेहिं य सो सवहं गाहितो । तओ लज्जमाणो एगंते परेण आणियं पिबइ । पच्छा लद्धपसरो बहुजणमज्झे वीहीए वि चत्तलज्जो पाउमाढत्तो । तेसिं पुण मंसं 30 विलंको उपदंश इत्यर्थः । इयरस्स पुण चिब्भिड-चणय-पप्पडगाईणि । ताणि य सव्वकालं न

1 °चरं गता° भा० ॥ 2 अथ "विकडुभं पलिमंथो चेव" (गा० ९८५)त्ति व्याख्यान-यति भा० ॥ 3 निव्विसस्स सोंड भा० ता० । भा० पुस्तके एतत्पाठानुसारेणैव टीका वर्त्तते, दृश्यतां टिप्पणी ५ ॥ 4 प्रेरयति । अत्र मो० ले० ॥ 5 च 'निर्विषः' विषं—मांसं तद्वर्जी भा० ॥

भवंति । पुणो तेहिं भणियं—केरिसं मज्जपाणं विणा विलंकेणं ? परमारिए य मंसे को दोसो ? खायसु इमं । तत्थ वि सो सवहं गाहितो । 'परमारिए नत्थि दोसो' त्ति खायइ । पच्छा लद्धरसो कढिणचित्तीभूतो निद्धंधसपरिणामो अप्पणा वि मारेउं खायइ । निस्सूगो जाओ ।

◁ [1]उक्तं च—

करोत्यादौ तावत् सघृणहृदयः किञ्चिदशुभं　　5
द्वितीयं सापेक्षो विमृशति च कार्यं च कुरुते ।
तृतीयं निःशङ्को विगतघृणमन्यत् प्रकुरुते
ततः पापाभ्यासात् सततमशुभेषु प्ररमते ॥ ▷

जहा सो सोंडओ विलंकेण विणा न सक्केइ अच्छिउं, एवं तस्स [2]वि पलंबेहिं विणा कूरो न पडिहाइ । तस्स एरिसी गेही तेसु जायइ जीए एगदिणमवि तेहिं विणा न सक्केइ अच्छिउं । 10
पच्छा सणियं सयं चेव रुक्खेहिंतो गिण्हइ त्ति ॥

तथा मुग्गछिवाडी—कोमला मुद्गफली, उपलक्षणत्वाद् इक्षुखण्ड-तिन्दुकादिकमन्यदपि यत् तुच्छौषधिरूपं तस्मिन् भक्ष्यमाणे 'परिमन्थः' सूत्रार्थव्याघा[3]तो भवति, न पुनः काचित् तृप्तिमात्रा सञ्जायते । अपि च कदाचिदात्मविराधनाऽपि भवेत् । तथा चात्र **दृष्टान्तः**—

एक्का अविरइ[4]या मुग्गखेत्ते कोमलाओ मुग्गफलियाओ खायंती रन्ना आहेडएणं वच्चंतेण दिट्ठा, 15
एंतेण वि दिट्ठा सा तहेव । तस्स कोउयं जायं 'केत्तियाओ पुण खतिया होज्ज ?' त्ति पोट्टं से फाडियं । जाव नवरं दिट्ठं फेणरसो । एवं विराहणा होज्जा ॥　　　　॥ ९९४ ॥

गते विकटुभ-परिमन्थद्वारे । अथानाचीर्णद्वारमाह—

अवि य हु सव्व पलंबा, जिण-गणहरमाइएहऽणाइन्ना ।
लोउत्तरिया धम्मा, अणुगुरुणो तेणं[5] ते वज्जा ॥ ९९५ ॥　　20

'अपि च' इति दूषणाभ्युच्चये, पूर्वोक्ता दोषास्तावत् स्थिता एव दूषणान्तरमप्यस्तीति भावः । 'हुः' निश्चितं 'सर्वाणि' सचित्ता-ऽचित्तादिभेदभिन्नानि मूल-कन्दादिभेदाद् दशविधानि वा प्रलम्बानि जिनैः—तीर्थकरैः गणधरैश्च—**गौतमा**दिभिः आदिग्रहणेन **जम्बू-प्रभव-शय्यम्भवा**दिभिः स्थविरैरपि 'अनाचीर्णानि' अनासेवितानि । लोकोत्तरिकाश्च ये केचन 'धर्माः' समाचारास्ते सर्वेऽपि 'अनुगुरवः' यद् यथा पूर्वगुरुभिराचरितं तत् तथैव पाश्चात्यैरप्याचरणीयमिति, गुरुपारम्पर्येण व्यवस्थया व्यवहरणीया इति भावः । येनैवं तेन 'तानि' प्रलम्बानि 'वर्ज्यानि' परिहर्त्तव्यानीति ॥९९५॥ 25

अत्र परः प्राह—यदि यद् यत् प्राचीनगुरुभिराचीर्णं तत् तत् पाश्चात्यैरप्याचरितव्यं तर्हि तीर्थकरैः प्राकारत्रय-च्छत्रत्रयप्रभृतिका प्राभृतिका तेषामेवार्थाय सुरैर्विरचिता यथा समुपजीविता [6]तथा वयमप्यसन्निमित्तकृतं किं नोपजीवामः ? । सूरिराह—

---

१ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः त० डे० कां० पुस्तकादर्शेषु न विद्यते ॥ २ **वि पलंबे खायंतस्स पच्छा गिद्धस्स पलं**° भा० । "सो पलंबे खायंतो पच्छा तेहिं गिद्धस्स पलंबेण विणा कूरो ण पडिभाति" इति **चूर्णौ** ॥ ३ °**घातलक्षणः न पुनः** भा० ॥ ४ °**या मुग्गखेत्ते** मो० ले० ॥ ५ °**ण वज्जा उ** ता० ॥ ६ **तह [द् व] यम**° भा० विना ॥

कामं खलु अणुगुरुणो, धम्मा तह वि हु न सव्वसाहम्मा ।
गुरुणो जं तु अइसए, पाहुडियाई समुपजीवे ॥ ९९६ ॥

'कामम्' अनुमतं खल्वस्माकं यद् अनुगुरवो धर्माः, तथापि न सर्वसाधर्म्यात् चिन्त्यते किन्तु देशसाधर्म्यादेव । तथाहि—'गुरवः' तीर्थकराः 'यत् तु' यत् पुनः 'अतिशयान्' प्राभृतिकादीन्
5 प्राभृतिका—सुरेन्द्रादिकृता समवसरणरचना आदिशब्दादवस्थितनख-रोमा-ऽधोमुखकण्टकादिसुरकृतातिशयपरिग्रहः तान् समुपजीवन्ति 'स तीर्थंकरजीतकल्पः' इति कृत्वा न तत्रानुधर्मता चिन्तनीया । यत्र पुनस्तीर्थकृतामितरेषां च साधूनां सामान्यधर्मत्वं तत्रैवानुधर्मता चिन्त्यते ॥९९६॥

सा चेयमनाचीर्णेति दर्श्यते—

सगड-द्दह-समभोमे, अवि य विसेसेण विरहियतरागं ।
10 **तह वि खलु अणाइन्नं, एसऽणुधम्मो पवयणस्स ॥ ९९७ ॥**

यदा भगवान् श्रीमन्**महावीर**स्वामी **राजगृह**नगराद् **उदायन**नरेन्द्रप्रव्राजनार्थं **सिन्धुसौवीर**-देशवतंसं **वीतभयं** नगरं प्रस्थितस्तदा किलाऽपान्तराले बहवः साधवः क्षुधार्त्तास्तृषार्दिताः संज्ञाबाधिताश्च बभूवुः । यत्र च भगवानावासितस्तत्र तिलभृतानि शकटानि पानीयपूर्णश्च ह्रदः 'समभौमं च' गर्त्ता-विलादिवर्जितं स्थण्डिलमभवत् । अपि च विशेषेण तत् तिलोदकस्थण्डिल-
15 जातं '**विरहिततरं**' अतिशयेनाऽऽगन्तुकैस्तदुत्थैश्च जीवैर्वर्जितमित्यर्थः तथापि खलु भगवता '**अनाचीर्णं**' नानुज्ञातम् । एषोऽनुधर्मः 'प्रवचनस्य' तीर्थस्य, सर्वैरपि प्रवचनमध्यमध्यासीनैरशस्त्रोपहतपरिहारलक्षण एष एव धर्मोऽनुगन्तव्य इति भावः ॥ ९९७ ॥

अथैतदेव विवृणोति—

वक्कंतजोणि थंडिल, अतसा दिन्ना ठिई अवि छुहाए ।
20 **तह वि न गेण्हिंसु जिणो, मा हु पसंगो असत्थहए ॥ ९९८ ॥**

यत्र भगवानावासितस्तत्र बहूनि तिलशकटान्यावासितान्यासन् । तेषु च तिलाः 'व्युत्क्रान्तयोनिकाः' अशस्त्रोपहता अप्यायुःक्षयेणाचित्तीभूताः । ते च यद्यस्थण्डिले स्थिता भवेयुस्ततो न कल्पेरन्नित्यत आह—स्थण्डिले स्थिताः । एवंविधा अपि त्रसैः संसक्ता भविष्यन्तीत्याह—'अत्रसाः' तदुद्भवा-ऽऽगन्तुकत्रसविरहिताः । तिलशकटस्वामिभिश्च गृहस्थैर्दत्ता, एतेन चादत्ता-
25 दानदोषोऽपि तेषु नास्तीत्युक्तं भवति । अपि च ते साधवः क्षुधा पीडिता आयुषः स्थितिक्षयमकार्षुः तथापि 'जिनः' वर्द्धमानस्वामी नाऽग्रहीत्, 'मा भूदशस्त्रहते प्रसङ्गः, 'तीर्थकरेणापि गृहीतम्' इति मदीयमालम्बनं कृत्वा मत्सन्तानवर्त्तिनः शिष्या अशस्त्रोपहतं मा ग्राहिषुः' इति भावात्, व्यवहारनयबलीयस्त्वख्यापनाय भगवता न गृहीता इति हृदयम्[1]; युक्तियुक्तं चैतत् प्रमाणस्थपुरुषाणाम् । यत उक्तम्—

30 प्रमाणानि प्रमाणस्थैः, रक्षणीयानि यत्नतः ।
विषीदन्ति प्रमाणानि, प्रमाणस्थैर्विसंस्थुलैः ॥ ॥ ९९८ ॥

[1] मो० ले० विनाऽन्यत्र—इति परिभाव्य व्यवहारनयबलीयस्त्वख्यापनाय भगवता नानुज्ञाता इति हृदयम्, युक्ति° भा० । इति भावः, युक्ति° त० डे० कां० ॥

एमेव य निज्जीवे, दहम्मि तसवज्जिए दए दिन्ने ।
समभोम्मे य अवि ठिती, जिमिता सन्ना न याऽणुन्ना ॥ ९९९ ॥

एवमेव च ह्रदे 'निर्जीवे' यथायुष्कक्षयादचित्तीभूतेऽचित्तपृथिव्यां च स्थिते त्रसवर्जिते च 'दके' पानीये ह्रदस्वामिना च दत्ते तृषार्दितानां च साधूनां स्थितिक्षयकरणेऽपि भगवान्नानुजानीते स्म 'मा भूत् प्रसङ्गः' इति । तथा स्वामी तृतीयपौरुष्यां जिमितमात्रैः साधुभिः सार्धमेकामटवीं प्रपन्नः, "सन्न"त्ति संज्ञाया आबाधा, यद्वा "आसन्न"त्ति भावासन्नता साधूनां समजनि, तत्र च समभौमं गर्त्ता-गोष्पद-बिलादिवर्जितं यथास्थितिक्षयव्युत्क्रान्तयोनिकपृथिवीकं त्रसप्राणविरहितं स्थण्डिलं वर्त्तते, अपरं च शस्त्रोपहतं स्थण्डिलं नास्ति न वा प्राप्यते, अपि च ते साधवः संज्ञाबाधिताः स्थितिक्षयं कुर्वन्ति तथापि भगवान् नानुज्ञां करोति यथा 'अत्र व्युत्सृजत' इति, 'मा भूदशस्त्रहते प्रसङ्गः' इति । एष अनुधर्मः प्रवचनस्येति सर्वत्र योज्यम् ॥ ९९९ ॥

एष सर्वोऽपि विधिर्निर्ग्रन्थानाश्रित्योक्तः । अथ निर्ग्रन्थीरधिकृत्यामुमेवातिदिशन्नाह—

एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो ।
सविसेसतरा दोसा, तासिं पुण गिण्हमाणीणं ॥ १००० ॥

एष एव सर्वोऽपि 'गमः' प्रकारो निर्ग्रन्थीनामपि भवति ज्ञातव्यः । तासां पुनर्गृह्णतीनां प्रलम्बेन हस्तकर्मकरणादिना सविशेषतरा दोषा वक्तव्या इति ॥ १००० ॥

सूत्रम्—

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे तालपलंबे भिन्ने पडिगाहित्तए २ ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । नवरं 'भिन्नं' भावतो व्यपगतजीवम् द्रव्यतो भिन्नमभिन्नं वा, तृतीय-चतुर्थभङ्गवर्तीत्यर्थः । एवं च सूत्रेणानुज्ञातम्, यथा—आमं भिन्नं कल्पते, अर्थतः पुनः प्रतिषेधयति—न कल्पते ॥

आह यदि न कल्पते ततः किं सूत्रे निबद्धं "कल्पते" इति ? उच्यते—

जइ वि निबंधो सुत्ते, तह वि जईणं न कप्पई आमं ।
जइ गिण्हइ लग्गति सो, पुरिमपदनिवारिए दोसे ॥ १००१ ॥

यद्यपि सूत्रे निबन्धः "कल्पते भिन्नम्" इतिलक्षणस्तथापि यतीनां न कल्पते आमं भिन्नमपि, यदि गृह्णाति ततः स पूर्वपदे—पूर्वसूत्रे निवारिता ये दोषास्तान् 'लगति' प्राप्नोति ॥ १००१ ॥

आह यदि सूत्रेऽनुज्ञातमपि न कल्पते तर्हि सूत्रं निरर्थकम्, सूरिराह—

सुत्तं तू कारणियं, गेलन्न-ऽद्धाण-ओममाईसु ।
जह नाम चउत्थपदे, इयरे गहणं कहं होज्जा ॥ १००२ ॥

सूत्रं कारणिकम् । तानि च कारणान्यमूनि—ग्लानत्वम् अध्वा अवमौदर्यम्, एवमादिषु कारणेषु कल्पते । तत्र प्रथमतश्चतुर्थभङ्गे तदलाभे तृतीय-द्वितीय-प्रथमभङ्गेष्वपि । आह यथा

१ **सुत्तं णिरत्थयं कारणियं** ता० । "सुत्तं णिरत्थयं० गाहा । कधं पुण सुत्तं णिरत्थयं ? उच्यते—पुव्वमभिन्ना० गाधा" इति **चूर्णौ** ॥

नाम 'चतुर्थपदे' चतुर्थभङ्गे ग्रहणं तथा 'इतरस्मिन्' भङ्गत्रये कथं ग्रहणं भवेत्? उच्यते—तत्रापि कारणतो ग्रहणं भवत्येव। यथा च भवति तथोत्तरत्राभिधास्यते ॥ १००२ ॥

अथ पुनरप्याह—

पुव्वमभिन्ना भिन्ना, य वारिया कहमियाणि कप्पंति ।
5 **सुण आहरणं चोयग !, न कमति सव्वत्थ दिट्ठंतो ॥ १००३ ॥**

पूर्वसूत्रे भवद्भिरभिन्नानि भिन्नानि च 'वारितानि' प्रतिषिद्धानि, कथम् 'इदानीम्' अस्मिन् सूत्रे "कल्पन्ते" इति भणत? न युक्तं पूर्वापरव्याहतमीदृशं वक्तुमिति भावः। अत्राचार्यः प्राह—'शृणु' निशमय 'आहरणं' दृष्टान्तं हे नोदक! यथा कल्पन्ते। अत्र नोदको गुरुवचनमनाकर्ण्य दुर्विदग्धतादर्पाध्मातः प्रतिवक्ति—आचार्य! न सर्वत्राप्यर्थे दृष्टान्तः क्रमते, दृष्टान्तमन्तरेणाप्य-
10 र्थप्रतिपत्तेः ॥ १००३ ॥ तथाहि—

जइ दिट्ठंता सिद्धी, एवमसिद्धी उ आणगेज्झाणं ।
अह ते तेसि पसिद्धी, पसाहए किन्नु दिट्ठंतो ॥ १००४ ॥

यदि दृष्टान्तादर्थानां सिद्धिस्तर्हि 'आज्ञाग्राह्याणां' निगोद-भव्या-ऽभव्यादीनामर्थानामसिद्धिः प्रसज्येत। अथ 'ते' तव आज्ञया तेषां प्रसिद्धिस्ततः 'किन्नु' इति वितर्के 'नुः' एवमर्थे किमेवं
15 दृष्टान्ततोऽर्थसिद्धिः क्रियते? ॥ १००४ ॥ किञ्चान्यत—

कप्पम्मि अकप्पम्मि य, दिट्ठंता जेण होंति अविरुद्धा ।
तम्हा न तेसि सिद्धी, विहि-अविहिविसोवभोग इव ॥ १००५ ॥

दृष्टान्तेन यद् यद् आत्मन इष्टं तत् तत् सर्वं यदृच्छया प्रसाध्यते, यथा—कल्पते हिंसा कर्तुं विधिनेति प्रतिज्ञा १, निष्प्रत्यपायत्वादिति हेतुः २, यथा विधिना विषोपभोग इति
20 दृष्टान्तः, अस्य च भावना—यथा विधिना मन्त्रपरिगृहीतं विषं खाद्यमानमदोषाय भवति, अविधिना पुनः खाद्यमानं महान्तमनर्थमुपढौकयति ३, एवं हिंसाऽपि विधिना विधीयमाना न दुर्गतिगमनाय प्रभवति, अविधिना तु विधीयमाना दुर्गतिगमनायोपतिष्ठते ४, यतश्चैवमतो निष्प्रत्यपायत्वात् कल्पते कर्तुं हिंसेति निगमनम् ५। एवं कल्प्येऽकल्प्ये च येन कारणेन दृष्टान्ता अविरुद्धा भवन्ति, कल्प्यमप्यकल्प्यम् अकल्प्यमपि कल्प्यं यदृच्छया दृष्टान्तबलेन क्रियत इति भावः,
25 तस्माद् नैतेभ्यो दृष्टान्तेभ्योऽर्थानां सिद्धिर्भवति। गाथायां पञ्चम्यर्थे षष्ठी। विधिना अविधिना च विषोपभोग इवेति ॥ १००५ ॥ इत्थं नोदकेन स्वपक्षे स्थापिते सति सूरिराह—

असिद्धी जइ नाएणं, नायं किमिह उच्चते ।
अह ते नायतो सिद्धी, नायं किं पडिसिज्झती ॥ १००६ ॥

यदि 'ज्ञातेन' दृष्टान्तेनार्थानामसिद्धिस्ततस्त्वया 'ज्ञातं' विषदृष्टान्तः इह 'किमुच्यते' किमे-
30 वमभिधीयते?। अथ 'ते' तव 'ज्ञाततः' दृष्टान्ततः सिद्धिः ततोऽस्माभिरुच्यमानं ज्ञातं किं प्रतिषिध्यते? ॥ १००६ ॥ किञ्च—

१ "कीरइ हु किन्नु दिट्ठंता" इति पाठानुसारेण **चूर्णिकृता** वृत्तिर्विहिता, नासौ पाठः कस्मिंश्चिदपि पुस्तकादर्शे लभ्यत इति ॥ २ **उच्चते** ता० ॥

अंधकारो पदीवेण, वज्जए न उ अन्नहा ।
तहा दिट्ठंतिओ भावो, तेणेव उ विसुज्झई ॥ १००७ ॥

अन्धकारशब्दस्य पुंनपुंसकलिङ्गत्वाद् यथाऽन्धकारो रात्रौ प्रदीपेनैव 'वर्ज्यते' विशोध्यते 'न तु' नैवान्यथा, विशोधिते च तस्मिन् घटादिकं वस्तु परिस्फुटमुपलभ्यते; तथाऽत्रापि 'दार्ष्टान्तिकः' दृष्टान्तग्राह्यः 'भावः' पदार्थोऽन्धकारवदतिगहनोऽपि 'तेनैव' दृष्टान्तेन प्रदीपकल्पेन 5 'विशुध्यते' निर्मलीभवति, विशुद्धे च तस्मिन् परिस्फुटा विवक्षितार्थप्रतिपत्तिर्भवतीति दृष्टान्तोपदर्शनमत्र क्रियते । किञ्च सौम्य ! प्रीणिता वयं स्ववाक्येनैव भवता यद् दृष्टान्तेनार्थप्रसाधनमभ्युपगतम् । अस्माकमपि त्वदीय एव दृष्टान्तः सूत्रस्य सार्थकत्वं प्रसाधयिष्यति ॥ १००७ ॥

कथम् ? इति चेद् उच्यते—

एसेव य दिट्ठंतो, विहि-अविहीए जहा विसमदोसं । 10
होइ सदोसं च तथा, कज्जितर जया-ऽजय फलाई ॥ १००८ ॥

'एष एव' त्वदुक्तो दृष्टान्तोऽस्माभिः प्रस्तुतसूत्रार्थेऽवतार्यते—यथा विधिना विषमुपभुज्यमानमदोषम्, अविधिना भुज्यमानं तदेव सदोषम्; तथा कार्ये यतनया फलादीनि आसेव्यमानानि न दोषायोपतिष्ठन्ते, "इयरे" त्ति इतरस्मिन्–अकार्ये यतनया वा अयतनया वाऽऽसेव्यमानानि दोषायोपकल्पन्ते ॥ १००८ ॥ अपि च— 15

आयुहे[1] दुन्निसट्ठम्मि, परेण बलसा हिए ।
वेताल इव दुज्जुत्तो, होइ पच्चंगिराकरो ॥ १००९ ॥

यथा केनापि शारीरबलदर्पोद्धुतेन परवधायाऽऽयुधं निसृष्टं–मुक्तम्, तच्च दुर्निसृष्टं कृतं येन तदेव परेण 'हृतं' गृहीतम्, यद्वा अनिसृष्टमेवायुधं परेण "बलस" त्ति छान्दसत्वाद् बलात्कारेण हृतम्, ततस्तस्मिन्नायुधे दुर्निसृष्टे परेण बलात्कारेण वा हृते सति तस्यैव तेन प्रतिघातः क्रियते । 20 एवं त्वयाऽप्यस्मदभिप्रेतदृष्टान्तप्रतिघाताय विषदृष्टान्त उपन्यस्तः, अस्माभिस्तु तेनैव दृष्टान्तेन "न सर्वत्र दृष्टान्तः क्रमते" (गा० १००३) इति भवत्प्रतिज्ञायाः प्रतिघातः कृतः, स्वाभिप्रेतश्चार्थः प्रसाधित इति । तथा केनचिद् मन्त्रवादिना होम-जापादिभिर्वेताल आहूत आगतश्च, स च वेतालः किञ्चित् तदीयस्खलितं दृष्ट्वा 'दुर्युक्तः' दुःसाधितो न केवलं तस्य साधकस्याभीष्टमर्थं न साधयति किन्तु कुपितः सन् 'प्रत्यङ्गिराकरः' प्रत्युत तस्यैव साधकस्योन्मत्ततादिलक्षणापकार- 25 कारी भवति; एवं भवताऽपि स्वपक्षसाधनार्थं विषदृष्टान्त उपात्तः स च दुःप्रयुक्तत्वात् प्रत्युत भवत एव प्रतिज्ञोपघातलक्षणमपकारमादधाति स्रेति ॥ १००९ ॥ किञ्च—

निरुतस्स विकडुभोगो, अपत्थओ कारणे य अविहीए ।
इय दप्पेण पलंबा, अहिया कज्जे य अविहीए ॥ १०१० ॥

यथा नीरुजस्य विशेषेण कटुकं विकटुकम्–औषधमित्यर्थः तस्य यो भोगः–उपयोगः, तथा 30 'कारणे च' रोगादौ यस्तस्यैवाऽविधिना भोगः, स उभयोऽपि 'अपथ्यः' अहितः–विनाशकारणं जायते । 'इति' एवं 'दर्पेण' कारणाभावेनाऽऽसेव्यमानानि प्रलम्बानि 'अहितानि' संसारवर्द्धनानि

१ चूर्णिकृद्भिर्नेयं गाथाऽऽदृता ॥

भवन्ति, 'कार्ये च' अवमौदर्यादौ 'अविधिना' अयतनया गृहीतानीह परत्र चाहितानि जायन्ते ॥ १०१० ॥ अथ दृष्टान्तमेव समर्थयन्नाह—

जइ कुसलकप्पिताओ, उवमाओ न होज्ज जीवलोगम्मि ।
छिन्नब्भं पिव गगणे, भमिज्ज लोगो निरुवमाओ ॥ १०११ ॥

5 कुशलैः—पण्डितैः कल्पिताः—तेषु तेषु ग्रन्थेषु विरचिताः 'उपमाः' दृष्टान्ता अस्मिन् जीवलोके यदि न भवेयुस्तर्हि 'छिन्नाभ्रमिव' छिन्नं—व्यवच्छिन्नमेकीभूतं यद् अभ्रं तद् यथा प्रचण्डपवनेन गगने इतस्ततो भ्राम्यते एवमयमपि लोकः 'निरुपमाकः' तत्तदर्थप्रसाधकदृष्टान्तविकलो दोलायमानमानसः संशयादिभिरितस्ततो भ्राम्येत, न कस्याप्यर्थस्य निर्णयं कुर्यादिति भावः ।

उक्तं च—

10 तावदेव चलत्यर्थो, मन्तुर्विषयमागतः ।
यावन्नोत्तम्भनेनेव, दृष्टान्तेनावलम्ब्यते ॥ ॥ १०११ ॥

एवं च बहुभिः प्रकारैर्व्यवस्थापितं दृष्टान्तं प्रमाणयन् शिष्यः प्राह—भगवन्! यद्येवं ततः क्रियतां दृष्टान्तः । उच्यते, कुर्मः, आकर्ण्यतां दत्तकर्णेन भवता—

मरुएहि य दिट्ठंतो, कायव्वो चउहिँ आणुपुव्वीए ।
15 **एवमिहं अद्धाणे, गेलन्ने तहेव ओमम्मि ॥ १०१२ ॥**

'मरुकैः' ब्राह्मणैश्चतुर्भिर्दृष्टान्तः कर्तव्य आनुपूर्व्या । 'एवं' मरुकदृष्टान्तानुसारेण इह अध्वनि ग्लानत्वे तथैवावमे द्वितीयपदं द्रष्टव्यमिति **निर्युक्तिगाथा**समासार्थः ॥ १०१२ ॥

अथ पूर्वार्द्धं तावद् व्याख्याति—

चउमरुग विदेसं साहपारए सुणग रन्न सत्थवहे ।
20 **ततियदिण पूतिमुदगं, पारगो सुणयं हणिय खामो ॥ १०१३ ॥**
परिणामओऽत्थ एगो, दो अपरिणया तु अंतिमो अतीव ।
परिणामो सद्दहती, कन्नऽपरिणमतो मतो बितितो ॥ १०१४ ॥
तइओ एयमकिच्चं, दुक्खं मरिउं ति तं समारद्धो ।
किं एच्चिरस्स सिट्ठं, अइपरिणामोऽहियं कुणति ॥ १०१५ ॥
25 **पच्छित्तं खु वहिज्जह, पढमो अहालहुस धाडितो तइतो ।**
चउथो अ अतिपसंगा, जाओ सोवागचंडालो ॥ १०१६ ॥

जहा चत्तारि मरुआ 'अज्झाइस्सामो' त्ति काउं विदेसं पत्थिता । तेहि य एगो साहापारओ दिट्ठो, पुच्छिओ—कत्थ वच्चसि ? । सो भणइ—जत्थेव तुब्भे । ताहे ते एगम्मि पव्वते अद्धाणसीसए सत्थं पडिच्छंति, सो य । सत्थो मिलइ । साहापारगो एगं सुणगं सारवेइ । तेहिं 30 भणियं—किं तुब्भं एएणं । सो भणइ—अहमेयं जाणामि कारणं । तओ ते सत्थेण समं अडविं पविट्ठा । तेसिं तत्थ रण्णे पवन्नाणं सो सत्थो मुट्ठो दिसोदिसिं पलातो । इतरे वि मरुया पंच

१ "मनसाऽप्यवधारितः" चूर्णिप्रत्यन्तरे ॥ २ "यावन्नोपष्टम्भकेन" चूर्णिप्रत्यन्तरे ॥ ३ "दृष्टान्तेन प्रसाध्यते" चूर्णिप्रत्यन्तरे ॥

जणा सुणगछट्ठा एक्कतो पट्ठिता अतीवतिसिय-भुक्खिया तइयदिणे पेच्छंति पूइमुदगं मयगकले-वराउलं । तत्थ ते साहापारगेण भणिता—एयं सुणगं मारेउं खामो, एयं च सरुहिरं पाणियं पिबामो, अण्णहा विवज्जामो, एयं च वेदरहस्सं आवतीए भणियं चेव, न दोसो । एवं तेण ते भणिता । तेसिं मरुयाणं एक्को परिणामतो, दो अपरिणामगा, चउत्थतो अतिपरिणामओ । तत्थ जो सो परिणामगो तेण तं साहापारगवयणं सद्दहियं अब्भुवगयं च । जे ते दो अपरिणामगा 5 तेसिं एक्केण साहापारवयणं सोउं कण्णा ठइया 'अहो ! अकज्जं, कण्णा वि मे[1] सुणंति' सो अप-रिणामगो तिसिय-भुक्खिओ मओ । जो सो बितिओ अपरिणामगो सो भणइ—'एयं एयवत्थाए वि अकिच्चं, किं पुण दुक्खं मरिज्जति ?' त्ति काउं खईयं णेण । जो सो अतिपरिणामो सो भणति—किह चिरस्स सिट्ठं ? वंचिया मो अतीते काले जं ण खौतियं । सो अण्णाणि वि गावि-गद्दभमंसाणि खादिउमाढत्तो, मज्जं च पाउं । तत्थ जेहिं खतियं ते साहापारगेण भणिता— 10 इतो णित्थिन्ना समाणा पच्छित्तं वहेज्जह । तत्थ जो सो परिणामगो तेण अप्पसागारियं एगस्स अज्झावगस्स आलोइयं । तेण 'सुद्धो' त्ति भाणियं, पंचगव्वं वा दिन्नं । तत्थ जो सो अपरिणा-मओ सो णित्थिण्णो समाणो सुंणगकत्तिं सिरे काउं माहणे मेलित्ता चाउव्वेज्जस्स पादेहिं पडित्ता साहइ, सो चाउव्वेज्जेण 'धिद्धि'कतो णिच्छूढो । जो सो अइपरिणामगो 'णत्थि किंचि अभक्खं अपेयं वा' अतिपरिणामपसंगेण सो मायंगचंडालो जाओ ॥ 15

अथाक्षरार्थः—चत्वारो मरुका विदेशं प्रस्थिताः । ततः 'शाखापारगः' वेदाध्ययनपारगतो मरु-कस्तेषां मिलितः, तेन च शुनकः सार्द्धं गृहीतः । अरण्ये च गतानां सार्थस्य वधः—मोषणं । ततस्तैर्मरुकैरेकां दिशं गृहीत्वा पलायितैः तृतीयदिने 'पूति' कुथितं मृतकडेवराकीर्णमुदकं दृष्टम् । शाखापारगो वक्ति—एनं शुनकं हत्वा भक्षयामः । अत्र चैकः परिणामकः, द्वौ 'अपरिणतौ' अपरिणामकौ, 'अन्तिमः' चतुर्थोऽतीवपरिणामकः । तत्र परिणामकः शाखापारगवचनं श्रद्धत्ते । 20 'द्वितीयः पुनः' अपरिणतः कर्णौ स्थगितवान् 'न शृणुमः एनां वार्त्तामपि' इति कृत्वा मृतः । तृतीयोऽप्यपरिणतत्वात् चिन्तयति—'एतद् एतस्यामप्यवस्थायामकृत्यम्, परं किं क्रियते ? दुःखं मर्तुम्' इति 'तत्' शुनकभक्षणं कर्तुं समारब्धः । चतुर्थस्त्वतिपरिणामकः किमियतः कालात् 'शिष्टं' कथितम् ? इत्युक्त्वा 'अधिकं करोति' गो-गर्दभादिमांसान्यपि भक्षयतीति । शाखा-पारगेण च ते भाणिताः—अटव्या उत्तीर्णाः प्रायश्चित्तं वहध्वम् । तत्र यः प्रथमः परिणामकः स 25 यथालघुकमायश्चित्तेन शुद्धः । द्वितीयस्तु मृत एव । तृतीयो निर्धाटितश्चातुर्विद्यैः, पङ्क्तिबहिःकृत इत्यर्थः । चतुर्थश्चातिप्रसङ्गात् 'नास्ति किञ्चिदभक्ष्यमपेयं च' इति श्वपाकरूपश्चण्डालो जात इति ॥ १०१३ ॥ १०१४ ॥ १०१५ ॥ १०१६ ॥ अथोपनययोजनामाह—

जह पारगो तह गणी, जह मरुगा एव गच्छवासीओ ।

---

१ मे ण सु° भा० त० डे० ॥ २ **°इयं तेण** मो० ले० ॥ ३ **खातियं । एवं तेहिं फाडित्ता खइओ । तत्थ जेहिं खतियं** भा० विना । "जो सो अतिपरिणामओ सो 'एचिरस्स सिट्ठं ? वंचिता मो अतीतं कालं' ति भणति । एवं तेहिं फाडिउं खतिओ, तं च असुति पाणियं पीयं । साहापारगेण" इत्यादि **चूर्णौ** ॥ ४ सुणगकत्तिं शुनककृत्तिं चर्म इत्यर्थः ॥

सुणगसरिसा पलंबा, मडतोयसमं दगमफासुं ॥ १०१७ ॥

यथा शाखापारगस्तथा 'गणी' आचार्यः । यथा चत्वारो मरुकाः 'एवम्' अमुना प्रकारेण 'गच्छवासिनः' साधवः । शुनकसदृशानि अत्र प्रलम्बानि, विकृष्टाध्वादिकारणं विना साधूनामभक्षणीयत्वात् । 'मृततोयसमं' मृतकडेवराकुलोदकतुल्यमप्राशुकोदकं ज्ञातव्यम्, अपेयत्वात् ॥१०१७॥

5 अथ यदुक्तं "एवमिहं अद्धाणे, गेलन्ने तहेव ओमम्मि ।" (गा० १०१२) तत्राध्वद्वारं विवृणोति—

उद्दरे सुभिक्खे, अद्धाणपवज्जणं तु दप्पेण ।
लहुगा पुण सुद्धपदे, जं वा आवज्जती तत्थ ॥ १०१८ ॥

ऊर्ध्वं दराः पूर्यन्ते यत्र काले तद् ऊर्द्धदरम्, प्राकृतशैल्या उद्दरम् । ते च दरा द्विविधाः—10 धान्यदरा उदरदराश्च । धान्यानामाधारभूता दरा धान्यदराः कट-पल्यादयः, उदराण्येव दरा उदरदराः; ते उभयेऽपि यत्र पूर्यन्ते तद् ऊर्द्धदरम् । तथा सुभिक्षं—भिक्षाचरैः सुलभभिक्षम् । अत्र चतुर्भङ्गी—ऊर्द्धदरं सुभिक्षं च १ ऊर्द्धदरं न सुभिक्षं २ सुभिक्षं नोर्द्धदरं ३ नोर्द्धदरं न सुभिक्षम् ४ । तत्र[2] प्रथमभङ्गे तृतीयभङ्गे वा यद्यध्वानं दर्पेण प्रतिपद्यते तदा यद्यपि न मूलोत्तरगुणविराधनादिकं किमप्यापद्यते तदाऽपि शुद्धपदे चत्वारो लघुकाः प्रायश्चित्तम्, कस्मात्? दर्पेणाध्वानं 15 प्रतिपद्यते इति हेतोः । 'यद् वा' आत्मविराधनादिकं यत्रापद्यते तत्र तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अर्थादापन्नम्—शेषभङ्गद्वये दुर्भिक्षत्वादध्वगमनं प्रतिपत्तव्यमिति । प्रथम-तृतीययोरपि भङ्गयोः कारणतो भवेदध्वगमनम् ॥ १०१८ ॥ आह किं तत् कारणम्? उच्यते—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व आगाढे ।
गेलन्न उत्तिमट्ठे, नाणे तह दंसण चरित्ते ॥ १०१९ ॥
20 **एएहिँ कारणेहिं, आगाढेहिं तु गम्ममाणेहिं ।**
उवगरणपुव्वपडिलेहिएण सत्थेण गंतव्वं ॥ १०२० ॥

विवक्षितदेशे आगाढमशिवमवमौदर्यं राजद्विष्टं भयं वा प्रत्यनीकादिसमुत्थम्, आगाढशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तथा तत्र वसतां ग्लानत्वं भूयोभूय उत्पद्यते, यद्वा देशान्तरे ग्लानत्वं कस्यापि समुत्पन्नं तस्य प्रतिजागरणं कर्त्तव्यम्, उत्तमार्थं वा कोऽपि प्रतिपन्नस्तस्य निर्यापनं 25 कार्यम् । तथा विवक्षिते देशे ज्ञानं वा दर्शनं वा चारित्रं वा नोत्सर्पति ॥ १०१९ ॥

---

१ जत्थ ता० ॥ २ तत्र प्रथमभङ्गे यद्यध्वानं दर्पेण प्रतिपद्यते तदा यद्यपि शुद्धं शुद्धेन गच्छति न मूलोत्तरगुणविराधनादिकं किमप्यापद्यते तदाऽपि शुद्धपदे चत्वारो लघुकाः प्रायश्चित्तम्, कस्मात्? दर्पेण अध्वानं प्रतिपद्यत इति हेतोः । 'यद् वा' अन्यदापद्यते 'यत्र' मूलोत्तरगुणविराधनादौ तत्र तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अर्थादापन्नम्—शेषभङ्गत्रयेऽध्वगमनं प्रतिपत्तव्यमिति चूर्ण्यभिप्रायः । निशीथचूर्ण्यभिप्रायेण तु तृतीयेऽपि भङ्गेऽध्वानं यदि प्रतिपद्यते ततस्तदेव प्रायश्चित्तम्, सुभिक्षत्वात् । द्वितीय-चतुर्थयोस्तु भङ्गयोर्दुर्भिक्षत्वादध्वानं प्रतिपद्यते । प्रथम-तृतीययोरपि भङ्गयोः कारणतो भवेद् अध्वगमनम् ॥ १०१८ ॥ इति भा० पुस्तके पाठः ।

'एतैः' अनन्तरोक्तैः कारणैरागाढैरुत्पन्नैः सद्भिर्गम्यते । गच्छद्भिश्चाध्वप्रायोग्यमुपकरणं गुलिकादिकं गृहीत्वा सार्थः पूर्वमेव प्रत्युपेक्षणीयः, तेन पूर्वप्रत्युपेक्षितेन सार्थेन सार्द्धं गन्तव्यम् ॥ १०२० ॥ अत्र विधिमाह—

अद्धाणं पविसंतो, जाणगनीसाए गाहए गच्छं ।
अह तत्थ न गाहेज्जा, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥ १०२१ ॥ 5

अध्वानं प्रविशन्नाचार्यो ज्ञायकः—गीतार्थस्तन्निश्रया गच्छं सकलमप्यध्वकल्पस्थितिं ग्राहयति । अथ 'तत्र' अध्वप्रवेशेऽध्वकल्पस्थितिमाचार्या न ग्राहयेयुस्ततश्चतुर्मासा गुरवः प्रायश्चित्तं भवेयुः ॥ १०२१ ॥ स्यान्मतिः—कः कथं वा गच्छमध्वकल्पं ग्राहयति ? इति, उच्यते—

गीयत्थेण सयं वा, गाहइ छड्डिंतो पच्चयनिमित्तं ।
सारिंति तं सुयत्था, पसंग अप्पच्चओ इहरा ॥ १०२२ ॥ 10

यद्याचार्य आत्मना केनापि कार्येण व्यापृतस्ततोऽन्येनोपाध्यायादिना गीतार्थेन, अथ न व्यापृतस्ततः 'स्वयम्' आत्मनैवान्यगीतार्थान् पुरतः कृत्वा अध्वकल्पसामाचारीं गच्छं ग्राहयति । स च कथको ग्राहयन्नन्तराऽन्तरा अर्थपदजातं 'छर्दयन्' परित्यजन् कथयति । ततो ये ते 'श्रुतार्थाः' गीतार्थास्ते 'तद्' अर्थपदजातं त्यक्तं सत् सारयन्ति, यथा—विस्मृतं भवतामेतच्चैतच्चार्थपदमिति । किंनिमित्तमेवं क्रियते ? इत्याह—अगीतार्थानां प्रत्ययनिमित्तम्, यथा सर्वेऽप्येते 15 यदेनां सामाचारीमित्थमेव जानन्ति तन्नूनं सत्यैवेयमिति । 'इतरथा' यद्येवं न क्रियते ततस्तेषामगीतार्थानां मध्ये येऽतिपरिणतास्ते अध्वन उत्तीर्णा अपि तत्रैव प्रसङ्गं कुर्युः, ये त्वपरिणामकास्तेषामप्रत्ययो भवेत्, यथा—एते इदानीमेव स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मितामेवंविधां स्थितिं कुर्वन्तीति ॥ १०२२ ॥ शिष्यः प्राह—या काचिदध्वनि [3]प्रलम्बग्रहणे सामाचारी तामिदानीमेव भणत । गुरुराह— 20

अद्धाणे जयणाए, परूवणं वक्खती उवरि सुत्ते ।
ओमेऽवुवरिं वोच्छिइ, रोगाऽऽयंकेसिमा जयणा ॥ १०२३ ॥

अध्वनि गच्छतां या [4]प्रलम्बग्रहणे यतना—सामाचारी तस्याः प्ररूपणमुपरि अध्वसूत्रे इहैवोद्देशके वक्ष्यति । अवमेऽपि यः कोऽपि विधिः स सर्वोऽप्युपरि इहैव प्रलम्बप्रकृते वक्ष्यते । अत्र पुनर्यद् ग्लानत्वद्वारं तद् अभिधीयते । तच्च ग्लानत्वं द्विधा—रोग आतङ्कश्च । तयो रोगा- 25 ऽऽतङ्कयोर्द्वयोरपि 'इयं' वक्ष्यमाणलक्षणा यतना ॥ १०२३ ॥

तत्र तिष्ठतु तावद् यतना, रोगाऽऽतङ्कयोरेव कः परस्परं विशेषः ? उच्यते—

"एत्थ पढमभंगे जति वि सुद्धं सुद्धेण गच्छति, अणावज्जंत इत्यर्थः, तो वि ह्न (ण्क) । कीस ? दप्पेण अद्धाणं पवज्जति । जं वा अण्णं मूलगुण-उत्तरगुणाणं विराधणं करेति तण्णिप्फण्णं पच्छित्तं । अर्थात् प्राप्तम्—सेसेहिं तिहिं भंगेहिं पवज्जितव्वं । भवे कारणं पढमेण वि भंगेण गमेज्जा ॥ किं तं कारणं ? उच्यते—असिवे० गाधा ॥" इति चूर्णिः ॥

१ °द्धाण पविसमाणो ता० ॥ २ गीतार्थास्ते तान्यर्थपदानि त्यक्तानि सन्ति सारयन्ति भा० ॥ ३-४ उभयत्रापि भा० पुस्तके प्रलम्बग्रहणे इति नास्ति ॥

गंडी-कोढ-खयाई, रोगो कासाइगो उ आयंको ।
दीहरुया वा रोगो, आतंको आसुघाती उ ॥ १०२४ ॥

गण्डी—गण्डमालादिकः, कुष्ठं—पाण्डुरोगो गलत्कोष्ठं वा, क्षयः—राजयक्ष्मा, आदिशब्दात् श्लीपद-श्वयथु-गुल्मादिकः सर्वोऽपि रोग इति व्यपदिश्यते । कासादिकस्तु आतङ्कः, आदिग्रह-5णेन श्वास-शूल-हिक्का-ज्वरा-ऽतीसारादिपरिग्रहः । अथवा दीर्घकालभाविनी सर्वाऽपि रुग् रोग उच्यते । यस्तु आशुघाती विसूचिकादिकः स आतङ्कः ॥ १०२४ ॥

अथ सामान्यतो ग्लानत्वे विधिमाह—

गेलन्नं पि य दुविहं, आगाढं चेव नो य आगाढं ।
आगाढे कमकरणे, गुरुगा लहुगा अणागाढे ॥ १०२५ ॥

10 ग्लानत्वमपि द्विविधम्—आगाढं चैव नोआगाढं च अनागाढमित्यर्थः । आगाढे यदि क्रमेण—पञ्चकपरिहाण्या करोति ततश्चत्वारो गुरवः, अनागाढे तु यद्यागाढकरणीयं करोति तदा चत्वारो लघवः ॥ १०२५ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—

आगाढमणागाढं, पुव्वुत्तं खिप्पगहणमागाढे ।
फासुगमफासुगं वा, चउपरियट्टं तऽणागाढे ॥ १०२६ ॥

15 आगाढमनागाढं च 'पूर्वोक्तम्' "अहिडक्क विस विसूइय" (गा० ९५४) इत्यादिना पूर्वमेव व्याख्यातम् । तत्रागाढे शूल-विसूचिकादौ ग्लानत्वे समुत्पन्ने प्राशुकमप्राशुकं वा एषणीयमनेषणीयं वा क्षिप्रमेव ग्रहीतव्यम् । अथागाढे त्रिःपरिवर्त्तनरूपया पञ्चकपरिहाणिरूपया वा यतनया क्रमेण गृह्णाति ततश्चत्वारो गुरवः । अनागाढे पुनस्त्रिकृत्वः परिवर्त्तने कृतेऽपि यदि शुद्धं न प्राप्यते ततश्चतुर्थे परिवर्ते पञ्चकादियतनया अनेषणीयं गृह्णाति । अथानागाढे त्रिःपरिवर्त्तनं पञ्चकपरिहाणिं 20 वा न करोति ततश्चतुर्लघवः ॥ १०२६ ॥ अथ ग्लानत्वविषयां यतनामाह—

विज्जे पुच्छण जयणा, पुरिसे लिंगे य दव्वगहणे य ।
पिट्ठमपिट्ठे आलोयणा य पन्नवण जयणा य ॥ १०२७ ॥

प्रथमतो वैद्यस्वरूपं वक्तव्यम् । ततस्तस्य पार्श्वे यथा प्रच्छने यतना क्रियते तथा वाच्यम् । 'पुरुषः' आचार्यादिकोऽभिधातव्यः । "लिंगे य" त्ति स्वलिङ्गेनाऽन्यलिङ्गेन वा यथा प्रलम्बग्रहणं 25 भवति तथा वक्तव्यम् । 'द्रव्यग्रहणं वा' लेपादिद्रव्योपादानमभिधानीयम् । पिष्टस्यापिष्टस्य च प्रलम्बस्य ग्रहणे विधिर्वक्तव्यः । तत आलोचना प्रज्ञापना यतना चाभिधातव्येति **निर्युक्ति**गाथासमासार्थः ॥ १०२७ ॥ अथास्या एव भाष्यकृद् व्याख्यानमाह—

वेज्जट्ठग एगदुगादिपुच्छणे जा चउक्कउवएसो ।
इह पुण दव्वे पलंबा, तिन्नि य पुरिसाऽऽयरियमाई ॥ १०२८ ॥

30 **'वैद्याष्टकम्' अष्टौ वैद्याः**

संविग्ग १ मसंविग्गा २, लिंगी ३ तह सावए ४ अहाभद्दे ५ ।
अणभिग्गहमिच्छे ६ तर ७, अट्ठमए अन्नतित्थी य ८ ॥

इति गाथोक्ताः प्रष्टव्याः । एते च मासकल्पप्रकृते ग्लानद्वारे व्याख्यास्यन्ते । एतेषां च प्रच्छने

इयं यतना—वैद्यस्य समीपे एकः प्रच्छको न गच्छति, मा 'यमदण्ड आगतः' इति निमित्तं ग्रहीत्; द्वावपि न व्रजतः, 'यमदूतावेतौ' इति मननात्; आदिशब्दात् चत्वारोऽपि न व्रजन्ति, 'नीहरणकारिण एते' इति कृत्वा; यत एवं ततस्त्रयः पञ्च वा गच्छन्ति इत्यादिको विधिस्तावद् ज्ञेयो यावत् 'किमस्मिन् रोगे प्रतिकर्त्तव्यम्?' इति पृष्टः सन् स वैद्यश्चतुष्कोपदेशं दद्यात्। तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च। एते च ग्लानद्वार एव व्याख्यास्यन्ते। इह पुनर्द्र-5 व्यतः प्रलम्बानि, पुरुषाश्च त्रयः 'आचार्यादयः' आचार्योपाध्याय-भिक्षुरूपा द्रष्टव्या इति। तत्र[1] वैद्यः पृष्टः कदाचिदेवमभिदध्यात्—यादृशं रोगं यूयं कथयत ईदृशस्योपशमनार्थमिदं वनस्पति-जातं ग्लानस्य दातव्यम् ॥ १०२८ ॥

स च वनस्पतिर्यो यस्य रोगस्योपशमनाय प्रभवति तद्विषयं तमभिधित्सुराह— 10

पउमुप्पले माउलिंगे, एरंडे चेव निंबपत्ते य।
पित्तुदय सन्निवाए, वायकोवे य सिंभे य ॥ १०२९ ॥

पित्तोदये पद्मोत्पलमौषधम्, सन्निपाते 'मातुलिङ्ग' बीजपूरकम्, वातप्रकोपे एरण्डपत्राणि "सिंभे"त्ति श्लेष्मोदये निम्बपत्राणि ॥ १०२९ ॥

अथ यदुक्तं "तिन्नि य पुरिसाऽऽयरियमाइ" (गा० १०२८) त्ति तदेतद् भावयति—

गणि-वसभ-गीत-परिणामगा य जाणंति जं जहा दव्वं। 15
इयरे सिं वाउलणा, नायम्मि य भंडि-पोउवमा ॥ १०३० ॥

योऽसौ ग्लानः स गणी—आचार्यो वृषभः—उपाध्यायो भिक्षुश्चेति त्रयः पुरुषाः। अत्र भिक्षु-र्द्विधा—गीतार्थोऽगीतार्थश्च, परिणामकोऽपरिणामको वा। तत्र गणि-वृषभ-गीतार्थभिक्षूणां त्रयाणां पुरुषाणां प्राशुकैषणीयेन द्रव्येणाऽऽलेपनादि कर्त्तव्यम्; यदा प्राशुकमेषणीयं वा न प्राप्यते तदा तदितरेणापि कर्त्तव्यम्। एतेषां च यद् यथा गृहीतं तत् तथैव निवेद्यते, निवेदिते च ते 20 तथैवागमप्रामाण्येन सचित्तमचित्तं वा शुद्धमशुद्धं वा द्रव्यं यद् यस्मिन्नवसरे कल्पते तद् यथावद् जानन्ति। यस्त्वगीतार्थः परं पारिणामिकः सोऽपि यद् यथा क्रियते तत् तथैव परिणामकत्वात् कथितं सद् जानीते। 'इतरे' अपरिणामकाः सन्तो येऽगीतार्थास्तेषां न कथ्यते, यथा 'अप्राशुक-मनेषणीयं वा गृहीतम्' किन्तु तेषां व्याकुलना क्रियते, यथा 'अमुकगृहादात्मार्थं कृतमानीतमि-दम्'। अथ कथमपि तैर्ज्ञातं यथा 'एतदप्राशुकमनेषणीयं वा' ततो ज्ञाते सति भण्डी—गन्त्री 25 पोतः—प्रवहणं तदुपमा कर्त्तव्या। यथा—

जा एगदेसे अदढा उ भंडी, सीलप्पए सा उ करेति कज्जं।
जा दुब्बला सीलविया वि संती, न तं तु सीलेंति विसिन्नदारुं ॥
(कल्पबृहद्भाष्ये)

'शीलाप्यते' समारच्यते इत्यर्थः। तथा— 30

जो एगदेसे अदढो उ पोतो, सीलप्पए सो उ करेइ कज्जं।

---

१ एतश्च भा० ॥ २ °स्यते भा० ॥ ३ स च वै° भा० ॥ ४ °त्राणि। एतानि चतुर्ष्वपि रोगेषु यथासङ्ख्यमौषधानि ॥ १०२९ ॥ भा० ॥

जो दुब्बलो सीलविओ वि संतो, न तं तु सीलेंति विसिन्नदारुं ॥

(कल्पबृहद्भाष्ये)

एवं त्वमपि यदि जानीषे—'अहं प्रगुणीभविष्यामि, प्रगुणीभूतश्च प्रायश्चित्तं वोढास्मि, अपरं च स्वाध्याय-वैयावृत्य-तपःप्रभृतिभिरधिकं लाभमुपार्जयिष्यामि' इति तत इदं प्रतिसेवस्व 5 अकल्पनीयम्; अथैतेषामसमर्थस्ततो मा प्रतिसेवस्वेति ॥ १०३० ॥ गतं वैद्यप्रच्छन-यतना-पुरुषलक्षणं द्वारत्रयम्। अथ लिङ्गादीनि सर्वाण्यपि द्वाराणि गाथाद्वयेन भावयति—

सो पुण आलेवो वा, हवेज्ज आहारिमं व मिस्सियरं ।
पुव्वं तु पिट्ठगहणं, विगरण जं पुव्वछिन्नं वा ॥ १०३१ ॥
भावियकुलेसु गहणं, तेसऽसति सलिंगें गेण्हणाऽन्नो ।
10 **विकरणकरणालोयण, अमुगगिहे पच्चओ गीते ॥ १०३२ ॥**

यो वनस्पतिभेदो व्रणादौ पित्तोदयादौ वा उपयुज्यते स पुनरालेपो वा स्यात्, बहिःपिण्डी-प्रदानादिक इत्यर्थः, 'आहारिमं वा' बीजपूरादिकम्। तच्चोभयमपि प्रथमतोऽचित्तम्, तदलाभे मिश्रम्, तस्याप्यभावे 'इतरत्' सचित्तम्। अथवा 'मिश्रं' नाम यद् आलेप आहारयितव्यं च भवति, 'इतरत्' नाम यन्नालेपो नाहारयितव्यम्। तच्च स्पर्शेन स्पर्शनीयं वा स्यात् पद्मोत्पलवद्, 15 नासिकया आघ्रातव्यं वा भवेत् पुष्पादिवत्। एतावता द्रव्यग्रहणद्वारं व्याख्यातम्। अथ पिष्टापिष्ट-द्वारम्—तत्राऽऽलेपादिकं सर्वमपि यत् पूर्वपिष्टं लभ्यते तस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम्, पूर्वपिष्टस्या-लाभे तृतीयेनापि भङ्गेन, तस्याप्यलाभे द्वितीयेन, तस्याप्यसति प्रथमभङ्गेन यत् पूर्वच्छिन्नं तद् विकरणं कृत्वा ग्राह्यम्, विविधम्—अनेकप्रकारं करणं—खण्डनं यस्य तद् विकरणम्, तत् तादृशं चानीय पेषणीयम्। एतेन च यदधस्तादुक्तं "इयरे गहणं कहं होज्जा" (गा० १००२) 20 इति तद् एवं भवेदिति प्रतिपत्तव्यम् ॥ १०३१ ॥

अथ पूर्वच्छिन्नं न लभ्यते तत आत्मनाऽपि च्छिन्दन्ति। तच्च पूर्वच्छिन्नं भावितकुलेषु ग्रहीतव्यम्। तत्र यानि श्राद्धकुलानि माता-पितृसमानानि साधूनामपवादपदेऽप्राशुकादिकं गृह्णतामनुग्राहकारीणि तानि भावितकुलान्युच्यन्ते। तेषामसति यद्यभावितकुलेषु स्वलिङ्गेन गृह्णाति ततो महानवर्णो भवति, अतस्तेष्वन्यलिङ्गेन ग्रहीतव्यमिति लिङ्गद्वारमपि व्याख्यातम्। अथवा भावि-25 तकुलानामभावे यानि सुप्रज्ञापनीयानि कुलानि तानि प्रज्ञाप्य मार्गयति गृह्णाति च, एषा प्रज्ञापना मन्तव्या। एतानि पुनः प्रथम-द्वितीयभङ्गवर्तीनि प्रलम्बानि यत्र गृहीतानि तत्रैव विकरणानि कृत्वा आनीय गुरुसमीपे आलोचयति अगीतार्थप्रत्ययनिमित्तम्, यथा—अमुकस्य गृहे स्वार्थं कृतानि मया लब्धानीत्येषा आलोचना। यतना तु—सर्वथा पूर्वच्छिन्नानामलाभे स्वयमपि च्छेत्तव्यानि, तानि च प्रथमं परीत्तानि, ततोऽनन्तान्यपि, पूर्वं स्वलिङ्गेन, तत इतरेणापि 30 ॥ १०३२ ॥ एतच्च निर्ग्रन्थानाश्रित्य भणितम्। अथ निर्ग्रन्थीनां विधिमतिदिशन्नाह—

एसेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि नवरि छ ब्भंगा ।
आमे भिन्नाऽभिन्ने, जाव उ पउमुप्पलाईणि ॥ १०३३ ॥

[1]एष एव गमो नियमाद् निर्ग्रन्थीनामपि ज्ञातव्यो यावत् पद्मोत्पलादीनि "पउमुप्पल माउ-लिंगे" (गा० १०२९) इत्यादिगाथां यावत् । एतच्च **निर्युक्ति**मङ्गीकृत्योक्तम्, **भाष्य**मा-श्रित्य तु—"अमुगगिहे पच्चओ गीए" (गा० १०३२) त्ति पर्यन्तं द्रष्टव्यम् । नवरं तासामामे प्रलम्बे भिन्ना-ऽभिन्नपदाभ्यां विधिभिन्ना-ऽविधिभिन्नपदसहिताभ्यां षड् भङ्गाः कर्त्तव्याः, ते चान-न्तरसूत्रे स्वस्थान एव भावयिष्यन्ते ॥ १०३३ ॥ सूत्रम्—

कप्पइ निग्गंथाणं पक्के तालपलंबे भिन्ने वा अभिन्ने वा पडिगाहित्तए ३ ॥

तथा—

नो कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ४ ॥

कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे भिन्ने पडि-गाहित्तए से वि य विहिभिन्ने नो चेव णं अविहिभिन्ने ५ ॥

[2]एतानि त्रीणि सूत्राणि समकमेव व्याख्यायन्ते—कल्पते निर्ग्रन्थानां पक्कं तालप्रलम्बं द्रव्यतो भिन्नं वा अभिन्नं वा प्रतिग्रहीतुम् ३ । नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां पक्कं तालप्रलम्बमभिन्नं प्रतिग्रही-तुम् ४ । कल्पते निर्ग्रन्थीनां पक्कं तालप्रलम्बं द्रव्यतो भिन्नं प्रतिग्रहीतुम्, तदपि च 'विधिभिन्नं' विधिना—वक्ष्यमाणलक्षणेन भिन्नं-विदारितम्, नैव 'णं' वाक्यालङ्कारे अविधिभिन्नमिति सूत्रार्थः ५ ॥ अथ **निर्युक्ति**विस्तरः—

नामं ठवणा पक्कं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं ।
उस्सेइमाइ तं चिय, पक्किंधणजोगतो पक्कं ॥ १०३४ ॥

नामपक्कं स्थापनापक्कं द्रव्यपक्कं भावपक्कं च[3] भवति ज्ञातव्यम् । तत्र नाम-स्थापने गतार्थे । द्रव्य-पक्कं तदेवोत्स्वेदिमादिकं यद् आमं भणितम् । किमुक्तं भवति ?—यद् द्रव्यामं उत्स्वेदिमसंस्वेदि-मोपस्कृतपर्यायामभेदात् चतुर्द्धा भणितम् तदेव यदा इन्धनसंयोगात् पक्कमुपजायते तदा द्रव्यपक्कं मन्तव्यम् ॥ १०३४ ॥ गतं द्रव्यपक्कम् । भावपक्कमाह—

संजम-चरित्तजोगा, उग्गमसोही य भावपक्कं तु ।
अन्नो वि य आएसो, निरुवक्कमजीवमरणं तु ॥ १०३५ ॥

संयमयोगाः—प्रत्युपेक्षणादयश्चारित्रं च मूलोत्तरगुणरूपं सुविशुद्धं भावपक्कमुच्यते । गाथायां बन्धानुलोम्येन[4] चारित्रशब्दस्य व्यत्यासेन निर्देशः । यद्वा या उद्गमादीनां दोषाणां शुद्धिस्तद् भाव-

१ "एसेव० गाधा । जधा णिग्गंथाणं तधा णिग्गंथीण वि जाव 'जाव उ पउमुप्पलादीणि' (गा० १०३३) त्ति **पुरातना गाथा,** साम्प्रतं पुनर्यावत् जतणा य त्ति सम्मत्ता ॥" इति **चूर्णिः** ॥ २ "एते सुत्ते एगट्ठे चेव भण्णति । सुत्तत्थो पुव्ववण्णितो । **णिज्जुत्ति**अत्थो इमो—णामं० गाधा" इति **चूर्णौ** ॥ ३ वा भा० विना ॥ ४ °नुलोम्यात्तु चा° भा० ॥

पक्कम् । अन्योऽप्यादेशो वर्त्तते—येन यद् आयुष्कं निर्वर्त्तितं तत् सर्वमनुपाल्य म्रियमाणस्य निरुपक्रमायुर्जीवस्य यद् मरणं तद् भावपक्कम् । अत्र च द्रव्यपक्केणाधिकारः, तत्रापि पर्यायपक्केण, तत्रापि वृक्षपर्यायपक्केणेति ॥ १०३५ ॥

गतं पक्कपदम् । अथ भिन्ना-ऽभिन्नपदे व्याचष्टे—

5 **पक्के भिन्ना-ऽभिन्ने, समणाण वि दोसो किं तु समणीणं ।**
समणे लहुओ मासो, विकडुभमाई य ते चेव ॥ १०३६ ॥

'पक्कं' यद् निर्जीवं तद् द्रव्यतो भिन्नं वा स्यादभिन्नं वा, तत्रोभयेऽपि श्रमणानामपि दोषो भवति 'किं तु' किं पुनः श्रमणीनाम् ? । श्रमणा यदि गृह्णन्ति ततो मासलघु द्वाभ्यामपि तपः-कालाभ्यां लघुकम्, विकटुभ-पलिमन्थादयश्च त एव दोषाः ॥ १०३६ ॥ इदमेव स्फुटतरमाह—

10 **आणादि रसपसंगा, दोसा ते चेव जे पढमसुत्ते ।**
इह पुण सुत्तनिवाओ, ततिय-चउत्थेसु भंगेसु ॥ १०३७ ॥

आज्ञादयो रसप्रसङ्गादयश्च दोषास्त एव पक्कप्रलम्बग्रहणेऽपि भवन्ति ये प्रथमसूत्रे अभिहिताः । यद्येवं ततः सूत्रमपार्थकमित्याह—इह पुनः सूत्रनिपातस्तृतीय-चतुर्थयोर्भङ्गयोर्भवति, भावतो भिन्नमिति कृत्वा तृतीय-चतुर्थरूपं भङ्गद्वयमधिकृत्य सूत्रं प्रवृत्तमिति भावः ॥ १०३७ ॥

15 **एमेव संजईण वि, विकडुभ-पलिमंथमाइया दोसा ।**
कम्माईया य तहा, अविभिन्ने अविहिभिन्ने य ॥ १०३८ ॥

एवमेव संयतीनामपि विकटुभ-पलिमन्थादयो दोषाः । तथा अविभिन्नेऽविधिभिन्ने च प्रलम्बे हस्तकर्मादयः सविशेषा दोषा मन्तव्याः, अतस्तासां विधिभिन्नमेव कल्पते नाविधिभिन्नम् ॥ १०३८ ॥

अत्र च षड्भङ्गीमाह—

20 **विहि-अविहीभिन्नम्मि य, समणीणं होंतिमे उ छ [1]भंगा ।**
पढमं दोहि अभिन्नं, अविहि-विही द[2]व्व विइ-तइए ॥ १०३९ ॥
एमेव भावतो वि य, भिन्ने तत्थेक्क दव्वओ अभिन्नं ।
पंचम-छट्ठे दोहि वि, नवरं पुण पंचमे अविही ॥ १०४० ॥

"से वि य विहिभिन्ने नो चेव णं अविहिभिन्ने" (उ० १ सू० ५) इत्यत्र श्रमणीनां 25 सूत्रे इमे षड् भङ्गा भवन्ति । "पढमं" इत्यादि, प्रथमं 'द्वाभ्यामपि' भावतोऽपि द्रव्यतोऽप्यभिन्नम्, द्वितीयं भावतोऽभिन्नं द्रव्यतोऽविधिभिन्नम्, तृतीयं भावतोऽभिन्नं द्रव्यतो विधिभिन्नम् ॥ १०३९ ॥

एवमेव भावतो भिन्नेऽपि भङ्गत्रयम् । तत्रैकं चतुर्थं भावतो भिन्नं द्रव्यतोऽभिन्नम्, पञ्चम-षष्ठौ भङ्गौ द्वाभ्यामपि भिन्नौ, 'नवरं' केवलं पञ्चमेऽविधिभिन्नम्, भावतो भिन्नं द्रव्यतोऽविधिभिन्नमिति भावः । अर्थादापन्नं षष्ठे भावतो भिन्नं द्रव्यतो विधिभिन्नमिति ॥ १०४० ॥

30 अथ षट्स्वपि भङ्गेषु यथाक्रमं प्रायश्चित्तमाह—

लहुगा तीसु परित्ते, लहुओ मासो उ तीसु भंगेसु ।
गुरुगा होंति अणंते, पच्छित्ता संजईणं तु ॥ १०४१ ॥

---

१ य छ भंगा होंतिमे उ समणीणं ता० ॥ २ य ता० ॥

आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु परीत्तवनस्पतौ चत्वारो लघुकाः प्राग्वत् तपः-कालविशेषिताः, भावतोऽभिन्नत्वात् । उत्तरेषु त्रिषु भङ्गेषु परीत्तवनस्पतावेव लघुको मासस्तपः-कालविशेषितः प्राग्वत्, भावतो भिन्नत्वात् । अनन्तवनस्पतौ तु त एव गुरुकाः कर्त्तव्याः, चत्वारो गुरवो गुरुमासाश्चेति भावः । इत्थं षट्स्वपि भङ्गेषु संयतीनां प्रायश्चित्तानि द्रष्टव्यानि ॥ १०४१ ॥

अथ हस्तकर्मसम्भवा-ऽसम्भवौ चेतसि व्यवस्थाप्य प्रकारान्तरेणात्रैव प्रायश्चित्तमाह— 5

अहवा गुरुगा गुरुगा, लहुगा गुरुगा य पंचमे गुरुगा ।
छट्ठम्मि हवति लहुतो, लहुगत्थाणे गुरूऽणंते ॥ १०४२ ॥

अथवा प्रथमे भङ्गे गुरुकाः, अभिन्नत्वात् । द्वितीयेऽपि गुरुकाः, अविधिभिन्नत्वात् । तृतीये लघुकाः, विधिभिन्नत्वात् । चतुर्थे गुरुकाः, अभिन्नत्वात् । पञ्चमेऽपि गुरुकाः, अविधिभिन्नत्वात् । षष्ठे लघुको मासः, विधिभिन्नत्वाद् अचित्तत्वाच्च । एतच्च परीत्ते भणितम् । अनन्ते तु लघुक- 10 स्थाने गुरुकम्, यत्र चतुर्लघवस्तत्र चतुर्गुरवो यत्र लघुमासस्तत्र गुरुमास इत्यर्थः ॥ १०४२ ॥

आयरिओ पवत्तिणीए, पवित्तिणी भिक्खूणीण न कहेइ ।
गुरुगा लहुगा लहुओ, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥ १०४३ ॥
गेण्हंतीणं गुरुगा, पवत्तिणीए पवत्तिणी जइ वा ।
न सुणेती गुरुगाती, मासलहू भिक्खुणी जाव ॥ १०४४ ॥ 15

एतत् प्रलम्बसूत्रमाचार्यः प्रवर्त्तिन्या न कथयति चत्वारो गुरवः । प्रवर्त्तिनी भिक्षुणीनां न कथयति चत्वारो लघवः । यदि भिक्षुण्यो न शृण्वन्ति ततो लघुमासः । 'तत्रापि' अकथनेऽश्रवणे वा आज्ञादयो दोषाः ॥ १०४३ ॥

यदि भिक्षुणीनां प्रलम्बं गृह्णतीनां प्रवर्त्तिनी सारणादिकं न करोति तदा प्रवर्त्तिन्याश्चत्वारो गुरवः । प्रवर्त्तिनी यद्याचार्याणां कथयतां न शृणोति तदा चत्वारो गुरवः । प्रवर्त्तिन्याः पार्श्वे 20 गणावच्छेदिनी न शृणोति चत्वारो लघवः । अभिषेका न शृणोति मासगुरु । भिक्षुणी न शृणोति मासलघु ॥ १०४४ ॥ अथ निर्ग्रन्थीरधिकृत्य द्वारगाथामाह—

अभिन्ने महव्वयपुच्छा, मिच्छत्त विराहणा य देवीए ।
किं पुण ता दुविहाओ, भुत्तभोगी अभुत्ता य ॥ १०४५ ॥

अभिन्ने महाव्रतपृच्छा कर्त्तव्या । तथा अङ्गादानसदृशमभिन्नं प्रलम्बं गृह्णतीं निर्ग्रन्थीं दृष्ट्वा 25 कश्चिद् मिथ्यात्वं व्रजेत्—यदेषा अङ्गादानाकारमेवंविधं फलं गृह्णाति तद् नूनमेतेषां तीर्थकृता नैष दोषो दृष्टः, असर्वज्ञ एवामीषां गुरुरित्यादि । विराधना भवेत् । तत्र च देव्या दृष्टान्तो वक्तव्यः । यदि च तस्या अपि देव्याः प्रतिसेवनाकौतुकं समजनि किं पुनः श्रमणीनाम् ? इति वक्तव्यम् । ताश्च श्रमण्यो द्विविधाः—भुक्तभोगिन्योऽभुक्तभोगिन्यश्चेति समासार्थः ॥ १०४५ ॥

अथ विस्तरार्थोऽभिधीयते—तत्र प्रथममभिन्ने महाव्रतपृच्छाद्वारम्, शिष्यः पृच्छति— 30 निर्ग्रन्थानां भिन्नमभिन्नं वा पक्वं कल्पते, निर्ग्रन्थीनां पुनर्भिन्नमेव कल्पते नाभिन्नम् तदपि विधिभिन्नमित्यत्र यथा भेदस्तथा किमेवं महाव्रतेष्वपि तासां भेदः ?; यथा किल तच्चनिकानां मते भिक्षूणामर्द्धतृतीयानि शिक्षापदशतानि भिक्षुणीनां पञ्च शिक्षापदशतानि, एवं किं निर्ग्रन्थी-

नामपि षण्महाव्रतानि दश वा येनैवमभिधीयते ? उच्यते—

न वि छम्महव्वया नेव दुगुणिया जह उ भिक्खुणीवग्गे ।
बंभवयरक्खणट्ठा, न कप्पती तं तु समणीणं ॥ १०४६ ॥

नापि निर्ग्रन्थीनां षड् महाव्रतानि, नैव साधूनां सम्बन्धिभ्यः पञ्च महाव्रतेभ्यः 'द्विगुणि-5तानि' दशेत्यर्थः, यथा सौगतानां मते भिक्षुणीवर्गे द्विगुणानि शिक्षापदानि भवन्ति न तथाऽत्र किन्तु पञ्चैवेति भावः । यद्येवं तर्हि किमर्थमत्र निर्ग्रन्थीनामभिन्नं न कल्पते ? उच्यते—ब्रह्म-व्रतरक्षणार्थं 'तत्तु' अभिन्नं श्रमणीनां न कल्पते, मा करकर्मादिकमनेन कार्षुरिति कृत्वा ॥ १०४६ ॥ न केवलमत्रैव प्रलम्बे श्रमणीनां विशेषः किन्त्वन्यत्रापीति दर्शयति—

अन्नत्थ वि जत्थ भवे, एगयरे मेहुणुब्भवो तं तु ।
10 **तस्सेव उ पडिकुट्ठं, बिइयस्सऽन्नेण दोसेणं ॥ १०४७ ॥**

अन्यत्रापि यत्र भुक्ते स्पृष्टे वा "एगयरे" इति षष्ठी-सप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् 'एकतरस्य' साधु-पक्षस्य साध्वीपक्षस्य वा मैथुनोद्भवो भवति 'तत्तु' वस्तु 'तस्यैव' विवक्षितपक्षस्य, तुशब्दो मैथुनो-द्भवदोषपरिहारार्थमित्यस्यार्थस्य सूचनार्थः, 'प्रतिकुष्टं' प्रतिषिद्धम् । द्वितीयस्य तु पक्षस्य तदेव 'अन्येन' असंयमलक्षणेन दोषेण प्रतिषिध्यते ॥ १०४७ ॥ निदर्शनमाह—

15 **निल्लोम-सलोमऽजिणे, दारुगदंडे सवेंट पाए य ।**
बंभवयरक्खणट्ठा, वीसुं वीसुं कया सुत्ता ॥ १०४८ ॥

यथा निर्ग्रन्थानां निर्लोमाजिनं स्मृतिकरण-कौतुकादिदोषपरिहारार्थं प्रतिषिद्धम्, निर्ग्रन्थीनां पुनः प्राणिदयानिमित्तमतिरिक्तोपधिभारपरिहारार्थं च तदेव प्रतिषिध्यते; एवं सलोमाजिनं निर्ग्र-न्थीनां स्मृतिकरणादिदोषनिवारणार्थम्, निर्ग्रन्थानां पुनस्तदेव प्राणिदयानिमित्तं प्रतिषिद्धम् । 20 दारुदण्डकं पादप्रोञ्छनं सवृन्तपात्रं च निर्ग्रन्थीनां ब्रह्मव्रतानुपालनार्थं निर्ग्रन्थानां पुनरतिरिक्तो-पधिदोषपरिहरणार्थं नानुज्ञातम् । एवं ब्रह्मव्रतरक्षणार्थं निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च 'विष्वग् विष्वक्' पृथक् पृथक् सूत्राणि कृतानि ॥ १०४८ ॥ आह कर्मोदयादेव प्राणिनां मैथुनोद्भवो भवति, ततः किमेवं सलोमादिपरिहारः क्रियते ? उच्यते—

नत्थि अनिदाणओ होइ उब्भवो तेण परिहर निदाणं ।
25 **ते पुण तुल्ला-ऽतुल्ला, मोहनिदाणा दुपक्खे वि ॥ १०४९ ॥**

निदानं कारणमित्येकोऽर्थः, तच्चेहेष्टशब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शात्मकं यत् प्रतीत्य पुरुषवेदादि-मोहनीयमुदयमासादयति । तदुक्तम्—

दव्वं खेत्तं कालं, भावं च भवं तहा समासज्ज ।
तस्स समासुद्दिट्ठो, उदओ कम्मस्स पंचविहो ॥

30 ततश्च 'नास्ति' न विद्यते एतद् यद् 'अनिदानकः' निदानमन्तरेण मोहनीयोद्भवो भवति, 'तेन' कारणेन परिहर 'निदानम्' इष्टशब्दादिरूपम् । 'ते पुनः' शब्दादयो मोहनिदानभूता

१ भा० विनाऽन्यत्र—तत्तु 'तस्यै' त० । तत्तत्र वस्तु मो० ले० कां० ॥ २ °यादिनि° भा० ॥
३ भवं च भावं तहा मो० ॥

द्वयोः पक्षयोः समाहारो द्विपक्षं—स्त्री-पुरुषवर्गद्वयं तस्मिन् द्विपक्षेऽपि मोहोद्भवं प्रति केचित् तुल्याः केचित् त्वतुल्याः ॥ १०४९ ॥ तानेवाह—

रस-गंधा तहिँ तुल्ला, सद्दाई सेस भय दुपक्खे वि ।
सरिसे वि होइ दोसो, किं पुण ता विसम वत्थुम्मि ॥ १०५० ॥

स्त्रीणां पुरुषाणां च 'तत्र' मोहोद्भवे रस-गन्धास्तुल्याः । किमुक्तं भवति ?—यथा स्निग्ध-मधुरादिरसैः स्रक्-चन्दनादिगन्धैश्च पुरुषाणामिन्द्रियाणि मोहोद्रेकभाञ्जि भवन्ति तथा स्त्रीणामपीति मोहोद्भवं प्रति रस-गन्धास्तुल्याः । 'शेषान्' शब्द-रूप-स्पर्शान् 'भज' विकल्पय 'द्विपक्षेऽपि' उभयपक्षयोरपि । यतः पुरुषस्य पुरुषसम्बन्धिनि शब्दे श्रुते रूपे दृष्टे स्पर्शे च स्पृष्टे मोहोदयो भवेद् वा न वा, यदि भवेन्न तादृशस्तीव्रः, स्त्रीसम्बन्धिनि तु प्रायो भवत्येव तीव्रश्च जायते; स्त्रियास्तु स्त्रीसम्बन्धिषु शब्द-रूप-स्पर्शेषु गोचरमुपागतेषु मोहोद्रेको भवेद् वा न वा, यदि भवेन्न तादृशस्तीव्रः, पुरुषसम्बन्धिषु तु प्रायो भवत्येव तीव्रश्च भवति । तदेवं सदृशेऽपि स्पर्शादौ वस्तुनि दोषो भवति, किं पुनस्तावद् 'विषमे' विसदृशे वस्तुनि ? इति । यतश्चैवमतः सलोम-निर्लोमादीन्यतुल्यनिदानानि विशेषतः परिह्रियन्ते; अत एव चात्राभिन्नमविधिभिन्नं च न कल्पते ॥ १०५० ॥

गतमभिन्ने महाव्रतपृच्छेति द्वारम् । मिथ्यात्वद्वारं तु सुबोधत्वाद् **भाष्यकृता** न भावितम् । अथ विराधनाद्वारम्—अभिन्नं गृह्णतीनां निर्ग्रन्थीनामात्मनो ब्रह्मव्रतस्य वा विराधना भवेत् । अत्र च **देव्या दृष्टान्तः** । तमेवाह—

चीयत्त कक्कडी कोउ कंटक विसप्प समिय सत्थे य ।
पुणरवि निवेस फोडण[1], किमु समणि निरोह भुत्तितरा ॥ १०५१ ॥

एगस्स रन्नो महादेवी । तीसे कक्कडियाओ पियाओ । ताओ अ एगो णिउत्तपुरिसो दिणे दिणे आणेति । अण्णया तेण पुरिसेण अहापवित्तीए अंगादाणसंठिया कक्कडिया आणिता । तीसे देवीए तं कक्कडियं पासेत्ता कोतुयं जायं—पेच्छामि ताव केरिसो फासो त्ति एयाए पडिसेवियाए ? । ताहे ताए सा कक्कडिया पादे बंधिउं सागारियट्ठाणं पडिसेविउमाढत्ता । तीसे कक्कडियाए कंटओ आसी, सो तम्मि सागारिए लग्गो । विसप्पियं च तं । ताहे वेज्जस्स सिट्ठं । ताहे वेज्जेणं समिया मद्दिया, तत्थ निवेसाविया, उट्ठवेत्ता सुसियप्पदेसं चिंधियं । तम्मि पदेसे तीए अपेच्छमाणीए सत्थयं उप्परामुहधारं खोहियं । पुणो तेणेवागारेण णिवेसाविया । फोडियं । पूएण समं निग्गओ कंटओ । पउणा जाया । जति ताव तीसे देवीए दंडिएण पडिसेविज्जमाणीए कोउयं जायं, किमंग पुण समणीणं णिच्चणिरुद्धाण भुत्तभोगीणं अभुत्तभोगीण य ? ॥

अथ गाथाक्षरार्थः—राज्ञः कस्यचिद् देव्याः कर्कटिकाः "चीयत्ता" इति प्रीतिकराः, रुच्या इत्यर्थः । अङ्गादानाकारां च कर्कटिकां दृष्ट्वा कौतुकमुत्पन्नम् । ततः प्रतिसेवमानायास्तस्याः कण्टकः सागारिके लग्नः । विसर्पितं च तत् सागारिकम् । ततो वैद्येन 'समिता' कणिक्का तस्यां मर्दितायां निवेशिता । ततः शुष्कप्रदेशे शस्त्रकं प्रक्षिप्तम् । ततः पुनरपि तथैव निवेश्य तेन शस्त्रकेण सागारिकस्य पाटने कृते पूयेन समं कण्टके निर्गते प्रगुणीकृता । यदि तस्या अप्येवं-

[1] **फोडण** ता० विना ॥

मिपं कौतुकमजनिष्ट, किं पुनः श्रमणीनां नित्यनिरोधानां भुक्तानाम् 'इतरासां वा' अभुक्तानाम् ॥ १०५१ ॥ इदमेव स्पष्टयन्नाह—

कसिणाऽविहिभिन्नम्मि य, गुरुगा भुत्ताण होइ सइकरणं ।
इयरासि कोउगाई, घिप्पंते जं च उड्डाहो ॥ १०५२ ॥

5 कृत्स्ने—अभिन्ने तत्र अविधिभिन्ने च श्रमणीनां चत्वारो गुरुकाः, भुक्तभोगिनीनां स्मृतिकरणम् इतरासां कौतुकादयो दोषा भवन्ति । तस्मिँश्चाङ्गादानाकारे गृह्यमाणे यश्चोड्डाहो भवति यथा 'नूनमेतेनैषा पापकर्म करिष्यति' तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तम् ॥ १०५२ ॥

तेन च प्रलम्बेन सा पापकर्म कृत्वा चिन्तयति—

जइ ताव पलंबाणं, सहत्थणुन्नाण एरिसो फासो ।
10 **किं पुण गाढालिंगण, इयरम्मि उ निद्दओच्छुद्धे ॥ १०५३ ॥**

यदि तावत् प्रलम्बानां स्वहस्तेन नुन्नानां—"णुदंत् प्रेरणे" प्रेरितानामित्यर्थः ईदृशः स्पर्शः, किं पुनर्गाढालिङ्गनेन 'इतरस्मिन्' अङ्गादाने पुरुषेण "निद्दओच्छुद्धे" त्ति निर्दयं यथा भवत्येवम् उत्—प्राबल्येन क्षिप्ते सति स्पर्शो भविष्यति ? इति ॥ १०५३ ॥

ततश्चेत्थं विचिन्त्योदीर्णप्रबलमोहनीयकर्मा सा इदं कुर्यात्—

15 **पडिगमणमन्नतित्थिग, सिद्धे संजय सलिंग हत्थे य ।**
वेहाणस ओहाणे, एमेव अभुत्तभोगी वि ॥ १०५४ ॥

काचित् पार्श्वस्थादिभ्यः समागता भवेत् साऽपि तत्रैव प्रतिगच्छेत्, अन्यतीर्थिकेन वा सिद्धपुत्रेण वाऽऽत्मानं प्रतिसेवयेत्, संयतं वा उपसर्गयेत्, एतानि स्वलिङ्गे स्थिता कुर्यात् । हस्तकर्म वा भूयोभूयः कुर्यात्, यद्वा 'मैया व्रतानि भग्नानि' इति कृत्वा 'कथङ्कारं वा द्राघीयःकालपरि-20पालितं शीलरत्नमहं भङ्क्ष्यामि ?' इति निर्वेददूनमानसा वैहायसं मरणं विदध्यात्, अथवा प्रबलमोहपरवशा अवधावनं विदध्यात् । एतानि पदानि भुक्तभोगिनी कुर्यात् । अभुक्तभोगिन्यप्येवमेव कुर्यात् ॥ १०५४ ॥ शिष्यः प्रश्नयति—न जानीमहे वयं कीदृशमविधिभिन्नम् ? कीदृशं वा विधिभिन्नम् ? इति । सूरिराह—

भिन्नस्स परूवणया, उज्जुत तह चक्कली विसमकोट्टे ।
25 **ते चेव अविहिभिन्ने, अभिन्ने जे वन्निया दोसा ॥ १०५५ ॥**

असंयमदोषनिवर्हणार्थमविधिना विधिना च भिन्नस्य प्ररूपणा क्रियते । तत्र यत् चिर्भटादिकं विदार्य ऊर्द्ध्वफालिरूपाः पेश्यः कृतं तद् ऋजुकभिन्नम्, यत् पुनस्तिर्यग् वृहत्यः कत्तलिकाः कृतं तत् चक्कलिकाभिन्नम्, एते द्वे अप्यविधिभिन्ने मन्तव्ये । यत् तु पेश्यः कृत्वा पुनः श्लक्ष्णश्लक्ष्णतरादिभिः खण्डैरनेकशश्छिन्त्वा तथा कृतं यथा भूयस्तदाकारं कर्तुं न पार्यते तदेवंविधं विषमकुट्ट-30भिन्नमुच्यते, विषमैः—पुनस्तथाकर्तुमशक्यैः कुट्टैः—श्लक्ष्णखण्डैर्भिन्नमिति व्युत्पत्तेः । एतच्च विधिभिन्नम् । अत्र चाविधिभिन्ने त एव दोषा द्रष्टव्या येऽभिन्ने देवीदृष्टान्तेन वर्णिताः ॥ १०५५ ॥

कथम् ? इति चेद् उच्यते—

१ फरिसो मो० ले० ॥ २ "वयाणि मे भग्गाणि' त्ति काउं 'कई वा उड्डाहं काहं ?' ति वेहाणसं करेज्जा, उद्बन्धनमित्यर्थः । 'खंडितव्वता मि' त्ति काउं ओहाइज्जा, उप्पव्वएज्ज त्ति भणितं होति" इति चूर्णौ ॥

कट्ठेण व सुत्तेण व, संदाणिते अविहिभिन्ने ते चेव ।
सविसेसतर व्व भवे, वेउव्वियभुत्तइत्थीणं ॥ १०५६ ॥

'काष्ठेन वा' शलाकादिना 'सूत्रेण वा' दवरकादिना 'सन्दानिते' सङ्घातिते पूर्वाकारं स्थापिते इत्यर्थः, अविधिभिन्ने त एव दोषा ज्ञातव्या येऽभिन्ने भणिताः । सविशेषतरा वा भवेयुः, कथम् ? इत्याह—'विकुर्वितं' वेण्टकाद्याभरणेनालङ्कृतं यदङ्गादानं तेन याः स्त्रियो भुक्तपूर्वास्तासां प्रव- 5 जितानां तत्र काष्ठादिसन्दानितप्रलम्बे विकुर्विताङ्गादानकल्पे दृष्टे समधिकतरा दोषा उपढौकन्ते (ग्रन्थाग्रम्—४०००) ॥ १०५६ ॥ अथार्थतः कारणिकं सूत्रमुपदर्शयन्नाह—

विहिभिन्नं पि न कप्पइ, लहुओ मासो उ दोस आणाई ।
तं कप्पती न कप्पइ, निरत्थगं कारणं किं तं ॥ १०५७ ॥

यदपि सूत्रे विधिभिन्नमनुज्ञातं तदपि न कल्पते । यदि गृह्णन्ति ततो मासलघु आज्ञादयश्च 10 दोषाः । आह ननु सूत्रे भणितं 'तद्' विधिभिन्नं कल्पते ? गुरुराह—यद्यपि सूत्रे अनुज्ञातं तथापि न कल्पते । यद्येवं तर्हि निरर्थकं सूत्रम्, नैवम्, कारणिकं सूत्रम् । आह किं पुनः तत् कारणं यदद्यापि नाभिधीयते ? ॥ १०५७ ॥ उच्यते, ब्रूमः—

गेलन्नऽद्धाणोमे, तिविहं पुण कारणं समासेणं ।
गेलन्ने पुव्वुत्तं, अद्धाणुवरिं इमं ओमे ॥ १०५८ ॥ 15

ग्लानत्वम् अध्वा अवमौदर्यम्, एतत् 'समासेन' सङ्क्षेपेण त्रिविधं कारणम् । तत्र ग्लानत्वे इहैव प्रलम्बप्रकृते "विज्जे पुच्छण जयणा" (गा० १०२७) इत्यादि पूर्वोक्तं द्रष्टव्यम् । अध्वनि तु 'उपरि' अध्वसूत्रे इहैवोद्देशके भणिष्यते । 'इदम्' अनन्तरमेव वक्ष्यमाणम् अवमे द्रष्टव्यम् ॥ १०५८ ॥

निग्गंथीणं भिन्नं, निग्गंथाणं च भिन्नऽभिन्नं तु । 20
जह कप्पइ दोण्हं पी, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ १०५९ ॥

निर्ग्रन्थीनां नियमाद् विधिना षष्ठे भङ्गे भिन्नम्, निर्ग्रन्थानां च चतुर्थ-तृतीययोर्भङ्गयोर्भिन्न-मभिन्नं वा, यथा द्वयोरपि वर्गयोः कल्पते तदहं वक्ष्ये समासेन ॥ १०५९ ॥

यथाप्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

ओमम्मि तोसलीए, दोण्ह वि वग्गाण दोसु खेत्तेसु । 25
जयणट्ठियाण गहणं, भिन्नाऽभिन्नं व जयणाए ॥ १०६० ॥

अवमकाले साधवः साध्व्यश्च तोसलिविषयं गत्वा स्थिताः । तत्र द्वावपि वर्गौ द्वयोः क्षेत्रयोः स्थितौ, एकस्मिन् क्षेत्रे संयता द्वितीयस्मिन् संयत्य इत्यर्थः । तथा बहुत्वर्गत एकत्र क्षेत्रे मिलितौ नावतिष्ठेते एषैव यतना तया स्थितौ यतनास्थितौ, यद्वा साधु-साध्वीप्रायोग्यं विधिं ग्राहयित्वा यौ स्थितौ तौ यतनास्थितौ, तयोरेवंस्थितयोः 'यतनया' वक्ष्यमाणया भिन्नस्याभिन्नस्य वा ग्रहणं 30 कल्पते ॥ १०६० ॥ आह कोऽयं नियमो येन तोसलेरेव ग्रहणं कृतम् ? उच्यते—

आणूव जंगल देसे, वासेण विणा वि तोसलिग्गहणं ।

---

१ °बहुत्वर्गत इति 'सभा° मो० ॥

पायं च तत्थ वासति, पउरपलंबो उ अन्नो वि ॥ १०६१ ॥

देशो द्विधा—अनूपो जङ्गलश्च । नद्यादिपानीयबहुलोऽनूपः, तद्विपरीतो जङ्गलः निर्जल इत्यर्थः । यद्वा अनूपो अजङ्गल इति पर्यायौ । तत्रायं **तोसलिदेशो** यतोऽनूपो यतश्चास्मिन् देशे वर्षेण विनाऽपि सारणीपानीयैः सस्यनिष्पत्तिः; अपरं च 'तत्र' **तोसलिदेशे** 'प्रायः' बाहुल्येन वर्षति 5 ततोऽतिपानीयेन विनष्टेषु सस्येषु प्रलम्बोपभोगो भवति; अन्यच्च **तोसलिः** प्रचुरप्रलम्बः, तत एतैः कारणैस्तोसलिग्रहणं कृतम् । अन्योऽपि य ईदृशः प्रचुरप्रलम्बस्तत्राप्येष एव विधिः ॥ १०६१ ॥

पुच्छ सहु-भीयपरिसे, चउभंगे पढमए अणुन्नाओ ।
सेस तिए नाणुन्ना, गुरुगा परियट्टणे जं च ॥ १०६२ ॥

"पुच्छ" त्ति शिष्यः पृच्छति—यदुक्तं भवद्भिः 'द्वयोर्वर्गयोः क्षेत्रद्वये स्थितयोः' (गा० 10 १०६०) इत्यादि तत्र संयतीनां पृथक्क्षेत्रे स्थितानां व्यापारो वोढुं दुःशको भवति, दोषदर्शिनश्च यूयं पृथक्क्षेत्रे स्थापयथ, यतश्च दोषाः समुत्पद्यन्ते तत् प्रेक्षावतां नोपादातुमुचितम्, प्रवचने च तत्र तत्र प्रदेशे संयत्यः प्रव्राजनीया उक्ता एव, अतः पर्यनुयुज्यते किं परिवर्त्तयितव्याः संयत्यः ? उत न ? इति । गुरुराह—नास्त्यत्र कोऽपि नियमो यदवश्यमेव परिवर्त्तयितव्या न वेति, यदि पुनः प्रव्राज्य न्यायतः परिवर्त्तयति ततो महतीं कर्मनिर्जरामासादयति, अथान्यायतः परि-15 वर्त्तयति ततो महामोहमुपचित्य दीर्घसंसारसम्पातभाग् भवति । तर्हि कीदृशेन परिवर्त्तयितव्याः ? उच्यते—"सहु-भीयपरिसे" त्ति सहिष्णुर्भीतपर्षदिति पदद्वयेन चतुर्भङ्गी, सा चेयम्—सहिष्णुरपि भीतपर्षदपि १, सहिष्णुर्न भीतपरिषत् २, असहिष्णुः परं भीतपरिषद् ३, असहिष्णुरभीतपरिषच्चेति ४ । तत्रेन्द्रियनिग्रहसमर्थः संयतीप्रायोग्यक्षेत्र-वस्त्र-पात्रादीनामुत्पादनायां प्रभविष्णुः सहिष्णुरुच्यते । यस्य तु सर्वोऽपि साधु-साध्वीवर्गो भयान्न कामप्यक्रियां करोति स भीतपरि-20 षत् । तत्र प्रथमभङ्गे वर्त्तमानः परिवर्त्तनायामनुज्ञातः, शेषेषु त्रिषु भङ्गेषु वर्त्तमानो नानुज्ञातः, यदि परिवर्त्तयति तदा चत्वारो गुरुकाः । "जं च" त्ति द्वितीये भङ्गे आत्मना सहिष्णुः परमभीतपरिषत्तया स्वच्छन्दप्रचाराः सत्यो यत् किमपि ताः करिष्यन्ति तत् सर्वमयमेव प्राप्नोति । तृतीयभङ्गे तु स्वयमसहिष्णुतया तासामङ्गप्रत्यङ्गादीनि दृष्ट्वा यदाचरति तन्निष्पन्नम् । चतुर्थे भङ्गे द्वितीयतृतीयभङ्गदोषानवाप्नोतीति ॥ १०६२ ॥ प्रथमभङ्गवर्त्तिनमुद्दिश्याह—

25 **जइ पुण पव्वावेती, जावज्जीवाएँ ताउ पालेइ ।**
अन्नासति कप्पे वि हु, गुरुगा जं निज्जरा विउला ॥ १०६३ ॥

यदीत्यभ्युपगमे, ततश्चायमर्थः—ताः प्रथमतोऽपि यतस्ततः प्रव्राजयितुं न कल्पन्ते । यदि पुनः प्रव्राजयति ततो यथोक्तविधिना यावज्जीवं ताः पालयति, योग-क्षेमविधानेन सम्यग् निर्वाहयतीत्यर्थः । स प्रथमभङ्गवर्त्ती यदि जिनकल्पं प्रतिपित्सुः अपरं चाऽऽर्यिकाः परिवर्त्तयितव्याः 30 ततः किं करोतु ? इति चिन्तायां यद्यस्ति तदीये गच्छे कोऽप्यार्यिकाणां विधिना वर्त्तापकस्ततस्तस्य समर्प्य जिनकल्पं प्रतिपद्यताम्, अथ नास्त्यन्यो वर्त्तापकस्तर्हि मा जिनकल्पप्रतिपत्तिं करोतु किन्त्वार्यिका एव परिवर्त्तयतु । कुतः ? इत्याह—अन्यस्य वर्त्तापकस्य असति–अभावे जिनकल्पेऽपि प्रतिपद्यमाने 'हुः' निश्चये चत्वारो गुरुकाः । आह सकलकर्मक्षयाक्षूणकारणे जिनकल्पेऽपि

प्रतिपद्यमाने किमेवं प्रायश्चित्तम्? इत्याह—'यद्' यस्मात् कारणाद् जिनकल्पं प्रतिपन्नस्य या निर्जरा तस्याः सकाशाद् विपुला निर्जरा यथावत् संयतीः परिपालयतो भवतीति युक्तियुक्तमेव प्रायश्चित्तम् ॥ १०६३ ॥ अथ "जयणट्ठियाण गहणं" ति (गा० १०६०) यदुक्तं तत्र यया यतनया स्थितास्तामाह—

उभयगणी पेहेउं, जहिँ सुद्धं तत्थ संजती णेति । 5
असती व जहिं भिन्ना, अभिन्ने अविही इमा जयणा ॥ १०६४ ॥

उभयः—साधु-साध्वीवर्गद्वयरूपो गणोऽस्यास्तीत्युभयगणी, स आचार्योऽवमकाले तोसलिप्रभृतिके प्रचुरप्रलम्बे देशे गत्वा गीतार्थेनाऽऽत्मना वा क्षेत्रद्वयं प्रत्युपेक्ष्य ययोः शुद्धं भक्तं लभ्यते न प्रलम्बमिश्रितमित्यर्थः तयोः क्षेत्रयोः पृथग् द्वावपि वर्गौ स्थापयति । यदि द्वे क्षेत्रे ईदृशे न स्तस्ततो यत्र शुद्धं भक्तं प्राप्यते तत्र संयतीः 'नयति' स्थापयति, यत्र पुनः प्रलम्बमिश्रितं तत्रा- 10 ऽऽचार्या आत्मना तिष्ठन्ति । अथ नास्ति सर्वथा निर्मिश्रभक्तक्षेत्रं ततो यत्र प्रलम्बमिश्रितं भक्तं लभ्यते तत्र साध्वीः स्थापयन्ति, स्वयं तु निर्मिश्रप्रलम्बक्षेत्रे तिष्ठन्ति । अथ सर्वेष्वपि क्षेत्रेषु निर्मिश्रप्रलम्बानि प्राप्यन्ते ततः "असइ" त्ति प्रलम्बमिश्रस्याभावे यत्र विधिभिन्नानि प्राप्यन्ते तत्र संयत्यः स्थापनीयाः, स्वयं पुनरभिन्ना-ऽविधिभिन्नक्षेत्रे तिष्ठन्ति । अथ सर्वेष्वपि क्षेत्रेष्वभिन्नान्यविधिभिन्नानि वा प्राप्यन्ते तत इयं यतना कर्त्तव्या ॥ १०६४ ॥ तामेवाह— 15

भिन्नाणि देह भित्तूण वा वि असति पुरतो सि भिंदंति ।
ठाविंति ताहें समणी, ता चेव जयंति तेसऽसती ॥ १०६५ ॥

यत्र क्षेत्रे संयतीः स्थापयितुकामास्तत् क्षेत्रं साधवः पूर्वमेवेत्थं भावयन्ति—यदा गृहस्थैः प्रलम्बान्यानीतानि भवन्ति तदा साधवो भणन्ति—यानि भिन्नानि तान्यस्मभ्यं दत्त । अथ न सन्ति भिन्नानि, सन्ति वा परं स्तोकानि, तैश्च संस्तरणं न भवतीति परिभाव्य साधवो भणन्ति— 20 असभ्यमेतानि भित्त्वा प्रयच्छत, न कल्पन्तेऽस्माकमीदृशानीति । अथ ते गृहस्थाः 'यदि रोचते तत ईदृशान्येव गृह्णीत' इत्युक्त्वा अभिन्नान्येव प्रयच्छन्ति ततः 'असति' अभावे "सिं" ति तेषां गृहस्थानां पुरतस्तानि प्रलम्बानि भिन्दन्ति भित्त्वा च गृह्णन्ति । एवंविधीयमाने गृहस्थानां चेतसि गाढतरं निश्चय उत्पद्यते, यथा—नूनं न कल्पन्ते अमीषामभिन्नानीति, ततस्ते भिन्नान्येव प्रयच्छन्तीति । एवं यदा तत् क्षेत्रं भावितं भवति तदा तत्र श्रमणीः स्थापयन्ति । 'तेषां' संय- 25 तानाम् 'असति' अभावे व्यापृतेषु वा तेषु क्वापि प्रयोजनान्तरे 'ता एव' संयत्यो यास्तत्र स्थविरास्ता एवमेव यतन्ते ॥ १०६५ ॥

भिन्नासति वेलातिकमे व गेण्हंति थेरिया भिन्ने ।
दारे भित्तु अतिंति व, ठाणासति भिंदती गणिणी ॥ १०६६ ॥

विधिना भिन्नानामसति, यावद् वा गृहस्थैर्भेदयन्ति आत्मना वा यावत् तत्र भिन्दन्ति तावद् 30 वेलातिक्रमो भवति, ततो याः स्थविरास्ता अभिन्नानि अविधिभिन्नानि वा यास्तु तरुण्यस्ता विधिभिन्नानि गृह्णन्ति । ततः प्रतिनिवृत्ताः स्थविरा अभिन्ना-ऽविधिभिन्नान्युपाश्रयद्वारे भित्त्वा

१ भविष्यतीति डे० त० ॥

विधिभिन्नानि कृत्वा वसतिम् 'अतियान्ति' प्रविशन्तीत्यर्थः । अथ बहिः स्थानं नास्ति ततः स्थानस्य 'असति' अभावे 'गणिनी' प्रवर्त्तिनी तस्यास्तानि समर्प्यन्ते, ततः सा गणिनी तानि 'भिनत्ति' विधिभिन्नानि करोतीत्यर्थः, कृत्वा च तरुणीनां समुद्देष्टुं ददाति ॥ १०६६ ॥ आह किं कारणं तरुणीनां प्रतिग्रहीतुं समुद्देष्टुं वा अभिन्ना-ऽविधिभिन्नानि न दीयन्ते ? उच्यते—

कक्खंतरुक्खवेगच्छियाइसु मा हु णूमए तरुणी ।
[1]तो भिन्नं छुभति पडिग्गहेसु न य दिज्जए सयलं ॥ १०६७ ॥

कक्षाया अन्तरं कक्षान्तरम् , "उक्खो" त्ति परिधानवस्त्रैकदेशः, आह च निशीथचूर्णिकृत्—

परिधाणवत्थस्स अब्भिंतरचूलाए उवरिकण्णो नाभिहेट्ठा उक्खो भण्णइ ॥

वैकक्षिकी—संयतीनामुपकरणविशेषः, एतेषु आदिशब्दादन्यस्मिन्नपि वस्त्रान्तरे तरुणी "मा णूमए" त्ति "छदेर्णेर्णुम-णूम०" (सिद्ध० ८-४-२१) इति प्राकृतलक्षणाद् मा च्छादयेत् । ततो भिक्षाग्रहणकाले तस्याः प्रतिग्रहेषु भिन्नं प्रक्षिप्यते, न च 'सकलम्' अभिन्नमविधिभिन्नं वा तस्या भोजनकाले दीयते ॥ १०६७ ॥

एवं एसा जयणा, अपरिग्गहिएसु होइ खेत्तेसु ।
तिविहेहिं[3] परिग्गहिए, इमा उ जयणा तहिं होइ ॥ १०६८ ॥

एवम् 'एषा' अनन्तरोक्ता यतना अपरिगृहीतेषु क्षेत्रेषु कर्त्तव्या भवति । 'त्रिविधैः' संयत-संयती-तदुभयैः परिगृहीते "इमा" वक्ष्यमाणा यतना तत्र क्षेत्रे भवति ॥ १०६८ ॥

इदमेव स्फुटतरमाह—

पुव्वोगहिए खेत्ते, तिविहेण गणेण जइ गणो तिविहो ।
एज्जाहि तयं खेत्तं, ओमे जयणा तहिं का णू ॥ १०६९ ॥

'त्रिविधेन' संयत-संयती-तदुभयरूपेण गणेन त्रिविधस्य वाऽन्यतरेण पूर्वमवगृहीते क्षेत्रे यदि त्रिविध एव गणो अवमकाले असंस्तरन् तकं क्षेत्रम् 'एयात्' आगच्छेत्, ततस्तेषामागतानां वास्तव्ये वास्तव्यानां वा अवग्रहे दातव्ये का 'नुः' इति वितर्के यतना ? ॥१०६९॥ अत आह—

आयरिय-वसभ-अभिसेग-भिक्खुणो पेल्ल लंभे न य देंति ।
गुरुगा दोहि विसिट्ठा, चउगुरुगाइ व्व जा लहुगो ॥ १०७० ॥

यत् संयतपरिगृहीतं क्षेत्रं तदेषामन्यतरेण परिगृहीतं भवेत् । तद्यथा—आचार्येण वा वृषभेण वा अभिषेकेण वा भिक्षुणा वा । ये आगन्तुकास्तेऽप्येवमेव चत्वारो द्रष्टव्याः । संयत्योऽपि वास्तव्याः आगन्तुकाश्चैवमेव चतुर्विधाः । नवरमाचार्यस्थाने प्रवर्त्तिनी वृषभस्थाने गणावच्छेदिनी वक्तव्या । अत्र चाऽऽचार्यः प्रसिद्धः । उपाध्यायो वृषभानुग इति कृत्वा वृषभ उच्यते । यः

---

1 तासिं न छुभंति पडि° भा० । एतत्पाठानुसारेणैव भा० पुस्तके वृत्तिर्वर्त्तते । दृश्यतां टिप्पणी २ ॥
2 तद्यथा "मा णूमए" त्ति "छदेर्णेर्णुम-णूम०" (सिद्ध० ८-४-२१) इति प्राकृतलक्षणाद् मा च्छादयेयुः, तत एतेन कारणेन भिक्षाग्रहणकाले 'तासां' तरुणीनां प्रतिग्रहेषु 'सकलम्' अभिन्नमविधिभिन्नं वा न क्षिपन्ति न वा तासां भोजनकाले दीयते भा० पुस्तके ॥
3 °हेसु परि° ता० ॥

पुनरित्वराभिषेकेणाऽऽचार्यपदेऽभिषिक्तः स इहाभिषेकः, अथवा गणावच्छेदक इहाभिषेकः। शेषाः सामान्यसाधवो भिक्षवः। एतेषां चेयं चारणिका—आचार्यपरिगृहीते क्षेत्रे यदन्य आचार्य आगतो यदि च स वास्तव्य आचार्यः क्षेत्रे पूर्यमाणे भक्त-पाने वा लभ्यमाने आगन्तुकस्य स्थातुं न ददाति तदा चत्वारो गुरवः, अथ न पूर्यते क्षेत्रं स चागन्तुको बलात् प्रेर्य तिष्ठति तस्यापि चतुर्गुरुकाः, एतच्च प्रायश्चित्तं तपसा कालेन च द्वाभ्यामपि गुरुकम्; स एव वास्तव्यक आचार्यो 5 वृषभस्यागन्तुकस्य न ददाति वृषभो वा बलात् तिष्ठति उभयोरपि चत्वारो गुरुकाः तपसा गुरवः कालेन लघवः; स एव वास्तव्य आचार्योऽभिषेकस्यागतस्य स्थानं न ददाति स वा अभिषेको वास्तव्यमाचार्यमवगणय्य तिष्ठति उभयत्रापि चतुर्गुरु तपसा लघु कालेन गुरुकम्; स एव वास्तव्य आचार्य आगन्तुकस्य भिक्षोरवस्थातुं न प्रयच्छति स वा भिक्षुर्वास्तव्यमाचार्यं बलादवज्ञाय तिष्ठति द्वयोरपि च चत्वारो गुरवस्तपसा कालेन च लघवः। एवमाचार्ये पूर्वस्थिते भणितम्। एवं वृषभा- 10 ऽभिषेक-भिक्षुभिरपि पूर्वस्थितैः प्रत्येकं चत्वारो गमाः कर्त्तव्याः, प्रायश्चित्तमप्येवमेव तपः-कालविशेषितम्। एवमेते सर्वसङ्ख्यया षोडश गमाः। अथवैतेष्वेव षोडशसु गमेषु प्रायश्चित्तप्ररूपणायामयमादेशः—"चउगुरुगादि व जा लहुगो" त्ति अस्य भावना—आचार्य आचार्यस्यागतस्य स्थातुं न ददाति आगन्तुको वा प्रेरयति द्वयोरपि चत्वारो गुरवः उभयगुरुकाः। आचार्यो वृषभस्य न प्रयच्छति वृषभो वा बलात् तिष्ठति चतुर्लघवः तपसा गुरुकाः। आचार्य एवाभिषेकस्य 15 न ददाति अभिषेको वा बलात् प्रेरयति मासगुरु कालेन गुरु। आचार्यः सामान्यभिक्षोरायातस्य स्थातुं नानुजानीते आगन्तुको वा भिक्षुर्बलादेवावतिष्ठते मासलघु उभयलघुकम्। एवं शेषेष्वपि द्वादशसु गमेषु चतुर्गुरुकादिकं लघुमासान्तं तपः-कालविशेषितमेवमेव प्रायश्चित्तम्॥ १०७०॥ तदेवं संयतानां संयतैः सह चारणिकया षोडश विकल्पा उक्ताः। अथ शेषविकल्पप्रदर्शनायाह—

एमेव य भयणा वी, सोलसिया एक्कमेक्क पक्खम्मि। 20
उभयम्मि वि नायव्वा, पेल्लमदेंते व जं पावे॥ १०७१॥

एवमेवैकैकस्मिन् पक्षे षोडशिका 'भजना' भङ्गरचना कर्त्तव्या। यस्तदुभयरूपो गणो न भवति किन्तु केवल एव संयतपक्षः संयतीपक्षो वा स एकैकपक्षोऽभिधीयते। तत्र संयतानां संयतैः सह प्रथमा षोडशभङ्गी, सा च सप्रपञ्चं भाविता। अथ संयतीभिः परिगृहीते क्षेत्रे अपराः संयत्यः समागच्छन्ति तत्रापि प्रवर्त्तिनी-गणावच्छेदिन्यभिषेका-भिक्षुणीभिः पूर्वस्थिताभिः सह प्रत्येकमा- 25 गन्तुकप्रवर्त्तिनी-गणावच्छेदिन्यभिषेका-भिक्षुणीरूपाणां चतुर्णां पदानां चारणिकां कुर्वाणैरेवमेव षोडश भङ्गा रचयितव्याः, प्रायश्चित्तं चादेशद्वयेनापि तपः-कालविशेषितं तथैव वक्तव्यम्। एषा द्वितीया षोडशभङ्गी। एवं संयतानां चतुर्विधानां पूर्वस्थितानां संयतीभिः चतुर्विधाभिरागच्छन्तीभिरेवमेव तृतीया षोडशभङ्गी। संयतीनां चतुर्विधानां पूर्वस्थितानां संयतैश्चतुर्विधैरेवागच्छद्भिरेवमेव तुरीया षोडशभङ्गी। सर्वसङ्ख्यया जाता भङ्गानां चतुःषष्टिः। एते च केवलसंयत- 30 संयतीपक्षचारणिकया लब्धाः। अथोभयपक्षमधिकृत्याह—"उभयम्मि वि नायव" त्ति उभयशब्देनोभयगणाधिपतिः परिगृह्यते, तत्राप्येवमेव भङ्गरचना ज्ञातव्या। तथाहि—चतुर्विधोभयगणाधिपतिभिः परिगृहीते क्षेत्रे चतुर्विधैरेवागन्तुकसंयतैरागच्छद्भिः पूर्वोक्तनीत्यैव षोडश भङ्गाः,

तथा तैरेव परिगृहीते प्रवर्त्तिन्यादिभेदात् चतुर्विधाः संयत्यो यथागच्छेयुस्तदाऽपि षोडश भङ्गाः, चतुर्विधेषु तदुभयगणाधिपतिषु पूर्वस्थितेषु चतुर्विधानामेवोभयगणाधिपतीनामागमनेऽप्येवमपि षोडश भङ्गाः, चतुर्विधसंयतेषु पूर्वस्थितेषु चतुर्विधा उभयगणाधिपतय आगच्छेयुः अत्रापि षोडश भङ्गाः, एवं चतुर्विधसंयतीषु चतुर्विधानामेवोभयगणाधिपतीनामागमने षोडश भङ्गाः । एवमेताः 5 पञ्च षोडशभङ्ग्यः सञ्जाताः, पञ्चभिश्च षोडशभङ्गीभिर्लब्धा भङ्गानामशीतिः । एषा चोभयगणविषया भङ्गकानामशीतिः पूर्वोक्तयैकैकपक्षविषयया भङ्गकचतुःषष्ट्या सह मील्यते जातं चतुश्चत्वारिंशं शतं भङ्गानाम् । प्रायश्चित्तं च सर्वत्र प्राग्वद् द्रष्टव्यम् । "पेल्लमद्दिंते य जं पावे" त्ति एतत् पदं सर्वभङ्गानुपाति प्रतिपत्तव्यम् । अपूर्यमाणे क्षेत्रे आगन्तुका यदि बलात् प्रेर्य तिष्ठन्ति ततो वास्तव्या निर्गच्छन्तो अवमौदर्यसमुत्थामात्म-संयमविराधनां यत् प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्त10 मागन्तुकानाम् । अथ वास्तव्याः पूर्यमाणे क्षेत्रे आगन्तुकानां स्थातुं न ददति ततो यद् आगन्तुका बहिःपर्यटन्तो भक्तादिकमलभमाना विराधनां प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नं वास्तव्यानामापद्यते ॥१०७१॥

आह यद्येवंकुर्वतामेतावत् प्रायश्चित्तकदम्बकमुपढौकते तर्हि साम्प्रतं स्वपक्षस्य दूरं दूरेणैव स्थातुं युक्तम्, अत्रोच्यते—

चउवग्गो वि हु अच्छउ, असंथराऽऽगंतुगा य वचंतु ।
15 **वत्थव्वा व असंथरे, मोत्तु गिलाणस्स संघाडं ॥ १०७२ ॥**

'चतुर्वर्गः' नाम वास्तव्याः संयताः संयत्यश्च आगन्तुकाः संयताः संयत्यश्च । एते चत्वारोऽपि वर्गा एकस्मिन् क्षेत्रे यदि संस्तरति तर्हि तिष्ठन्तु न कोऽपि परस्परं मत्सरः कर्त्तव्यः । यदि संस्तरणं न भवति तत आगन्तुका व्रजन्तु । अथागन्तुकभद्रकं तत् क्षेत्रमागन्तुका वा अदेशिका अखेदज्ञा वा ततो वास्तव्या आत्मनस्तेषां वा असंस्तरणे निर्गच्छन्ति । एवमागन्तुका वास्तव्या 20 वा ये निर्गच्छन्ति तेषां यदि कश्चिद् ग्लानो भवेत् ततो ग्लानः ससङ्घाटकस्तिष्ठति, तं मुक्त्वा शेषाः सर्वेऽपि गच्छन्ति ॥ १०७२ ॥

एमेव संजईणं, वुड्ढी-तरुणीण जुंगितकमाई ।
पायादिविगल तरुणी, य अच्छए वुड्ढिओ पेसे ॥ १०७३ ॥

'एवमेव' संयतवत् संयतीनां निर्गमनविधिरभिधातव्यः, परमत्र द्विकभेदः कर्त्तव्यः । कथम् ? 25 इत्याह—वृद्धानां तरुणीनां च मध्ये यदि निष्प्रत्यपायं ततस्तरुण्यो गच्छन्ति वृद्धा आसते । तथा जुङ्गितानामजुङ्गितानां च जुङ्गितास्तिष्ठन्ति अजुङ्गिता व्रजन्ति । जुङ्गिता द्विविधाः—जातिजुङ्गिताः शरीरजुङ्गिताश्च । तत्र जातिजुङ्गिता गच्छन्ति शरीरजुङ्गिताः पादादिविकलास्तत्रैवाऽऽसते । तरुण्योऽपि यदि सप्रत्यपायं मार्गादौ ततस्तत्रैवाऽऽसते वृद्धास्तु प्रेषयेत् ॥ १०७३ ॥

एवं तेसि ठियाणं, पत्तेगं वा वि अहव मिस्साणं ।
30 **ओमम्मि असंथरणे, इमा उ जयणा जहिं पगयं ॥ १०७४ ॥**

'एवम्' अनन्तरोक्तप्रकारेण 'तेषाम्' आचार्यादीनां तत्र क्षेत्रे 'प्रत्येकं वा' एकतरवर्गरूपेण

---

१ °का अपि सं° मो० ॥

'मिश्राणां वा' द्विवर्ग-त्रिवर्ग-चतुर्वर्गरूपतया स्थितानां अवमकाले असंस्तरणे इयं यतना यस्यामिदं प्रलम्बसूत्रं प्रकृतम् ॥ १०७४ ॥ तामेवाह—

ओयण-मीसे-निम्मीसुवक्खडे पक्क-आम-पत्तेगे ।
साधारण सग्गामे, परगामे भावओ वि भए ॥ १०७५ ॥

ओदनं १ मिश्रोपस्कृतं २ निर्मिश्रोपस्कृतं ३ पक्कं ४ आमं ५ प्रत्येकं ६ साधारणं ७, एतानि सप्तापि यथाक्रमं प्रथमं स्वग्रामे ततः परग्रामे ग्रहीतव्यानि । भावतोऽपि यान्यभिन्नानि तान्यपि यतनापरिपाटिप्राप्तानि 'भजेत्' सेवेत गृह्णीयादित्यर्थ इति द्वारगाथासमासार्थः ॥ १०७५ ॥

अथ प्रतिद्वारं विस्तरार्थमभिधित्सुरोदनद्वारमाह—

बत्तीसाई जा एक्क घास खवणं व न वि य से हाणी ।
आवासएसु अच्छउ, जा छम्मासे न य पलंबे ॥ १०७६ ॥

ओदनस्य द्वात्रिंशत् कवलाः पुरुषस्य प्रमाणप्राप्त आहारः । यदि ते एकेन कवलेन न्यूनाः प्राप्यन्ते ततस्तैरेव तिष्ठतु, यदि 'से' तस्य साधोः 'आवश्यकेषु' अवश्यकृत्ययोगेषु हानिः 'नापि' नैव भवति न च प्रलम्बानि गृह्णातु । एवं द्वाभ्यां कवलाभ्यां न्यूना द्वात्रिंशत् कवला लभ्यन्ते तैस्तिष्ठतु यदि तस्यावश्यकयोगा न परिहीयन्ते[1] । एवमेकैकं कवलं परिहापयता तावद् वक्तव्यं यावद् यद्येकः 'ग्रासः' कवलः प्राप्यते ततस्तेनैवास्ताम्, यदि तस्यावश्यकयोगा न परिहीयन्ते मा च प्रलम्बानि गृह्णातु । अथैकोऽपि कवलो न प्राप्यते तत एकं दिवसं 'क्षपणम्' उपवासं कृत्वा आस्ताम्, द्वितीये दिवसे द्वात्रिंशत्कवलैः पारयतु । यदि तावन्तो न लभ्यन्ते तत एकैककवलपरिहाण्या तावद् वक्तव्यं यावद् यद्येकोऽपि कवलो न लब्धस्ततः षष्ठं कृत्वा समाधिसौधमध्यास्ताम्, षष्ठस्य च पारणके प्रमाणप्राप्तमाहारमुपाददताम् । अथ न लभ्यते ततः पूर्वोक्तयुक्त्या यावदेकोऽपि कवलो न लभ्यते ततोऽष्टमं कृत्वा तिष्ठतु मा च प्रलम्बान्याददीत । एवमनयैव दिशा दशमादिकमुत्तरोत्तरक्षपणं वर्द्धयता तावद् नेतव्यं यावत् षण्मासक्षपणम् । अथ षण्मासक्षपणे धर्मावश्यकयोगाः परिहीयन्ते तत एकदिनन्यूनं षण्मासक्षपणं करोतु । तदपि न शक्नोति निर्वोढुं तत एकैकं क्षपणं परिहापयता तावद् वक्तव्यं यावदेकमपि क्षपणं कर्त्तुं न शक्नोति ॥ १०७६ ॥

ततः किं करोति ? इत्याह—

जावइयं वा लब्भइ, सग्गामे सुद्ध सेस परगामे ।
मीसं च उवक्खडियं, सुद्धज्झवपूरगं गेण्हे ॥ १०७७ ॥

वाशब्दः पातनायाम्, सा च कृतैवेति । यावत् शुद्धोदनं स्वग्रामे लभ्यते यदि तावता न संस्तरति ततो यावता न्यूनं तावत् परग्रामात् 'शेषं' शुद्धोदनमानयति । गतमोदनद्वारम् । अथ मिश्रोपस्कृतद्वारमाह—"मीसं च" इत्यादि । यदा स्वग्राम-परग्रामयोः पर्याप्तं शुद्धोदनं न प्राप्यते तदा यद् ओदनं प्रलम्बैर्मिश्रमुपस्कृतं तत् शुद्धोदनस्याध्यवपूरकं गृह्णाति ॥ १०७७ ॥

इदमेव विशेषयन्नाह—

तत्थ वि पढमं जं मीसुवक्खडं दव्व-भावतो भिन्नं ।

---

१ °यन्ते, न च प्रलम्बानि गृह्णीताम् । एव° भा० ॥　२ °को लम्बनः कवलः भा० ॥

दव्वाभिन्नविमिस्सं, तस्सऽसति उवक्खडं ताहे ॥ १०७८ ॥

'तत्रापि' मिश्रोपस्कृते गृह्यमाणे प्रथमं यद् द्रव्यतो भावतश्च भिन्नैः प्रलम्बैर्मिश्रमुपस्कृतं तद् स्वग्राम-परग्रामयोर्गृह्णाति। तस्यापि 'असति' अलाभे यद् ओदनं द्रव्यतोऽभिन्नैर्भावतो भिन्नैः प्रलम्बैर्विमिश्रमुपस्कृतं तत् तदा शुद्धोदनस्याध्यवपूरकं प्रथमं स्वग्रामे ततः परग्रामे गृह्णाति ॥१०७८॥

5 गतं मिश्रोपस्कृतम्। अथ निर्मिश्रोपस्कृतमाह—

पणगाइ मासपत्तो, ताहे निम्मीसुवक्खडं भिन्नं।
निम्मीस उवक्खडियं, गिण्हति ताहे ततियभंगे ॥ १०७९ ॥

येषु सूक्ष्मप्राभृतिकादिदोषेषु पञ्चकप्रायश्चित्तं तेषु आदिशब्दाद् दशरात्रिन्दिवादिस्थानेषु च यतित्वा यदा भिन्नमासमतिक्रान्तो लघुमासं च प्राप्तो भवति तदा यद् द्रव्यतो भावतश्च भिन्नं 10 निर्मिश्रं प्रलम्बजातमुपस्कृतं तत् शुद्धोदनस्य मिश्रोपस्कृतस्य चाध्यवपूरकं स्वग्राम-परग्रामयोर्गृह्णाति। यदा चरमभङ्गे न लभ्यते तदा निर्मिश्रोपस्कृतमेव तृतीयभङ्गे द्रव्यतोऽभिन्नं गृह्णाति ॥१०७९॥

गतं निर्मिश्रोपस्कृतम्। अथ पक्कामं च व्याख्यानयति—

एमेव पउलियाऽपउलिए य चरिम-तइया भवे भंगा।
ओसहि-फलमाईसुं, जं चाऽऽइन्नं तगं नेयं ॥ १०८० ॥

15 एवमेव पक्का-ऽपक्कयोश्चरम-तृतीयौ भङ्गौ भवतः। पक्कं नाम यद् अग्निना संस्कृतम्, यथा इङ्गुदीबीज-बिल्वादि। अपक्कं यद् अग्निनाऽन्येन वा इन्धन-धूमादिना प्रकारेण न पक्कं परं निर्जीवावस्थम्, यथा परिपक्वकदलीफल-त्रपुषादि। तत्र निर्मिश्रोपस्कृतस्यालाभे प्रथमं पक्कं चतुर्थभङ्गे ततस्तृतीयभङ्गे, ततोऽपक्कमपि चतुर्थ-तृतीयभङ्गयोः। एवमेव अध्यवपूरकं गृह्णाति। अत्र चौषधिफलादिषु यच्च पूर्वसाधुभिरवमादिकारणं विनाऽप्याचीर्णं तद् 'नेयं' नयनीयं ग्रहीतव्यमित्यर्थः, 20 यद्वा तद् 'ज्ञेयं' ज्ञातव्यम्। तत्रौषधयो धान्यानि, तेष्वाचीर्णं यथा चणका माषा वा, फलेषु आचीर्णं यथा त्रिफलादि, आदिशब्दाद् मूल-कन्दादिष्वपि यथायोगमाचीर्णा-ऽनाचीर्णव्यवस्थाऽनुसर्तव्या ॥ १०८० ॥ अत्रौषधिषु यद् आचीर्णं तद् व्याचष्टे—

सगला-ऽसगलाइन्ने, मीसोवक्खडिय नत्थि हाणी उ।
जइउं अमिस्सगहणं, चरिमदुए जं[2] अणाइन्नं ॥ १०८१ ॥

25 चणक-माषादिषु पूर्वाचार्यैराचीर्णेषु सकलेष्वसकलेषु वा मिश्रेषु निर्मिश्रेषु वा उपस्कृतेषु नास्ति पञ्चकपरिहाणिः। यच्च पूर्वाचार्यैरनाचीर्णं तत्र पञ्चकपरिहाण्या यतित्वा लघुमासं प्राप्तः 'चरमद्वये' चतुर्थ-तृतीयभङ्गयोरमिश्रस्य निर्मिश्रोपस्कृतस्य ग्रहणं कार्यं नार्वागिति ॥ १०८१ ॥

आह यद् निर्जीवं तत् कथमनाचीर्णम्? उच्यते—

जइ ताव पिहुगमाई, सत्थोवहया वि होंतऽणाइण्णा।
30 **किं पुण असत्थुवहया, पेसी पव्वायसरडू य ॥ १०८२ ॥**

इह ये व्रीहयः परिपक्काः सन्तो भ्राष्ट्रादौ भृज्यन्ते, ततः स्फटिता[3] अपनीतत्वचः पृथुका

---

१ अभावे यद् मो० ले० ॥ २ जं न आइन्नं ता० ॥ ३ स्फुटिताः त० डे० कां० ॥

इत्युच्यन्ते, आदिग्रहणेनान्यदपि यदेवं निष्पद्यते तत्परिग्रहः । यदि तावत् पृथुकादयोऽग्निशस्त्रोपहता अप्यनाचीर्णा भवन्ति किं पुनरशस्त्रोपहताः 'पेश्यः' प्रलम्बानामूर्द्धायताः फाल्यः ? तथा प्रम्लानानि–म्लानवृन्तानि यानि 'सरडूनि' अबद्धास्थिकफलानि १, तान्यशस्त्रोपहतानि कथमाचीर्णानि भविष्यन्तीत्यर्थः । एतत् सर्वमपि परीत्तविषयमुक्तम् ॥ १०८२ ॥

गतं परीत्तद्वारम् । अथ साधारणद्वारमाह—　　5

साधारणे वि एवं, मीसा-ऽमीसे वि होंति भंगाओ ।
पणगादी गुरुपत्तो, सव्वविसोहीय जय ताहे ॥ १०८३ ॥

साधारणम्–अनन्तं तत्रापि 'एवं' प्रत्येकवद् मिश्रोपस्कृते निर्मिश्रोपस्कृते च चतुर्थ-तृतीयौ भङ्गौ भवतः । नवरं यदा तृतीयभङ्गे प्रत्येकप्रलम्बं निर्मिश्रोपस्कृतं न लभ्यते तदा मासलघुकादुपरि यत्रोद्गमादौ लघुपञ्चरात्रिन्दिवान्यभ्यधिकान्यापद्यन्ते तत् स्वग्रामे वा परग्रामे वा गृह्णाति । 10 एवं यदा पञ्चकादिहान्या गुरुमासं प्राप्तो भवति तदा साधारणं निर्मिश्रोपस्कृतं प्रथमं चतुर्थभङ्गे तदलाभे तृतीयभङ्गे स्वग्राम-परग्रामयोर्गृह्णाति । यदा तृतीयभङ्गेनापि न प्राप्यते तदा सर्वेषु विशोधिकोटिदोषेषु 'यतस्व' प्रयत्नं कुरु । तत्राऽऽधाकर्म-कर्मौद्देशिकत्रिक-आहारपूतिकर्म-मिश्रजातान्त्यद्विक-बादरप्राभृतिका-अध्यवपूरकचरमद्विकरूपान् अविशोधिकोटिदोषान् मुक्त्वा शेषाः सर्वेऽप्यौघोद्देशिकादय उद्गमदोषा विशोधिकोटयः । तेष्वपि गुरु-लाघवालोचनतो यद् यद् 15 अल्पदोषतरं तत् तत् पूर्वं पूर्वं प्रतिसेवमानस्तावद् यतते यावत् चतुर्लघुस्थानानि ॥ १०८३ ॥

तेष्वपि यदा न लभ्यते तदा चतुर्लघुकादुपरि पञ्चकपरिहाण्या यतित्वा यदा चतुर्गुरुप्राप्तो भवति तदा किमाधाकर्म गृह्णातु ? उत प्रथमद्वितीयभङ्गौ ? इति, अत्रोच्यते—

कम्मे आदेसदुगं, मूलुत्तरे ताहे बि कलि पत्तेगे ।
दावर कली अणंते, ताहे जयणाएँ जुत्तस्स ॥ १०८४ ॥　　20

अत्राधाकर्मणि प्राप्ते आदेशद्विकं वक्तव्यम् । तद्यथा—आधाकर्मणि चत्वारो गुरवः, प्रत्येकप्रथमद्वितीययोर्भङ्गयोश्चत्वारो लघवः । एवं च प्रायश्चित्तानुलोम्येनाधाकर्म गुरुकम्, व्रतानुलोम्येन तु प्रथमद्वितीयभङ्गौ गुरुकौ, तयोः प्रतिसेव्यमानयोः प्राणातिपातव्रतस्य लोपसद्भावादिति । अथवा आधाकर्म उत्तरगुणोपघातित्वाद् लघुतरम्, प्रथम-द्वितीयभङ्गौ मूलगुणोपघातित्वाद् गुरुतरौ । एवमादेशद्वये कृतेऽप्याधाकर्मैव प्रथमतो ग्रहीतव्यं न प्रथम-द्वितीयभङ्गौ । कुतः ? इति चेद् 25 उच्यते—आधाकर्मणि जीवाः परेण व्यपरोपिता इति तत्र गृह्यमाणे न तादृशी निःशूकतोपजायते यादृशी प्रथम-द्वितीययोर्भङ्गयोरध्यक्षवीक्ष्यमाणानां जीवानामात्मनैव मुखे प्रक्षिप्य भक्ष्यमाणानां व्यपरोपणे भवति, अत आधाकर्मैव प्रथमतो ग्राह्यं न प्रथम-द्वितीयभङ्गाविति स्थितम् । "ताहे बि कलि पत्तेगि" त्ति यदा आधाकर्मापि न लभ्यते तदा प्रत्येकद्वितीयभङ्गे ग्रहीतव्यम्, तदभावे 'कलिः' प्रथमो भङ्गः तत्रापि ग्राह्यम् । "दावर कली अणंते" त्ति यदा प्रत्येकस्यापि प्रथमो 30 भङ्गो न प्राप्यते तदा 'द्वापरः' इति समयपरिभाषया द्वितीयः, 'कलिः' इति तु प्रथम उच्यते ।

---

१ तद्य गोधूम-धानादेः परि° भा० ॥　२ बावर° ता० ॥

ततश्च प्रथममनन्तकायिके द्वितीयेन भङ्गेन, तदभावे प्रथमेनापि ग्रहीतव्यम् । यदा अनन्तस्यापि प्रथमो भङ्गो न प्राप्यते तदा यतनया युक्तस्य यत्र यत्राल्पतरः कर्मबन्धो भवति तत् तद् गृह्णानस्याशठपरिणामस्य संयम एव भवतीति वाक्यशेषः ॥ १०८४ ॥

एवं तावत् संयतानधिकृत्य यतनोक्ता । अथ संयतीरुद्दिश्याह—

5 **एमेव संजईण वि, विहि अविही नवरि तत्थ नाणत्तं ।**
सव्वत्थ वि सग्गामे, परगामे भावओ वि भए ॥ १०८५ ॥

यथा संयतानां स्वग्राम-परग्रामादिविभाषापुरस्सरं भिन्ना-ऽभिन्नयोर्यतना भणिता एवमेव संयतीनामपि वक्तव्या । नवरं तासां 'नानात्वं' विशेषो विधिभिन्नानि अविधिभिन्नानि च भवन्ति । विधिभिन्नानि मुख्यपदे सर्वत्रापि गृह्यन्ते स्वग्राम-परग्रामयोश्च । प्रथमं षष्ठो भङ्गः, तदभावे 10 पञ्चमः, तस्याप्यलाभे चतुर्थः, तस्याप्यप्राप्तौ भावतोऽप्यभिन्नानि तृतीय-द्वितीय-प्रथमभङ्गवर्तीनि यथाक्रमं 'भजेत्' प्रतिसेवेत, न कश्चिद्दोषः ॥ १०८५ ॥

॥ इति कल्पटीकायां प्रलम्बप्रकृतं समाप्तम् ॥

दुर्गस्थानबहुत्वभीरुकतया[1] मन्दाऽपि दातुं पदा-
न्येतच्चूर्णि-निशीथचूर्णि[2]सुवचःश्रेणीसुयष्ट्या[3] भृशम् ।
15 प्रेर्यं प्रेर्यं पदे पदे निजर्गवी[4] क्षिप्रप्रचारं मया
कल्पे यत् प्रकृतं प्रलम्बविषयं तद्गोचरे चारिता ॥

---

१ जन्मापूर्वभुवोऽवलोकनवशान्मन्दाऽपि भा० ॥ २ °चूर्णियुगलीयष्टिद्वयीदर्शनात् त० डे० कां० ॥ ३ °ष्ट्या स्फुटम् भा० ॥ ४ °गवी मुग्धाऽपि सम्यग् मया भा० ॥

[मासकल्पप्रकृतम्]

सूत्रम्—

से गामंसि वा नगरंसि वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा आगरंसि वा दोणमुहंसि वा निगमंसि वा रायहाणिंसि वा आसमंसि वा[1] निवेसंसि वा संबाहंसि वा घोसंसि वा अंसियंसि वा पुडभेयणंसि वा [2]◁ संकरंसि वा ▷ सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथाणं हेमंत-गिम्हासु एगं मासं वत्थए १–६ ॥ 5

एवमग्रेतनमपि सूत्रत्रयमुच्चारणीयम्[3] । अथास्य सूत्रचतुष्टयस्य कः सम्बन्ध इत्याह— 10

वुत्तो खलु आहारो, इयाणि वसहीविहिं तु वन्नेइ ।
सो वा कत्थुवभुज्जइ, आहारो एस संबंधो ॥ १०८६ ॥

उक्तः खल्वनन्तरसूत्रे आहारः । 'इदानीं तु' अस्मिन् सूत्रे वसतेर्विधिं भगवान् **भद्रबाहुस्वामी** वर्णयति । यद्वा स आहारो गृहीतः सन् क्व ग्रामादौ उपभुज्यते ? इति निरूपणार्थमिदमारभ्यते एष द्वितीयप्रकारेण सम्बन्धः ॥ १०८६ ॥ भूयोऽपि सम्बन्धमाह— 15

तेसु सपरिग्गहेसुं, खेत्तेसुं साहुविरहिएसुं वा ।
किच्चिरकालं कप्पइ, वसिउं अहवा विकप्पो उ ॥ १०८७ ॥

तेषु क्षेत्रेषु 'सपरिग्रहेषु' साधुपरिगृहीतेषु साधुविरहितेषु वा कियन्तं कालं निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा वस्तुं कल्पते ? इत्यस्मिन् सूत्रे चिन्त्यते, अयं सम्बन्धस्यापरो विकल्प इति ॥१०८७॥

[4]अमीभिः सम्बन्धैरायातस्यास्य व्याख्या—अत्र च संहितादिक्रमेण प्रतिसूत्रं व्याख्याने महद् 20 ग्रन्थगौरवमिति कृत्वा पदार्थादिमात्रमेवाभिधास्यते, संहितादिचर्चस्तु पूर्ववद् वक्तव्य इति । सेशब्दो मागधदेशे प्रसिद्धः अथशब्दार्थे, अथशब्दश्च प्रक्रियादिष्वर्थेषु वर्तते । यत उक्तम्—

"अथ प्रक्रिया-प्रश्ना-ऽऽनन्तर्य-मङ्गलोपन्यास-प्रतिवचन-समुच्चयेषु" इति ।

इहोपन्यासार्थे द्रष्टव्यः, ततश्च यथा साधूनामेकत्र क्षेत्रे वस्तुं कल्पते तथा उपन्यस्यते इत्यर्थः । ग्रामे वा नगरे वा खेटे वा कर्बटे वा मडम्बे वा पत्तने वा आकरे वा द्रोणमुखे वा निगमे वा 25 राजधान्यां वा आश्रमे वा निवेशे वा सम्बाधे वा घोषे वा अंशिकायां वा पुटभेदने वा 'सपरि-

---

१ **वा सन्निवे°** ता० मु० ॥ २ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतोऽयं पाठः आचार्यान्तरमतेन ज्ञेयः । दृश्यतां गाथा १०९३ ॥ ३ **°यम् । तच्च यथास्थानमेवोच्चारयिष्यते । अथा°** डे० ॥ ४ **अनेन सम्बन्धेनायात°** भा० । "एभिः सम्बन्धैरायातस्यास्य सूत्रस्य पदविभागं कृत्वा पदार्थमभिधास्यामः" इति **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च ॥

क्षेपे' वृत्यादिरूपपरिक्षेपयुक्ते 'अबाहिरिके' बहिर्भवा बाहिरिका "अध्यात्मादिभ्य इकण्" (सिद्ध० ६–३–७८) इति इकण्प्रत्ययः, प्राकारबहिर्वर्त्तिनी गृहपद्धतिरित्यर्थः, न विद्यते बाहिरिका यत्र तद् अबाहिरिकं तस्मिन् कल्पते निर्ग्रन्थानां 'हेमन्त-ग्रीष्मेषु' ऋतुबद्धकालसम्बन्धिषु अष्टसु मासेष्वित्यर्थः, एकं मासं 'वस्तुम्' अवस्थातुम्। वाशब्दाः सर्वेऽपि विकल्पार्थाः स्वगतानेकभेद-5 सूचका वा द्रष्टव्या इति सूत्रसमासार्थः ॥

अथ विस्तरार्थं प्रतिपदं भाष्यकृदाह—

आदिपदं निद्देसे, वा उ विभासा समुच्चये वा वि ।
गम्मो गमणिज्जो वा, कराण गसए व बुद्धादी ॥ १०८८ ॥

"से" इत्येतद् आदिपदं 'निर्देशे' उपन्यासे वर्त्तते । वाशब्दो विभाषायां स्वगतानामनेक-10 भेदानां समुच्चयार्थे वा । गम्यो गमनीयो वा अष्टादशानां कराणामिति व्युत्पत्त्या ग्रसते वा बुद्ध्यादीन् गुणानिति व्युत्पत्त्या वा पृषोदरादित्वाद् निरुक्तविधिना ग्राम उच्यते ॥ १०८८ ॥

नत्थेत्थ करो नगरं, खेडं पुण होइ धूलिपागारं ।
कब्बडगं तु कुनगरं, मडंबगं सव्वतो छिन्नं ॥ १०८९ ॥

'नास्ति' न विद्यतेऽत्राष्टादशकराणामेकोऽपि कर इति नकरम्, नखादित्वाद् नञोऽकारा-15 भावः । खेटं पुनर्धूलीप्राकारपरिक्षिप्तम् । कर्बटं तु कुनगरमुच्यते । मडम्बं नाम यत् 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु 'छिन्नम्' अर्द्धतृतीयगव्यूतमर्यादायामविद्यमानग्रामादिकमिति भावः । अन्ये तु व्याचक्षते—यस्य पार्श्वतोऽर्द्धतृतीययोजनान्तर्ग्रामादिकं न प्राप्यते तद् मडम्बम् ॥ १०८९ ॥

जलपट्टणं च थलपट्टणं च इति पट्टणं भवे दुविहं ।
अयमाइ आगरा खलु, दोणमुहं जल-थलपहेणं ॥ १०९० ॥

20 पत्तनं द्विधा—जलपत्तनं च स्थलपत्तनं च । यत्र जलपथेन नावादिवाहनारूढं भाण्डमुपैति तद् जलपत्तनं, यथा **द्वीपम्** । यत्र तु स्थलपथेन शकटादौ स्थापितं भाण्डमायाति तत् स्थलपत्तनम्, यथा **आनन्दपुरम्** । अयः—लोहं तदादय आकरा उच्यन्ते । यत्र पाषाणधातुधमनादिना लोहमुत्पाद्यते स अयआकरः, आदिशब्दात् ताम्र-रूप्याद्याकरपरिग्रहः । यस्य तु जलपथेन स्थलपथेन च द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां भाण्डमागच्छति तद् द्वयोः पथोर्मुखमिति निरुक्त्या द्रोण-25 मुखमुच्यते, तच्च **भृगुकच्छं ताम्रलिप्ती** वा ॥ १०९० ॥

निगमं नेगमवग्गो, वसइ जहिं रायहाणि जहिं राया ।
तावसमाई आसम, निवेसो सत्थाइजत्ता वा ॥ १०९१ ॥

निगमं नाम यत्र नैगमाः—वाणिजकविशेषास्तेषां वर्गः—समूहो वसति, अत एव निगमे भवा नैगमा इति व्यपदिश्यन्ते । यत्र नगरादौ राजा परिवसति सा राजधानी । आश्रमो यः प्रथ-30 मतस्तापसादिभिरावासितः, पश्चादपरोऽपि लोकस्तत्र गत्वा वसति । निवेशो नाम यत्र सार्थ आवासितः, आदिग्रहणेन ग्रामो वा अन्यत्र प्रस्थितः सन् यत्रान्तरावासमधिवसति; यात्रायां वा गतो लोको यत्र तिष्ठति एष सर्वोऽपि निवेश उच्यते ॥ १०९१ ॥

१ "जत्ताए वा जत्थ लोगो गतो, जधा **सरस्सतीए**" इति **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च ॥

संबाहो संवोढुं, वसति जहिँ पव्वयाइविसमेसु ।
घोसो उ गोउलं अंसिया उ गामद्धमाईया ॥ १०९२ ॥

सम्बाधो नाम यत्र कृषीवललोकोऽन्यत्र कर्षणं कृत्वा वणिग्वर्गो वा वाणिज्यं कृत्वाऽन्यत्र पर्वतादिषु विषमेषु स्थानेषु 'संवोढुम्' इति कणादिकं समूह्य कोष्ठागारादौ च प्रक्षिप्य वसति । तथा 'घोषस्तु' गोकुलमभिधीयते । 'अंशिका तु' यत्र ग्रामस्यार्धम् आदिशब्दात् त्रिभागो वा 5 चतुर्भागो वा गत्वा स्थितः सा ग्रामस्यांश एवांशिका ॥ १०९२ ॥

णाणादिसागयाणं, भिज्जंति पुडा उ जत्थ भंडाणं ।
पुडभेयणं तगं संकरो य केसिंचि कायव्वो ॥ १०९३ ॥

नानाप्रकाराभ्यो दिग्भ्य आगतानां 'भाण्डानां' कुङ्कुमादीनां पुटा यत्र विक्रयार्थं भिद्यन्ते तत् पुटभेदनमुच्यते । केषाञ्चिदाचार्याणां मतेन सङ्करश्च कर्त्तव्यः, "**संकरंसि वा**" इत्यधिकं पदं 10 पठितव्यमित्यर्थः । सङ्करो नाम-किञ्चिद् ग्रामोऽपि खेटमपि आश्रमोऽपीत्यादि ॥ १०९३ ॥

एष सूत्रार्थः । अथ **निर्युक्तिविस्तरः** । तत्र ग्रामपदनिक्षेपमाह—

नामं ठवणागामो, दव्वग्गामो य भूतगामो य ।
आउज्जिंदियगामो, पिउ-माउ-भावगामो य ॥ १०९४ ॥

नामग्रामः स्थापनाग्रामो द्रव्यग्रामश्च भूतग्रामश्च आतोद्यग्राम इन्द्रियग्रामः पितृग्रामो मातृग्रामो 15 भावग्रामश्चेति गाथासमुदयार्थः ॥ १०९४ ॥

अथावयवार्थमभिधित्सुर्नाम-स्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यग्रामं व्याचष्टे—

जीवा-ऽजीवसमुदओ, गामो को कं नओ कहं इच्छे ।
आदिणयोऽणेगविहो, तिविकप्पो अंतिमनओ उ ॥ १०९५ ॥

जीवानां—गो-महिषी-मनुष्यादीनाम् अजीवानां च—गृहादीनां यः समुदयः स द्रव्यग्राम 20 उच्यते । इह च सर्वज्ञोपज्ञप्रवचने प्रायः सर्वमपि सूत्रमर्थश्च नयैर्विचार्यते । यत उक्तम्—

नत्थि नएहिँ विहूणं, सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि ।
आसज्ज उ सोयारं, नए नयविसारओ बूया ॥ (आव० नि० गा० ७६१)

अत एषोऽपि द्रव्यग्रामो नयैर्विचार्यते—को नाम नयः कं द्रव्यग्रामं कथमिच्छति ? इति, तत्र नयाः सामान्यतः सप्त नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवम्भूतभेदात् ; इह तु 25 समभिरूढैवम्भूतयोः शब्दप्राधान्याभ्युपगमपरतया शब्दनय एवान्तर्भावो विवक्ष्यते । ततश्च 'आदिनयः' नैगमः सोऽविशुद्ध-विशुद्ध-विशुद्धतरादिभेदाद् अनेकविधः । 'अन्तिमनयस्तु' शब्दः सः ['त्रिविकल्पः'] त्रिविधः शब्द-समभिरूढैवम्भूतभेदात् ॥ १०९५ ॥

---

१ "**केइ** घोसं पढंति, घोसो गोउलं । **अण्णे** अंसितंसि वा पढंति, अंसिया जत्थ गामस्स अद्धं तिभागो चउभागो वा ठितओ । पुडभेदणं पि **केयि** पढंति ॥ तत्थ—णाणादि० गाथा कण्ठ्या ॥ संकरो णाम एतेसि गामादीणं कंचि गामो वि खेडं पि आसमो वि इत्यादि जधासंभवं वक्तव्यम् । सह परिक्खेवेण सपरिक्खेवं । नाऽस्य बाहिरिका विद्यत इत्यबाहिरिकम् ॥ एस सुत्तत्थो, इदाणीं **णिज्जुत्तीए** वित्थारेति । तत्थ गामो— नामं० गाहा ।" इति **चूर्णिकृतः** । **विशेषचूर्णौ** प्राय एतत्तुल्य एव पाठः ॥ २ °**क्करोऽपि क**° भा० ॥ ३ °**माउय-भाव**° ता० ॥

तत्रानेकविधनैगमानामन्योऽन्यनिरपेक्षाणि यानि वक्तव्यानि तानि नामग्राहं सङ्गृह्णन्नाह—

गावो तणाति सीमा, आरामुदपाण चेडरूवाणि ।
वाडी य वाणमंतर, उग्गह तत्तो य आहिपती ॥ १०९६ ॥

गावः १ "तणाइ" त्ति उपलक्षणत्वात् तृणहारकादयः २ सीमा ३ आरामः ४ 'उदपानं' कूपः
5 ५ चेडरूपाणि ६ 'वाटिः' वृतिः ७ 'वानमन्तरं' देवकुलं ८ अवग्रहः ९ ततश्चाधिपतिः १० इति
निर्युक्तिगाथाक्षरार्थः ॥ १०९६ ॥

अथ भावार्थ उच्यते, प्रथमनैगमः प्राह—यावन्तं भूभागं गावश्चरितुं व्रजन्ति तावान् सर्वोऽपि ग्राम इति व्यपदेशं लभते १ ॥ ततो विशुद्धनैगमः प्रतिभणति—

गावो वयंति दूरं, पि जं तु तण-कट्ठहारगादीया ।
10 **सूरुट्ठिए गता एंति अत्थमंते ततो गामो ॥ १०९७ ॥**

परिस्थूरमते ! गावः 'दूरमपि' परग्राममपि चरितुं व्रजन्ति ततः किमेवं सोऽप्येक एव ग्रामो भवतु ?, अपि च एवंब्रुवतो भवतो भूयसामपि परस्परमतिदवीयसां ग्रामाणामेकग्रामतैव प्रसजति, न चैतदुपपन्नम्, तस्माद् नैतावान् ग्रामः किन्तु 'यत्तु' यावन्मात्रं क्षेत्रं तृणहारक-काष्ठहारकादयः सूर्ये उत्थिते तृणाद्यर्थं गताः सन्तः सूर्ये अस्तमयति तृणादिभारकं बद्ध्वा पुनरायान्ति एतावत्
15 क्षेत्रं ग्रामः २ ॥ १०९७ ॥

परसीमं पि वयंति हु, सुद्धतरो भणति जा ससीमा तु ।
उज्जाण अवत्ता वा, उक्कीलंता उ सुद्धयरो ॥ १०९८ ॥

शुद्धतरो नैगमो भणति—यद्यपि गवां गोचरक्षेत्रादासन्नतरं भूभागं तृण-काष्ठहारका व्रजन्ति तथापि ते कदाचित् परसीमानमपि व्रजन्ति तस्माद् नैतावान् ग्राम उपपद्यते, अहं ब्रवीमि—
20 यावत् स्वा—आत्मीया सीमा एतावान् ग्रामः ३ । ततोऽपि विशुद्धतरः प्राह—मैवमतिप्रचुरं क्षेत्रं ग्राम इति वोचः, किन्तु यावत् तस्यैव ग्रामस्य 'उद्यानम्' आरामस्तावद् ग्राम इति भण्यते ४ । विशुद्धतमः प्रतिभणति—एतदपि भूयस्तरं क्षेत्रम्, न ग्रामसंज्ञां लब्धुमर्हति, अहं भणामि— यावद् 'उदपानं' तस्यैव ग्रामस्य सम्बन्धी कूपः तावद् ग्राम इति ५ । ततोऽपि विशुद्धतरो ब्रूते— इदमप्यतिप्रभूतं क्षेत्रम् अतो यावत् क्षेत्रं 'अव्यक्तानि' चेटरूपाणि रममाणानि गच्छन्ति तावद्
25 ग्रामः ६ । ततोऽपि विशुद्धतरः प्रतिवक्ति—एतदप्यतिरिक्ततया न समीचीनमाभाति ततो यावन्तं भूभागमतिलघीयांसो बालकाः 'उत्क्रीडन्तः' रिङ्गन्तः प्रयान्ति तावान् ग्राम इति ७ ॥ १०९८ ॥

एवं विसुद्धनिगमस्स वइपरिक्खेवपरिवुडो गामो ।
ववहारस्स वि एवं, संगहो जहिँ गामसमवाओ ॥ १०९९ ॥

'एवं' विचित्राभिप्रायाणां पूर्वनैगमानां सर्वा अपि प्रतिपत्तीर्व्यपोह्य सर्वविशुद्धनैगमस्य यावान्

---

१ तृणादि २ सीमा ३ भा० ॥ २ इति सङ्ग्रहगाथा° भा० ॥ ३ उदिते मो० ले० ॥ ४ °लंतो उ भा० । भा०पुस्तके एतत्पाठानुसारेणैव टीका वर्त्तते । दृश्यतां टिप्पणी ३ ॥ ५ °म इत्युच्यते ६ । ततो भा० ॥ ६ °लघीयान् बालकः 'उत्क्रीडन्' रिङ्गन् प्रयाति तावान् भा० ॥ ७ एवं तु सुद्ध° ता० ॥

वृतिपरिक्षेपपरिवृतो भूभागस्तावान् ग्राम उच्यते । अथ सङ्ग्रहं व्यतिक्रम्य लाघवार्थमत्रैव व्यवहारमतमतिदिशति—"ववहारस्स वि एवं" ति यथा नैगमस्यानेके प्रतिपत्तिप्रकाराः प्ररूपितास्तथा व्यवहारस्याप्येवमेव प्ररूपणीयाः, तस्य व्यवहाराभ्युपगमपरायणत्वाद् बाल-गोपालादिना च लोकेन सर्वेषामप्यनन्तरोक्तभेदानां यथावसरं ग्रामतया व्यवहरणीयत्वात् । सङ्ग्रहस्तु सामान्यग्राहित्वाद् यत्र ग्रामस्य—ग्रामवास्तव्यलोकस्य समवायः—एकत्र मीलनं भवति तद् वानमन्तरदेव- 5 कुलादिकं ग्राम इति ब्रूते ॥ १०९९ ॥ इदमेव प्रकारान्तरेणाह—

जं वा पढमं काउं, सेसग गामो निविस्सइ स गामो ।
तं देउलं सभा वा, मज्झिम गोट्ठो पवा वा वि ॥ ११०० ॥

यद् वा प्रथमं 'कृत्वा' निवेश्य शेषः सर्वोऽपि ग्रामो निविशते स सङ्ग्रहनयाभिप्रायेण ग्रामः । तच्च देवकुलं वा भवेत् सभा वा ग्राममध्यवर्ती वा गोष्ठः प्रपा वा ॥ ११०० ॥ 10

अथावग्रहपदं विवृण्वन् ऋजुसूत्रनयमतमाह—

उज्जुसुयस्स निओओ, पत्तेयघरं तु होइ एक्केक्कं ।
उट्ठेति वसति व वसेण जस्स सद्दस्स सो गामो ॥ ११०१ ॥

ऋजुसूत्रस्य स्वकीयार्थग्राहकत्वात् परकीयस्य च सतोऽप्यनभ्युपगमाद् यस्य यत् प्रत्येकमात्मीयावग्रहरूपमेकैकं गृहं तद् नियोग इति प्रतिपत्तव्यम् । नियोग इति ग्राम इति चैकोऽर्थः । 15

आह च **विशेषचूर्णिकृत्**—

गामो त्ति वा निओउ त्ति वा एगट्ठं ।

"तत्तो य आहिवई" (गा० १०९६) इति व्याख्यानयन् शब्दनयमतमाह—"उट्ठेति" इत्यादि । 'शब्दस्य' शब्दाख्यनयस्य यस्य कस्यापि वशेन ग्रामः 'उत्तिष्ठते' उद्वसीभवति 'वसति वा' भूयोऽप्यवस्थानं करोति स ग्रामस्याधिपतिर्ग्राम इति शब्दमुद्वोढुमर्हति, ये तु तत्र तदनुवर्तिनः 20 शेषास्तेऽशेषा अप्युपसर्जनीभूतत्वान्न ग्रामसंज्ञां लभन्त इति भावः ॥ ११०१ ॥

चिन्तितं नयमार्गणया ग्रामस्वरूपम् । अथ ग्रामस्यैव नयैः संस्थानचिन्तां चिकीर्षुराह—

तस्सेव उ गामस्सा, को कं संठाणमिच्छति नओ उ ।
तत्थ इमे संठाणा, हवंति खलु मल्लगादीया ॥ ११०२ ॥

तस्यैव ग्रामस्य संस्थानं को नयः किमिच्छति ? इति चिन्त्यते । तत्र तावद् इमानि मल्लका- 25 दीनि ग्रामस्य संस्थानानि भवन्ति ॥ ११०२ ॥ तान्येवाह—

उत्ताणग ओमंथिय, संपुडए खंडमल्लए तिविहे ।
भित्ती पडालि वलभी, अक्खाडग रुयग कासवए ॥ ११०३ ॥

अस्ति ग्राम उत्तानकमल्लकाकारः, अस्ति ग्रामोऽवाङ्मुखमल्लकाकारः, एवं सम्पुटकमल्लकाकारः । खण्डमल्लकमपि त्रिविधं वाच्यम् । तद्यथा—उत्तानकखण्डमल्लकसंस्थितः अवाङ्मुखखण्डमल्ल- 30

---

१ तस्यापि व्यव° भा० ॥ २ °थायोगं ग्राम° भा० ॥ ३ °त्वादिति भावः । सङ्ग्र° भा० ॥ ४ °शते तद् स° भा० ॥ ५ °न मुख्यतो ग्राम° भा० ॥

कसंस्थितः सम्पुटकखण्डमल्लकसंस्थितश्च । तथा भित्तिसंस्थितः पडालिकासंस्थितः वलभीसंस्थितः अक्षपाटकसंस्थितः रुचकसंस्थितः काश्यपसंस्थितश्चेति ॥ ११०३ ॥

अथैषामेव संस्थानानां यथाक्रमं व्याख्यानमाह—

मज्झे गामस्सऽगडो, बुद्धिच्छेदा ततो उ रज्जूओ ।
निक्खम्म मूलपादे, गिण्हंतीओ वइं पत्ता ॥ ११०४ ॥

इह यस्य ग्रामस्य मध्यभागे 'अगडः' कूपस्तस्य बुद्ध्या पूर्वादिषु दिक्षु च्छेदः परिकल्प्यते, ततश्च कूपस्याधस्तनतलाद् बुद्धिच्छेदेन रज्जवो दिक्षु विदिक्षु च निष्काम्य गृहाणां मूलपादान् उपरि कृत्वा गृह्णत्यस्तिर्यक् तावद् विस्तार्यन्ते यावद् ग्रामपर्यन्तवर्तिनीं वृतिं प्राप्ता भवन्ति, तत उपर्यभिमुखीभूय तावद् गता यावद् उच्छ्रयेण हर्म्यतलानां समीभूताः तत्र च पटहच्छेदेनोपरताः, एष ईदृश उत्तानमल्लकसंस्थितो ग्राम उच्यते, ऊर्द्धाभिमुखस्य शरावस्यैवमाकारत्वात् ॥ ११०४ ॥

ओमंथिए वि एवं, देउल रुक्खो व जस्स मज्झम्मि ।
कूवस्सुवरिं रुक्खो, अह संपुडमल्लओ नाम ॥ ११०५ ॥

अवाङ्मुखमल्लकाकारेऽप्येवमेव वाच्यम्, नवरं यस्य ग्रामस्य मध्ये देवकुलं वृक्षो वा उच्चैस्तरस्तस्य देवकुलादेः शिखराद् रज्जवोऽवतार्य तिर्यक् तावद् नीयन्ते यावद् वृतिं प्राप्ताः, ततोऽधोमुखीभूय गृहाणां मूलपादान् गृहीत्वा पटहच्छेदेनोपरताः, एषोऽवाङ्मुखमल्लकसंस्थितः । तथा यस्य ग्रामस्य मध्यभागे कूपः, तस्य चोपर्युच्चतरो वृक्षः, ततः कूपस्याधस्तलाद् रज्जवो निर्गत्य मूलपादानधोऽधस्तावद् गता यावद् वृतिं प्राप्ताः, तत ऊर्द्धाभिमुखीभूय गत्वा हर्म्यतलानां समश्रेणीभूताः, वृक्षशिखरादप्यवतीर्य रज्जवस्तथैव तिर्यग् वृतिं प्राप्नुवन्ति, ततोऽधोमुखीभूय कूपसम्बन्धिनीनां रज्जूनामग्रभागैः समं सङ्घटन्ते, अथैष सम्पुटकमल्लकाकारो नाम ग्रामः ॥ ११०५ ॥

जइ कूवाई पासम्मि होंति तो खंडमल्लओ होइ ।
पुव्वावररुक्खेहिं, समसेढीहिं भवे भित्ती ॥ ११०६ ॥

यदि 'कूपादीनि' कूप-वृक्ष-तदुभयानि 'पार्श्वे' एकस्यां दिशि भवन्ति ततः खण्डमल्लकाकारस्त्रिविधोऽपि ग्रामो यथाक्रमं मन्तव्यः । तत्र यस्य ग्रामस्य बहिरेकस्यां दिशि कूपः तामेवैकां दिशं मुक्त्वा शेषासु सप्तसु दिक्षु रज्जवो निर्गत्य तिर्यग् वृतिं प्राप्योपरि हर्म्यतलान्यासाद्य पटहच्छेदेनोपरमन्ते, एष उत्तानकखण्डमल्लकाकारः । अवाङ्मुखखण्डमल्लकाकारोऽप्येवमेव, नवरं यस्यैकस्यां दिशि देवकुलमुच्चैस्तरो वा वृक्षः । सम्पुटकखण्डमल्लकाकारस्तु यस्यैकस्यां दिशि कूपस्तदुपरिष्टाच्च वृक्षः, शेषं प्राग्वत् । "पुव्वावर" इत्यादि, पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि समश्रेणिव्यवस्थितैर्वृक्षैर्भित्तिसंस्थितो ग्रामो भवेत् ॥ ११०६ ॥

पासट्ठिए पडाली, वलभी चउकोण ईसि दीहा उ ।
चउकोणेसु जइ दुमा, हवंति अक्खाडतो तम्हा ॥ ११०७ ॥

पडालिकासंस्थितोऽप्येवमेव, नवरमेकस्मिन् पार्श्वे वृक्षयुगलं समश्रेण्या व्यवस्थितम् । तथा यस्य ग्रामस्य चतुर्ष्वपि कोणेषु ईषद्दीर्घा वृक्षा व्यवस्थिताः स वलभीसंस्थितः । 'अक्षवाटः' मल्लानां युद्धाभ्यासस्थानम्, तद् यथा समचतुरस्रं भवति एवं यदि ग्रामस्यापि चतुर्षु कोणेषु द्रुमा भवन्ति

ततोऽसौ चतुर्विदिग्वर्त्तिभिर्वृक्षैः समचतुरस्रतया परिच्छिद्यमानत्वादक्षपाटकसंस्थितः ॥ ११०७ ॥

वट्टागारठिएहिं, रुयगो पुण वेढिओ तरुवरेहिं ।
तिकोणो कासवओ, छुरघरगं कासवं बिंती ॥ ११०८ ॥

यद्यपि ग्रामः स्वयं न समस्तथापि यदि रुचकवलयशैलवद् वृत्ताकारव्यवस्थितैर्वृक्षैर्वेष्टितस्तदा रुचकसंस्थितः । यस्तु ग्राम एव त्रिकोणतया निविष्टो वृक्षा वा त्रयो यस्य बहिस्त्र्यस्राः स्थिताः, 5 एकतो द्वावन्यतस्त्वेक इत्यर्थः, एष उभयथाऽपि काश्यपसंस्थितः । काश्यपं पुनर्नापितस्य सम्बन्धि क्षुरगृहं ब्रुवते, तद् यथा त्र्यस्रं भवत्येवमयमपि ग्राम इति ॥ ११०८ ॥

भावितानि सर्वाण्यपि संस्थानानि । अथ को नयः किं संस्थानमिच्छति? इति भाष्यते—

पढमेत्थ पडहछेदं, आ कासव कडग-कोट्टिमं तइओ ।
नाणिं आहिपतिं वा, सद्दनया तिन्नि इच्छंति ॥ ११०९ ॥　　10

प्रथमोऽत्र नैगमनयः, स पटहच्छेदलक्षणं संस्थानं प्रतिपद्यते । सङ्ग्रहोऽप्येवमेव मन्यत इत्यत्रैवान्तर्भाव्यते । व्यवहारस्तु भित्तिसंस्थानादारभ्य आ काश्यपसंस्थानं मन्यते । 'तृतीयः' ऋजुसूत्रः, सः कटकानां—तृणादिमयानां कुट्टिमानां वा—पाषाणादिबद्धभूमिकानां यत् संस्थानं तद् मन्यते । 'त्रयस्तु' शब्दनया ज्ञानिनमधिपतिं वा ग्रामसंस्थानस्वामित्वेनेच्छन्ति ॥ ११०९ ॥

एनामेव निर्युक्तिगाथां व्यक्तीकुर्वन्नाह—　　15

संगहियमसंगहिओ, संगहिओ तिविह मल्लयं नियमा ।
भित्तादी जो कासवो, असंगहो बेति संठाणं ॥ १११० ॥

नैगमो द्विधा—साङ्ग्रहिकोऽसाङ्ग्रहिकश्च । सङ्ग्रहणं सङ्ग्रहः—सामान्यमित्यर्थः, स प्रयोजनमस्येति साङ्ग्रहिकः, सामान्याभ्युपगमपर इत्यर्थः । तद्विपरीतोऽसाङ्ग्रहिकः । तत्र यः साङ्ग्रहिकः स नियमात् 'त्रिविधम्' उत्तानका-ऽवाङ्मुख-सम्पुटकभेदभिन्नं सम्पूर्णं वा खण्डं वा मल्लकं तस्य 20 यत् पटहच्छेदलक्षणं संस्थानं तद् मन्यते । असाङ्ग्रहिकस्तु भित्तिसंस्थानमादौ कृत्वा यावत् काश्यपसंस्थानम् एतानि सर्वाण्यपि 'ब्रूते' प्रतिपद्यत इत्यर्थः । सङ्ग्रह-व्यवहारौ तु साङ्ग्रहिका-ऽसाङ्ग्रहिकयोरेव नैगमयोर्यथासङ्ख्यमन्तर्भावनीयाविति न पृथक् प्रपञ्च्येते इति ॥ १११० ॥

निम्मा घर वइ थूभिय, तइओ दुहणा वि जाव पावंति ।
नाणिस्साहिपइस्स व, जं संठाणं तु सद्दस्स ॥ ११११ ॥　　25

'तृतीयः' सूत्रक्रमप्रामाण्येन ऋजुसूत्रः, सः "निम्म" त्ति मूलपादानां "घर वइ" त्ति गृहाणां वृतेर्वा स्तूपिकानां वा उपलक्षणत्वात् कटकानां कुट्टिमानां वा यत् संस्थानं माले वा भूमिकादार्ढ्यसम्पादनार्थमवकुट्यमाने 'द्रुघणाः' मुद्गरा ऊर्द्धमुत्क्षिप्यमाणा यावद् आकाशतलं प्राप्नुवन्ति तावन्मर्यादीकृत्य यत् संस्थानमेतत् सर्वमपि प्रत्येकं ऋजुसूत्रो मन्यते । तथा 'ज्ञानिनः' ग्रामप-

---

१ एतदेव व्यक्ती° भा० ॥ २ आ कासवो ता० ॥ ३ तदेव मन्यते न भित्त्यादिकं संस्थानम् । असाङ्ग° भा० ॥ ४ प्रपञ्च्येते भा० विना ॥ ५ °व्यते । त्रयः शब्दनयाः 'ज्ञानिनः' ग्रामपदार्थज्ञस्य ग्रामाधिपतेर्वा यत् संस्थानं तदेव प्रतिपद्यन्ते, न शेषम्, अतिविशुद्धतमत्वादेषामिति भा० । "तिन्नि सद्दणया गामत्थाधियारजाणयस्स गामाहिपयस्स वा जं संठाणं तं इच्छति" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च । "जं संठाणं तु सद्दणया" इति पाठानुसारेणेयं व्याख्या, न चासौ पाठोऽस्मत्पार्श्वस्थादर्शेषु क्वचिदुपलभ्यते ॥

दार्थज्ञस्य ग्रामाधिपतेर्वा यत् संस्थानं तदेव शब्दनयस्य ग्रामसंस्थानतयाऽभिप्रेतमिति ॥११११॥

गतं द्रव्यग्रामद्वारम् । अथ भूतादिग्रामभेदान् भावयति—

चउदसविहो पुण भवे, भूतग्गामो तिहा उ आतोज्जो ।
सोतादिंदियगामो, तिविहा पुरिसा पिउग्गामो ॥ १११२ ॥

5 भूताः—प्राणिनस्तेषां ग्रामः—समूहो भूतग्रामः, स चतुर्दशविधः । तथा चाह—

एगिंदिय सुहुमियरा, सन्नियर पणिंदिया य सबि-ति-चऊ ।
पज्जत्ताऽपज्जत्ता, भेएणं चउदस ग्गामा ॥

एकेन्द्रिया द्विविधाः—सूक्ष्मा बादराश्च । सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्त्तिनः सूक्ष्माः । बादरनामकर्मोदयवर्तिनो बादराः । द्वीन्द्रियाः—कृम्यादयः । त्रीन्द्रियाः—कुन्थु-पिपीलिकादयः । चतुरिन्द्रिया
10 भ्रमरादयः । पञ्चेन्द्रिया द्विविधाः—संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च । संज्ञिनः—गर्भजतिर्यङ्-मनुष्या देव-नारकाश्च । असंज्ञिनः सम्मूर्च्छिमास्तिर्यङ्-मनुष्याः । एते च स्वयोग्यपर्याप्तिभिः पर्याप्ता वा स्युरपर्याप्ता वा । पर्याप्तिर्नाम शक्तिः, सा चाहार-शरीरेन्द्रिय-प्राणापान-भाषा-मनःपर्याप्तिभेदात् षोढा । तत्र यया शक्त्या करणभूतया भुक्तमाहारं खल-रसरूपतया करोति सा आहारपर्याप्तिः । यया तु रसीभूतमाहारं धातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः । यया धातुरूपतया परिणमितादाहा-
15 रादिन्द्रियप्रायोग्यद्रव्याण्युपादायैकद्वित्र्यादीन्द्रियरूपतया परिणमय्य स्पर्शादिविषयपरिज्ञानसमर्थो भवति सा इन्द्रियपर्याप्तिः । यया पुनरुच्छ्वास-भाषा-मनःप्रायोग्याणि दलिकान्यादाय यथाक्रममुच्छ्वासरूपतया भाषात्वेन मनस्त्वेन वा परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा क्रमेण प्राणापानपर्याप्तिर्भाषापर्याप्तिर्मनःपर्याप्तिः । एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणां चतस्रः, द्वीन्द्रियादीनां सम्मूर्च्छिमतिर्यङ्-मनुष्यान्तानां पञ्च, संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च षड् भवन्ति । एवं च पूर्वोक्ताः सप्तापि भेदाः
20 पर्याप्तापर्याप्तभेदाद् द्विधा भिद्यमानाश्चतुर्दश भवन्ति । एष चतुर्दशविधो भूतग्रामः ॥

आतोद्यग्रामस्तु त्रिधा—षड्जग्रामो मध्यमग्रामो गन्धारग्रामश्च । एतेषां च स्वरूपम**नुयोगद्वारशास्त्रा**द् अवसेयम् (पत्र १३०-१) । इन्द्रियग्रामः श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां समुदायः, स च पञ्चेन्द्रियाणां सम्पूर्णः, चतुस्त्रिद्व्येकेन्द्रियाणां यथाक्रममेकद्वित्रिचतुःसङ्ख्यैरिन्द्रियैर्न्यून इति । पितृग्रामस्तु त्रिविधाः पुरुषाः । तद्यथा—तिर्यग्योनिकपुरुषा मनुष्यपुरुषा देवपुरुषाश्चेति ॥१११२॥

25 **तिरिया-ऽमर-नरइत्थी, माउग्गामं पि तिविहमिच्छंति ।**
नाणाइतिगं भावे, जओ व तेसिं समुप्पत्ती ॥ १११३ ॥

तिर्यग्योनिकस्त्रियोऽमराः—देवास्तेषां स्त्रियो नराः—मनुष्यास्तेषां च स्त्रिय इति मातृग्राममपि त्रिविधमिच्छन्ति पूर्वसूरयः । आह किमेवं स्त्री-पुरुषाणां मातृ-पितृग्रामसंज्ञा विधीयते ? उच्यते—संज्ञासूत्रोपयोगार्थम् । तथा चाऽऽ**चारप्रकल्पाध्ययने** षष्ठोद्देशके सूत्रम्—

30 "जे भिक्खू माउग्गामं मेहुणवडियाए विण्णवेइ" (सूत्रम् १) इत्यादि । तथा—"जा भिक्खुणी पिउग्गामं विण्णवेइ" इत्यादि ।

भावग्रामस्तु नो आगमतः 'ज्ञानादित्रिकं' ज्ञान-दर्शन-चारित्रसमवायरूपम्; यतो वा 'तेषां' ज्ञानादीनामुत्पत्तिर्भवति ते भावग्रामतया ज्ञातव्याः ॥ १११३ ॥ के पुनस्ते ? उच्यते—

तित्थगरा जिण चउदस, दस भिन्ने संविग्ग तह असंविग्गे ।
सारूविय वय दंसण, पडिमाओ भावगामो उ ॥ १११४ ॥

'तीर्थकराः' अर्हन्तः, 'जिनाः' सामान्यकेवलिनः अवधि-मनःपर्यायजिना वा, चतुर्दशपूर्विणो दशपूर्विणश्च प्रतीताः, "भिन्ने" त्ति असम्पूर्णदशपूर्वधारिणः, 'संविग्नाः' उद्यतविहारिणः, 'असंविग्नाः' तद्विपरीताः, 'सारूपिकाः नाम' श्वेतवाससः क्षुरमुण्डितशिरसो भिक्षाटनोपजीविनः 5 पश्चात्कृतविशेषाः, "वय" त्ति प्रतिपन्नाणुव्रताः श्रावकाः, "दंसण" त्ति दर्शनश्रावकाः–अविरतसम्यग्दृष्टय इत्यर्थः, 'प्रतिमाः' अर्हद्बिम्बानि । एष सर्वोऽपि भावग्रामः, एतेषां दर्शनादिना ज्ञानादिप्रसूतिसद्भावात् । अत्र परः प्राह—ननु युक्तं तीर्थकरादीनां ज्ञानादिरत्नत्रयसम्पत्समन्वितानां भावग्रामत्वम्, ये पुनरसंविग्नादयस्तेषां कथमिव भावग्रामत्वमुपपद्यते? नैष दोषः, तेषामपि यथावस्थितप्ररूपणाकारिणां पार्श्वतो यथोक्तं धर्ममाकर्ण्य सम्यग्दर्शनादिलाभ उदयते, अतस्तेषामपि 10 भावग्रामत्वमुपपद्यत एवेति कृतं प्रसङ्गेन ॥ १११४ ॥ तीर्थकरा इति पदं विशेषतो भावयति—

चरण-करणसंपन्ना, परीसहपरायगा महाभागा ।
तित्थगरा भगवंतो, भावेण उ एस गामविही ॥ १११५ ॥

चरण-करणसम्पन्नाः परीषहपराजेतारो महाभागास्तीर्थकरा भगवन्तो दर्शनमात्रादेव भव्यानां सम्यग्दर्शनादिबोधिबीजप्रसूतिहेतवो भावग्रामतया प्रतिपत्तव्याः । एवं जिनादिष्वपि भावनीयम् । 15 एष सर्वोऽपि भावग्रामविधिर्मन्तव्यः ॥ १११५ ॥ प्रतिमा अधिकृत्य भावनामाह—

जा सम्मभावियाओ, पडिमा इयरा न भावगामो उ ।
भावो जइ नत्थि तहिं, णणु कारण कज्जउवयारो ॥ १११६ ॥

याः 'सम्यग्भाविताः' सम्यग्दृष्टिपरिगृहीताः प्रतिमास्ता भावग्राम उच्यते, न 'इतराः' मिथ्यादृष्टिपरिगृहीताः । आह सम्यग्भाविता अपि प्रतिमास्ताव[द्] ज्ञानादिभावशून्याः, ततो यदि 20 ज्ञानादिरूपो भावस्तत्र नास्ति ततस्ताः कथं भावग्रामो भवितुमर्हन्ति? उच्यते—ता अपि दृष्ट्वा भव्यजीवस्याऽऽर्द्रककुमारादेरिव सम्यग्दर्शनाद्युदीयमानमुपलभ्यते ततो ननु कारणे कार्योपचार इति कृत्वा ता अपि भावग्रामो भण्यन्ते ॥ १११६ ॥ अत्र परः प्राह—

एवं[3] खु भावगामो, णिण्हगमाई वि जह मयं तुब्भं ।
एअमवत्तं को णु हु, अव्विवरीतो वदिज्जाहिं ॥ १११७ ॥ 25

यथा सम्यग्भावितप्रतिमानां कारणे कार्योपचाराद् भावग्रामत्वं युष्माकं 'मतम्' अभिप्रेतम्, एवमेव निह्नवादयोऽपि भावग्राम एव भवतां प्राप्नुवन्ति, तेषामपि दर्शनेन कस्यचित् सम्यग्दर्शनोत्पादात् । सूरिराह—'एतत्' त्वदुक्तमवाच्यवचनं भवन्तमसमञ्जसप्रलापिनं विना को नु

---

१ °**र्ण्य यदा सम्यग्दर्शनादिलाभ उदयते तदा तेषामपि** भा० ॥ २ "जा सम्म० गाहा । सम्मभावियातो य पडिमाओ ण वि इतरीओ । आह कहं मिच्छद्दिट्ठीपरिग्गहिताओ पडिमातो भावगामो ण भवति? उच्यते—तत्र ज्ञानादिभावो नास्ति । आह ननु कारणे कार्यवदुपचार इति कृत्वा ताओ वि दट्ठूणं कस्सइ सम्मुप्पातो होज्जा तो कधं ताओ भावगामो ण भवन्ति? । आयरिओ भणति—एवं खु भाव० गाथाद्वयं कण्ठ्यम् ॥" इति **चूर्णौ । विशेषचूर्णौ**वपि प्राय एतत्सम एव पाठः ॥ ३ **एव खलु भा°** ता० ॥

'अविपरीतः' सम्यग्वस्तुतत्त्ववेदी वदेत्? अपि तु नैवेत्यभिप्रायः ॥ ११११७ ॥ कुतः? इत्याह—

जइ वि हु सम्मुप्पाओ, कासइ दट्ठूण निण्हए होज्जा ।
मिच्छत्तहयसईया, तहावि ते वज्जणिज्जा उ ॥ १११८ ॥

यद्यपि हि निह्नवानपि दृष्ट्वा कस्यचित् सम्यग्दर्शनोत्पादो भवेत् तथापि ते मिथ्यात्वम्—अतत्त्वे 5 तत्त्वाभिनिवेशः तेन हता—दूषिता स्मृतिः—सर्वज्ञवचनसंस्कारलक्षणा दुर्वातेन सस्यवद् येषां ते मिथ्यात्वहतस्मृतिका (ग्रन्थाग्रम्—४५००) एवंविधाश्च बह्वीभिरसद्भावोद्भावनाभिरसौकलोक-चेतांसि विपरिणामयन्तः पूर्वलब्धमपि बोधिबीजमात्मनोऽपरेषां चोपघ्नन्तो दूरंदूरेण वर्जनीया इति । यतश्चैवमतो नैते भावग्रामतया भवितुमर्हन्तीति प्रकृतम् ॥ १११८ ॥

अथात्र कतरेण ग्रामेणाधिकारः? उच्यते—

10 आहार-उवहि-सयणा-ऽऽसणोवभोगेसु जो उ पाउग्गो ।
एयं वयंति गामं, जेणऽहिगारो इहं सुत्ते ॥ १११९ ॥

आहारोपधी प्रतीतौ, शयनं—संस्तारकः, आसनं—पीठादि, एतेषामुपभोगेषु यः प्रायोग्यः । किमुक्तं भवति?—एतानि यत्र कल्प्यानि प्राप्यन्ते तमेनं ग्रामं 'वदन्ति' प्ररूपयन्ति सूरयः, येन 'अत्र' सूत्रे 'अधिकारः' प्रकृतमिति ॥ १११९ ॥

15 व्याख्यातं ग्रामपदम् । अथ नगरादिपदान्यतिदिशन्नाह—

एमेव य नगरादी, नेयव्वा होंति आणुपुव्वीए ।
जं जं जुज्जइ जत्थ उ, जोएअव्वं तगं तत्थ ॥ ११२० ॥

यथा ग्रामपदं प्ररूपितम् एवमेव नगरादीन्यपि[2] पदान्यानुपूर्व्या नेतव्यानि । एतदेव व्याचष्टे—यद् यद् नाम-स्थापना-द्रव्य-भावादिकं यत्र नगरादौ युज्यते तत् तत्र योजयितव्यमिति ॥ ११२० ॥

20 अथ परिक्षेपपदं निक्षिपन्नाह—

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य ।
एसो उ परिक्खेवे, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ११२१ ॥

नामपरिक्षेपः स्थापनापरिक्षेपो द्रव्यपरिक्षेपः क्षेत्रपरिक्षेपः कालपरिक्षेपो भावपरिक्षेपः । एष परिक्षेपे निक्षेपः षड्विधो भवति ॥ ११२१ ॥

25 तत्र नाम-स्थापने गतार्थे । द्रव्यपरिक्षेपं प्रतिपादयति—

सच्चित्तादी दव्वे, सच्चित्तो दुपयमायगो तिविहो ।
मीसो देसचियादी[3], अच्चित्तो होइमो तत्थ ॥ ११२२ ॥

द्रव्यपरिक्षेपस्त्रिविधः—'सचित्तादिः' सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्चेत्यर्थः । सचित्तस्त्रिविधो द्विपद-चतुष्पदा-ऽपदभेदात् । तत्र ग्राम-नगरादेर्यद् मनुष्यैः परिवेष्टनं स द्विपदपरिक्षेपः, यत्तु तुरङ्गम-30 हस्त्यादिभिः स चतुष्पदपरिक्षेपः, यत् पुनर्वृक्षैः सोऽपदपरिक्षेपः । मिश्रोऽप्येवमेव त्रिविधः, परं "देसचितादि" त्ति देशे—एकदेशे उपचितः—सचेतनः, आदिशब्दाद् देशे अपचितः—व्यपगत-चैतन्यः । किमुक्तं भवति?—यत्रैके मनुष्या-ऽश्व-हस्त्यादयो जीवन्ति, अपरे तु मृताः परं

---

१ कल्प्यानि मो० विना ॥ २ °न्यप्यानु° मो० ले० कां० ॥ ३ °सवि° कां० त० विना ॥

ग्रामादिकं परिक्षिप्य व्यवस्थिताः, स मिश्रपरिक्षेपः । अचित्तपरिक्षेपस्त्वयं भवति ॥ ११२२ ॥

तमेवाह—

पासाणिट्टग-मट्टिय-खोड-कडग-कंटिगा भवे दव्वे ।
खाइय-सर-नइ-गड्डा-पव्वय-दुग्गाणि खेत्तम्मि ॥ ११२३ ॥

पाषाणमयः प्राकारो यथा द्वारिकायाम्, इष्टकामयः प्राकारो यथा नन्दपुरे, मृत्तिकामयो 5 यथा सुमनोमुखनगरे, "खोड" त्ति काष्ठमयः प्राकारः कस्यापि नगरादेर्भवति, कटकाः—वंश-दलादिमयाः कण्टिकाः—बुब्बूलादिसम्बन्धिन्यः तन्मयो वा परिक्षेपो ग्रामादेर्भवति, एष सर्वोऽपि द्रव्यपरिक्षेपः । क्षेत्रपरिक्षेपस्तु खातिका वा सरो वा नदी वा गर्त्ता वा पर्वतो वा दुर्गाणि वा—जलदुर्गादीनि पर्वता एव दुर्गाणि वा, एतानि नगरादिकं परिक्षिप्य व्यवस्थितानि क्षेत्रपरि-क्षेप उच्यते ॥ ११२३ ॥ कालपरिक्षेपमाह— 10

वासारत्ते अइपाणियं ति गिम्हे अपाणियं नच्चा ।
कालेण परिक्खित्तं, तेण तमन्ने परिहरंति ॥ ११२४ ॥

वर्षारात्रेऽतिपानीयमिति कृत्वा 'ग्रीष्मे' उष्णकाले अपानीयमिति कृत्वा रोद्धुं न शक्यत इति ज्ञात्वा तेन कारणेन तद् नगरादिकम् 'अन्ये' परराष्ट्रराजानः परिहरन्ति तत् कालपरिक्षिप्तम् ॥ ११२४ ॥ भावपरिक्षेपमाह— 15

नच्चा नरवइणो सत्त-सार-बुद्धी-परक्कमविसेसे ।
भावेण परिक्खित्तं, तेण तमन्ने परिहरंति ॥ ११२५ ॥

सत्त्वं—धैर्यम्; सारो द्विधा—बाह्य आभ्यन्तरश्च, बाह्यो बल-वाहनादिः, आभ्यन्तरो रत्न-सुवर्णादिः; बुद्धिरौत्पत्तिक्यादिभेदाच्चतुर्विधा यथा अभयकुमारस्य; पराक्रमः—औरसबलात्मकः, एतान् सत्त्व-सार-बुद्धि-पराक्रमविशेषान् विवक्षितनरपतेः सम्बन्धिनो ज्ञात्वा 'यद्यनेन सार्द्धं विग्र- 20 हमारप्स्यामहे तत उत्खनिष्यन्ते सपुत्रगोत्राणामस्माकमनेन कन्दाः' इति परिभाव्य तदीयं नगरं यद् 'अन्ये' राजानः परिहरन्ति तत् तदीयेन सत्त्व-सारादिना भावेन परिक्षिप्तं प्रतिपत्तव्यम् ॥ ११२५ ॥ व्याख्यातं परिक्षेपपदम् । अत्र द्रव्यपरिक्षेपेण प्रकृतम् । अथ मासपदनिक्षेपमाह—

मासपदनिरूपणम्

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य ।
मासस्स परूवणया, पगयं पुण कालमासेणं ॥ ११२६ ॥ 25

नाममासः स्थापनामासो द्रव्यमासः क्षेत्रमासः कालमासो भावमासश्चेति षड्विधा मासस्य प्ररू-पणा कर्त्तव्या । प्रकृतं पुनरत्र सूत्रे कालमासेन ॥ ११२६ ॥

तत्र नाम-स्थापने क्षुण्णत्वाद् व्युदस्य द्रव्यमासमाह—

दव्वे भवितो निव्वत्तिओ उ खेत्तं तु जम्मि वण्णणया ।
कालो जहि वण्णिज्जइ, नक्खत्तादी व पंचविहो ॥ ११२७ ॥ 30

---

१ नव° त॰ कां॰ ॥ २ °मस्य भव° भा॰ ॥ ३ खातिका—पानीयपरिपूर्णा परिखा, सरो-नदी-गर्त्ताः प्रतीताः, पर्वता एव दुरारोहतया दुर्गाणि—विषमस्थानानि, एतानि भा॰ ॥ ४ रोद्धुं न भा॰ मो॰ ले॰ ॥

द्रव्यमासः "भविउ" त्ति माषत्वेन य उत्पत्स्यते, स चैकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्चेति त्रिधा, एष त्रिविधोऽपि प्राकृतशैल्या द्रव्यमासो भण्यते, एवमुत्तरत्रापि । अथवा द्रव्यमासो द्विधा मूलोत्तरगुणनिर्वर्त्तितभेदात् । तत्र यो जीवविप्रमुक्तो माषः स मूलगुणनिर्वर्त्तितः, यस्तु चित्रकर्मादौ माषस्तम्ब आलिखितः स उत्तरगुणनिर्वर्त्तितः । क्षेत्रमासस्तु यस्मिन् क्षेत्रे मास-
5 कल्पस्य वर्णना क्रियते माषो वा वाप्यते । कालमासः पुनर्यस्मिन् काले माषो वाप्यते मासकल्पो वा वर्ण्यते । अथवा कालमासः श्रावणादिः । यद्वा कालमासो नक्षत्रादिकः पञ्चविधः । तद्यथा—नक्षत्रमासश्चन्द्रमासः ऋतुमासः आदित्यमासः अभिवर्द्धितमासः ॥ ११२७ ॥

अमीषामेव परिमाणमाह—

(नक्षत्र-चन्द्रमासादीनां निरूपणम्)

नक्खत्तो खलु मासो, सत्तावीसं हवंतऽहोरत्ता ।
10 भागा य एक्कवीसं, सत्तट्ठिकएण छेएणं ॥ ११२८ ॥
अउणत्तीसं चंदो, बिसट्ठि भागा य हुंति बत्तीसा ।
कम्मो तीसइदिवसो, तीसा अद्धं च आइच्चो ॥ ११२९ ॥
अभिवड्ढि इक्कतीसा, चउवीसं भागसयं च तिगहीणं ।
भावे मूलाइजुओ, पगयं पुण कम्ममासेणं ॥ ११३० ॥

15 नक्षत्रेषु भवो नाक्षत्रः, स खलु मासः सप्तविंशतिरहोरात्राणि सप्तषष्टीकृतेन च्छेदेन च्छिन्नस्याहोरात्रस्यैकविंशतिः सप्तषष्टा भागाः । तथाहि—चन्द्रस्य भरण्याद्रा-ऽश्लेषा-स्वाति-ज्येष्ठा-शतभिषग्नामानि षड् नक्षत्राणि पञ्चदशमुहूर्त्तभोगीनि, तिस्र उत्तराः पुनर्वसू रोहिणी विशाखा चेति षट् पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तभोगीनि, शेषाणि तु पञ्चदश नक्षत्राणि त्रिंशन्मुहूर्त्तानीति जातानि सर्वसङ्ख्यया मुहूर्त्तानामष्ट शतानि दशोत्तराणि; एतेषां च त्रिंशन्मुहूर्त्तैरहोरात्रमिति कृत्वा त्रिंशता
20 भागो ह्रियते लब्धानि सप्तविंशतिरहोरात्राणि, अभिजिद्भोगश्चैकविंशतिः सप्तषष्टा भागा इति तैरभ्यधिकानि सप्तविंशतिरहोरात्राणि सकलनक्षत्रमण्डलोपभोगकालो नक्षत्रमास उच्यते १ ॥ ११२८ ॥

चन्द्रे भवश्चान्द्रः कृष्णपक्षप्रतिपद आरभ्य यावत् पौर्णमासीपरिसमाप्तिस्तावत्कालमानः; स च एकोनत्रिंशदहोरात्राणि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य २ । कर्ममासः ऋतुमास इत्येकोऽर्थः, स त्रिंशद्दिवसप्रमाणः ३ । आदित्यमासस्त्रिंशदहोरात्राणि रात्रिन्दिवस्य चार्द्धम्, दक्षिणायनस्यो-
25 त्तरायणस्य वा षष्ठभागमान इत्यर्थः ४ ॥ ११२९ ॥

अभिवर्द्धितो नाम मुख्यतः त्रयोदशचन्द्रमासप्रमाणः संवत्सरः, परं तद्द्वादशभागप्रमाणो मासोऽप्यवयवे समुदायोपचाराद् अभिवर्द्धितः, स चैकत्रिंशदहोरात्राणि चतुर्विंशत्युत्तरशतभागीकृतस्य चाहोरात्रस्य त्रिकहीनं चतुर्विंशं शतं भागानां भवति, एकविंश[शत]मिति भावः ५ ।

एतेषां चानयनाय इयं करणगाथा—

30 जुगमासेहिँ उ भइए, जुगम्मि लद्धं हविज्ज नायव्वं ।
मासाणं पंचण्ह वि, एयं राइंदियपमाणं ॥

इह सूर्यस्य दक्षिणमुत्तरं वा अयनं त्र्यशीत्यधिकदिनशतात्मकम् । द्वे अयने वर्षमिति कृत्वा

१ °कल्पः क्रियते वर्ण्यते वा । काल° भा० ॥ २ हवंति अहो° डे० ता० विना ॥

वर्षे षट्पञ्चाशदधिकानि त्रीणि शतानि भवन्ति । पञ्च संवत्सरा युगमिति कृत्वा तानि पञ्चभिर्गुण्यन्ते जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशानि दिवसानाम् । एतेषां नक्षत्रमासदिवसानयनाय सप्तषष्टिर्युगे नक्षत्रमासा इति सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धाः सप्तविंशतिरहोरात्रा एकविंशतिरहोरात्रस्य सप्तषष्टिभागाः १ । तथा चन्द्रमासदिवसानयनाय द्वाषष्टिर्युगे चन्द्रमासा इति द्वाषष्ट्या तस्यैव युगदिनराशेर्भागो[1] ह्रियते, लब्धान्येकोनत्रिंशदहोरात्राणि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागाः २ । एवं युग- 5
दिवसानामेवैकषष्टिर्युगे कर्ममासा इत्येकषष्ट्या भागे हृते लब्धानि कर्ममासस्य त्रिंशद्दिनानि ३ ।
तथा युगे षष्टिः सूर्यमासा इति षष्ट्या युगदिनानां भागे हृते लब्धाः सूर्यमासदिवसास्त्रिंशदहोरात्रस्यार्द्धं च ४ । तथा युगदिवसा एव अभिवर्द्धितमासदिवसानयनाय त्रयोदशगुणाः क्रियन्ते जातानि त्रयोविंशतिसहस्राणि सप्त शतानि नवत्यधिकानि, एषां चतुश्चत्वारिंशैः सप्तभिः शतैर्भागो ह्रियते लब्धा एकत्रिंशद्दिवसाः, शेषाण्यवतिष्ठन्ते षड्विंशत्यधिकानि सप्तशतानि चतुश्चत्वा- 10
रिंश[2]सप्तशतभागानाम्, तत उभयेषामप्यङ्कानां षड्भिरपवर्त्तना क्रियते जातमेकविंशं शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामिति ५ ॥

उक्ताः पञ्चापि कालमासाः । भावमासो नोआगमतः 'मूलादियुतः' मूल-कन्द-स्कन्धादिरूपतया माषप्रायोग्याणि कर्माणि वेदयन् माषजीवोऽवगन्तव्यः । प्रकृतं पुनरत्र 'कर्ममासेन' ऋतुमासेनेत्यर्थः । ततः "अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथाणं एकं मासं वत्थए" त्ति (सू० ६) 15
किमुक्तं भवति ?—त्रिंशदहोरात्रमानमेकं ऋतुमासं कल्पते वस्तुमिति ॥ ११३० ॥ प्ररूपितं मासपदम् । अथ येषां मासकल्पेन विहारो भवति तान्[3] नामग्राहं गृहीत्वा तद्विधिमभिधित्सुराह—

जिण सुद्ध अहालंदे, गच्छे मासो तहेव अज्जाणं ।
एएसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ११३१ ॥

मासकल्पविहारिणः

जिनकल्पिकानां शुद्धपरिहारकाणां यथालन्दकल्पिकानां 'गच्छवासिनां' स्थविरकल्पिकाना- 20
मित्यर्थः । तथैव 'आर्याणां' साध्वीनां यथा येषां मासकल्पो भवति तथैतेषां सर्वेषामपि नानात्वं वक्ष्यामि 'यथानुपूर्व्या' यथोद्दिष्टपरिपाट्या ॥ ११३१ ॥ तत्र प्रथमं जिनकल्पिकानाश्रित्याह—

पव्वज्जा सिक्खापयमत्थग्गहणं च अनियओ वासो ।
निप्फत्ती य विहारो, सामायारी ठिई चेव ॥ ११३२ ॥

जिनकल्पिकाः

प्रथमं प्रव्रज्या वक्तव्या, कथमसौ जिनकल्पिकः प्रव्रजितः ? इति । ततः 'शिक्षापदं' ग्रह- 25
णा-ऽऽसेवनाविषयम् । ततो ग्रहणशिक्षयाऽधीतसूत्रस्यार्थग्रहणम् । ततो नानादेशदर्शनं कुर्वतो यथा अनियतो वासो भवति । ततः शिष्याणां निष्पत्तिः । तदनन्तरं विहारः । ततो जिनकल्पं प्रतिपन्नस्य सामाचारी । ततस्तस्यैव 'स्थितिः' क्षेत्र-कालादिकाऽभिधातव्येति गाथासमुदायार्थः ॥ ११३२ ॥ अवयवार्थं प्रतिद्वारमभिधित्सुः प्रथमतः प्रव्रज्याद्वारमाह—

सोच्चाऽभिसमेच्चा वा, पव्वज्जा अभिसमागमो तत्थ ।
जाइस्सरणाईओ, सनिमित्तमनिमित्तओ वा वि ॥ ११३३ ॥

30 जिनकल्पिकानां प्रव्रज्या

'श्रुत्वा' तीर्थकर-गणधरादीनां धर्मदेशनां निशम्य 'अभिसमेत्य वा' सह सन्मत्यादिना स्वय-

१ भागो ह्रियते भा० ॥ २ °शत्सप्त° भा० विना ॥ ३ तन्नाम° भा० विना ॥

मेवावबुध्य प्रव्रज्या भवेत् । तत्राल्पवक्तव्यत्वात् प्रथममभिसमागम उच्यते—सो अभिसमागमो जातिस्मरणादिकः सनिमित्तकोऽनिमित्तको वा द्रष्टव्यः । तत्र यद् बाह्यं निमित्तमुद्दिश्य जातिस्मरणमुपजायते तत् सनिमित्तकम्, यथा वल्कलचीरिप्रभृतीनाम् । यत् पुनरेवमेव तदावारककर्मणां क्षयोपशमेनोत्पद्यते तदनिमित्तकम्, यथा स्वयम्बुद्ध-कपिलादीनाम् । एतेन जातिस्मरणेन 5 आदिग्रहणात् श्रावकस्य गुणप्रत्ययप्रभवेणावधिज्ञानेन अन्यतीर्थिकस्य वा विभङ्गज्ञानेन प्रव्रज्याप्रतिपत्तिः सम्भवति ॥ ११३३ ॥ गतमभिसमेत्यद्वारम् । अथ श्रुत्वेति द्वारं विवरीषुराह—

सोचा उ होइ धम्मं, स केरिसो केण वा कहेयव्वो ।
के तस्स गुणा वुत्ता, दोसा अणुवायकहणाए ॥ ११३४ ॥

धर्ममाचार्यादीनामन्तिके[1] श्रुत्वा प्रव्रज्या भवति । अत्र शिष्यः पृच्छति—स धर्मः कीदृशः ? 10 केन वा कथयितव्यः ? के वा तस्योपायकथने गुणाः प्रोक्ताः ? के वा अनुपायकथने दोषाः ? इति ॥ ११३४ ॥ तत्र कीदृशः ? केन वा कथयितव्यः ? इति प्रश्ने निर्वचनमाह—

उपदेष्टव्यो धर्मः धर्मोपदेशाधिकारिणश्च

संसारदुक्खमहणो, विबोहओ भवियपुंडरीयाणं ।
धम्मो जिणपन्नत्तो, पगप्पजइणा कहेयव्वो ॥ ११३५ ॥

संसार एव जन्म-जरा-मरणादिदुःखनिबन्धनत्वाद् दुःखं संसारस्य वा दुःखानि—शारीर-मान15 सिकलक्षणानि तस्य तेषां वा मथनः—विनाशकः, तथा भव्या एव विनयादिविमलगुणपरिमलयोगाद् ज्ञानादिलक्ष्मीनिवासयोग्यतया च पुण्डरीकाणि—श्वेतसरोरुहाणि तेषां विशेषेण मिथ्यात्वादिनिद्राविद्रावणलक्षणेन बोधकः—सम्यग्दर्शनादिविकाशकारी, ईदृशो जिनप्रज्ञप्तो धर्मः 'प्रकल्पयतिना' निशीथाध्ययनसूत्रार्थधारिणा साधुना कथयितव्यः । स हि संविग्नगीतार्थतयोत्सर्गा-ऽपवादपदानि स्वस्थाने स्वस्थाने विनियुञ्जानो न विपरीतप्ररूपणयाऽऽत्मानं परं वा दीर्घभव20 भ्रमणभाजनमातनोतीति ॥ ११३५ ॥

परः प्राह—किमेवंविधोऽपि भागवतो धर्म उपदिश्यमानः केषाञ्चिद् बोधं न जनयति येनैवमभिधीयते "भव्यपुण्डरीकाणां विबोधकः" ? इति, अत्रोच्यते—

जह सूरस्स पभावं, दट्ठुं वरकमलपोंडरीयाइं ।
बुज्झंति उदयकाले, तत्थ उ कुमुदा न बुज्झंति ॥ ११३६ ॥
25 **एवं भवसिद्धीया, जिणवरसूरस्सुतिप्पभावेणं ।**
बुज्झंति भवियकमला, अभवियकुमुदा न बुज्झंति ॥ ११३७ ॥

यथा सूर्यस्य 'प्रभावं' प्रभापटलरूपं[2] दृष्ट्वा सरसि स्थितानि वरकमलपुण्डरीकाणि 'उदयकाले' प्रभाते बुध्यन्ते । तत्रैव च सरसि कुमुदान्यपि सन्ति परं तानि न बुध्यन्ते ॥ ११३६ ॥

'एवम्' अनेनैव दृष्टान्तेन जिनवरसूर्यस्य या श्रुतिः—आगमः प्रभापटलकल्पस्तत्प्रभावेन 30 भव्यकमलानि 'बुध्यन्ते' सम्यक्त्वादिविकाशमासादयन्ति । तानि च—

"भव्वा वि ते अणंता, जे मुत्तिसुहं न पावंति ।"

इति वचनादसम्भावनीयसिद्धिगमनान्यपि भवेयुरित्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह—भवा—भाविनी सिद्धि-

---

१ धर्मं तीर्थकरादीनामन्तिके° भा० ॥ २ °लजनितं दृ° भा० ॥

येषां तानि भवसिद्धिकानि । यस्मिंश्च जीवलोकसरसि भगवतः प्रभावेन भव्यकमलानि बोधमश्नुवते तस्मिन् अभव्यकुमुदान्यपि कालसौकरिकप्रभृतीनि सन्ति परं तानि न प्रतिबुध्यन्ते, तथास्वाभाव्यात् । यदवादि वादिमुख्येन—

सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य, यल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् ।
तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु, सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥ 5
(सिद्धसेनीया द्वितीया द्वात्रिंशिका श्लोक १३) ॥ ११३७ ॥

अत्र परः प्राह—

पुव्वं ति होइ कहओ, पच्छा धम्मो उ उकमो किच्चु ।
तेण वि पुव्वं धम्मो, सुओ उ तम्हा कमो एसो ॥ ११३८ ॥

पूर्वं तावत् 'कथकः' धर्मोपदेष्टा भवति, पश्चात् तदुपदेशं श्रुत्वा धर्म उत्पद्यते, अतः 10 किमेवं 'स कीदृशः' इति प्रथमं धर्मस्वरूपमुद्दिश्य 'केन वा कथयितव्यः' इति कथकस्वरूपं पश्चादुद्दिशद्भिरुत्क्रमः क्रियते ? । गुरुराह—तेनापि कथकेन पूर्वं गुरूणां समीपे धर्मः श्रुत एव तस्मात् क्रम एषः नोत्क्रम इति ॥ ११३८ ॥ अयं च धर्म उपायेनैव कथयितव्यो नानुपायेन । आह के दोषा अनुपायकथने ? उच्यते—

जइधम्मं अकहेत्ता, अणु दुविधं सम्म मंसविरइं वा । 15 अविधिना धर्मकथने दोषाः
अणुवासए कहिंते, चउजमला कालगा चउरो ॥ ११३९ ॥

यः खलु मिथ्यादृष्टिरनुपासकस्तत्प्रथमतया धर्मश्रवणार्थमुपतिष्ठते तस्य यतिधर्मः कथयितव्यः । यदि यतिधर्ममकथयित्वा श्रावकसम्बन्धिनमणुधर्मं कथयति तदा चत्वारो गुरवः तपसा कालेन च द्वाभ्यामपि गुरुकाः । यदा यतिधर्मं प्रतिपत्तुं नोत्सहते तदा मूलोत्तरगुणभेदाद् द्विविधः श्राद्धधर्मः कथनीयः, सम्यक्त्वमूलानि द्वादश व्रतानीत्यर्थः । यदि श्राद्धधर्ममकथयित्वा सम्यग्दर्शनमात्रं कथ- 20 यति तदाऽपि चत्वारो गुरवः तपसा गुरवः कालेन लघवः । यदा श्राद्धधर्मं ग्रहीतुं न शक्नोति तदा यदि सम्यग्दर्शनमनुपदिश्य मद्य-मांसविरतिं कथयति तदा चत्वारो गुरवः तपसा लघवः कालेन गुरवः । यदा सम्यग्दर्शनमप्यङ्गीकर्तुं न शक्ष्यते तदा यदि मद्य-मांसविरतिमप्ररूप्यैहिकमामुष्मिकं वा तद्विरतिफलं कथयति तदाऽपि चत्वारो गुरवः तपसा कालेन च लघवः । "चउजमला कालगा चउरो" त्ति चत्वारि यमलानि तपः-कालयुगललक्षणानि येषु ते चतुर्यमलाः, 25 चत्वारः कालकाश्चत्वारश्चतुर्गुरुका इत्यर्थः, आज्ञाभङ्गादयश्च दोषाः ॥ ११३९ ॥ अपि च—

जीवा अब्भुट्ठिता, अविहीकहणाइ रंजिया संता ।
अभिसंछूढा होंती, संसारमहण्णवं तेणं ॥ ११४० ॥

ते जीवाः प्रव्रज्यायामभ्युत्तिष्ठन्तोऽपि तदीयया अविधिकथनया रञ्जिताः सन्तश्चिन्तयन्ति—यदि श्रावकधर्मेणापि कामभोगान् भुञ्जानैः सुगतिरवाप्यते ततः किमनया सिकताकवलनिरास्वादया 30 प्रव्रज्यया ?, एवं यदि सम्यग्दर्शनमात्रेणापि सुगतिरासाद्यते तर्हि को नामात्मानं विरतिशृङ्खलायां

१ नेयं गाथा विशेषचूर्णिकृताऽऽदृता ॥ २ °धं मज्जमंस° ता० ॥ ३ °धोऽणुधर्मः भा० ॥ ४ क्रमते मो० ले० विना ॥

प्रक्षेप्स्यति ? इत्यादि; एवं ते विपरिणामिताः प्रव्रज्यामगृह्णन्तः षट् कायान् विराधयेयुः, अतः 'तेन' कथकेन संसारमहार्णवम् अभि–आभिमुख्येन प्रक्षिप्ता भवन्ति, चिरेण मुक्तिपदप्राप्तेः ॥११४०॥

एसेव य नूण कमो, वेरग्गगओ न रोयए तं च ।
दुहतो य निरणुकंपा, सुणि-पयस-तरच्छअहुवमा ॥ ११४१ ॥

5 ते जीवा इत्थं चिन्तयेयुः—नूनमेष एवात्र 'क्रमः' परिपाटिः यत् पूर्वं श्रावकधर्मं स्पृष्ट्वा पश्चाद् यतिधर्मः प्रतिपद्यते, अथवा पूर्वं सम्यग्दर्शनमात्रमुररीकृत्य ततो देशविरतिरुपादीयते, यद्वा मद्य-मांसविरतिं स्पृष्ट्वा पश्चात् सम्यक्त्वं गृह्यते इति । स चारम्भबहुलतया गृहवासस्योपरि वैराग्यमुपगतः प्रव्रज्यां प्रतिपत्तुमायातः, स च धर्मकथी श्राद्धधर्मं प्ररूपयितुं लग्नः, तं चासौ वैराग्याधिरूढमानसत्वाद् न रोचयति, ततो विपरिणम्य तच्चन्निकादिषु गच्छेत् । ते चैवमविधिना 10 धर्मं कथयन्तः 'द्विधाऽपि निरनुकम्पाः' षण्णां कायानां तस्य चोपर्यनुकम्पारहिताः ।

"सुणि" त्ति वीरशुनिकादृष्टान्तः—यथा सा वीरशुनिका पूर्वमाल्मालैः परिखेदिता पश्चात् सद्भूतमपि नेच्छति, एवमत्रापि पूर्वं श्राद्धधर्मे कथिते पश्चाद् यत्नतोऽभिधीयमानमपि श्रमणधर्ममसौ न प्रतिपद्यते । तथा "पयस" त्ति यथा कस्यापि प्राघूर्णकस्य पूर्वं वासितभक्तं दत्तं ततः स उदरपूरं तद् भुक्तवान्, पश्चाद् घृत-मधुसंयुक्तं पायसमपि दीयमानं तस्य न रोचते । "तरच्छअहुवम" 15 त्ति यथा तरक्षः–व्याघ्रविशेषः स पूर्वमस्थ्नां भ्राणः पश्चादामिषमपि न रोचयति, एवमस्यापि श्रावकधर्मभ्राणस्य यतिधर्मो न प्रतिभासते । यत एते दोषा अतो विधिनैव कथनीयम् ॥११४१॥

के पुनर्विधिकथने गुणाः ? उच्यते—

विधिना धर्मोपदेशदाने गुणाः

तित्थाणुसज्जणाए, आयहियाए परं समुद्धरति ।
मग्गप्पभावणाए, जइधम्मकहा अओ पढमं ॥ ११४२ ॥

20 यतिधर्मकथा प्रथमतः क्रियमाणा तीर्थस्यानुसजनायै भवति, बहूनां जन्तूनां प्रव्रज्याप्रतिपत्तेः । तीर्थानुषजना च कृता आत्महिताय जायते । परं च प्रव्रज्याप्रदानेन संसारसागरादसौ समुद्धरति । अत एव मार्गस्य–सम्यग्दर्शनादेः प्रभावनायै सा प्रभवति । यत एते गुणा अतो यतिधर्मकथा प्रथमं स्वरूपतो गुणतश्च कर्त्तव्या । तत्र स्वरूपतो यथा—"खंती य मद्दवऽज्जव, मुत्ती०" (दशवै० ध० अ० नि० गा० २४८) इत्यादि । गुणतो यथा—

25 नो दुष्कर्मप्रयासो न कुयुवति-सुत-स्वामिदुर्वाक्यदुःखं,
राजादौ न प्रणामोऽशन-वसन-धन-स्थानचिन्ता न चैव ।
ज्ञानाप्तिर्लोकपूजा प्रशमसुखरसः प्रेत्य मोक्षाद्यवाप्तिः,
श्रामण्येऽमी गुणाः स्युस्तदिह सुमतयः किं न यत्नं कुरुध्वम् ? ॥ इत्यादि ।

---

१ °धर्मं प्रति° भा० विना ॥ २ "जहा सा वीरसुणिया अलिक्कमलिक्केहिं निरत्थीकया पच्छा सन्तयं पि नेच्छति, चिंतेइ—अलिक्कयं एयं; उवसंघारो वत्तव्यः । 'पयस' त्ति जहा वा कस्सति पाहुणयस्स पुव्वं दोसीणो दिण्णो, पच्छा घय-महुसंजुत्तो पायसो, सो से न रोयति; उवसंहारो वक्तव्यः । अहवा 'सुणिपयस' त्ति जहा चम्मगारसुणिया पलिच्छेयाणं कया पच्छा पायसं पि नेच्छति; उवसंहारो वक्तव्यः । अहवा जहा 'तरच्छ" इति चूर्णौ ॥ ३ उकयम्ते मो० ले० कां० त० ॥ ४ °रति । एवं च भगवदुपदर्शितस्य मार्गस्य–सम्यग्दर्शनरूपस्य प्रभावनायै भवति । यत भा० ॥

यदा यतिधर्ममङ्गीकर्तुं न शक्नोति तदा सम्यक्त्वमूलः श्राद्धधर्मः कथयितव्यः, यदा तमपि न प्रतिपद्यते तदा सम्यग्दर्शनम्, तस्याप्यप्रतिपत्तौ मद्य-मांसविरतिः । एवं यथानुपासकस्य पुरतो धर्मकथायां विधिः । उपासकस्य तु यथास्वरुचि धर्मकथां करोतु, न कश्चिद्दोषः ॥ ११४२ ॥

गतं प्रव्रज्याद्वारम् । अथ शिक्षापदद्वारमाह—

पव्वइयस्स य सिक्खा, गयण्हाय सिलीपती य दिट्ठंतो ।
तइयं च आउरम्मी, चउत्थगं अंधले थेरे ॥ ११४३ ॥ 5

जिनकल्पिकानां शिक्षा

प्रव्रजितस्य च सतोऽस्य शिक्षा दातव्या । सा च द्विधा—ग्रहणशिक्षा आसेवनशिक्षा च । तत्र ग्रहणशिक्षा सूत्राध्ययनरूपा, आसेवनाशिक्षा प्रत्युपेक्षणादिका । तत्र कोऽपि प्रव्रजितः सन् आसेवनाशिक्षां सम्यगभ्यस्यति न पुनर्ग्रहणशिक्षाम् । तत्राचार्यैः स्नातेन गजेन श्लीपदिना च दृष्टान्तः क्रियते, तृतीयं चोदाहरणमातुरविषयं चतुर्थमन्धस्थविरविषयं कर्तव्यमिति गाथासमा-10 सार्थः ॥ ११४३ ॥ अथ विस्तरार्थोऽभिधीयते—तत्रासौ गुरुभिरादिष्टः—सौम्य ! गृहाण त्वमेनां ग्रहणशिक्षाम्, अधीष्व विधिवद् यथाक्रममाऽऽचारादिश्रुतम् । स प्राह—

पव्वइओऽहं समणो, निक्खित्तपरिग्गहो निरारंभो ।
इति दिक्खियमेकमणो, धम्मधुराए दढो होमि ॥ ११४४ ॥
समितीसु भावणासु य, गुत्ती-पडिलेह-विणयमाईसु । 15
लोगविरुद्धेसु य बहुविहेसु लोगुत्तरेसुं च ॥ ॥ ११४५ ॥
जुत्त विरयस्स सययं, संजमजोगेसु उज्जयमइस्स ।
किं मज्झं पढिएणं, भण्णइ सुण ता इमे नाए ॥ ११४६ ॥

भदन्त ! प्रव्रजितोऽहं 'श्रमणः' तपस्वी निक्षिप्तपरिग्रहो निरारम्भश्च सञ्जात इत्यतः 'दीक्षिते' दीक्षायां मकारोऽलाक्षणिकः एकाग्रमना 'धर्मधुरायां' धर्मचिन्तायां 'दृढः' निष्कम्पो भवामि 20 ॥ ११४४ ॥ किञ्च—

'समितिषु' ईर्यादिषु 'भावनासु' द्वादशसु पञ्चविंशतिसङ्ख्याकासु वा 'गुप्तिषु' मनोगुप्त्यादिषु प्रत्युपेक्षणायां प्रतीतायां 'विनये' अभ्युत्थानादिरूपे आदिशब्दाद् वैयावृत्त्यादिषु व्यापारेषु 'युक्तस्य' प्रयत्नवतः, तथा 'लोकविरुद्धेषु' जुगुप्सितकुलभिक्षाग्रहणादिषु 'बहुविधेषु' नानाप्रकारेषु 'लोकोत्तरविरुद्धेषु' नवनीत-चलितान्नग्रहणादिषु चशब्दाद् उभयविरुद्धेषु मद्यादिषु 'विरतस्य' 25 प्रतिनिवृत्तस्य 'संयमयोगेषु च' आवश्यकव्यापारेषु उद्यतमतेः एवंविधस्य किं मम 'पठितेन' पाठेन कार्यम् ? न किञ्चिदिति भावः । भण्यते गुरुभिरत्रोत्तरम्—वत्स ! यदर्थं भवान् प्रव्रजितः स एवार्थो न सेत्स्यतीति । तथा चात्र शृणु तावदमू 'ज्ञाते' द्वे निदर्शने ॥ ११४५ ॥ ११४६ ॥

ते एव यथाक्रममाह—

जह ण्हाउत्तिण्ण गओ, बहुअतरं रेणुयं छुभइ अंगे । 30
सुट्ठु वि उज्जममाणो, तह अण्णाणी मलं चिणइ ॥ ११४७ ॥

---

१ °हुयरं भा० ॥

गजज्ञात-श्लीपदि-दृष्टान्तौ

जं सिलिपई निदायति, तं लाएति चलणेहिँ भूमीए ।
एवमसंजमपंके, चरणसइं लाइ अमुणितो ॥ ११४८ ॥

यथा गजः सरो-नद्यादौ मलापनयनार्थं स्नात्वोत्तीर्णः सन् बहुतरां रेणुं करेण गृहीत्वा स्वकीयेऽङ्गे क्षिपति, तथास्वाभाव्यात्; तथा 'मुष्ठ्वपि' अतिशयेनापि 'उद्यच्छमानः' उद्यमं कुर्वाणः अज्ञानी 5 जीवः 'मलं' कर्मरजोलक्षणं चिनोति । एवं त्वमपि कर्ममलनिर्घातनार्थं प्रव्रजितः परं श्रुताध्ययनमन्तरेण प्रवचनविरुद्धानि समाचरन् प्रत्युत भूयस्तरेण कर्मरजसाऽऽत्मानं गुण्डयिष्यसि ॥११४७॥

तथा श्लीपदनाम्ना रोगेण यस्य पादौ शूनौ—शिलावद् महाप्रमाणौ भवतः स एवंविधः श्लीपदी यथा क्षेत्रं 'निदायति' निद्दिणतीत्यर्थः, स च यदल्पमात्रं सस्यं निदायति तद् भूयस्तरं 'चलनाभ्यां' पादाभ्यामाक्रम्य भूमौ लगयति मर्दयति च । एवं श्रुतपाठं विना "अमुणंतो" अजानन् 10 "चरणसयं" ति चरणसस्यम् 'असंयमपङ्के' पृथिव्याद्युपमर्दकर्दमे लगयति, लगयित्वा च सकलमपि मर्दयति ॥ ११४८ ॥ एवमाचार्यैरुक्ते शिष्य आतुरदृष्टान्तमाह—

आतुर-दृष्टान्तः

भणइ जहा रोगत्तो, पुच्छति वेज्जं न संघियं पढइ ।
इय कम्मामयवेज्जे, पुच्छिय तुज्झे करिस्सामि ॥ ११४९ ॥

स शिष्यो भणति—भगवन्! यथा रोगार्त्तः पुरुषो वैद्यमेव पृच्छति न पुनर्वैद्यकसंहितां 15 पठति, एवमहमपि युष्मान् 'कर्मामयवैद्यान्' कर्मरोगचिकित्सकान् पृष्ट्वा सर्वामपि क्रियां करिष्यामि, न पुनः श्रुतं पठिष्यामीति ॥ ११४९ ॥ गुरुराह—

भण्णइ न सो सयं चिय, करेति किरियं अपुच्छिउं रोगी ।
नायव्वो अहिगारो, तुमं पि नाउं तहा कुणसु ॥ ११५० ॥

भण्यते अत्रोत्तरम्—यद्यपि नासौ रोगी वैद्यमपृष्ट्वा स्वयमेव क्रियां करोति तथाऽपि तस्य 20 'ज्ञातव्ये' क्रियायाः परिज्ञानेऽधिकारोऽस्ति यथा स वैद्यो भूयो भूयः प्रष्टव्यो न भवति । एवं यद्यपि त्वमस्मान् पृष्ट्वा सर्वामपि क्रियां करिष्यसि तथापि सूत्रमधीत्य षट्कायरक्षणविधिं जानीहि, ज्ञात्वा च तथा कुरु यथा बहुशः प्रष्टव्यं न भवति ॥११५०॥ शिष्यः प्रतिभणति—

दूरे तस्स तिगिच्छी, आउरपुच्छा उ जुज्जए तेणं ।
सारेहिंति सहीणा, गुरुमादि जतो नऽहिज्जामि ॥ ११५१ ॥

25 'तस्य' आतुरस्य 'दूरे' दूरवर्ती सः 'चिकित्सी' वैद्यः अत आतुरस्य क्रियाया अपरिज्ञाने वैद्यान्तिके पृच्छा युज्यते, मम पुनर्गुरव आदिशब्दाद् उपाध्यायादयः स्वाधीना एव, अतो ज्ञास्यन्ति ते भगवन्तः स्वयमेव मदीयं स्खलितम्, ज्ञात्वा च सम्यग् मां सारयिष्यन्ति, यत एवमत एवाहं 'नाधीये' न पठामीति ॥ ११५१ ॥ सूरिराह—

आगाढकारणेहिं, गुरुमादी ते जया न होहिंति ।
30 **तइया कहं नु काहिसि, जहा व सो अंधलो थेरो ॥ ११५२ ॥**

आगाढैः कुलादिभिः कारणैर्यदा 'ते' गुर्वादयस्तव स्वाधीना न भविष्यन्ति तदा कथं नाम त्वं करिष्यसि? यथा वाऽसावन्धः स्थविरः ॥ ११५२ ॥ तथाहि—

१ °वति, अतस्त्वमपि सूत्रमधीत्य ष° भा० ॥

सोमिल-स्थान्धस्थविरस्योदाहरणम्

अट्ठ सुय थेर अंधल्लगत्तणं अत्थि मे बहू अच्छी ।
अप्पद्दण्ण पलित्ते, डहणं अपसत्थग पसत्थे ॥ ११५३ ॥

उज्जेणी नाम नगरी । तत्थ **सोमिलो** नाम बंभणो परिवसइ, सो य अंधलीभूओ । तस्स य अट्ठ पुत्ता, तेसिं अट्ठ भज्जाओ । सो पुत्तेहिं भन्नति—अच्छीणं किरिया कीरउ । सो पडिभणइ—तुब्भ अट्ठण्हं पुत्ताणं सोलस अच्छीणि, सुण्हाण वि सोलस, बंभणीए दोन्नि, एते चउत्तीसं, अन्नस्स य परियणस्स जाणि अच्छीणि ताणि सव्वाणि मम, एते चेव पभूया । अन्नया घरं पलित्तं । तत्थ तेहिं अप्पद्दन्नेहिं सो न चतिओ नीणिउं तत्थेव रडंतो दड्ढो । एस अपसत्थो दिट्ठंतो । मा एवं डज्झिहिसि संसारे असुभकम्मेहिं ॥

द्वितीयमन्धस्याहरणम्

इमो पसत्थो—तत्थेव अंधलयथेरो । नवरं तेण कारिया किरिया । सो मणुस्साणं भोगाणं आभागी जाओ । एवं तुमं पि पढित्ता कज्जाकज्जं वियाणित्ता संसारातो नित्थरिहिसि ॥

अथ गाथाक्षरार्थः—**सोमिलस्थविरस्याष्टौ** सुताः । परं तस्यान्धत्वं बभूव । गाथायामन्धशब्दाद् "विद्युत्पत्रपीतान्धाल्लः" (सिद्ध० ८-२-१७३) इति प्राकृते स्वार्थिको लप्रत्ययः । स च पुत्रैश्चक्षुश्चिकित्साकारणार्थमुक्तः सन् वक्ति—सन्ति मे पुत्रादीनां बहून्यक्षीणि, तैरेव मदीयं कार्यं सेत्स्यति । अन्यदा च गृहे प्रदीपनकं लग्नं ततस्ते पुत्रादयः "अप्पद्दन्न" त्ति आत्मरक्षणपरास्त्वरितं प्रणष्टाः । स्थविरान्धस्य प्रदीप्ते गृहे दहनम् । एषोऽप्रशस्तो दृष्टान्तः । प्रशस्तस्तु विपरीतः, स चोपदर्शित एव । उपनययोजनाऽपि कृतैवेति ॥ ११५३ ॥ इत्थमप्युक्तोऽसौ न प्रतिपद्यते श्रुताध्ययनम्, अतो भूयोऽपि[1] करुणापरीतचेतसः सूरयः प्राहुः—

मा एवमसग्गाहं, गिण्हसु गिण्हसु सुयं तइयचक्खुं ।
किं वा तुमेऽनिलसुतो, न स्सुयपुव्वो जवो राया ॥ ११५४ ॥

सौम्य ! मैवमसद्ग्राहं गृहाण, गृहाण सूक्ष्म-व्यवहितादिष्वतीन्द्रियार्थेषु तृतीयचक्षुःकल्पं श्रुतम् । किं वा त्वया न श्रुतपूर्वोऽनिलनरेन्द्रसुतो **यवो** राजा ? ॥ ११५४ ॥

कः पुनर्यवः ? इत्याह—

यवराजर्षिकथानकम्

जव राय दीहपट्ठो, सचिवो पुत्तो य गद्दभो तस्स ।
धूता अडोलिया गद्दभेण छूढा य अगडम्मि ॥ ११५५ ॥
पव्वयणं च नरिंदे, पुणरागमऽडोलिखेलणं चेडा ।
जवपत्थणं खरस्सा, उवस्सओ फरुससालाए ॥ ११५६ ॥

यवो नाम राजा । तस्य **दीर्घपृष्ठः** सचिवः । **गर्दभश्च** पुत्रः । दुहिता **अडोलिका** । सा च **गर्दभेण** तीव्ररागाध्युपपन्नेन 'अगडे' भूमिगृहे विषयसेवार्थं क्षिप्ता ॥ ११५५ ॥

तच्च ज्ञात्वा वैराग्योत्तरङ्गितमनसो नरेन्द्रस्य प्रव्रजनम् । पुत्रस्नेहाच्च तस्योज्जयिन्यां पुनः पुनरागमनम् । अन्यदा च चेटरूपाणामडोलिकया क्रीडनं खरस्य च यवप्रार्थनम् । ततश्चोपाश्रयः परुषः—कुम्भकारस्तस्य शालायामित्यक्षरार्थः ॥ ११५६ ॥ भावार्थः पुनरयम्—

उज्जेणी नगरी । तत्थ **अनिलसुओ जवो** नाम राया । तस्स पुत्तो **गद्दभो** नाम जुवराया ।

१ °पि परमकरुणा° मो० ले० ॥

तस्स धूया गद्दभस्स जुवरन्नो भइणी **अडोलिया** णाम, सा य अतीवरूववती। तस्स य जुवरन्नो **दीहपट्ठो** अमच्चो। ताहे सो जुवराया तं **अडोलियं** भगिणिं पासित्ता अज्झोववन्नो दुब्बलीभवति। अमच्चेण पुच्छिओ। निब्बंधे सिट्ठं। अमच्चेण भन्नति—सागारियं भविस्सति तो एसा भूमिघरे छुब्भति, तत्थ भुंजाहि ताए समं भोए, लोगो जाणिस्सति 'सा कहिं पि विनट्ठा'।
5 'एवं होउ' त्ति कयं। अन्नया सो राया तं[1] कज्जं नाउं निव्वेदेण पव्वतिओ। **गद्दभो** राया जातो। सो य **जवो** नेच्छति पढिउं, पुत्तनेहेण य पुणो पुणो **उज्जेणिं** एति। अन्नया सो **उज्जेणीए** अदूरसामंते जवखेत्तं, तस्स समीवे वीसमति। तं च जवखेत्तं एगो खेत्तपालओ रक्खति। इओ य एगो गद्दभो तं जवखेत्तं चरिउं इच्छति ताहे तेण खेत्तपालएण सो गद्दभो भन्नति—

[2]आधावसी पधावसी, ममं वा वि निरिक्खसी।
10 **लक्खिओ ते मया भावो, जवं पत्थेसि गद्दभा!॥ ११५७॥**

अयं भाष्यान्तर्गतः श्लोकः कथानकसमाप्त्यनन्तरं व्याख्यास्यते, एवमुत्तरावपि श्लोकौ।

तेण साहुणा सो सिलोगो गहिओ। तत्थ य चेडरूवाणि रमंति अडोलियाए, उंदोइयाए त्ति भणियं होइ। सा य तेसिं रमंताणं अडोलिया नट्ठा बिले पडिया। पच्छा ताणि चेडरूवाणि इओ इओ य मग्गंति तं अडोलियं, न पासंति। पच्छा एगेण चेडरूवेण तं बिलं पासित्ता
15 णायं—जा एत्थ न दीसति सा नूणं एयम्मि बिलम्मि पडिया। ताहे तेणं भन्नति—

इओ गया इओ गया, मग्गिज्जंती न दीसति।
अहमेयं वियाणामि, [3]अगडे छूढा अडोलिया॥ ११५८॥

सो वि णेणं सिलोगो पढिओ। पच्छा तेण साहुणा **उज्जेणिं** पविसित्ता कुंभकारसालाए उवस्सओ गहिओ। सो य **दीहपट्ठो** अमच्चो तेणं **जवसाहुणा** रायत्ते विराहिओ। ताहे
20 अमच्चो चिंतेति—'कहं एयस्स वेरं निज्जाएमि?' त्ति काउं **गद्दभरायं** भणति—एस परीसहपरातिओ आगओ रज्जं पेल्लेउकामो, जति न पत्तियसि पेच्छह से उवस्सए आउहाणि। तेण य अमच्चेण पुव्वं चेव ताणि आउहाणि तम्मि उवस्सए नूमियाणि पत्तियावणनिमित्तं। रन्ना दिट्ठाणि। पत्तिज्जिओ। तीए अ कुंभकारसालाए उंदुरो ढुक्किउं ढुक्किउं ओसरति भएणं। ताहे तेणं कुंभकारेणं भन्नति—

25 **सुकुमालग! भद्दलया!, रत्तिं हिंडणसीलया!।**
[4]भयं ते नत्थि मंमूला, दीहपट्ठाओ ते भयं॥ ११५९॥

सो वि णेण सिलोगो गहिओ। ताहे सो राया तं पियरं मारेउकामो रहं मग्गइ। 'पगासे उड्डाहो होहि' त्ति काउं अमच्चेण समं रत्तिं फरुससालं अल्लीणो अच्छति। तत्थ तेण साहुणा पढिओ पढमो सिलोगो—

---

१ तं अकज्जं डे०॥ २ जासि एसि पुणो चेव, पासेसु टिरिटिल्लसि। लक्खितो ते मया भावो इति रूपा गाथा चूर्णौ। ओसक्कसि य अइसक्कसि य, बहुसो य जं पलोएसि। लक्खिओ ते मया भावो इति रूपा गाथा विशेषचूर्णौ॥ ३ बिले पडिता अडोलिया इति चूर्णिकृद्-विशेषचूर्णिकृदादृतः पाठः॥ ४ दीहपट्ठस्स बीमेहि, णत्थि ते ममतो भयं इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च पाठः॥

आधावसी पधावसी, ममं वा वि णिरिक्खसी ।
लक्खिओ ते मया भावो, जवं पत्थेसि गद्दभा ! ॥ (गा० ११५७)

रन्ना नायं—वेतिया मो, धुवं अतिसेसी एस साधू । तओ बितिओ पढिओ—

इओ गता इओ गता, मग्गिज्जंती ण दीसई ।
अहमेयं विजाणामि, अगडे छूढा अडोलिया ॥ (गा० ११५८) 5

तं पि णेणं परिगयं, जहा—नातयं एतेण । तओ ततिओ पढिओ—

सुकुमालग ! भद्दलया !, रत्तिं हिंडणसीलगा ! ।
भयं ते णत्थि मंमूला, दीहपट्ठाओ ते भयं ॥ (गा० ११५९)

ताहे जाणति—एस अमच्चो ममं चेव मारेउकामो, कओ ममं पिता रोता होउं संते भोए परिच्चइत्ता पुणो ते चेव पत्थेति ?, एस अमच्चो मं मारेउकामो एवं जत्तं करेइ । ताहे राया 10 अमच्चस्स सीसं छेत्तुं साहुस्स उवगंतुं सव्वं कहेइ खामेइ य ॥

अथ श्लोकत्रयस्याक्षरार्थः—आ-ईषद् आभिमुख्येन वा धावसि आधावसि, प्रकर्षेण पृष्ठतो वा धावसि प्रधावसि, मामपि च निरीक्षसे, लक्षितस्ते मया 'भावः' अभिप्रायो यथा 'यवं' यवधान्यं चरितुं प्रार्थयसि भो गर्दभ ! । द्वितीयपक्षे यवनामानं राजानं मारयितुं भो गर्दभनृपते ! प्रार्थयसीति प्रथमश्लोकः ॥ ११५७ ॥ 15

इतो गता इतो गता, मृग्यमाणा न दृश्यते, अहमेतद् विजानामि 'अगडे' भूमिगृहे गर्त्तायां वा क्षिप्ता 'अडोलिका' उन्दोयिका नृपतिदुहिता वा । द्वितीयश्लोकः ॥ ११५८ ॥

मूषकस्य राज्ञश्च शरीरसौकुमार्यभावात् सुकुमारक ! इत्यामन्त्रणम्, "भद्दलग" त्ति भद्राकृते !, रात्रौ हिण्डनशील ! मूषकस्य दिवा मानुषावलोकनचकिततया राज्ञस्तु वीरचर्यया रात्रौ पर्यटनशीलत्वात्, भयं 'ते' तव नास्ति 'मन्मूलात्' मन्निमित्तात् किन्तु 'दीर्घपृष्ठात्' एकत्र सर्पात् अपरत्र 20 तु अमात्यात् 'ते' तव भयमिति तृतीयश्लोकः ॥ ११५९ ॥ ततः स राजर्षिश्चिन्तयति—

[3] **सिक्खियव्वं मणूसेणं, अवि जारिसतारिसं ।**
पेच्छ मुद्धसिलोगेहिं, जीवियं परिरक्खियं ॥ ११६० ॥

शिक्षितव्यं मनुष्येण अपि यादृशतादृशम्, पश्य मुग्धैरपि श्लोकैर्जीवितं परिरक्षितम् ॥ ११६० ॥ तथा— 25

पुव्वविराहियसचिवे, सामच्छण रत्ति आगमो गुणणा ।
नाओ मि सचिवघायण, खामण गमणं गुरुसमासे ॥ ११६१ ॥

पूर्वं विराधितो यः सचिवस्तस्य राज्ञा सह 'सामच्छणं' पर्यालोचनम् । ततस्तयो रात्रौ तत्रागमः । तस्य च राजर्षेस्तदानीं पूर्वपठितश्लोकत्रयस्य गुणना । ततः 'ज्ञातोऽस्म्यहम्, नूनमतिशयज्ञानी मदीयः पिता, कुतो वा एष महात्मा पटप्रान्तलग्नतृणवद् लीलयैव राज्यं परित्यज्य भूय- 30 स्तदङ्गीकारं कुरुते ? तदेष सर्वोऽप्यस्यैवाऽमात्यस्य कूटरचनाप्रपञ्चः' इति परिभाव्य सचिवघातनं कृत्वा स्वपितुः क्षामणं कृतवान् । ततस्तस्य राजर्षेः 'अहो ! ते भगवन्तो मामनेकशो भणन्ति

---

१ नायं मो० ले० ॥ २ राया होउं मो० ले० ॥ ३-४ एतद्गाथाद्विकं विशेषचूर्णौ न दृश्यते ॥

स—आर्य ! अधीष्वाधीष्व सूत्रम्, परमहमात्मवैरिकतया नापाठिषम्, यदि नाम ईदृशानामपि मुग्धश्लोकानां पठितानामीदृशं फलमाविरभूत् किं पुनः सर्वज्ञोपज्ञश्रुतस्य भविष्यति ?' इति विचिन्त्य गुरुसकाशे गमनम्। ततो मिथ्यादुष्कृतं दत्त्वा सम्यक् पठितुं लग्न इति ॥ ११६१ ॥

किञ्च श्रुताध्ययनेऽमी अभ्यधिका गुणाः—

श्रुताध्ययने गुणाः

5 **आयहिय परिण्णा भावसंवरो नवनवो अ संवेगो।**
निकंपया तवो निज्जरा य परदेसियत्तं च ॥ ११६२ ॥

आत्महितं १ परिज्ञा २ भावसंवरः ३ नवनवश्च संवेगः ४ निष्कम्पता ५ तपः ६ निर्जरा च ७ परदेशिकत्वं च ८ इति द्वारगाथासमासार्थः ॥ ११६२ ॥ अथ विस्तरार्थमाह—

आयहियमजाणंतो, मुज्झति मूढो समादिअति कम्मं।
10 **कम्मेण तेण जंतू, परीति भवसागरमणंतं ॥ ११६३ ॥**

अनधीतश्रुतः सन् आत्मनो हितम्—इह-परलोकपथ्यमजानन् मुह्यति, हितेऽप्यहितबुद्धिम् अहितेऽपि हितबुद्धिं करोतीति भावः। मूढश्च 'कर्म' ज्ञानावरणीयादिकं निबिडतरं समादत्ते। तेन च कर्मणा जन्तुः 'पर्येति' परिभ्रमति भवसागरमनन्तम् ॥ ११६३ ॥

अथात्महिते परिज्ञाते को गुणः ? इत्याह—

15 **आयहियं जाणंतो, अहियनिवित्तीएँ हियपवित्तीए।**
हवइ जतो सो तम्हा, आयहियं आगमेयव्वं ॥ ११६४ ॥

आत्महितं जानानः अहिताद्—आत्म-संयम-प्रवचनोपघातकाद् निवृत्तौ हिते—संयमाद्युपकारिणि प्रवृत्तौ यतः प्रयत्नवानसौ भवति, तस्माद् आत्महितम् 'आगमयितव्यम्' आगमनं आगमः—परिज्ञानं तद्गोचरमानेतव्यमिति ॥ ११६४ ॥ गतमात्महितद्वारम्। अथ परिज्ञाद्वारमाह—

20 **सज्झायं जाणंतो, पंचिंदियसंवुडो तिगुत्तो य।**
होइ य एक्कग्गमणो, विणएण समाहिओ साहू ॥ ११६५ ॥

'स्वाध्यायं' श्रुतं जानानः साधुः पञ्चस्विन्द्रियेषु इष्टा-ऽनिष्टविषयराग-द्वेषपरिहारेण संवृतः पञ्चेन्द्रियसंवृतः, त्रिषु—मनोवाक्काययोगेषु गुप्तस्त्रिगुप्तः, भवति च 'एकाग्रमनाः' शुभध्यानैकमानसः 'विनयेन' गुर्वादिषु शिरोनमना-ऽञ्जलिबन्धादिलक्षणेन 'समाहितः' सम्यगुपयुक्त इति। अत्र च 25 "सज्झायं जाणंतो" इत्यनेन ज्ञपरिज्ञा "पंचिंदियसंवुडो" इत्यादिना तु प्रत्याख्यानपरिज्ञाऽभिहितेति द्रष्टव्यम् ॥ ११६५ ॥

गतं परिज्ञाद्वारम्। अथ भावसंवरमाह—

नाणेण सव्वभावा, नज्जंते जे जहिं जिणक्खाया।
नाणी चरित्तगुत्तो, भावेण उ संवरो होइ ॥ ११६६ ॥

30 ज्ञानेन सर्वेऽपि—अशेषा हिता-हितरूपा भावा ज्ञायन्ते ये यत्रोपयोगिनो जिनैराख्याताः। अत एव ज्ञानी चारित्रगुप्तः 'भावेन' तत्त्ववृत्त्या संवरो भवति। गुण-गुणिनोरभेदविवक्षणादेवं निर्देशः ॥ ११६६ ॥ अथ "नवनवो य संवेगो" (गा० ११६२) इति व्याख्यानयन्नाह—

---

१ °ष्कृतं कृत्वा सम्य° भा० ॥

जह जह सुयमोगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं ।
तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाओ ॥ ११६७ ॥

यथा यथा 'श्रुतम्' आगममपूर्वमवगाहते, कथम्भूतम्? 'अतिशयरसप्रसरसंयुतम्' अतिशयाः—अर्थविशेषास्तेषु यो रसः—श्रोतॄणामाक्षेपकारी गुणविशेषस्तस्य यः प्रसरः—अतिरेकस्तेन संयुतं—युक्तम् । यद्वा श्रवणं श्रुतम्, तत् कथम्भूतम्? अतिशयस्य—अर्थस्य रसः—आस्वादनं तत्र 5 यः प्रसरः—गमनं तेन संयुतम् । अपूर्वं यथा यथाऽवगाहते तथा तथा मुनिः 'प्रह्लादते' शुभभावसुखासिकया मोदते । कथम्भूतः? इत्याह—नवनवः—अपूर्वापूर्वो यः संवेगः—वैराग्यं तद्गर्भा श्रद्धा—मुक्तिमार्गाभिलाषलक्षणा यस्य स नवनवसंवेगश्रद्धाक इति ॥ ११६७ ॥

गतं नवनवसंवेगद्वारम् । अथ निष्कम्पताद्वारमाह—

णाणाणत्तीएँ पुणो, दंसणतवनियमसंजमे ठिच्चा । 10
विहरइ विसुज्झमाणो, जावज्जीवं पि निक्कंपो ॥ ११६८ ॥

ज्ञानस्य या आज्ञप्तिः—आदेशः "जाए सद्धाए निक्खंतो तमेवमणुपालए" (आचाराङ्ग श्रु० १ अ० १ उ० ३) इत्यादिकस्तया दर्शनप्रधाने तपोनियमरूपे संयमे स्थित्वा कर्ममलेन विशुध्यमानः सन् यावज्जीवमपि 'निष्कम्पः' स्थिरचित्तवृत्तिः 'विहरति' संयमाध्वनि गच्छतीति ॥ ११६८ ॥ गतं निष्कम्पताद्वारम् । अथ तपोद्वारमाह— 15

बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झायसमं तवोकम्मं ॥ ११६९ ॥

द्वादशविधेऽपि तपसि 'साभ्यन्तरबाह्ये' सहाऽऽभ्यन्तरेण यद् बाह्यं तत् साभ्यन्तरबाह्यम् । तत्राभ्यन्तरं तपः षोढा—

प्रायश्चित्त-ध्याने, वैयावृत्त्य-विनयावथोत्सर्गः । 20
स्वाध्याय इति तपः षट्प्रकारमाभ्यन्तरं भवति ॥ (प्रशम० आ० १७६)

बाह्यमपि षोढा—

अनशनमूनोदरता, वृत्तेः संक्षेपणं रसत्यागः ।
कायक्लेशः संलीनतेति बाह्यं तपः प्रोक्तम् ॥ (प्रशम० आ० १७५)

तथा कुशाः—द्रव्यतो दर्भादयो भावतः कर्माणि तान् कर्मरूपान् कुशान् लुनन्ति—समूलानुत्पाट- 25 यन्तीति कुशलाः, "पृषोदरादयः" (सिद्ध० ३-२-१५५) इति रूपनिष्पत्तिः, तीर्थकरा इत्यर्थः, तैर्दृष्टे—कर्मक्षपणकारणतया केवलदृष्ट्या वीक्षिते, परं वाचनादिरूपो यः स्वाध्यायस्तत्समं—तत्तुल्यं तपःकर्म नास्ति नापि भविष्यति चशब्दाद् न चाभूत्, प्रभूततरकर्मक्षपणहेतुत्वादिति ॥११६९॥

गतं तपोद्वारम् । अथ निर्जराद्वारमाह—

जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहिँ वासकोडीहिँ । 30
तं नाणी तिहिँ गुत्तो, खवेइ ऊसासमेत्तेण ॥ ११७० ॥

यद् अज्ञानी जीवो नैरयिकादिभवेषु वर्त्तमानो बह्वीभिर्वर्षकोटीभिः कर्म क्षपयति 'तत्' कर्म

---

१ परबाह्य° त० डे० कां० ॥

ज्ञानी 'त्रिषु' मनोवाक्कायेषु गुप्तः सन् उच्छ्वासमात्रेणापि कालेन क्षपयति ॥ ११७० ॥

गतं निर्जराद्वारम्। अथ परदेशकत्वद्वारमाह—

आय-परसमुत्तारो, आणा वच्छल्ल दीवणा भत्ती।
होति परदेसियत्ते, अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स ॥ ११७१ ॥

5 पठितः सन् परेषां देशकत्वं—मार्गदेशित्वं करोति, तस्मिन् आत्मनः परस्य च समुत्तारो भवति। तथाहि—स साधुरधीतश्रुतः सन् अपरान् साधून् अध्यापयन् आत्मनो ज्ञानावरणीयं कर्म उपहन्ति, ते च साधवो ज्ञानोपदेशेनाऽचिरादेवापारसंसारमहोदधेरुत्तरन्ति। एवं च कुर्वता तीर्थकृतामाज्ञा अध्याप्यमानसाधूनां च वात्सल्यं तथा दीपना—प्रभावना भक्तिश्च पारमेश्वरप्रवचनस्य एतानि कृतानि भवन्ति, तीर्थस्य चाऽव्यवच्छित्तिरासूत्रिता भवति। एते गुणाः परदेशकत्वे 10 भवन्तीति ॥ ११७१ ॥ गतं परदेशकत्वद्वारम्। ततश्चावसिता "आयहिय" (गा० ११६२) इत्यादि द्वारगाथा। अथ प्रकृतयोजनां कुर्वन्नाह—

जिणकप्पिएण पगयं, जिणकाले सो उ केवलीणं वा।
सो भणइ एव भणितो, कत्थ अहीयं भयंतेहिं ॥ ११७२ ॥

अत्र जिनकल्पिकेन प्रकृतम्। 'स तु' जिनकल्पिको नियमाद् जिनस्य—तीर्थकरस्य काले वा 15 स्याद् अपरेषां वा गणधरादीनां केवलिनां काले। ततः 'सः' शिष्यः 'एवं' हेतु-दृष्टान्तैः 'भणितः' प्रज्ञापितो भणति—भगवन्! यद्येवं ततः पठाम्यहम् परमाचक्षतां पूज्याः—कुत्र 'भदन्तैः' भगवद्भिरधीतं यस्मादसौ शिष्यो जिनकल्पिको भविष्यति स च जिनकाले वा भवेत् केवलिकाले वा? ॥ ११७२ ॥ अतः स आचार्यः प्रतिब्रूयात्—

अंतरमणंतरे वा, इति उदिए धूलिनायमाहंसु।
20 **चिक्खल्लेण य नायं, तम्हा उ वयामि जिणमूलं ॥ ११७३ ॥**

अन्तरं—परम्परकेण मयाऽधीतम् अनन्तरं वा। तत्र यदि स आचार्यो गणधरशिष्यस्तस्याप्याराद्धा ततः 'परम्परकेणाधीतम्' इत्यभिदध्यात्। अथासौ गणधर एव ततः 'अनन्तरं जिनसकाश एव मयाऽधीतम्' इति ब्रूयात्। 'इति' एवम् 'उदिते' आचार्येणाऽभिहिते स शिष्यो धूलिज्ञातं चिक्खल्लज्ञातं चाख्यातवान्—यथा धूलिरेकत्र स्थापयित्वा तत उद्धृत्यान्यत्र यत्रास्तीर्यते तत्रावश्यं 25 किञ्चित् परिशटति, ततोऽप्यन्यत्र प्रस्तीर्यमाणा भूयस्तरा परिशटति; यथा वा प्रासादे लिप्यमाने मनुष्यपरम्परया चिक्खल्लः प्रत्यर्प्यमाणो बहुपरिशटितः स्तोकमात्रावशेष एव सर्वान्तिममनुष्यस्य हस्तं प्राप्नोति; एवमेतावपि सूत्रार्थौ परम्परया गृह्यमाणौ परिशटतः, तस्मात्तु 'जिनमूलं' तीर्थकरोपकण्ठमेव व्रजामि, तत्राविनष्टमेव सूत्रं भविष्यतीति ॥ ११७३ ॥

धूलिचिक्खल्लज्ञाते

कैः पुनस्तत् परिशटति? इत्याह—

30 **पय-पाय-मक्खरेहिं, मत्ता-घोसेहिं वा वि परिहीणं।**
अवि य रवि-राय-हत्थी, पगास सेवा पया चेव ॥ ११७४ ॥

पदैः पादैरक्षरैर्मात्रया घोषैर्वा अपिशब्दाद् बिन्दुना वा परिहीणं भवति परम्परया अधीयमानं

१ °धीतः साधून् डे० मो० कां० ॥ २ भगवद्भि° भा० त० डे० ॥

श्रुतमिति प्रक्रमः । 'अपि च' इत्यभ्युच्चये, भगवतः समीपे अधीयमानानां कारणान्तरमप्यस्तीति भावः । किं यादृशो रवेः—आदित्यस्य प्रकाशः ईदृशः किं खद्योतादीनां सम्भवी ? यादृशं वा राज्ञः सेवा विधीयमाना फलमुपढौकयति ईदृशं किममात्यादीनां सेवा सम्पादयति ? यादृशानि वा महान्ति हस्तिनः पदानि ईदृशानि किं कुन्थूनां सम्भवन्ति ? एवं यादृशानि महार्थानि भगवतस्तीर्थकृतो वचनानि ईदृशान्यपरेषां किं कदाचिद् भवन्ति ? इत्यतस्तीर्थकरोपकण्ठमेव व्रजामि 5 ॥ ११७४ ॥ इत्थं शिष्येणोक्ते सूरिराह—

कोट्ठाइबुद्धिणो अत्थि संपयं एरिसाणि मा जंप ।
अवि य तहिं वाउलणा, विरयाण वि कोउगाईहिं ॥ ११७५ ॥

यथा कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तं तदवस्थमेव चिरमप्यवतिष्ठते न किमपि कालान्तरेऽपि गलति, एवं येषु सूत्रा-ऽर्थौ निक्षिप्तौ तदवस्थावेव चिरमप्यवतिष्ठेते ते कोष्ठबुद्धयः । आदिशब्दात् पदा- 10 नुसारिबुद्धयो बीजबुद्धयश्च गृह्यन्ते । तत्र ये गुरुमुखादेकसूत्रपदमनुसृत्य शेषमश्रुतमपि भूयस्तरं पदनिकुरम्बमवगाहन्ते ते पदानुसारिबुद्धयः, ये त्वेकं बीजभूतमर्थपदमनुसृत्य शेषमवितथमेव प्रभूततरमर्थपदनिवहमवगाहन्ते ते बीजबुद्धयः, एवंविधाः कोष्ठादिबुद्धयः साम्प्रतमपि सन्ति येषु सूत्रार्थौ न परिशटत इति भावः । तद् ईदृशानि धूलिज्ञातादीनि 'मा जल्प' मा ब्रूहि । अपि च 'तत्र' भगवतः समीपे अधीयमानानां 'विरतानामपि' साधूनामपि कौतुकादिभिः 'व्याकुलना' 15 व्याकुलीकरणं भवति, सकलस्यापि लोकस्य कौतुकहेतुत्वात् । कौतुकं—समवसरणम्, आदिग्रहणेन भगवतो धर्मदेशनाश्रवणादिपरिग्रहः ॥ ११७५ ॥

अथ किमिदं समवसरणम् ? इति तद्वक्तव्यतां प्रतिपिपादयिषुर्द्वारगाथामाह—

समवसरणवक्तव्यता

समोसरणे केवइया, रूव पुच्छ वागरण सोयपरिणामे । 20
दाणं च देवमल्ले, मल्लाणयणे उवरि तित्थं ॥ ११७६ ॥

समवसरणविषयो विधिर्वक्तव्यः । "केवइय" त्ति कियतो भूभागाद् अपूर्वसमवसरणे अदृष्टपूर्वेण साधुना आगन्तव्यम् ? । "रूवं" ति भगवतो रूपं वर्णनीयम् । "पुच्छ" त्ति किमुत्कृष्टरूपतया भगवतः प्रयोजनम् ? इति पृच्छा प्रतिवचनं च वाच्यम् । "वागरणं" ति व्याकरणं भगवतो वक्तव्यम्, यथा युगपदेव सङ्ख्यातीतानामपि पृच्छतां व्याकरोति । तथा श्रोतृषु परि- 25 णामः श्रोतृपरिणामः स वक्तव्यः, यथा भागवती वाणी सर्वेषां स्वस्वभाषया परिणमते । वृत्तिदानं प्रीतिदानं वा कियत् प्रयच्छन्ति चक्रवर्त्यादयस्तीर्थकरप्रवृत्तिनिवेदकेभ्यः ? । तथा 'देवमाल्यं' बलिः, देवा अपि तत्र गन्धादि प्रक्षिपन्तीति कृत्वा तत् कः कथङ्कारं करोति ? इति । "मल्लाणयणे" त्ति तस्य च माल्यस्यानयने यो विधिः । "उवरि तित्थं" ति उपरि प्रथमपौरुष्यां व्यतीतायां 'तीर्थे' प्रथमगणधरो धर्मदेशनां करोति । तदेतत् सर्वमभिधातव्यमिति द्वारगाथा- 30 सङ्क्षेपार्थः ॥ ११७६ ॥ अथैनामेव प्रतिद्वारं विवरीषुराह—

---

१ °वतिष्ठते ते डे० विना ॥ २ °स्तरपद° त० डे० कां० ॥

जत्थ अपुव्वोसरणं, जत्थ व देवो महिड्ढिओ एइ ।
वाउदय पुप्फ वद्दल, पागारतियं च अभिओगा ॥ ११७७ ॥

'यत्र' क्षेत्रे समवसरणम् 'अपूर्वम्'—अवृत्तपूर्वं यत्र वा भूतपूर्वसमवसरणेऽपि देवो महर्द्धिको वन्दितुम् 'एति' आगच्छति तत्र नियमतः समवसरणं भवतीति वाक्यशेषः, अर्थादापन्नम् अन्यत्र 5 न नियम इति । तच्च कथं कुर्वन्ति ? इत्याह—"वाउदय" इत्यादि । शक्रादेः सम्बन्धिन आभियोग्या देवाः स्वस्वामिनो नियोगाद् भगवता समवसरिष्यमाणां भुवमागम्य योजनपरिमण्डलं संवर्त्तकवातं विकुर्वन्ति, तेन च सर्वतः प्रसर्पता रेणु-तृण-काष्ठादिकः कचवरनिकरः सर्वोऽपि बहिः क्षिप्यते, ततो भाविरेणुसन्तापोपशान्तये उदकवर्दलं विकुर्व्य तेन सुरभिगन्धोदकवर्षं कुर्वन्ति, ततः पुष्पवर्दलं विकुर्व्य जानुदघ्नीमधोनिक्षिप्तवृन्तां पुष्पवृष्टिं निसृजन्ति, ततश्चामी प्राकारत्रयं 10 कुर्वन्ति ॥ ११७७ ॥ कथम् ? इत्याह—

अब्भितर-मज्झ-बहिं, विमाण-जोइ-भवणाहिवकयाओ ।
पायारा तिन्नि भवे, रयणे कणगे य रयए य ॥ ११७८ ॥

आभ्यन्तर-मध्यम-बाह्या यथाक्रमं विमान-ज्योति-र्भवनाधिपकृताः प्राकारास्त्रयो भवन्ति । तत्राभ्यन्तरः प्राकारो रत्नैर्निर्वृत्तः 'रात्नः'—रत्नमयः, तं विमानाधिपतयः कुर्वन्ति । मध्यमः 15 प्राकारः 'कानकः' कनकमयः, तं ज्योतिष्का देवाः कुर्वन्ति । बाह्यः प्राकारः 'राजतः' रूप्यमयः, तं भवनाधिपतयः कुर्वन्तीति ॥ ११७८ ॥

मणि-रयण-हेमया वि य, कविसीसा सव्वरयणिया दारा ।
सव्वरयणामय च्चिय, पडाग-झय-तोरणा चित्ता ॥ ११७९ ॥

आभ्यन्तरप्राकारस्य मणिमयानि कपिशीर्षकाणि, मध्यमप्राकारस्य रत्नमयानि । अथ मणीनां 20 रत्नानां च कः प्रतिविशेषः ? उच्यते—चन्द्रकान्तादयो मणयः, इन्द्रनीलादीनि रत्नानि; अथवा स्थलसमुद्भवा मणयः, जलसमुद्भवानि रत्नान्युच्यन्ते । बाह्यप्राकारस्य हेममयानि—जात्यसुवर्णमयानि कपिशीर्षकाणि । एतानि च यथाक्रमं वैमानिक-ज्योतिष्क-भवनपतयः स्वस्वप्राकारेषु कुर्वन्ति । प्राकारत्रयेऽपि प्रत्येकं सर्वरत्नमयानि चत्वारि चत्वारि द्वाराणि, तथा सर्वरत्नमयान्येव पताका-ध्वजप्रधानानि तोरणानि भवन्ति । कथम्भूतानि ? 'चित्राणि' चन्दनकलश-स्वस्तिक-मुक्ता- 25 दामादिभिरनेकरूपाणि आश्चर्यकारीणि वा ॥ ११७९ ॥ व्यन्तरकृत्यमाह—

चेइदुम पेढ छंदग, आसण छत्तं च चामराओ य ।
जं चऽन्नं करणिज्जं, करिंति तं वाणमंतरिया ॥ ११८० ॥

'चैत्यद्रुमम्' अशोकवृक्षमभ्यन्तरप्राकारस्य बहुमध्यदेशभागे भगवतः प्रमाणाद् द्वादशगुणसमुच्छ्रयम् । तस्याधस्तात् पीठं सर्वरत्नमयम् । तस्यापि पीठस्योपरि चैत्यवृक्षस्याधस्ताद् देवच्छन्द- 30 कम् । तस्य देवच्छन्दकस्याभ्यन्तरे सिंहासनम् । तस्योपरि च्छत्रातिच्छत्रम् । 'चः' समुच्चये । उभयपार्श्वतश्चामरे यक्षहस्तगते । चशब्दाद् भगवतः पुरतो धर्मचक्रं पद्मप्रतिष्ठितम् । यच्च 'अन्यद्'

---

१ "जत्थ अपुव्वं नगरं गामो वा जत्थ वा देवो महिड्ढिओ वंदगो एति तत्थ णियमेण भवति" इति चूर्णौ ॥
२ विकृत्य तेन मो० ले० ॥ ३ अभ्यन्तरकृ° डे० त० कां० ॥

वातोदकादिकं 'करणीयं' कर्त्तव्यं कुर्वन्ति तद् वानमन्तरा देवा इति ॥ ११८० ॥ आह किं यद् यत् समवसरणं भवति तत्र तत्रायमित्थं नियोगः? उत न? इति, अत्रोच्यते—

साहारण ओसरणे, एवं जत्थिड्ढिमं तु ओसरई ।
एक्को च्चिय तं सव्वं, करेइ भयणा उ इयरेसिं ॥ ११८१ ॥

साधारणं—यत्र बहवो देवेन्द्रा आगच्छन्ति तत्र समवसरणे 'एवम्' अनन्तरोक्तो नियोगः । 5
यत्र तु 'ऋद्धिमान्' कश्चिदिन्द्रसामानिकादिः 'समवसरति' आगच्छति तत्रैक एवासौ 'तत्' प्राकारादिकं सर्वमपि करोति[1] । "भयणा उ इयरेसिं" ति यदीन्द्रादयो महर्द्धिका नागच्छन्ति ततः 'इतरे' भवनवास्यादयः कुर्वन्ति वा न वा समवसरणमित्येवं भजना कार्येति ॥

अत्र विशेषचूर्णावित्थं[2] विशेषो दृश्यते—चाउक्कोणा तिन्नि पागारा रइज्जंति चउद्दारा । अब्भिंतरिल्लो लोहियक्खेहिं, मज्झिल्लो पीयएहिं, बाहिरिल्लो सेयएहिं । सव्वो समोसरणभागो 10
जोयणं । अब्भिंतर-मज्झिमाणं पागाराणं अंतरं जोयणं । मज्झिम-बाहिराणं पागाराणं अंतरं गाउअं ति ॥ ॥ ११८१ ॥

इत्थं देवैः समवसरणे विरचिते सति यथा भगवान् तत्र प्रविशति तथाऽभिधातुकाम आह—

सूरुदय पच्छिमाए, ओगाहिंतीएँ पुव्वओ एति ।
दोहिँ पउमेहिँ पाया, मग्गेण य होंति सत्तऽन्ने ॥ ११८२ ॥ 15

'सूर्योदये' प्रथमायां पौरुष्याम् अपराह्णे तु पश्चिमायाम् 'अवगाहमानायाम्' आगच्छन्त्यामित्यर्थः 'पूर्वतः' पूर्वद्वारेण भगवान् 'एति' आगच्छति प्रविशतीत्यर्थः । कथम्? इत्याह—द्वयोः 'पद्मयोः' सहस्रपत्रयोर्देवपरिकल्पितयोः पादौ स्थापयन्नित्युपस्कारः । "मग्गेण य" त्ति प्राकृतत्वाद् विभक्तिव्यत्यये 'मार्गतः' पृष्ठतो भगवतः सप्ताऽन्यानि पद्मानि भवन्ति, तेषां च यद् यत् पाश्चात्यं तत् तत् पादन्यासं कुर्वतो भगवतः पुरतस्तिष्ठतीति ॥ ११८२ ॥ 20

ततः प्रविश्य किं करोति? इत्याह—

आयाहिण पुव्वमुहो, तिदिसिं पडिरूवयाँ[3] य देवकया ।
जेट्ठगणी अन्नो वा, दाहिणपुव्वे अदूरम्मि ॥ ११८३ ॥

"आयाहिण" त्ति भगवान् चैत्यद्रुमस्य प्रदक्षिणां विधाय पूर्वमुखः सिंहासनमध्यास्ते । यासु च दिक्षु भगवतो मुखं न भवति तासु तिसृष्वपि तीर्थकराकारधारकाणि सिंहासन-चामर-च्छत्र- 25
धर्मचक्रालंकृतानि प्रतिरूपकाणि देवकृतानि भवन्ति, यथा सर्वोऽपि लोको जानीते 'भगवानस्माकं पुरतः कथयति' । भगवतश्च पादमूलं जघन्यत एकेन गणिना—गणधरेणाऽविरहितं भवति, स च ज्येष्ठोऽन्यो वा भवेत्, प्रायो ज्येष्ठ एव । स च ज्येष्ठगणिरन्यो वा पूर्वद्वारेण प्रविश्य दक्षिणपूर्वे दिग्भागे 'अदूरे' प्रत्यासन्न एव भगवतो भगवन्तं प्रणिपत्य निषीदति[4] । शेषा अपि गणधरा एवमेवाभिवन्द्य ज्येष्ठगणधरस्य मार्गतः पार्श्वतश्च निषीदन्तीति ॥ ११८३ ॥ 30

---

१ °करोति । अत एवाऽऽवश्यकचूर्णिकृताऽभ्यधायि—असोगपायवं जिणउच्चत्ताओ बारसगुणं सक्को विउव्वति इत्यादि । "भयणा उ भा० पुस्तके ॥ २ °त्थं पठ्यते भा० ॥ ३ °या जिणवरस्स । जेट्ठ° ता० ॥ ४ °दति इति क्रियाध्याहारः । शेषा भा० ॥

आह भुवनगुरुरूपस्य सकलत्रिभुवनातिशायित्वात् त्रिदशकृतानां प्रतिरूपकाणां तेन सह साम्यम् ? असाम्यं वा ? इत्याशङ्कानिरासार्थमाह—

जे[1] ते देवेहिँ कया, तिदिसिं पडिरूवगा जिणवरस्स ।
तेसिं पि तप्पभावा, तयाणुरूवं हवइ रूवं ॥ ११८४ ॥

5 यानि तानि देवैः कृतानि तिसृषु दिक्षु जिनवरस्य प्रतिरूपकाणि तेषामपि 'तत्प्रभावात्' तीर्थकरप्रभावात् 'तदनुरूपं' तीर्थकररूपानुरूपं रूपं भवति ॥ ११८४ ॥

अथ ये यथा भगवतः समवसरणे निषीदन्ति तिष्ठन्ति वा तानभिधित्सुः **सङ्ग्रहगाथामाह**—[2]

तित्थाऽइसेससंजय, देवी वेमाणियाण समणीओ ।
भवणवइ-वाणमंतर-जोइसियाणं च देवीओ ॥ ११८५ ॥

10 'तीर्थं' गणधरस्तस्मिन् उपविष्टे सति अतिशायिनः संयता उपविशन्ति, ततो देव्यो वैमानिकानाम्, ततः श्रमण्यः, तथा भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्काणां च देव्य इति[3] ॥ ११८५ ॥

अथैतदेव विवृणोति—

केवलिणो तिउण जिणं, तित्थपणामं च मग्गओ तस्स ।
मणमाई वि नमंता, वयंति सट्ठाण सट्ठाणं ॥ ११८६ ॥

15 केवलिनः पूर्वद्वारेण प्रविश्य जिनं 'त्रिगुणं' त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य 'नमस्तीर्थाय' इति वचसा तीर्थप्रणामं च कृत्वा 'तस्य' तीर्थस्य-प्रथमगणधररूपस्य शेषगणधराणां च 'मार्गतः' पृष्ठतो दक्षिणपूर्वस्यां निषीदन्ति । तथा "मणमाई वि" त्ति मनःपर्यवज्ञानिन आदिशब्दाद् अवधिज्ञानिनः चतुर्दशपूर्विणो दशपूर्विणो नवपूर्विण आमर्षौषध्यादिविविधलब्धिमन्तश्च प्राच्यद्वारेण प्रविश्य भगवन्तं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्य च '[4]नमस्तीर्थाय, नमो गणधरेभ्यः, नमः केवलिभ्यः' 20 इत्यभिधाय केवलिनां पृष्ठत उपविशन्ति । शेषसंयता अपि प्राचीनद्वारेणैव प्रविश्य भुवनगुरुं प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा च '[5]नमस्तीर्थाय, नमो गणभृद्भ्यः, नमः केवलिभ्यः, नमोऽतिशयज्ञानिभ्यः' इति भणित्वा अतिशयिनां पृष्ठतो निषीदन्ति । एवं मनःपर्यायज्ञान्यादयोऽपि नमन्तः सन्तो व्रजन्ति स्वस्थानं स्वस्थानमिति । तथा वैमानिकानां देव्यः पूर्वद्वारेण प्रविश्य भुवनबान्धवं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य नत्वा च '[7]नमस्तीर्थाय, नमः सर्वसाधुभ्यः' इत्यभिधाय निरतिशयसाधूनां पृष्ठत- 25 स्तिष्ठन्ति न निषीदन्ति । श्रमण्योऽपि पौरस्त्यद्वारेण प्रविश्य तीर्थकृतं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च [6]तीर्थस्य साधूनां च नमस्कारं विधाय वैमानिकदेवीनां पृष्ठतस्तिष्ठन्ति न निषीदन्ति । (ग्रन्थाग्रं ५००० आदितः ९६००) भवनपतिदेव्यो ज्योतिष्कदेव्यो व्यन्तरदेव्यश्च दाक्षिणात्यद्वारेण

---

१ गाथेयं **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च नास्त्यादृता ॥ २ "तित्थाति० गाथा । जो तित्थं सो पुव्वदारेण पविसित्ता तित्थकरं तिक्खुत्तो वंदित्ता दाहिणपुरत्थिमे दिसीभागे णिसीयति । सेसा गणधरा एवं चेव काउं तित्थस्स मग्गतो पासेसु णिसीयंति ।" इति **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च ॥ ३ **इति गाथासमुदायार्थः ॥११८५॥ अथावयवार्थमाह**—भा० ॥ ४ "नमो तित्थस्स, नमो केवलीणं ति भणित्ता" इति **चूर्णौ** ॥ ५ "णमो तित्थस्स, णमो अतिसेसियाणं ति भणित्ता" इति **चूर्णौ** ॥ ६ °**नतिलकं प्रद**° मो० ले० ॥ ७ "णमो तित्थस्स, णमो अइसेसियाणं, नमो साहूणं ति भणित्ता" इति **विशेषचूर्णौ** ॥

प्रविश्य तीर्थकरादीनभिवन्द्य दक्षिणपश्चिमदिग्भागे यथाक्रममेव तिष्ठन्ति ॥ ११८६ ॥

भवणवई जोइसिया, बोधव्वा वाणमंतरसुरा य ।
वेमाणिया य मणुया, पयाहिणं जं च निस्साए ॥ ११८७ ॥

भवनपतयो ज्योतिष्का वानमन्तरसुराश्च एते भगवन्तमभिवन्द्य यथोपन्यासमेव पृष्ठतः पृष्ठत उत्तरपश्चिमे दिग्भागे तिष्ठन्तीति बोद्धव्याः । वैमानिका देवा मनुष्याः चशब्दाद् मनुष्यस्त्रियश्चे 5 प्रदक्षिणां कृत्वा तीर्थकरादीनभिवन्द्योत्तरपूर्वे दिग्भागे यथाक्रममेव तिष्ठन्तीति । "जं च निस्साए" त्ति यः परिवारः 'यं' देवं मनुजं वा 'निश्राय' निश्रां कृत्वा आगतः स तस्यैव पार्श्वे तिष्ठति ॥ ११८७ ॥ **अत्रान्तरे भाष्यादर्शेषु केषुचिदेता गाथा दृश्यन्ते—**

अणगारा वेमाणियवरंगणा साहुणी य पुव्वेणं ।
पविसंति विविहमणि-रयणकिरणनिकरेण दारेणं ॥ १ ॥ [प्र०] 10
जोइसिय-भवण-वणयरदयिता लायन्न-रूवकलियाओ ।
पविसंति दक्खिणेणं, पडाय-झयपंतिकलिएणं ॥ २ ॥ [प्र०]
जोइसिय भवण वणयर, ससंभमा ललियकुंडलाहरणा ।
पविसंति पच्छिमेणं, वि तुंगदिप्पंतसिहरेणं ॥ ३ ॥ [प्र०]
समहिंदा कप्पोवगदेवा राया नरा य नारीओ । 15
पविसंति उत्तरेणं, पवरमणिमऊहओहेणं ॥ ४ ॥ [प्र०]

एताश्च द्वयोरपि चूर्ण्योरगृहीतत्वात् प्रक्षेपगाथाः सम्भाव्यन्ते । उक्तार्थाः सुगमाश्चेति ॥ अभिहितार्थोपसङ्ग्रहायाह—

एक्केक्कीएँ दिसाए, तिगं तिगं होइ सन्निविट्ठं तु ।
आइ-चरिमे विमिस्सा, थी-पुरिसा सेस पत्तेयं ॥ ११८८ ॥ 20

एकैकस्यां दिशि त्रिकं त्रिकं 'सन्निविष्टम्' उपविष्टमूर्ध्वस्थितं वा भवति । तथाहि—दक्षिण-पूर्वस्यां दिशि संयता वैमानिकाङ्गनाः संयत्यश्चेति त्रयम्, अपरदक्षिणस्यां भवनपति-ज्योतिष्क-व्यन्तरदेवीनां त्रयम्, उत्तरापरस्यां भवनपति-ज्योतिष्क-व्यन्तरदेवानां त्रयम्, उत्तरपूर्वस्यां वैमा-निकदेव-मनुष्य-मनुष्यीणां त्रयमिति । अत्र चाद्ये चरमे च त्रिके विमिश्राः स्त्री-पुरुषाः, स्त्रियः पुरुषाश्चोभयेऽपि भवन्तीति भावः । 'शेषयोस्तु' मध्यमयोर्द्वयोस्त्रिकयोः स्त्रियः पुरुषाश्च 'प्रत्येकमिति' 25 निर्मिश्रा एव भवन्तीति ॥ ११८८ ॥ तेषां चेत्थं स्थितानां सुर-नराणां स्थितिमाह—

इंतं महिड्ढियं पणिवयंति ठियमवि वयंति पणमंता ।
न वि जंतणा न विकहा, न परोप्परमच्छरो न भयं ॥ ११८९ ॥

येऽल्पर्द्धयः पूर्वं भगवतः समवसरणे स्थितास्ते आगच्छन्तं महर्द्धिकं 'प्रणिपतन्ति' नमस्कु-र्वन्ति । अथ महर्द्धिकः प्रथमं स्थितः ततो येऽल्पर्द्धयः पश्चादागच्छन्ति ते महर्द्धिकं पूर्वस्थित- 30 मपि प्रणमन्तो व्रजन्ति यथास्थानम् । तथा नापि तेषां तत्रस्थितानां 'यन्त्रणा' 'न गन्तव्यं भवता

१ "एते अवरदारेणं पविसित्ता" इत्यधिकं **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च ॥ २ "उत्तरेणं पविसित्ता" इत्यधिकं **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च ॥

अतः स्थानात्' इति लक्षणा, न 'विकथा' स्त्रीकथादिरूपा सामान्यतो वार्त्ता प्रबन्धात्मका वा, न परस्परं 'मत्सरः' प्रद्वेषः, न 'भयं' सन्त्रासः कुतोऽपि बलवतो वैरिणः सकाशात्, प्रत्युत भगवतः साम्यसुधासिन्धुपूरेण प्लावितमनसां तेषां विलीयन्ते विरोधानुबन्धविषोर्मय इति ॥ ११८९ ॥

आह प्राकाराणां बाह्ययोर्द्वयोरन्तरयोः के तिष्ठन्ति? इत्याह—

5 **बिइयम्मि होंति तिरिया, तइए पागारमंतरे जाणा ।**
पागारजढे तिरिया, वि होंति पत्तेय मिस्सा वा ॥ ११९० ॥

द्वितीये प्राकारान्तरे भवन्ति 'तिर्यञ्चः' सिंह-हस्त्यादयः । तृतीये तु प्राकारान्तरे 'यानानि' वाहनानि भवन्ति । 'प्राकारजढे' प्राकाररहिते बहिरित्यर्थः तिर्यञ्चः, अपिशब्दाद् मनुष्य-देवा अपि प्रत्येकं मिश्रा वा भवन्ति ॥ ११९० ॥ एवं समवसरणे विरचिते सति किं भवति? इत्याह—

10 **सव्वं व देसविरइं, सम्मं घेच्छइ व होइ कहणा उ ।**
इहरा अमूढलक्खो, न कहेइ भविस्सइ न तं च ॥ ११९१ ॥

सर्वविरतिं वा देशविरतिं वा सम्यग्दर्शनं वा कश्चिद् ग्रहीष्यतीति ज्ञात्वा भगवतः 'कथना' धर्मदेशना भवति । 'इतरथा' सम्यक्त्वग्रहणस्याप्यभावे मूढं—विपर्ययमुपगतं लक्ष्यं—ज्ञेयवस्तु यस्य स मूढलक्ष्यो न तथा अमूढलक्ष्यो यथावस्थितवस्तुवेदीति भावः, एवंविधो भगवान् 'न कथयति'
15 न करोति धर्मदेशनाम् । आह यद्येवं तर्हि समवसरणकरणप्रयासो विबुधानामपार्थकः प्राप्नोतीत्याह—भविष्यति न तच्च यद् भगवत्यपि धर्मकथां कुर्वाणेऽन्यतमोऽप्यन्यतमत् सामायिकं न प्रतिपद्यते, भगवतः सातिशयत्वात् । भविष्यत्कालनिर्देशस्त्रिकालोपलक्षणार्थः ॥ ११९१ ॥

आह यद्येवं तर्हि कियन्ति सामायिकानि मनुष्यादयः प्रतिपद्यन्ते? इत्याह—

मणुए चउमन्नयरं, तिरिए तिन्नि व दुवे व पडिवज्जे ।
20 **जइ नत्थि नियमसो च्चिय, सुरेसु सम्मत्तपडिवत्ती ॥ ११९२ ॥**

मनुष्यश्चतुर्णां सामायिकानां सम्यक्त्व-श्रुत-देशविरति-सर्वविरतिरूपाणामन्यतरद् प्रतिपद्यते । तिर्यञ्चः 'त्रीणि वा' सम्यक्त्व-श्रुत-देशविरतिरूपाणि, द्वे वा सम्यक्त्व-श्रुतसामायिके प्रतिपद्यन्ते । यदि मनुष्य-तिरश्चां मध्ये कश्चित् प्रतिपत्ता नास्ति ततो नियमत एव 'सुरेषु' देवेषु कस्यापि सम्यक्त्वप्रतिपत्तिर्भवति ॥ ११९२ ॥ स च भगवानित्थं धर्ममाचष्टे—

25 **तित्थपणामं काउं, कहेइ साहारणेण सद्देणं ।**
सव्वेसिं सन्नीणं, जोयणनीहारिणा भगवं ॥ ११९३ ॥

'नमस्तीर्थाय' इत्यभिधाय प्रणामं च कृत्वा सर्वेषां सुर-नरादीनां संज्ञिनां जीवानां 'साधारणेन' स्वस्वभाषापरिणमनसमर्थेन 'योजननीहारिणा' योजनव्यापिना शब्देन भगवान् धर्मं कथयति । किमुक्तं भवति?—भगवतो दिव्यध्वनिरशेषाणामपि समवसरणवर्त्तिनां संज्ञिजन्तूनां जिज्ञासि-
30 तार्थप्रतिपत्तिनिबन्धनमुपजायते ॥ ११९३ ॥

आह कृतकृत्योऽपि भगवान् किमिति तीर्थप्रणामं करोति? इति उच्यते—

तप्पुव्विया अरहया, पूइयपूया य विणयमूलं च ।
कयकिच्चो वि जह कहं, कहेइ नमए तहा तित्थं ॥ ११९४ ॥

'तीर्थं' श्रुतज्ञानं तत्पूर्विका 'अर्हत्ता' तीर्थकरता, न खलु भवान्तरेषु श्रुताभ्यासमन्तरेण भगवत एवमेवाऽऽर्हन्त्यलक्ष्मीरुपढौकते । तथा पूजितस्य पूजा पूजितपूजा, सा च तीर्थस्य कृता भवति, पूजितपूजको हि लोकः, ततो यद्यहं तीर्थं पूजयामि ततस्तीर्थकरस्यापि पूज्यमिदमिति कृत्वा लोकोऽपि पूजयिष्यति । तथा विनयमूलं धर्मं प्ररूपयिष्यामि, अतः प्रथमतो विनयं प्रयुङ्क्ते, येन लोकः सर्वोऽपि मद्वचनं सुतरां श्रद्दधीत । अथवा कृतकृत्योऽपि भगवान् यथा कथां 5 कथयति तथा तीर्थमपि नमति । आह नन्वेतदप्यसमीचीनं यत् कृतकृत्यः सन् धर्मदेशनां करोति, नैवम्, अभिप्रायापरिज्ञानाद्, भगवता हि तीर्थकरनामगोत्रं कर्मावश्यवेदयितव्यम्, तस्य च वेदनेऽयमेवोपायो यद् अग्लान्या धर्मदेशनादिकरणम्, "तं च कहं वेइज्जइ ? अगिलाए धम्मदेसणाईहिं" ति (आव० नि० गा० १८३) वचनात् ॥ ११९४ ॥

गतं समवसरणद्वारम् । अथ "केवइय" त्ति द्वारम् । कियतो भूभागादवश्यं समवसरणे 10 आगन्तव्यम् ? इत्याह—

जत्थ अपुव्वोसरणं, न दिट्ठपुव्वं व जेण समणेणं ।
बारसहिँ जोयणेहिं, सो एइ अणागमे लहुगा ॥ ११९५ ॥

यत्र नगरादौ 'अपूर्वं समवसरणं' विवक्षिततीर्थकरापेक्षया अभूतपूर्वं येन वा श्रमणेन न दृष्टपूर्वं स द्वादशभ्यो योजनेभ्यो नियमतः 'एति' आगच्छति । यदि[1] त्ववज्ञया नागच्छति तदा 15 चत्वारो लघवः प्रायश्चित्तम् ॥ ११९५ ॥ अथ[2] रूपद्वारमाह—

सव्वसुरा जइ रूवं, अंगुट्ठपमाणयं विउव्विज्जा ।
जिणपायंगुट्ठं पइ, न सोहए तं जहिंगालो ॥ ११९६ ॥

कीदृग् भगवतो रूपम् ? इत्याह—'सर्वसुराः' वैमानिकादयः सम्भूय यदि सार-सारतर-सारतमान् पुद्गलान् गृहीत्वा अङ्गुष्ठप्रमाणकं रूपं विकुर्वेयुः (विकुर्युः) तथापि जिनपादाङ्गुष्ठं 20 प्रति उपमीयमानं[3] तद् न शोभते, यथाऽङ्गार इति ॥ ११९६ ॥

साम्प्रतं विनेयजनानुग्रहाय प्रसङ्गतो गणधरादीनामपि रूपसम्पदमभिधित्सयाऽऽह—

गणहर आहार अणुत्तरा य जाव वण-चक्कि-वासु-बला ।
मंडलिया जा हीणा, छट्ठाणगया भवे सेसा ॥ ११९७ ॥

तीर्थकररूपसम्पदः सकाशाद् अनन्तगुणहीना गणधरा रूपतो भवन्ति । गणधररूपाद् अन- 25 न्तगुणहीनाः खल्वाहारकदेहाः । आहारकदेहरूपाद् अनन्तगुणहीना अनुत्तरोपपातिनां देहाः । ततोऽप्यनन्तगुणहीना उपरितनोपरितनग्रैवेयकदेवदेहाः । एवं यावदीशानकल्पदेवरूपाद् अनन्तगुणहीनाः सौधर्मकल्पदेवदेहाः । ततो भवनपति-ज्योतिष्क-वनचर-चक्रवर्ति-वासुदेव-बलदेव-महामण्डलिका अपि रूपतो यथाक्रममनन्तगुणहीना द्रष्टव्याः । ततः शेषराजानो जनपदलोकाश्च षट्स्थानगताः परस्परं भवन्ति । तद्यथा—अनन्तभागहीना वा १ असङ्ख्येयभागहीना वा २ 30 सङ्ख्येयभागहीना वा ३ संख्येयगुणहीना वा ४ असङ्ख्येयगुणहीना वा ५ अनन्तगुणहीना वा ६

---

[1] यदि भाग° भा० त० विना ॥　[2] गतं केवइय त्ति द्वारम्, अथ रू० ॥　[3] उपनीयमानं भा० विना ॥

॥ ११९७ ॥ अथ भगवत एव रूपसौन्दर्यनिबन्धनं संहननादिकं वर्णयन्नाह—

संघयण-रूव-संठाण-वन्न-गइ-सत्त-सार-ऊसासा ।
एमादऽणुत्तराइं, हवंति नामोदया तस्स ॥ ११९८ ॥

'संहननं' वज्रऋषभनाराचम्, 'रूपम्' अनन्तरोक्तरूपम्, 'संस्थानं' समचतुरस्रम्, 'वर्णः' देहच्छाया, 'गतिः' मद्गजेन्द्रानुकारिणी सुललिता, 'सत्त्वं' धैर्यम्, सारो द्विधा—बाह्य आभ्यन्तरश्च, बाह्यो गुरुत्वम्, आभ्यन्तरो ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपः, "ऊसास" त्ति उच्छ्वास-निःश्वाससौरभ्यम्, एवमादीनि वस्तूनि तस्य भगवतः 'अनुत्तराणि' अनन्यसामान्यानि भवन्ति, आदिशब्दाद् गोक्षीरगौरं रुधिरा-ऽऽमिषं चर्मचक्षुषामगोचरावाहार-नीहारौ इत्यादि । एतानि च 'नामोदयाद्' नामनाम्नः कर्मणः शुभरूपस्योदयात् 'तस्य' भगवतोऽनुत्तराणि भवन्ति ॥ ११९८॥ किञ्च—

पयडीणं अन्नासऽवि, पसत्थ उदया अणुत्तरा होंति ।
खयउवसमे वि य तहा, खयम्मि अविगप्पमाहंसु ॥ ११९९ ॥

प्रकृतीनाम् 'अन्यासामपि' नामव्यतिरिक्तानां गोत्रादीनां प्रशस्ता उदया उच्चैर्गोत्रत्वादयो भवन्ति । अपिशब्दाद् नाम्नोऽपि ये उक्तव्यतिरिक्ताः सौभाग्य-सौन्दर्य-यशःकीर्तिप्रभृतयस्तेऽपि परिगृह्यन्ते । एते च किमितरजनस्येव प्रशस्ताः ? उत न ? इत्यत आह—'अनुत्तराः' अनन्यसदृशाः । "खयउवसमे वि य तह" त्ति कर्मणां क्षयोपशमेऽपि सति ये दान-लाभादयः कार्यविशेषास्तेऽपि तथैव भगवतोऽनुत्तराः । 'क्षये' क्षायिके पुनर्भावे वर्तमानस्य भगवतः केवलज्ञानादिकं गुणसमुदयम् 'अविकल्पं' वर्णनादिविकल्पातीतं सर्वोत्तमम् "आहंसु" त्ति आख्यातवन्तः श्रुतधरा इति ॥ ११९९ ॥ आह केवलिकालेऽप्यसाताद्याः प्रकृतयो नाम्नो वा या अशुभास्ताः कथं तस्य दुःखदा न भवन्ति ? इति अत्रोच्यते—

अस्सायमाइयाओ, जा वि य असुहा हवंति पगडीओ ।
निंबरसलवु व्व पए, न होंति ता असुहया तस्स ॥ १२०० ॥

'असाताद्याः' असातवेदनीयादयो या अपि चाशुभा भवन्ति प्रकृतयस्ता अपि निम्बरसलव इव 'पयसि' दुग्धे न भवन्ति अशुभदा असुखदा वा तस्य भगवत इति ॥ १२०० ॥

अथ पृच्छाद्वारम् । आह उत्कृष्टरूपतया भगवतः किं प्रयोजनम् ? इति अत्रोच्यते—

धम्मोदएण रूवं, करेंति रूवस्सिणो वि जइ धम्मं ।
गज्झवओ य सुरूवो, पसंसिमो रूवमेवं तु ॥ १२०१ ॥

धर्मस्य-पुण्यप्रकृतिरूपस्योदयेन रूपं भवतीति परिभाव्य श्रोतारोऽपि धर्मे प्रवर्तन्ते । तथा कुर्वन्ति 'रूपस्विनोऽपि' रूपवन्तोऽपि यदि धर्मं ततः शेषैः सुतरां कर्तव्य इति श्रोतृबुद्धिः प्रवर्तते । 'ग्राह्यवाक् च' आदेयवाक्यः सुरूपः पुरुषो भवति, चशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् श्रोतृणां रूपाद्यभिमानापहारी च । अतः प्रशंसामो वयं भगवतो रूपमेवमिति ॥ १२०१ ॥

गते रूप-पृच्छाद्वारे । अथ व्याकरणद्वारम् । भगवान् देव-नर-तिरश्चां प्रभूतसंशयिनां व्याकरणं कुर्वन् कथं संशयव्यवच्छित्तिं करोति ? इत्युच्यते—युगपदेकेनैव निर्वचनेन । आह यद्येकैके-

१ °कस्य संश° डे० कां० ॥

स्यैकैकं संशयं परिपाट्या व्यवच्छिन्द्यात् ततः को दोषः स्यात्? इत्याह—

कालेण असंखेण वि, संखाईयाण संसईणं तु ।
मा संसयवोच्छित्ती, न होज्ज कमवागरणदोसा ॥ १२०२ ॥

कालेन 'असङ्ख्येयेनापि' पल्योपमादिना सङ्ख्यातीतानां संशयिनां संशयव्यवच्छित्तिः क्रमव्याकरणदोषाद् न भवेत्, अत एतद् मा भूदिति भगवान् युगपद् व्यागृणातीति ॥ १२०२ ॥ 5

अथ युगपद्व्याकरणे गुणानाह—

सव्वत्थ अविसमत्तं, रिद्धिविसेसो अकालहरणं च
सव्वन्नुपच्चओ वि य, अचिंतगुणभूइओ जुगवं ॥ १२०३ ॥

'सर्वत्र' सर्वसत्त्वेषु 'अविषमत्वं' युगपन्निर्वचनेन तुल्यत्वं भगवतो भवति, राग-द्वेषरहितस्य तुल्यकालसंशयिनां युगपज्जिज्ञासतां कालभेदेन कथने राग-द्वेषगोचरचित्तवृत्तिसम्भावनाप्रसङ्गात् । 10 ऋद्धिविशेषश्चायं भगवतः, यद् युगपत् सर्वसंशयिनामशेषसंशयव्यवच्छित्तिं करोति । तथा परिपाट्या कथने कस्यापि संशयिनोऽनिवृत्तसंशयस्यैव कालेन–मृत्युना हरणं स्यात्, अतोऽकालहरणं युगपन्निर्वचने भवति । तथा सर्वज्ञप्रत्ययोऽपि च तेषामित्थमेव भवति, क्रमव्याकरणे तु कस्यचिदनपनीतसंशयस्य सर्वज्ञप्रतीतिरपि न स्यात् । तथा अचिन्त्या–अप्रमेया गुणभूतिः–गुणसम्पदियं भगवतः, यदेकहेलयैव सर्वेषामपि संशयव्यपनयनम् । एतैः कारणैर्भगवान् युगपत् 15 कथयतीति ॥ १२०३ ॥ गतं व्याकरणद्वारम् । अथ श्रोतृपरिणामद्वारम् । तत्र यथा सा पारमेश्वरी वाग् अशेषसंशयोन्मूलनेन परिणमते तथा प्रतिपादयन्नाह—

वासोदगस्स व जहा, वन्नादी होंति भायणविसेसा ।
सव्वेसिं पि सभासं, जिणभासा परिणमे एवं ॥ १२०४ ॥

'वर्षोदकस्य' वृष्टिपानीयस्य वाशब्दाद् अन्यस्य वा यथैकरूपस्य सतः 'वर्णादयः' वर्ण-गन्ध- 20 रस-स्पर्शाः 'भाजनविशेषाद्' भूमिकाद्याधारविशेषाद् विचित्रा भवन्ति । यथा कृष्ण-सुरभिमृत्तिकायां वर्षोदकं पतितं स्वच्छं सुगन्धं सरसं च भवति, ऊषरभूमिकायां विपरीतम्; एवं सर्वेषामपि श्रोतॄणां स्वस्वभाषां प्रति 'जिनभाषा' जैनी वाणी परिणमते । उक्तञ्च **परमर्षिभिः**—

सा वि य णं भगवओ अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आयरियमणायरियाणं दुपय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि-सिरीसिवाणं अप्पप्पणो भासत्ताए परिणमइ ॥ (समवायाङ्गे ३४ 25 समवाये) ॥ ॥ १२०४ ॥ भगवद्वाच एव सौभाग्यगुणप्रतिपादनायाह—

साहारणा-ऽसवत्ते, तओवओगो उ गाहगगिराए ।
न य निव्विज्जइ सोया, किढिवाणियदासिआहरणा ॥ १२०५ ॥

'साधारणा' सर्वसंज्ञिनां भाषासु सामान्या; यद्वा क्षीर-खण्डादीनि मधुरद्रव्याण्येकत्र मीलितानि यथा सुस्वादुतया साधारणानि भवन्ति एवमसावप्यतीवसुस्वादुतया साधारणा; नरकादौ पततो वा 30 जन्तून् या सम्यग् धारयति साधारं–परित्राणं करोतीति साधारणा । 'असपत्ना' अनन्यसदृशी, यस्या वा अपरवाग्भिर्व्याघातो न क्रियते । ग्राहिका–अर्थपरिच्छेदकारिणी सा चासौ गीश्च

१ अतो भग° भा० ॥ २ °यति सा साधारणा भा० त० डे० कां० ॥

ग्राहकगीः । एवंविधायां तस्यामुपयोगः–एकाग्रता तदुपयोगः, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् तदुपयोग एव श्रोतुर्भवति, नानुपयोगो न चान्यत्रोपयोग इति । उपयोगे सत्यप्यन्यत्र निर्वेददर्शनात् तस्यामपि निर्वेदः स्यादित्याह—न च निर्विद्यते श्रोता भागवतीं वाचं शृण्वन् । कुतः खल्वयमर्थोऽवगन्तव्यः ? इत्याह—**किढिवाणिजदास्युदाहरणात्**—

5 एगस्स वाणियगस्स किढी दासी किढी थेरी । सा गोसे कट्ठाणं गया । तण्हा-छुहाकिलंता मज्झण्हे आगता । 'अतिथेवा कट्ठा आणिय' त्ति पिट्टित्ता भुक्खिय-तिसिया पुणो पट्ठविया । सा य वड्ड कट्ठभारं गहाय ओगाहंतीए पच्छिमाए पोरिसीए आगच्छइ । को कालो ? जेट्ठामूलमासो । अह ताए य थेरीए कट्ठभाराओ एगं कट्ठं पडियं । ताए ओणमित्ता तं गहियं । तंसमयं च भगवं तित्थगरो धम्मं कहियाइओ जोयणनीहारिणा सरेणं । सा थेरी तं सद्दं सुणेंती 10 तहेव ओणया सोउमाढत्ता । उण्हं खुहं पिवासं परिस्समं च न विंदइ । सूरत्थमणे तित्थयरो धम्मं कहेउमुट्ठितो । थेरी गता ॥ ॥ १२०५ ॥

सव्वाउअं पि सोया, झविज्ज जइ हु सययं जिणो कहए ।
सी-उण्ह-खु-प्पिवासा-परिस्सम-भए अविगणिंतो ॥ १२०६ ॥

अनेनैव दृष्टान्तेन यदि 'हुः' निश्चितं सततं 'जिनः' तीर्थङ्करः कथयेत्, ततः श्रोता 'शीतोष्ण-15 क्षुत्पिपासापरिश्रमभयान्यविगणयन्' शीतं–हिमम् उष्णम्–आतपः क्षुत्पिपासे प्रतीते परिश्रमः–मार्गगमनादिसमुत्थः भयं–प्रतिपक्षादिजनितम् एतान्यविन्दमानो भगवतो धर्मदेशनां शृण्वन् सर्वायुष्कमपि क्षपयेदिति ॥ १२०६ ॥

गतं श्रोतृपरिणामद्वारम् । अथ दानद्वारम् । भगवान् येषु नगरा-ऽऽकरादिषु विहरति तेभ्यो दिवसदैवसिकीं वार्त्तां ये खल्वानयन्ति यथा 'भगवान् अद्यामुत्र क्षेत्रे विहरति' इति तेषां यद् 20 भगवत्किंवदन्तीनिवेदनवृत्तिकल्पं परिभाषितं संवत्सरनियतं दानं दीयते तद् वृत्तिदानम्, यत् पुनः स्वनगरे भगवदागमननिवेदकाय नियुक्तायानियुक्ताय वा हर्षप्रकर्षाधिरूढमानसैर्दीयते तत् प्रीतिदानम्, एतद् द्वयमपि यथा चक्रवर्त्यादयः प्रयच्छन्ति तथा प्रतिपादयन्नाह—

वित्ती उ सुवण्णस्सा, बारस अद्धं च सयसहस्साइं ।
तावइयं चिय कोडी, पीईदाणं तु चक्कीणं ॥ १२०७ ॥

25 वृत्तिदानं सुवर्णस्य 'द्वादश अर्द्धं च शतसहस्राणि' अर्द्धत्रयोदश सुवर्णलक्षा इत्यर्थः । 'तावत्य एव' अर्द्धत्रयोदशप्रमाणा एव सुवर्णस्य कोटयः प्रीतिदानम् । केषाम् ? इत्याह—चक्रवर्तिनाम् ॥ १२०७ ॥

एतं चेव पमाणं, नवरं रययं तु केसवा दिंति ।
मंडलियाण सहस्सा, वित्ती पीई सयसहस्सा ॥ १२०८ ॥

30 एतदेव प्रमाणं वृत्ति-प्रीतिदानयोः, 'नवरं' केवलं 'रजतं' रूप्यं 'केशवाः' वासुदेवा ददति । 'माण्डलिकानां' राज्ञां सहस्राण्यर्द्धत्रयोदशप्रमाणानि रूप्यस्य वृत्तिदानम्, प्रीतिदानं पुनरर्द्धत्रयोदशशतसहस्राणि इति ॥ १२०८ ॥

---

१ चक्किस्स ता० ॥

किमेत एव महापुरुषाः प्रयच्छन्ति ? आहोश्विदन्येऽपि ? इत्याह—

भत्ति-विभवाणुरूवं, अन्ने वि य दिंति इब्भमाईया ।
सोऊण जिणागमणं, निउत्तमनिओइएसुं वा ॥ १२०९ ॥

'भक्ति-विभवानुरूपं' यावती यस्य भगवद्विषया भक्तिः यावती च यस्य विभूतिः स तदनुमाने-नेत्यर्थः, अन्येऽपि च ददति 'इभ्यादयः' इभमर्हतीति इभ्यः, यस्य सत्कसुवर्णादिद्रव्यपुञ्जेनान्त-रितो हस्त्यपि न दृश्यते सः, अभ्यधिकद्रव्यो वेत्यर्थः, आदिशब्दाद् नगर-ग्रामभोगिकादयः । कदा ? इत्याह—श्रुत्वा 'जिनस्य' तीर्थकृत आगमनं नियुक्तेभ्योऽनियुक्तेभ्यो वा ॥ १२०९ ॥

आह तेषामित्थं वृत्ति-प्रीतिदाने प्रयच्छतां के गुणाः ? इति उच्यते—

देवाणुवित्ति भत्ती, पूया थिरकरण सत्तअणुकंपा ।
साओदय दाणगुणा, पभावणा चेव तित्थस्स ॥ १२१० ॥

चक्रवर्त्यादिभिरित्थं प्रयच्छद्भिर्देवानामनुवृत्तिः कृता भवति, देवा अपि भगवतः पूजां कुर्व-न्तीति कृत्वा भगवति पूज्यमाने तेषामपि महान् परितोषो भवतीत्यर्थः । तथा भक्तिर्भगवतः कृता भवति । तीर्थकरपूजायां च स्थिरीकरणमभिनवश्राद्धानां भवति । सत्त्वानां भगवत्प्रवृत्तिनिवे-दकानामनुकम्पा विहिता भवति । 'सातोदयं' सातवेदनीयं कर्म विशिष्टदिव्य-मानुष्यसुखोपभोग-फलं[1] बध्यते । एतेऽनन्तरोक्ता दानगुणाः । प्रभावना चैव तीर्थस्य कृता भवति—अहो ! अमीषां धर्मः श्रेयान् यत्र स्वदेव-गुरुभक्तिसम्भारसुभगमीदृशमौदार्यमिति ॥ १२१० ॥

गतं दानद्वारम् । अथ देवमाल्यद्वारम् । भगवान् प्रथमां सम्पूर्णपौरुषीं धर्ममाचष्टे । अत्रान्तरे देवमाल्यं प्रविशति, बलिरित्यर्थः । आह कस्तं करोति ? इत्याह—

राया व रायमच्चो, तस्सासइ पउर जणवओ वा वि ।
दुब्बलिकंडिय बलिछडिय तंदुलाणाढगं कलमा ॥ १२११ ॥

'राजा वा' चक्रवर्ति-माण्डलिकादिः, 'राजामात्यो वा' राज्ञो मन्त्री । 'तस्य' राज्ञो राजामात्यस्य वा 'असति' अभावे 'पौरं' नगरनिवासिविशिष्टलोकसमुदायः 'जनपदो वा' ग्रामादिवास्तव्यजनसमु-दायो दुर्बलिकया कण्डितानां खण्डीकर्तुमशक्तत्वाद् बलवत्या च्छटितानां निःशेषतुषापनयनात् तन्दुलानाम् 'आढकम्'

दो असईओ पसई, दो पसईओ य सेइआ होइ ।
चउसेइओ उ कुडवो, चउकुडवो पत्थओ नेओ ॥

एवंविधैश्चतुर्भिः प्रस्थैरेक आढको निष्पद्यते, एवंपरिमाणं "कलम" त्ति आर्षत्वाद् विभक्तिव्यत्यये 'कलमानां' शालिविशेषाणां बलिं करोति ॥ १२११ ॥ किंविशिष्टानाम् ? इत्याह—

भाइयपुणाणियाणं, अखंड-ऽफुडियाण फलगसरियाणं ।
कीरइ बली सुरा वि य, तत्थेव छुहंति गंधाई ॥ १२१२ ॥

भाजिताश्च ते पुनरानीताश्च भाजितपुनरानीतास्तेषाम् । तत्र भाजनम्—ईश्वरादिगृहेषु बीनन्म-र्थमर्पणम्, तेभ्यः प्रत्यानयनं पुनरानयनम् । तथा 'अखण्डा-ऽस्फुटितानाम्' अखण्डाः—सम्पूर्णा-

१ फलं तद् ब° भा० ॥

वयवाः अस्फुटिताः—राजीरहिताः, "फलकसरिताणं" फलकवीनितानाम्, एवम्भूतानां तन्दुलानां बलिः क्रियते। सुरा अपि च 'तत्रैव' बलौ प्रक्षिपन्ति गन्धादीनिति ॥ १२१२ ॥

गतं देवमाल्यद्वारम्। अथ माल्यानयनद्वारम्। तमित्थं तन्दुलाढकपरिमाणं सिद्धं बलिमुपादाय राजादिस्त्रिदशगणपरिवृतो महता पटुपटहादितूर्यनिनादेन सकलमपि दिग्मण्डलमापूरयन्नागत्य 5 पूर्वद्वारेण प्रवेशयति। आह च चूर्णिकृत्—

तं आढगं तंदुलाणं सिद्धं देवमल्लं राया व रायमच्चो वा पउरं वा गामो वा जणवओ वा गहाय महया तूरियरवेणं देवपरिवुडो पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं पविसइ त्ति।

तस्मिंश्च प्रवेश्यमाने भगवानपि धर्मदेशनामुपसंहरतीति। आह च—

बलिपविसणसमकालं, पुव्वद्दारेण ठाइ परिकहणा।
10 **तिगुणं पुरओ पाडण, तस्सद्धं अवडियं देवा ॥ १२१३ ॥**

पूर्वद्वारेण बलिप्रवेशनसमकालं 'तिष्ठति' उपरमते 'परिकथना' धर्मकथा। ततश्च स राजादिः प्रविश्य बलिव्यग्रहस्तो भगवन्तं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य बलिं तत्पादान्तिके पुरतः पातयति। तस्य चार्द्धमपतितमेव देवा गृह्णन्ति ॥ १२१३ ॥

अद्धद्धं अहिवइणो, तदद्ध मो होइ पागयजणस्स।
15 **सव्वामयप्पसमणी, कुप्पइ नऽन्नो य छम्मासे ॥ १२१४ ॥**

देवगृहीतोद्वरितस्यार्द्धस्यार्द्धमधिपतेर्भवति, राजादेर्बलिस्वामिन इत्यर्थः। 'तदर्द्धं' चतुर्भागलक्षणं 'मो' पादपूरणे यद् बलेरास्ते तद् भवति 'प्राकृतजनस्य' प्रकृतिषु भवः प्राकृतो जनस्तस्य, इतरलोकस्येत्यर्थः। तस्य चायं प्रभावः—यदि तत एकमपि सित्थं शिरसि प्रक्षिप्यते ततः पूर्वोत्पन्नो रोगः सपदि विलीयते, अपूर्वश्च षण्मासान् यावन्न प्रादुर्भवतीति। आह च—'सर्वामयप्रशमनः' 20 सर्वरोगोपशमनोऽयं बलिः, गाथायां प्राकृतत्वात् स्त्रीत्वम्, कुप्यति न 'अन्यश्च' अपूर्वो रोगः षण्मासान् यावदिति ॥ १२१४ ॥

गतं माल्यानयनद्वारम्। अपरे त्वनन्तरोक्तं द्वारद्वयमप्येकद्वारीकृत्य व्याचक्षते तथाप्यविरोधः। इत्थं बलौ प्रक्षिप्ते भगवानुत्थाय प्रथमप्राकारान्तरादुत्तरद्वारेण निर्गत्य पूर्वस्यां दिशि स्फटिकमये देवच्छन्दके यथासुखं समाधिना व्यवतिष्ठते। अथ 'उपरि तीर्थम्' इति द्वारम्—भगवत्यु- 25 त्थिते उपरि—द्वितीयपौरुष्यां तीर्थं—प्रथमगणधरोऽपरो वा धर्ममाचष्टे। आह भगवानेव किमिति नाचष्टे? किं तत्कथने केऽपि गुणाः सन्ति? उच्यते, सन्तीति ब्रूमः। के पुनस्ते? इत्याह—

खेयविणोओ सीसगुणदीवणा पच्चओ उभयओ वि।
सीसा-ऽऽयरियकमो वि य, गणहरकहणे गुणा होंति ॥ १२१५ ॥

भगवतः खेदविनोदो भवति, परिश्रमविश्राम इत्यर्थः। तथा 'अहो! अस्य भगवतः शिष्या 30 अप्येवंविधव्याख्यानलब्धिमन्तः' इति शिष्यगुणदीपना कृता भवति। [1]प्रत्ययश्चोभयतोऽपि श्रोतॄणामुपजायते, यथा भगवताऽभ्यधायि तथा गणधरोऽप्यभिधत्ते, न शिष्या-ऽऽचार्ययोः परस्परं

[1] "पच्चयो उभयतो वि त्ति गिहत्थाण य पव्वइयाण य, जारिसयं तित्थयरो कधेति तारिसं सिस्सो वि कधेति; अधवा पच्चयो उभयतो वि त्ति न शिष्याचार्ययोः परस्परविरुद्धं वचनम्" इति **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च॥

वचनविरोध इति; गणधरे वा तदनन्तरं भगवदुक्तानुवादिनि प्रत्ययो भवति भगवद्विषयः श्रोतृणां यथा नान्यथावादीति । तथा शिष्या-ऽऽचार्यक्रमोऽपि च दर्शितो भवति, आचार्यादुपश्रुत्य योग्यशिष्येण तदुक्तार्थव्याख्यानं कर्तव्यम् । एते 'गणधरकथने' गणभृतो धर्मदेशनायां गुणा भवन्तीति ॥ १२१५ ॥ आह स गणधरः क निषण्णः कथयति ? इत्युच्यते—

राओवणीय सीहासणोवविट्ठो व पायवीढम्मि । 5
जिट्ठो अन्नयरो वा, गणहारि कहेइ बीयाए ॥ १२१६ ॥

राज्ञा उपनीते-ढौकिते सिंहासने वा तदभावे भगवतः पादपीठे वा उपविष्टः 'ज्येष्ठः' प्रथमो **गौतम**स्वाम्यादिस्तदभावेऽन्यतरो वा गणं-साध्वादिसमुदायं गुणसमुदयं वा धारयितुं शीलमस्येति गणधारी कथयति द्वितीयायां पौरुष्यामिति ॥ १२१६ ॥

आह स कथयन् कथं कथयति ? इत्युच्यते— 10

संखाईए वि भवे, साहइ जं वा परो उ पुच्छिज्जा ।
न य णं अणाइसेसी, वियाणई एस छउमत्थो ॥ १२१७ ॥

भगवान् गणधरः सङ्ख्यातीतानपि भवान् "साहइ" त्ति कथयति । इदमुक्तं भवति—असङ्ख्येयेषु भवेषु यद् बभूव भविष्यति वा तत् सर्वमपि कथयति । 'यद् वा' वस्तुजातं दुरवगममपि परः पृच्छेत् तदशेषमपि कथयतीति, अनेनाऽशेषाभिलाप्यपदार्थप्रतिपादनशक्तिमाह । 15 किं बहुना ? 'न च' नैव "णं" इति तं गणधरम् 'अनतिशयी' अवधि-मनःपर्यायाद्यतिशयरहितो विजानाति यथा 'एषः' गणधरः छद्मस्थः, किन्तु निःशेषप्रश्नोत्तरदानसमर्थतया सर्वज्ञोऽयमिति मन्यत इति भावः ॥ १२१७ ॥

एवं तावत् **समवसरणवक्तव्यता** प्रसङ्गत उक्ता । अथ प्रकृतयोजनामाह—

तित्थयरस्स समीवे, वक्खेवो तत्थ एवमाईहिं । 20
सुत्तग्गहणं ताहे, करेइ सो बारस समाओ ॥ १२१८ ॥

तीर्थकरस्य समीपे 'तत्र' समवसरणे एवमादिभिः प्रकारैरध्ययनस्य व्याक्षेपो भवतीत्युक्ते स शिष्यः प्राह—'भगवन् ! सत्यमेवैतद् यद् आदिशत यूयं अत इहैव पठामि' इत्युक्त्वा सूत्रग्रहणं द्वादश 'समाः' वर्षाणि करोति, द्वादशभिर्वर्षैः सकलस्यापि सूत्रस्याध्ययनं विदधातीत्यर्थः ॥ १२१८ ॥ गतं शिक्षापदद्वारम् । अथार्थग्रहणद्वारं विवरीषुराह— 25

अर्थग्रहणद्वारम्

सुत्तम्मि य गहियम्मी, दिट्ठंतो गोण-सालिकरणेणं ।
उवभोगफला साली, सुत्तं पुण अत्थकरणफलं ॥ १२१९ ॥

सूत्रे गृहीते सति अवश्यं तस्यार्थः श्रोतव्यः । किं कारणम् ? इति चेद् उच्यते—दृष्टान्तोऽत्र 'गवा' बलीवर्देन 'शालिकरणेन च' शालिक्षेत्रेण ।

गोदृष्टान्तः

तत्र **गोदृष्टान्तो यथा**—कश्चिद् बलीवर्दः सकलमपि दिवसं वाहयित्वा हलाद् अरघट्टाद् 30 वा मुक्तः सन् सुन्दरामसुन्दरां वा चारिं यां प्राप्नोति तां सर्वामनास्वादयन् चरत्येव । पश्चाद् भ्रातः सन्नुपविश्य प्राक् चीर्णं रोमन्थायते, रोमन्थायमानश्च तदा स्वादमुपलभते, ततोऽसौ

१ °सणे व विट्ठो मो० ले० ॥

नीरसं कचवरं परित्यजति । एवमयमपि गृहवासारघट्टाद् मुक्तः प्रथमं यत् किमपि सूत्रं चारि-
कल्पं गुरुसकाशादधिगच्छति तत् सर्वमर्थास्वादनविरहितं गृह्णाति । ततः सूत्रे गृहीतेऽर्थग्र-
हणं करोति । यदि पुनरर्थं न गृह्णीयात् तदा तत् सूत्रं निरास्वादमेव सञ्जायते । अर्थे तु श्रुते
सम्यक् तदर्थमवबुध्यमानः सन्नसौ यथावदाचरत्युपदेशम्, परिहरति बिन्दु-मात्राभेदादिदोषदु-
5 ष्टान् कचवरकल्पानभिलापानिति ॥

शालिकरण-दृष्टान्तः

शालिकरणदृष्टान्तः पुनरयम्—यथा कर्षकः शालीन् महता परिश्रमेण निष्पाद्य ततो
लवन-मलन-पवनादिप्रक्रियापुरस्सरं कोष्ठागारे प्रक्षिप्य यदि तैः शालिभिः खाद्य-पेयादीनामुप-
भोगं न करोति ततः शालिसङ्ग्रहस्तस्याफलः सम्पद्यते । अथासौ करोति तैः शालिभिः यथायो-
गमुपभोगं ततः शालिसङ्ग्रहः सफलो जायते । एवं द्वादशवार्षिके सूत्राध्ययनपरिश्रमे कृतेऽपि
10 यदि तदीयमर्थं न शृणुयात् तदा स सर्वोऽपि परिश्रमो निष्फल एव भवेत् । अर्थे तु श्रुते
सम्यगवधारिते च सफलः स्यात् ॥

अत एवाह—उपभोगफलाः शालयः, सूत्रं पुनः 'अर्थकरणफलं' चरण-करणादिरूपसूत्रार्था-
चरणफलम्, तच्च सूत्रोक्तार्थाचरणं श्रुत एवार्थे भवति नान्यथा ॥ १२१९ ॥ अतः—

जइ बारस वासाइं, सुत्तं गहियं सुणाहि से अहुणा ।
15 **बारस चेव समाओ, अत्थं तो नाहिसि न वा णं ॥ १२२० ॥**

यदि द्वादश वर्षाणि त्वया सूत्रं गृहीतम्, अतः 'तस्य' सूत्रस्यार्थमधुना द्वादशैव 'समाः'
वर्षाणि शृणु । ततोऽर्थं शृण्वन् स्वज्ञानावारककर्मक्षयोपशमानुसारेण ज्ञास्यसि वा न वा "णं"
इति 'तं' विवक्षितमर्थम् ॥ १२२० ॥ किञ्च—

सन्नाइसुत्त ससमय, परसमय उस्सग्गमेव अववाए ।
20 **हीणा-ऽहिय-जिण-थेरे, अज्जा काले य वयणाई ॥ १२२१ ॥**

संज्ञासू-त्रादिकाः सूत्रप्रकाराः

इह मौनीन्द्रप्रवचनेऽनेकधा सूत्राणि भवन्ति । तत्र किञ्चित् संज्ञासूत्रम्, यथा—"जे छेए
से सागारियं न सेवे ।" (आचा० श्रु० १ अ० ५ उ० १) यः 'छेकः' पण्डितः सः 'सागा-
रिकं' मैथुनं न सेवेत । अथवा—"सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए ।" (आचा०
श्रु० १ अ० २ उ० ५) आमम्—अविशोधिकोटिः, गन्धं—विशोधिकोटिः । तथा—"आरं
25 दुगुणेणं पारं एगगुणेणं ।" 'आरं' संसारस्तं 'द्विगुणेन' राग-द्वेषयुगलेन 'पारं' निर्वाणं तद्
'एकगुणेन' राग-द्वेषपरिहारलक्षणेन जीवः प्राप्नोतीति गम्यते । आदिग्रहणाद् देशीभाषानियतं
सूत्रं गृह्यते, यथा—"दिगिंछापरीसहे" (उत्त० अ० २ गद्यसूत्रम्) । 'दिगिंछा' इति बुभुक्षा ॥

स्वसमयसूत्रं यथा—"करेमि भंते! सामाइयं" (सामायिकाध्ययनम्) इत्यादि ॥

परसमयसूत्रं यथा—

30 पंच खंधे वयंतेगे, बाला उ खणजोइणो । (सूत्रकृ० श्रु० १ अ० १ उ० १)

उत्सर्गसूत्रं यथा—"अभिक्खणं निव्विगइं गया य" (दश० चू० २ गा० ७) इत्यादि।

अपवादसूत्रं यथा—

तिण्हमन्नयरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पई ।
जराए अभिभूयस्स, वाहियस्सा तवस्सिणो ॥ (दश० अ० ६ गा० ५९)

'हीनम्' इति हीनाक्षरं यैरक्षरैर्विना सूत्रस्यार्थो न पूर्यते, 'अधिकम्' इत्यधिकाक्षरम्, एवं-विधं यत् पूर्वमजानता सूत्रमधीतं तस्यार्थं सम्यगवगम्य हीनं प्रतिपूरयति अधिकं परित्यजति ॥

जिनकल्पिकसूत्रं यथा—

तेगिच्छं नाभिनंदिज्जा, संचिक्खऽत्तगवेसए ।

एवं खु तस्स सामन्नं, जं न कुज्जा न कारवे ॥ (उत्त० अ० २ गा० ३३) 5

स्थविरकल्पिकसूत्रं यथा—भिक्खू अ इच्छिज्जा अन्नयरिं तेगिच्छिं आउंटित्तए ।

अथवा जिनकल्पिक-स्थविरकल्पिकयोः सामान्यसूत्रमिदम्—

"संसट्ठकप्पे ण चरिज्ज भिक्खू" (दश० चू० २ गा० ६) ।

आर्यासूत्रं यथा—"कप्पइ निग्गंथीणं अंतोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए" (उ० १ सू० १६) ॥

"कालि" त्ति कालविषयं किमपि सूत्रं भवति, यथा अनागतं कालमङ्गीकृत्य— 10

"न या लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।

(दश० चू० २ गा० १०) इत्यादि ॥

"वयणाई" ति 'वचनम्' एक-द्वि-बहुवचनादिकं षोडशधा यथा **पीठिकायाम्** (गा० १६४), तत्प्रतिपादकं सूत्रं यथा **आचाराङ्गे भाषाध्ययने**—

एगवयणं वयमाणे एगवयणं वएज्जा, दुवयणं वयमाणे दुवयणं वएज्जा, बहुवयणं वयमाणे 15 बहुवयणं वएज्जा, इत्थीवयणं वयमाणे इत्थीवयणं वएज्जा । (पत्र ३८६-१) इत्यादि ॥

आदिशब्दाद् भयसूत्रादिपरिग्रहः । इत्थमनेकधा सूत्राणां सम्भवे तदर्थश्रवणमन्तरेण न शक्यते "कीदृशम्?" इति विवेकः कर्तुमिति कर्त्तव्यमर्थग्रहणम् ॥ १२२१ ॥

अथ ते शिष्या ब्रूयुः—'यः कण्ठतः सूत्रे निबद्धोऽर्थस्तेनैव वयं तुष्टाः किमस्माकं दुरधि-गमत्वाद् बहुपरिक्लेशेन "मज्जण निसिज्ज अक्खा" (गा० ७७९) इत्यादिप्रक्रियापुरस्सरमर्थ- 20 ग्रहणप्रयासेन?' इति, ते इत्थंब्रुवाणाः प्रज्ञापयितव्याः । कथम्? इत्याह—

जे सुत्तगुणा खलु लक्खणम्मि कहिया उ सुत्तमाईया ।

अत्थग्गहणमराला, तेहिं चिय पन्नविज्जंति ॥ १२२२ ॥

पीठिकायां लक्षणद्वारे ये सूत्रस्य गुणाः "निद्दोसं सारवंतं च" (गा० २८२) इत्यादिना कथिताः, यद्वा "सुत्तमाईय" त्ति "सुत्तं तु सुत्तमेव उ" (गा० ३१०) इत्यादिना प्रतिपा- 25 दिताः, 'तैरेव' हेतुभिरर्थग्रहणे मरालाः—अलसाः शिष्याः प्रज्ञाप्यन्ते । यथा—भो भद्राः! निर्दो-ष-सारवद्-विश्वतोमुखादयः सूत्रस्य गुणा भवन्ति, ते च यथाविधि गुरुमुखादर्थे श्रूयमाण एव प्रकटीभवन्ति । किञ्च यथा द्वासप्ततिकलापण्डितो मनुष्यः प्रसुप्तः सन्न किञ्चित् तासां कलानां जानीते एवं सूत्रमप्यर्थेनाऽबोधितं सुप्तमिव द्रष्टव्यम् । विचित्रार्थनिबद्धानि सोपस्काराणि च सूत्राणि भवन्ति, अतो गुरुसम्प्रदायादेव यथावदवसीयन्ते न यतस्ततः । इत्थं युक्तियुक्तैर्वचोभिः 30 प्रज्ञापितास्ते विनेयाः प्रतिपद्यन्ते गुरूणामुपदेशम्, गृह्णन्ति द्वादश वर्षाणि विधिवदर्थमिति ॥ १२२२ ॥ गतमर्थग्रहणद्वारम् । अथानियतवासद्वारम्—तत्रार्थग्रहणे समापिते सति यो

१ °कल्पस्य° त० डे० ॥

विनेय आचार्यपदयोग्यः स नियमाद् द्वादश वर्षाणि देशदर्शनं कारयितव्यः । शिष्यः पृच्छति—तेन द्वादश वर्षाणि सूत्रग्रहणं कृतं द्वादशभिर्वर्षैरर्थः समग्रोऽपि गृहीतः, अतो देशदर्शनेन विना किमिवास्य न सिध्यति ? इति उच्यते—

अनियत-वासद्वारम्

जइ वि पगासोऽहिगओ, देसीभासाजुओ तहा वि खलु ।
उंदुय सिया य वीसुं, एरगमाई य पच्चक्खं ॥ १२२३ ॥ 5

यद्यपि तेन 'प्रकाशः' अर्थः सूत्रस्य 'अधिगतः' सम्यग् विज्ञातस्तथापि 'खलु' निश्चयेनासौ विनेयो देशदर्शनेन देशीभाषायुतः कर्त्तव्यः । कुतः ? इत्याह—"उंदुय" इत्यादि । 'उन्दुकम्' इति स्थानम् । "सिय" त्ति स्यात्शब्दो भवत्यर्थे आशङ्कायां भजनायां वा । तत्र भवत्यर्थे सुप्रसिद्धः । आशङ्कायां यथा—"दव्वथओ भावथओ दव्वथओ बहुगुण त्ति बुद्धि सिया ।" (आव० 10 भा० १९२) भजनायां यथा—"सिय तिभागे सिय तिभागतिभागे" (प्रज्ञा० प० ६ पत्र २१६-२) इत्यादि । "वीसुं" ति विष्वक् पृथगित्यर्थः । 'एरका' गुन्द्रा भद्रमुस्तक इत्यर्थ एते आदिग्रहणात् पयः पिच्चं नीरमित्यादयश्च शास्त्रप्रसिद्धाः शब्दास्तेषु तेषु देशेषु लोकेन तथातथा व्यवह्रियमाणा देशदर्शनं कुर्वता 'प्रत्यक्षम्' इति प्रत्यक्षत उपलभ्यन्ते ॥ १२२३ ॥

आह यद्यसौ तान् प्रत्यक्षतो नोपलभेत ततः का नाम न्यूनता भवेत् ? उच्यते—

15 **जो वि पगासो बहुसो, गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो ।**
जच्चंधस्स व चंदो, फुडो वि संतो तहा स खलु ॥ १२२४ ॥

योऽपि 'प्रकाशः' अर्थो बहुशः 'गुणितः' स्वभ्यस्तीकृतः परं न प्रत्यक्षत उपलब्धः स जात्यन्धस्येव चन्द्रः स्फुटोऽपि सन् 'खलुः' अवधारणे तथैवास्फुट एव मन्तव्यः । इदमत्र हृदयम्—यथा चन्द्रः प्रकटोऽपि साक्षाद्दर्शनं विना जात्यन्धस्य न परिस्फुटाकारः प्रतिभासते एव-20 मस्यापि शास्त्रानुसारतः प्रकटा अपि प्रत्यक्षदर्शनमन्तरेण न परिस्फुटा व्यवहारोपयोगिनोऽर्थाः प्रतिभासन्ते ॥ १२२४ ॥ यतश्चेवं ततः—

आयरियत्तअभविए, भयणा भविओ परीइ नियमेणं ।
अप्पतइओ जहन्ने, उभयं किं चाऽऽरियं खेत्तं ॥ १२२५ ॥

आचार्यत्वस्य-आचार्यपदस्य अभव्यः-अयोग्यस्तस्मिन् 'भजना' अर्थग्रहणानन्तरं देशदर्शनं 25 कार्यते वा न वा, यस्तु 'भव्यः' आचार्यपदयोग्यः स नियमेन 'पर्येति' देशदर्शनाय पर्यटति । स चाऽऽत्मतृतीयो जघन्येनावश्यन्तया कृत्वा प्रेषणीयः । किञ्च 'उभयम्' इति किं ऋतुबद्धकालप्रायोग्यमिदं क्षेत्रम् ? उत वर्षावासयोग्यम् ? तथा किमेतद् 'आर्यं' सार्द्धपञ्चविंशतिजनपदमध्यवर्ति ? आहोश्विदनार्यम् ? एतत् सर्वमपि देशदर्शनं विदधानो जानाति ॥ १२२५ ॥

अथ देशदर्शनस्यैव गुणान्तराभिधित्सया द्वारगाथामाह—

---

१ °काशः' सूत्रार्थः 'अ° भा० ॥ २ यथा जात्यन्धस्य चक्षुष्मदुपदेशेन 'लोचनानन्ददायी सौम्यः शशी भवति' इत्यादिकं स्वरूपं जानतोऽपि दर्शनमन्तरेण न परिस्फुटाकारश्चन्द्रः प्रतिभासते एवमस्यापि गुरूपदेशानुसारतः शास्त्रार्थमवबुध्यमानस्यापि प्रत्यक्षदर्शनमन्तरेण भा० पुस्तके ॥

दंसणसोही थिरकरण देस अइसेस जणवयपरिच्छा ।
काउ सुयं दायव्वं, अविणीयाणं विवेगो य ॥ १२२६ ॥

देशदर्शने गुणाः

देशदर्शनं कुर्वतो दर्शनशुद्धिरात्मनः स्थिरीकरणं चान्येषां भवति, "देस" त्ति नानादेश-भाषासु कौशलम् 'अतिशेषाः' अतिशयाः जनपदपरीक्षा च जायन्ते । तत एतानि दर्शनशु-द्ध्यादीनि कृत्वा विनीतेभ्यः श्रुतं दातव्यम्, अविनीतानां 'विवेकः' परित्यागः कर्त्तव्य इति 5 द्वारगाथासमासार्थः ॥ १२२६ ॥ अथ विस्तरार्थं बिभणिषुराह—

जम्मण-निक्खमणेसु य, तित्थयराणं महाणुभावाणं ।
इत्थ किर जिणवराणं, आगाढं दंसणं होइ ॥ १२२७ ॥

जन्म-निष्क्रमणशब्दाभ्यां तदाधारभूता भूमयो गृह्यन्ते । जन्मभूमिषु **अयोध्यादिषु**, निष्क्र-मणभूमिषु **उज्जयन्तादिषु**, चशब्दाद् ज्ञानोत्पत्तिभूमिषु **पुरिमतालादिषु**, निर्वाणभूमिषु **सम्मे-** 10 **तशैल-चम्पादिषु** तीर्थकराणां 'महानुभावानां' सातिशया-ऽचिन्त्यप्रभावाणां सम्बन्धिनीषु विह-रतः 'अत्र किल भगवतां जिनवराणां जन्म जज्ञे, अत्र तु भगवन्तो दीक्षां प्रतिपन्नाः, इह केव-लज्ञानमासादितवन्तः, इह पुनः परिनिर्वृताः' एवं बहुजनमुखेन श्रुत्वा स्वयं च दृष्ट्वा निःशङ्कि-तत्वभावाद् 'आगाढम्' अतीवविशुद्धं 'दर्शनं' सम्यक्त्वं भवतीति ॥ १२२७ ॥

गतं दर्शनशुद्धिद्वारम् । अथ स्थिरीकरणद्वारमाह— 15

संवेगं संविग्गाण जणयए सुविहिओ सुविहियाणं ।
आउत्तो जुत्ताणं, विसुद्धलेसो सुलेस्साणं ॥ १२२८ ॥

'संविग्नानां' साधूनां संवेगं जनयति, 'अहो ! अयं भव्याचार्योऽवगाहितसमस्तसिद्धान्तसि-न्धुरभ्यस्तचरणकरणसामाचारीक इत्थं देशदर्शनं करोति' इति भावनया स्थिरीकरणं करोती-त्यर्थः । स्वयं 'सुविहितः' शोभनविहितानुष्ठानस्तेषामपि सुविहितानाम्, स्वयम् 'आयुक्तः' 20 विकथा-निद्रादिप्रमादैरप्रमत्तस्तेषामपि 'युक्तानाम्' अप्रमादिनाम्, स्वयं विशुद्धलेश्यः तेषामपि सुलेश्यानामिति ॥ १२२८ ॥

गतं स्थिरीकरणद्वारम् । अथ देशद्वारम् । अत्र च **विशेषचूर्णिकृता** दर्शनशुद्धिद्वारमेव विवृण्वतेयं गाथा गृहीता, संवेगस्य सम्यग्दर्शनलक्षणत्वात् संवेगजनने दर्शनशुद्धिः कृता भव-तीति कृत्वा; स्थिरीकरणद्वारं तु मूलत एव नोपात्तम् । द्वारगाथायामपि "दंसणसोही देसप्पवेस 25 अइसेस जणवयपरिच्छा" इत्येष एव **पाठो गृहीतः**, अतस्तदभिप्रायेण गतं दर्शनशुद्धिद्वारम्, अथ देशप्रवेशद्वारं व्याचष्टे—

नाणादेसीकुसलो, नाणादेसीकयस्स सुत्तस्स ।
अभिलावअत्थकुसलो, होइ तओ णेण गंतव्वं ॥ १२२९ ॥
कहयति अभासियाण वि, अभासिए आवि पव्वयावेइ । 30
सव्वे वि तत्थ पीइं, बंधंति सभासिओ णे त्ति ॥ १२३० ॥

---

१ "संवेगं संविग्गाण गाहा । एस किर आयरियो होहिति त्ति तो देसदंसणं करेइ । तं संजमजुत्तायारं तिव्वसद्धासंपन्नं पासित्ता अन्नेसिं पि संविग्गाणं तिव्वतरं सद्धं जणेइ ॥ दंसणसोहि त्ति गयं । इदाणिं देसपवेसि त्ति दारं—नाणादेसीकुसलो गाहाओ तिन्नि ।" इति **विशेषचूर्णौ** ॥

पियधम्मऽवज्जभीरू, साहम्मियवच्छलो असढभावो ।
संविग्गावेइ परं, परदेसपवेसणे साहू ॥ १२३१ ॥

नानाप्रकारा–मगध-मालव-महाराष्ट्र-लाट-कर्णाट-द्रविड-गौड-विदर्भादिदेशभवा या देशीभाषा तस्यां कुशलः सन् 'नानादेशीकृतस्य' नानादेशभाषानिबद्धस्य सूत्रस्य अभिलापे–उच्चारणे 5 अर्थकथने च कुशलो भवति, यत एवं ततोऽनेन देशदर्शनार्थं गन्तव्यम् ॥ १२२९ ॥ तथा—

नञः कुत्सार्थत्वात् कुत्सिता–अव्यक्तवर्णविभागा भाषा येषां तेऽभाषिकास्तेषामप्यसौ धर्मं कथयति, निःशेषदेशभाषानिष्णाततत्वात् । अभाषिकाँश्चापि तद्देशभाषया प्रतिबोध्य प्रव्राजयति । सर्वेऽपि च शिष्याः 'तत्र' आचार्ये प्रीतिं बध्नन्ति, स्वभाषिकः 'णे' अस्माकम् अयमिति कृत्वा ॥ १२३० ॥ तथा—

10 'प्रियधर्मा' धर्मश्रद्धालुः, अवद्यं–पापकर्म तस्माद् भीरुरवद्यभीरुः, साधर्मिकाः–साधवस्तेषां वत्सलो द्रव्यतो भक्त-पानादिना भावतस्तु स्खलितादिषु सारणादिना, 'अशठभावः' मातृस्थान-रहितः, एवंविधोऽसौ साधुः परदेशप्रवेशने वर्त्तमानः 'परम्' अन्यं संयमयोगेषु सीदन्तमपि 'संविग्नयति' सदुपदेशदानादिना संविग्नं करोतीति ॥ १२३१ ॥

गतं देशद्वारं देशप्रवेशद्वारं वा । अथातिशयद्वारमाह—

15 **सुत्त-ऽत्थथिरीकरणं, अइसेसाणं च होइ उवलद्धी ।**
आयरियदंसणेणं, तम्हा सेविज्ज आयरिए ॥ १२३२ ॥

आचार्याणां दर्शनेन–सेवनेनेति यावत् सूत्रार्थस्थिरीकरणमतिशयानां च अपूर्वाणाम् 'उपलब्धिः' प्राप्तिर्भवति । यत एवं तस्मात् 'सेवेत' पर्युपासीताऽऽचार्यान् ॥ १२३२ ॥ एतदेव व्याख्यानयति—

उभए वि संकियाइं, पुव्विं जाइं सि पुच्छमाणस्स ।
20 **होइ जओ सुत्तत्थे, बहुस्सुए सेवमाणस्स ॥ १२३३ ॥**

'उभये' सूत्रेऽर्थे च यानि पूर्वं 'से' तस्य शङ्कितानि पदानि तानि आचार्याणां समीपे पृच्छतो निःशङ्कितानि जायन्ते । एवं च बहुश्रुतान् सेवमानस्य 'जयः' सूत्रार्थविषयोऽभ्यासा-तिशयो भवति, अतो बहुश्रुतपर्युपासनं विधेयम् ॥ १२३३ ॥ अपि च—

भवियाइरिओ देसाण दंसणं कुणइ एस इय सोउं ।
25 **अन्ने वि उज्जमंते, विणिक्खमंते य से पासे ॥ १२३४ ॥**

'भव्याचार्य एष देशानां दर्शनं करोति' इति श्रुत्वा 'अन्येऽपि' पर्युपास्यमानाचार्यसम्बन्धिनः शिष्याः 'उद्यच्छन्ते' सूत्रार्थग्रहणादौ उद्यमं कुर्वन्ति । गृहिणोऽपि च तद्गुणग्रामरञ्जितमनसः 'विनिष्क्रामन्ति' दीक्षां प्रतिपद्यन्ते 'से' तस्य भविष्यदाचार्यस्य पार्श्वे इति ॥ १२३४ ॥

अतिशयानामुपलब्धिः कथं भवति ? इत्याह—

30 **सुत्तत्थे अइसेसा, सामायारी य विज्ज-जोगाई ।**
विज्जा जोगा य सुए, विसंति दुविहा अओ होंति ॥ १२३५ ॥

इहातिशयास्त्रिविधाः, तद्यथा—सूत्रार्थातिशयाः १ सामाचार्यतिशयाः २ विद्या-योगाः

---

१ °कारमग° डे० त० ॥ २ वीज्जा-जोगाइ सुए ता० विना ॥

आदिशब्दाद् मन्त्राश्च ३ इति त्रयोऽतिशयाः । तत्र विद्या स्त्रीदेवताधिष्ठिता पूर्वसेवादिप्रक्रिया-साध्या वा, योगाः पादलेपप्रभृतयो गगनगमनादिफलाः, मन्त्राः पुरुषदेवताधिष्ठिताः पठित-सिद्धा वा । यद्वा विद्या योगाः चशब्दाद् मन्त्राश्च श्रुते एव 'विशन्ति' अन्तर्भवन्ति, अतो द्विविधा अतिशया भवन्ति—सूत्रार्थातिशयाः सामाचार्यतिशयाश्चेति । एषामतिशयानामुपलब्धि-रपूर्वाचार्यपर्युपासनायां भवति ॥ १२३५ ॥ अथ सामाचार्या अतिशयं बिभावयिषुराह— 5

निक्खमणे य पवेसे, आयरियाणं महाणुभावाणं ।
सामायारीकुसलो, अ होइ गणसंपवेसेणं ॥ १२३६ ॥

स देशदर्शनं कुर्वाणस्तेषु तेषु नगरादिषु बहुश्रुतानामाचार्याणां महानुभावानां[3] सम्बन्धी यो गणः—गच्छस्तन्मध्ये यः सम्यग्—एकीभावेन एकत्रावस्थानलक्षणेन प्रवेशस्तेन बहुशो गणान्तरेषु निष्क्रमणे प्रवेशे च सामाचारीकुशलो भवति ॥ १२३६ ॥ कथम् ? इत्याह— 10

आगंतुसाहुभावम्मि अविदिए धन्नसालमाइठिया ।
उप्पत्तियाउ थेरा, सामायारीउ ठाविंति ॥ १२३७ ॥

आगन्तुकाः—प्राघुणका उपसम्पन्ना वा तेषां साधूनां भावे 'अविदिते' 'कीदृशेनाभिप्रायेणाऽऽ-गताः ? के वाऽमी ?' इत्यपरिज्ञाते केचित् 'स्थविराः' आचार्या धान्यशालायाम् आदिशब्दाद् घृतशालादिषु च स्थिताः 'औत्पत्तिकीः' अनुत्पन्नपूर्वाः सामाचारीः स्थापयन्ति ॥ १२३७ ॥ 15

कथम् ? इत्याह—

सव्वे वि पडिग्गहए, दंसेउं नीह पिंडवायट्ठा ।
अहिमरमायासंका, पडिलेहेउं व पविसंति ॥ १२३८ ॥

ते आचार्याः 'पिण्डपातार्थं' भिक्षानिमित्तं साधून् निर्गच्छतो भणन्ति—आर्याः ! सर्वेऽपि प्रतिग्रहान् दर्शयित्वा निर्गच्छत, अदर्शितप्रतिग्रहैर्न गन्तव्यम् । कुत इत्थं कुर्वन्ति ? इत्याह— 20 'अभिमराद्याशङ्कया' मा कश्चिदभिमर **उदायिनृपमारकवत्** श्रमणवेषेणाऽऽगतो भवेत्, आदिग्र-हणेन चौरो वा मा धान्यादिमोषणायाऽऽगतो भवेदित्याद्याशङ्कयाऽपूर्वां सामाचारीं स्थापयन्ति । भिक्षाप्रतिनिवृत्ता अपि च गुरूणां पुरतः सर्वं प्रत्युपेक्ष्य ततः प्रविशन्ति, तैरेवाभिमरादिभिः कारणैरिति ॥ १२३८ ॥ गतमतिशयद्वारम् । अथ जनपदपरीक्षाद्वारमाह—

अब्भे नदी तलाए, कूवे अइपूरए य नाव वणी । 25
मंस-फल-पुप्फभोगी, वित्थिन्ने खेत्त कप्प विही ॥ १२३९ ॥

स देशदर्शनं कुर्वन् जनपदानां परीक्षां करोति—कस्मिन् देशे कथं धान्यनिष्पत्तिः ? । तत्र क्वचिद् देशेऽभ्रैः सस्यं निष्पद्यते वृष्टिपानीयैरित्यर्थः, यथा **लाट**विषये । क्वापि नदीपानीयैः, यथा **सिन्धु**देशे । क्वचित्तु तडागजलैः, यथा **द्रविड**विषये । क्वापि कूपपानीयैः, यथा **उत्तरापथे**[4] । क्वचिदतिपूरकेण, यथा **बन्नासायां** पूरादवरिच्यमानायां तत्पूरपानीयभावितायां क्षेत्रभूमौ 30 धान्यानि प्रकीर्यन्ते; ◁ यथा वा **डिम्भरेलके महिरावणपूरेण** धान्यानि वपन्ति । ▷ "नाव"

१ **एतेषा**° त० डे० मो० ले० ॥ २ °**भागाणं** ता० ॥ ३ °**वानां ये गणाः-गच्छास्त**° भा० ॥ ४ "**उत्तरापधे** अरघट्टेहिं" इति **चूर्णौ** ॥ ५ ◁ ▷ एतच्चिह्नमध्यगतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव दृश्यते ॥

इति यत्र नावमारोप्य धान्यमानीतमुपभुज्यते, यथा काननद्वीपे। "वणि" त्ति यत्र वाणिज्येनैव वृत्तिरुपजायते न कर्षणेन, यथा मथुरायाम् । "मंसे" [1] त्ति यत्र दुर्भिक्षे समापतिते मांसेन कालोऽतिवाह्यते । तथा यत्र पुष्प-फलभोगी प्राचुर्येण लोकः, यथा कोङ्कणादिषु । तथा कानि विस्तीर्णानि क्षेत्राणि ? कानि वा सङ्किप्तानि ? । "कप्पे" त्ति कस्मिन् क्षेत्रे कः कल्पः ?, यथा 5 सिन्धुविषयेऽनिमिषाद्याहारोऽगर्हितः । "[2]विहि" त्ति कस्मिन् देशे कीदृशः समाचारः ? यथा सिन्धुषु रजकाः सम्भोज्याः, महाराष्ट्रविषये कल्पपाला [3] अपि सम्भोज्या इति ॥ १२३९ ॥

अपि च—

सज्झाय-संजमहिए, दाणाइसमाउले सुलभवित्ती ।
कालुभयहिए खेत्ते, जाणइ पडणीयरहिए य ॥ १२४० ॥

10 स्वाध्यायहितं—यत्राखण्डे सूत्राऽर्थपौरुष्यौ भवतः । संयमहितं—स्त्रीदोषरहितमल्पबीज-हरितादि वा । "दाणाइ" त्ति दानश्राद्धैः आदिग्रहणादभिगमश्राद्धैर्वा समाकुलम् । अत एव सुलभा—सुप्रापा वृत्तिः—प्राणवर्त्तनहेतुराहारसम्पत्तिर्यत्र तत् सुलभवृत्तिकम्, तथा किमिदमागन्तुकभद्रकम् ? उत वास्तव्यभद्रकम् ? इत्याद्युपलक्षणाद् द्रष्टव्यम् । "कालुभयहिए खेत्ते" त्ति अमूनि वर्षावासप्रायोग्याणि अमूनि ऋतुबद्धकालयोग्यानीत्युभयकालहितानि क्षेत्राणि जानाति । तथा प्रत्यनीकः— 15 साध्वादीनामुपद्रवकारी तद्रहितानि च क्षेत्राणि सम्यग् जानातीति ॥ १२४० ॥

गतं जनपदपरीक्षाद्वारम् । यस्मादेते गुणास्तस्मादवश्यं देशदर्शनं कर्त्तव्यम् । गतं "पव्वज्जा सिक्खावय" (गा० ११३२) इत्यादिमूलद्वारगाथाप्रतिबद्धमनियतवासद्वारम् । अथ निष्पत्तिद्वारम् । तच्चानन्तरोक्तेऽनियतवासद्वारे वक्ष्यमाणे विहारद्वारे च सम्भवति । तत्रानियतवासद्वारे तावद् दर्श्यते—इत्थं तेन देशदर्शनं कुर्वता शिष्याः प्रतीच्छकाश्च सामाचार्यां सूत्राऽर्थग्राहणायां 20 च निष्पादयितव्या इत्यत्रान्तरे यदुक्तं प्रतिद्वारगाथायां "काउ सुयं दायव्वं, अविणीयाणं विवेगो य ।" (गा० १२२६) तदिदानीमभिधित्सुर्द्वारगाथामाह—

निष्पत्ति-द्वारम्

उवसंपज्ज थिरत्तं, पडिच्छणा वायणोल्लछगणे य ।
घट्टण-रुंचण-पत्ते, दुट्ठासे तहिं गए राया ॥ १२४१ ॥

प्रथमं प्रतीच्छका यथा तमुपसम्पद्यन्ते तथा वक्तव्यम् । तत आत्मनः प्रतीच्छकानां च यथा 25 स्थिरत्वं तुलनया करोति । ततस्तेषां प्रतीच्छना वाचना च यथा भवति । ततः प्रमाद्यतां आर्द्रच्छगणदृष्टान्तो घट्टना रुञ्चना पत्रदृष्टान्ताश्च यथाऽभिधीयन्ते । दुष्टाश्वविषयं दृष्टान्तं यथा साधव आचार्यानुद्दिश्य दर्शयन्ति । "तहिं गए" त्ति यत्राऽऽचार्यास्तिष्ठन्ति तत्र गतानां यथा राजदृष्टान्तः सूरिभिरुदाह्रियते । तदेतत् सर्वं वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः ॥ १२४१ ॥

---

१ "मंस त्ति जत्थ मंसेण दुब्भिक्खे लंघिज्जति कालो, जधा **सिंधूए** सुभिक्खे वि । पुप्फ त्ति जधा पुप्फविक्कएणं वित्ती भवति, एवं फलविक्कएण वि; अधवा पुप्फफलभोयणं जत्थ, जधा **तोसलि-कोङ्कणेसु**" इति **चूर्णौ** ॥ २ "विहि त्ति कम्मि देसे केरिसो आयारो ? जधा **सिंधूए** णिल्लेवगा संभोइया" इति **चूर्णौ** । "विहि त्ति जम्मि देसे जो जारिसो आयारो, जधा **सिंधुविसए** विमडभायणेसु पाणयं अगरहितं भवति, **कच्छविसए** गिहत्थसंसट्ठे वि उवस्सए वसंताणं नत्थि दोसो" इति **विशेषचूर्णौ** ॥ ३ °ला असम्भो° भा० मो० ले० ॥

अथ विस्तरार्थं बिभणिषुः प्रथमद्वारमधिकृत्याह—

काहिइ अव्वोच्छित्तिं, सुत्त-ऽत्थाणं ति [1]सो तदट्ठाए ।
अभिगम्मइ णेगेहिं, पडिच्छएहिं विहरमाणो ॥ १२४२ ॥ उपसम्पत्

एष महाभागः सूत्रार्थयोरव्यवच्छित्तिं करिष्यतीतिबुद्ध्या 'सः' भव्याचार्यः 'तदर्थं' सूत्रार्थ-ग्रहणनिमित्तमभिगम्यतेऽनेकैः प्रतीच्छकैः 'विहरमाणः' देशदर्शनं कुर्वन्निति ॥ १२४२ ॥ 5

आह किमसौ डिण्डिमाडम्बरेण घोषयति यथा 'अहं बहुश्रुतोऽहं बहुश्रुतः' इति यदेव-मनेकैः प्रतीच्छकैरभिगम्यते ?, नैवम्, न खलु सद्विवेकसुधाधाराधौतचेतसः सन्तः सन्तः कदाचनापि स्वगुणविकत्थने प्रवृत्तिमातन्वते, मिथ्याभिमानाख्यप्रबलतमतमस्तिरस्कृतसज्ज्ञान-लोचनप्रसराणामितरजन्तूनामेव तत्र प्रवृत्तिसम्भवात् । उक्तञ्च—

मोहस्य तदपि विलसितमभिमानो यः परप्रीणितायाः । 10
तत् तमसोऽपि तमिस्रं, याऽऽत्मस्तुतिरात्मना क्रियते ॥

यद्येवं ततः कथमिवासावेवमेव प्रसिद्धिमारोहति ? इति इत्युच्यते—

वासावज्जविहारी, जइ वि य न विकंथए गुणे नियए ।
अभणंतो वि मुणिज्जइ, पगइ च्चिय सा गुणगणाणं ॥ १२४३ ॥ भविष्यदाचार्यस्य प्रसिद्धिः

वर्षावर्जविहारी, वर्षासु चतुरो मासानेकत्रस्थायी अन्यदा पुनरनियतविहारीत्युक्तं भवति । स 15 एवंविधो यद्यपि न विकत्थते 'निजकान्' आत्मीयान् गुणान् तथापि 'अभणन्नपि' स्वगुणान् अकीर्तयन्नपि ज्ञायते । कुतः ? इत्याह—प्रकृतिरेव सा 'गुणगणानां' ज्ञानादिगुणसमूहानाम् ।

तदुक्तम्—

अभणंता वि हु नज्जंति सुपुरिसा गुणगणेहिँ नियएहिं ।
किं बोल्लंति मणीओ, जाओ लक्खेहिँ घिप्पंति ? ॥ ॥ १२४३ ॥ 20

एतदेवान्योक्तिदृष्टान्तेन द्रढयति—

भमरेहिँ महुयरीहिँ य, सूइज्जइ अप्पणो य गंधेणं ।
पाउसकालकलंबो, जइ वि निगूढो वणनिगुंजे ॥ १२४४ ॥

इह किल कदम्बकवृक्षाः प्रावृषि जलधरधाराभिहताः पुष्पन्ति । ततः प्रावृट्काले यः कदम्बः स यद्यपि वननिकुञ्जे 'निगूढः' गुप्तस्तिष्ठति तथापि भ्रमरैर्मधुकरीभिश्चात्मनः सम्बन्धिना गन्धेन 25 च प्रसरता 'सूच्यते' ज्ञाप्यते यथा 'अत्र कदम्बवृक्षस्तिष्ठति' । एवमयमपि भ्रमर-मधुकरीकल्पाभिः साधु-साध्वीभिः परिमलकल्पेन च निजगुणनिकुरम्बेन प्रसर्पता कदम्बवद् उद्यानादावत्यन्तनि-गूढोऽपि तिष्ठन् सूच्यते ॥ १२४४ ॥ यदि वा—

कत्थ व न जलइ अग्गी, कत्थ व चंदो न पायडो होइ ।
कत्थ वरलक्खणधरा, न पायडा होंति सप्पुरिसा ॥ १२४५ ॥ 30

कुत्र वा 'न ज्वलति' न दीप्यतेऽग्निः ? कुत्र वा चन्द्र उदयप्राप्तः प्रकटो न भवति ? कुत्र वा वराणि—उत्तमानि लक्षणानि—अभ्यन्तरतो ज्ञानादीनि बाह्यतः शरीरसौन्दर्यादीनि शङ्ख-चक्रादीनि

---

१ सो व उट्ठाए ? ता० ॥

वा धारयन्तीति वरलक्षणधराः सत्पुरुषाः प्रकटा न भवन्ति? ॥ १२४५ ॥

अत्र परोऽनुपपत्तिमुद्भावयन्नाह—

उदए न जलइ अग्गी, अब्भच्छन्नो न दीसई चंदो ।
मुक्खेसु महाभागा, विज्जापुरिसा न भायंति ॥ १२४६ ॥

5 उदके न ज्वलत्यग्निः किन्तु विध्यायति, अभ्रच्छन्नश्चन्द्रो न दृश्यते, 'मूर्खेषु' मूर्खाणां पुरतो महाभागा विद्याप्रधानाः पुरुषा विद्यापुरुषास्तेऽपि 'न भान्ति' न शोभन्ते; ततः "कत्थ व न जलइ अग्गी" (गा० १२४५) इत्यादि नोपपद्यते, तदयुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, इह हि स्वविषय एवाग्नि-चन्द्र-सत्पुरुषाणां ज्वलनादि सामर्थ्यं चिन्त्यते न त्वविषये ॥ १२४६ ॥

कः पुनरमीषां स्वविषयः ? इत्याह—

10 **सुक्किंधणम्मि दिप्पइ, अग्गी मेहरहिओ ससी भाइ ।**
तव्विहजणे य निउणे, विज्जापुरिसा वि भायंति ॥ १२४७ ॥

'शुष्केन्धने' शुष्ककाष्ठादौ दीप्यतेऽग्निः, 'मेघरहितः' शरदादिकालेऽभ्रैरच्छन्नः शशी 'भाति' प्रकाशते, 'तद्विधजने च' तादृशे सहृदयलोके 'निपुणे' व्याकरण-प्रमाणादिशास्त्रकुशले विद्यापुरुषा अपि 'भान्ति' शोभां लभन्ते । एष त्रयाणामप्यमीषां स्वविषयः, अत्र च सर्वत्राप्यमी 15 दीप्यन्ते, अतो न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥ १२४७ ॥ अत्रैवापरं दृष्टान्तमाह—

कुमुओयररसमुद्धा, किं न विबोहिंति पुंडरीयाइं ।
सूरकिरणा ससिस्स व, कुमुयाणि अपंकयरसन्ना ॥ १२४८ ॥
न य अप्पगासगत्तं, चंदा-ऽऽइच्चाण सविसए होइ ।
इय दिप्पंति गुणड्ढा, मुक्खेसु हसिज्जमाणा वि ॥ १२४९ ॥

20 कुमुदानामुदराणि कुमुदोदराणि तेषु रसः—मकरन्दः तस्मिन् मुग्धाः—अनभिज्ञाः, तदानीं तेषामप्रबुद्धत्वाद् ईदृशोऽमीषां मकरन्द इति न विदन्तीत्यर्थः; एवंविधाः सूर्यकिरणा यद्यविषयत्वात् कुमुदानि न विबोधयन्ति ततः किं स्वविषयभूतानि पुण्डरीकाणि न विबोधयन्ति ? बोधयन्त्येव । शशिनो वा किरणा यदि 'अपङ्कजरसज्ञाः' पङ्कजरसास्वादमुग्धास्ततः किं स्वविषयभूतानि कुमुदानि न बोधयन्ति ? । ततश्च 'न च' नैवाऽप्रकाशकत्वं चन्द्रा-ऽऽदित्ययोः स्वविषये भवति किन्तु 25 प्रकाशकत्वमेव, 'इति' अमुनैव प्रकारेण गुणैः—ज्ञानादिभिराढ्याः—समृद्धाः 'मूर्खेषु' पशुप्रायेषु हस्यमाना अपि 'दीप्यन्ते' सहृदयहृदयेषु प्रकाशन्ते ॥ १२४८ ॥ १२४९ ॥

उक्तमानुषङ्गिकम् । प्रकृतमनुसन्धीयते—

उपसम्पदः प्रकाराः

सो चरणसुट्ठियप्पा, नाणपरो सूइओ अ साहूहिं ।
उवसंपया य तेसिं, पडिच्छणा चेव साहूणं ॥ १२५० ॥

30 'सः' इति भविष्यदाचार्यः चरणसुस्थितात्मा तथा 'ज्ञानपरः' सूत्रा-ऽर्थपौरुषीकरणं प्रति उद्युक्तः परां निष्ठां प्राप्तो वा, दर्शनाविनाभावित्वाद् ज्ञानस्य दर्शनपर इत्यपि द्रष्टव्यम्, स च साधुभिः स्वपरिवारवर्तिभिरपरेषां साधूनां पुरतः 'सूचितः' श्लाघितः ततस्तेषां साधूनां तस्यान्तिके

१ ततः 'किम्' इति काका प्रश्ने, किं स्व° भा० ॥ २ 'मूर्खैः' पशुप्रायैः हस्य° भा० ॥

उपसम्पद् भवति, तेन च तेषां यथाविधि प्रतीच्छना कर्त्तव्या इति । एष एक उपसम्पदः प्रकार उक्तः ॥ १२५० ॥ अथ द्वितीयं प्रकारमाह—

ण्हाणाइ समोसरणे, परियट्टिंतं सुणित्तु सो साहुं ।
अट्टि त्ति पडिचोयण, उवसंपय दीवणा अत्थे ॥ १२५१ ॥

स्नानादौ आदिशब्दाद् रथयात्रादौ 'समवसरणे' साधुमीलके "अट्टे लोए" इति व्यञ्जनभे-5 ददूषितं सूत्रं परिवर्त्तयन्तं साधुं कमपि श्रुत्वा स प्रतिनोदनां करोति—"अट्टे लोए" (आचा-रांग श्रु० १ अ० १ उ० २) इति पठ । स प्राह—किम् ? इति । गीतार्थो ब्रूते—"अट्टे" इति अर्थो न मिलति । इतरः प्राह—किम् अस्यार्थोऽप्यस्ति ? । [गीतार्थः प्राह—] बाढम् नमस्कारमादिं कृत्वा सर्वस्यापि श्रुतस्यार्थो विद्यते । स आह—यद्येवं तर्हि "अट्टि" त्ति पदस्य कोऽर्थः ? उच्यते—'आर्त्तश्चतुर्द्धा नाम-स्थापना-द्रव्य-भावभेदात्, नाम-स्थापने सुगमे, द्रव्यतः 10 सचित्तादिद्रव्यैरप्राप्तैः प्राप्तवियुक्तैर्वा य आर्त्तः स द्रव्यार्त्तः, क्रोधादिभिरभिभूतो भावार्त्तः, एवं प्रकारद्वयेनायं लोक आर्त्तो वर्त्तते।' इत्याकर्ण्य प्रमुदितः स साधुश्चिन्तयति—'अहो ! अस्य सूत्र-लवस्यापीदृग् हृदयङ्गमोऽर्थस्ततो यदि सर्वस्याधीतस्यार्थमवबुध्ये ततः सुन्दरं भवति' इत्यभिसन्धा-याऽर्थग्रहणार्थं तस्यैव पार्श्वे उपसम्पदं प्रतिपद्यते । ततोऽसौ विधिना तस्यार्थे दीपनं करोति, अर्थं कथयतीत्यर्थः । एष द्वितीयः प्रकारः ॥ १२५१ ॥ अथ तृतीयमपि प्रकारमाह— 15

अहवा वि गुरुसमीवं, उवागए देसदंसणम्मि कए ।
उवसंपय साहूणं, होइ कयम्मी दिसाबंधे ॥ १२५२ ॥

अथवा देशदर्शने कृते सति यदाऽसौ गुरूणां समीपमुपागतो भवति तदा गुरुभिराचार्यपदे प्रतिष्ठाप्य दिग्बन्धे 'कृते' अनुज्ञाते सति विहारं कुर्वतोऽस्य पार्श्वे प्रतीच्छकसाधूनामुपसम्पद् भवतीति ॥१२५२॥ व्याख्यातं त्रिभिः प्रकारैरुपसम्पद्द्वारम् । अथ स्थिरत्वद्वारमभिधातुकाम आह—20

उपसम्पन्नानां स्थिरत्वम्

आयपरोभयतुलणा, चउव्विहा सुत्तसारणित्तरिया ।
तिण्हऽट्ठा संविग्गे, इयरे चरणेहरा नेच्छे ॥ १२५३ ॥

तत्रासावात्मपरोभयविषयां तुलनां करोति । सा च प्रत्येकं चतुर्विधा वक्तव्या । तथा ये केचित् तद्गुणावर्जिता अगारिणः प्रव्रजन्ति तेषामुपसम्पन्नानां चासौ सूत्रसारणां करोति, सूत्रं पाठयतीत्यर्थः; उपलक्षणं चैतत्, तेनाऽऽसेवनाशिक्षामपि ग्राहयति । तथा तेषामुभयेषामप्यसौ 25 इत्वरां दिशं बध्नाति, यथा—यावदाचार्याणां सकाशं व्रजामस्तावदहमेवाचार्योऽहमेवोपाध्यायः, तत्रगतानामाचार्या ज्ञायका इति । "तिण्हट्ठा संविग्गि" त्ति ये संविग्नाः साधवस्ते 'त्रयाणां' ज्ञान-दर्शनचारित्राणामर्थाय उपसम्पद्यमानाः प्रत्येष्टव्याः । "इयरे चरणि" त्ति 'इतरे' पार्श्वस्थादयो यदि चरणार्थमुपसम्पद्यन्ते ततस्तेऽपि सङ्ग्राह्याः, "इहरा नेच्छे" त्ति इतरथा ज्ञान-दर्शननिमित्तम्, सूत्रार्थग्रहण-दर्शनप्रभावकशास्त्राध्ययनार्थमिति भावः, यद्युपसम्पद्यन्ते ततः 'नेच्छेत्' नोपसम्पदं 30 ग्राहयेदित्यर्थः ॥ १२५३ ॥

अथ यदुक्तम् "आत्मपरोभयतुलना चतुर्विधा" इति तत्रात्मतुलनां तावद् भावयति—

---

१ °स्यार्थदी° त० डे० कां० ॥ २ पुणरवि गुरुस्समीवं ता० । चूर्णिकृताऽयमेव पाठ आदृतः ॥

उपसम्पन्नानां स्व-परसामर्थ्यावेदनम्

आहाराई दव्वे, उप्पाएउं सयं जइ समत्थो ।
खेत्तओ विहारजोग्गा, खेत्ता विहतारणाईया ॥ १२५४ ॥
कालम्मि ओममाई, भावे अतरंतमाइपाउग्गं ।
कोहाइनिग्गहं वा, जं कारण सारणा वा वि ॥ १२५५ ॥

5 इहाऽऽत्मतुलना चतुर्विधा—(ग्रन्थाग्रम्–५५००) द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । तत्र द्रव्यत एषामुपसम्पन्नानां यदेषणीयान्याहारादीनि स्वयमुत्पादयितुं समर्थः, आदिग्रहणाद् उपधि-शय्यापरिग्रहः । क्षेत्रत ऋतुबद्धविहारयोग्यानि वर्षावासयोग्यानि वा क्षेत्राण्युत्पादयितुं शक्नोमि न वा, "विहं" इत्यध्वा तस्मात् तारणं–पारनयनम्, आदिशब्दाद् राजद्विष्टादितारणानि कर्त्तु-महं समर्थो न वेति ॥ १२५४ ॥

10 काले अवमं–दुर्भिक्षं तत्र आदिग्रहणाद् अशिव-भयादौ निर्वाहयितुं शक्तोऽस्मि न वेति । भावे "अतरंत" त्ति ग्लानीभूतानाम् आदिशब्दाद् बाल-वृद्धादीनां वा एषां प्रायोग्यमुत्पादयितुं समर्थोऽहं न वेति, अथवा शक्नोमि क्रोधनिग्रहं कर्तुं न वेति आदिग्रहणाद् मान-माया-लोभनि-ग्रहपरिग्रहः, यद्वा यत् 'कारणं' ज्ञानादिकं निमित्तमुद्दिश्यैते उपसम्पद्यन्ते तस्याहं सारणां कर्त्तु-मीशो न वेति ॥ १२५५ ॥

15 गतमात्मतुलनाद्वारम् । अथ परतुलनाद्वारमाह—

आहाराइ अनियओ, लंभो सो विरसमाइ निज्जूढो ।
उब्भामग खुलखेत्ता, अरिउहियाओ अ वसहीओ ॥ १२५६ ॥
ऊणाइरित्त वासो, अकाल भिक्ख पुरिमड्ढ ओमाई ।
भावे कसायनिग्गह, चोयण न य पोरुसी नियया ॥ १२५७ ॥

20 ते प्रतीच्छकाः प्रथममेवोच्यन्ते—द्रव्यत आहारादीनां लाभः 'अनियतः' कदाचिद् भवति कदाचिन्नेति, योऽपि भवति सोऽपि विरसः–पुराणौदनादिः, आदिशब्दाद् अरसस्य हिङ्ग्वा-द्यसंस्कृतस्य रूक्षस्य च वल्ल-चणकादेर्ग्रहणम्, सोऽपि 'निर्व्यूढः' उज्झितप्रायः । क्षेत्रत उद्भ्रा-मकभिक्षाचर्यया गन्तव्यम्, बहिर्ग्रामेषु भिक्षार्थं यत् पर्यटनं सा उद्भ्रामकभिक्षाचर्या; तथा 'खुल-क्षेत्राणि' नाम यत्राल्पो लोको भिक्षाप्रदाता, सोऽपि च स्तोकमेव ददाति तत्र विहर्त्तव्यम्; अऋ-25 तुहिताश्च प्रायो वसतयः प्राप्यन्ते, यो यदा ऋतुर्वर्त्तते तस्य तदाऽननुकूला इत्यर्थः ॥ १२५६ ॥

कालतः कदाचिद् मासकल्पस्थाने वर्षावासस्थाने वा ऊनमतिरिक्तं वा कालं कारणे वासः–अवस्थानं भवेत्, क्वापि क्षेत्रे 'अकाले' सूत्रपौरुष्या अर्थपौरुष्या वा वेलायां भिक्षा प्राप्येत, ततः सूत्रार्थहानिरपि भाविनी, कुत्रापि पूर्वार्द्धेऽपि पूर्णे अवमं–स्वोदरपूरकाहारमात्राया न्यूनं लभ्येत, आदिग्रहणात् पानमपि सम्पद्येत । 'भावे' भावतः कषायनिग्रहः खरपरुषनोदनायामपि 30 कर्त्तव्यः । न च 'नियता' अवश्यम्भाविनी सूत्रार्थयोः पौरुषी, कदाचिदस्माकं धर्मकथादिव्य-ग्रतया सूत्रार्थयोर्व्याघातोऽपि भवतां भवेदित्यर्थः । तदेतत् सर्वमपि यद्यङ्गीकर्तुमुत्सहध्व ततः प्रतिपद्यध्वमुपसम्पदमिति ॥ १२५७ ॥

---

१ °चर्यायां गन्त° भा० विना ॥

अत्तणि य परे चेवं, तुलणा उभय थिरकारणे वुत्ता ।
पडिवज्जंते[1] सव्वं, करिंति सुण्हाए दिट्ठंतं ॥ १२५८ ॥

आत्मविषया परविषया च तुलना उभयोरपि 'स्थिरताकारणे' स्थिरीकरणार्थमेवमुक्ता । गतं स्थिरत्वद्वारम्, अथ प्रतीच्छनाद्वारमाह—"पडिवज्जंते" इत्याद्युत्तरार्द्धम् । 'सर्वम्' अनन्तरोक्तमर्थं यदि प्रतीच्छकाः प्रतिपद्यन्ते तदा **'स्नुषया'** वध्वा **दृष्टान्त**माचार्याः कुर्वन्ति ॥ १२५८ ॥ 5

तमेवाह—

आस-रहाई ओलोयणाइ भीया-ऽऽउले अ पेहंती ।
सकुलघरपरिचिएणं[2], वारिज्जइ ससुरमाईहिं ॥ १२५९ ॥
खिंसिज्जइ हम्मइ वा, नीणिज्जइ वा घरा अठाइंती ।
नीया पुण से दोसे, छायंति न निच्छुभंते य ॥ १२६० ॥ 10

यथा काचिद् वधूः स्वकुलगृहस्य—स्वकीयपितृगृहस्य सम्बन्धी यः परिचयः—रमणीयवस्तुदर्शनहेवाकस्तेन अश्व-रथान् आदिग्रहणेन हस्त्यादीन्, अवलोकनं—गवाक्षस्तेन आदिशब्दाद् अपरेण वा जालकादिना भीतान् आकुलाँश्च जनान् प्रेक्षमाणा सती 'वार्यते' 'पुत्रि ! माऽवलोकिष्ठाः[3]' इति प्रतिनिषिध्यते श्वसुरादिभिः, मा भूद् अस्याः प्रसङ्गतः परपुरुषविषयोऽप्यवलोकनहेवाक इति ॥ १२५९ ॥ 15

यदि वारिता सती नोपरमते ततः "खिंसिज्जइ" त्ति निन्द्यते 'आः कुलपांसने ! किमेवं करोषि ?' इत्यादि । तथापि यदि न निवर्त्तते ततः 'हन्यते' कशादिभिस्ताड्यते । एवमपि यदि न तिष्ठति ततोऽतिष्ठन्ती गृहान्निष्काश्यते, मा भूदपरासामपि गृहमहेलानामस्याः प्रसङ्गजनित एवंविध एव कुहेवाक इति कृत्वा । ये तु तस्याः 'निजकाः' पितृगृहसम्बद्धाः स्वजनास्ते 'से' तस्या दोषाँश्छादयन्ति, कथञ्चिदुपालम्भप्रदानादिनाऽनाच्छादयन्तोऽपि न गृहाद् निष्काशयन्ति, 20 गौरवार्हत्वात् तत्र तस्याः ॥ १२६० ॥ एष स्नुषादृष्टान्तः । अथार्थोपनयमाह—

मरिसिज्जइ अप्पो वा, सगणे दंडो न यावि निच्छुभणं ।
अम्हे पुण न सहामो, ससुरकुलं चेव सुण्हाए ॥ १२६१ ॥

ते आचार्या भणन्ति—आर्याः ! पितृगृहस्थानीयो युष्माकं स्वगच्छः, श्वसुरकुलस्थानीया वयम्, अश्व-रथाद्यवलोकनस्थानीयं प्रमादासेवनम्, गवाक्षादिस्थानीयान्यपुष्टालम्बनानि; ततो युष्माकं 25 'स्वगणे' स्वगच्छे प्रमादासेवनं कृतमपि 'मृष्यते' क्षम्यते, अल्पो वा 'दण्डः' प्रायश्चित्तलक्षणः प्रमादप्रत्ययो भवतां तत्र दीयते, न च महत्यप्यपराधे गच्छान्निष्कासनं गौरवार्हतया भवतां भवति; वयं पुनः स्वल्पमप्यपराधं भवतां न सहामः श्वसुरकुलमिव 'स्नुषायाः' वध्वाः सम्बन्धिनमपराधम् इत्युक्ते यदि ते प्रतीच्छका भणेयुः—'एवमेतद् यदादिशन्ति भगवन्तः' ततस्ते प्रतीच्छयन्ते । एते च द्विधा—पार्श्वस्थादयो वा भवेयुः संविग्ना वा । तत्र ये पार्श्वस्थादयस्ते पार्श्वस्थादिमुण्डिता 30 वा संविग्नमुण्डिता वा[4] । येऽपि संविग्नास्तेऽपि समनोज्ञा वा अमनोज्ञा वा ॥ १२६१ ॥

---

१ °ते चेवं क° ता० विना ॥ २ °पच्चएणं ता० ॥ ३ मा विलो° मो० ले० कां० ॥ ४ वाऽपि समनो° भा० विना ॥

सर्वेषामप्येषां विधिमाह—

उपसम्पन्नानामालोचना स्वसामाचारीकथनं च

पासत्थाईमुंडिएँ, आलोयण होइ दिक्खपभिईओ ।
संविग्गपुराणे पुण, जप्पभिइं चेव ओसन्नो ॥ १२६२ ॥
समणुन्नमसमणुन्ने, जप्पभिइं चेव निग्गओ गच्छा ।
सोहिं पडिच्छिऊणं, सामायारिं पयंसंति ॥ १२६३ ॥

5

यः पार्श्वस्थादिः पार्श्वस्थादिभिरेव मुण्डितस्तस्य 'दीक्षाप्रभृति' दीक्षादिनादारभ्य आलोचना भवति । यस्तु संविग्नमुण्डितत्वात् पूर्वं संविग्नः पश्चाद् अवसन्नीभूतः स पुराणसंविग्न उच्यते, गाथायां प्राकृतत्वाद् व्यत्यासेन पूर्वापरनिपातः, सः 'यत्प्रभृति' यद्दिनादारभ्याऽवसन्नः सञ्जातस्तत्प्रभृत्येवालोचनां दाप्यते ॥ १२६२ ॥

10 यस्तु संविग्नः स द्विधा—'समनोज्ञः' साम्भोगिकः 'असमनोज्ञः' असाम्भोगिकः । स द्विविधोऽपि यत्प्रभृति स्वगच्छान्निर्गतस्तत एव दिनादारभ्यालोचनां दापयितव्यः । ततः 'शोधिम्' आलोचनां प्रतीच्छ्य यो यत् तपः छेदं मूलं वा प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्य तद् दत्त्वा स्वकीयां सामाचारीमाचार्याः प्रदर्शयन्ति ॥ १२६३ ॥ किं कारणम् ? इति चेदित्याह—

अवि गीय-सुयहराणं, चोइज्जंताण मा हु अचियत्तं ।
15 मेरासु य पत्तेयं, माऽसंखड पुव्वकरणेणं ॥ १२६४ ॥

ये गीतार्थाः श्रुतधराः, बहुश्रुता गणि-वाचकादिशब्दाभिधेया इत्यर्थः, तेषामपि, किं पुनरितरेषाम् ? इत्यपिशब्दार्थः, वितथसामाचारीकरणे नोद्यमानानां 'मैवं सामाचारीमन्यथाकारं कार्षीः' इत्यादिवचनैर्मा भूद् "अचियत्तं" अप्रीतिकम्, यतोऽन्योऽन्यं गच्छानां काश्चिदनीदृश्यः सामाचार्यस्ततः 'प्रत्येकं' पृथक् पृथग् 'मर्यादासु' सामाचारीषु वर्त्तमानासु प्रवाहतः पूर्वाभ्यस्ताया एव 20 सामाचार्याः करणेन प्रतिनोदितानां मा 'असंखडं' कलहो भवेदित्यात्मीया चक्रवालसामाचारी कथयितव्या ॥ १२६४ ॥ आह कथं पुनरभिधीयमानेऽप्रीतिकं भवेद् ? उच्यते—

गच्छइ वियारभूमाइ वायओ देह कप्पियारं से ।
तम्हा उ चक्कवालं, कहिंति अणहिंडिय निसिं वा ॥ १२६५ ॥

अयं वाचको विचारभूम्याम् आदिशब्दाद् भक्त-पानग्रहणादौ गच्छति अतो ददत 'कल्पितारं' 25 कमपि कल्पिकं साधुं 'से' तस्य वाचकस्य येन स सामाचारीं दर्शयति । तत एवमभिधीयमाने तस्य वाचकस्य महदप्रीतिकं भवति, यथा—अहो ! स्वगणं विमुच्य परगणमुपसम्पन्ना वयमप्येवं परिभूयामहे इति । यत एवं तस्मात् चक्रवालसामाचारीं-प्रतिदिनक्रियाकलापरूपां तेषां पुरत आचार्याः कथयन्ति यथा ते कल्पिका भवन्ति । यावच्च सा तेषां प्ररूप्यते तावत् "अणहिंडय" त्ति ते भिक्षार्थं न हिण्डाप्यन्ते, मा भूत् तेषां सामाचारीशिक्षणव्याघातः । अथ न संस्तरति ततः 30 'निशि' रात्रौ ते सामाचारीं ग्राहयितव्या इति ॥ १२६५ ॥

गतं प्रतीच्छनाद्वारम् । अथ वाचनाद्वारम् । तेषां गृहीतसामाचारीकाणां सूत्रार्थवाचना दातव्या । वाच्यमानानां च तेषां सामाचारीकरणे प्रमाद्यतां यो विधिस्तमभिधित्सुर्द्वारश्लोकमाह—

---

१ पूर्वपर° त० डे० ॥ २ पुव्वपत्तेणं ता० ॥ ३ °रणेनोद्यच्छमाना° त० डे० ॥

उवएसो सारणा चेव, तइया पडिसारणा ।
छंदे अवट्टमाणं, अप्पछंदेण वज्जेज्जा ॥ १२६६ ॥

उपदेशः स्मारणा चैव तृतीया प्रतिस्मारणा, ततः 'छन्दे' उपदेशेऽवर्त्तमानं विनेयं गुर्वादि 'आत्मच्छन्देन' आत्माभिप्रायेण 'वर्जयेत्' परित्यजेदिति निर्युक्तिश्लोकसमासार्थः ॥ १२६६ ॥

अथ विस्तरार्थः, तत्र गुरुभिस्तान् प्रति वक्तव्यम्—अस्माकमेषा सामाचारी यद् निद्रा- 5 विकथादयः प्रमादाः परिहर्त्तव्याः, एष उपदेशः । अथ स्मारणामाह—

निद्दापमायमाइसु, सइं तु खलियस्स सारणा होइ ।
नणु कहिय ते पमाया, मा सीयसु तेसु जाणंतो ॥ १२६७ ॥

निद्रैव प्रमादो निद्राप्रमादः, आदिशब्दाद् अप्रत्युपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षितादिपरिग्रहः, तेषु 'सकृद्' एकवारं स्खलितस्य स्मारणा कर्त्तव्या भवति । यथा—भो महाभाग ! नन्वेते पूर्वमेवास्माभिस्तव 10 प्रमादाः कथिताः ततो जानन्नपि 'तेषु' प्रमादेषु मा सीदेत्येषा स्मारणा ॥ १२६७ ॥

अथ प्रतिस्मारणामाह—

फुड-रुक्खे अचियत्तं, गोणो तुदिओ व मा हु पेल्लेज्जा ।
सज्जं अओ न भन्नइ, धुव सारण तं वयं भणिमो ॥ १२६८ ॥

स्फुटं नाम—यस्तेन प्रमादः कृतः स परिस्फुटं नाभिधीयते किन्त्वन्यव्यपदेशेन भणितव्यम्, 15 रूक्षं नाम—निष्पिपासम्, यथा—'निर्धर्म ! निरक्षर ! निःशुक !' इत्यादि तदपि न वक्तव्यम्, यतः स्फुट-रूक्षेऽभिधीयमानेऽप्रीतिकं भवति ।

अत्र च गोदृष्टान्तः—यथा 'गौः' बलीवर्दो महता भारेण लद्दितो हलं वा वहमानः प्रतोदेनाऽतितोदितः सन् कूर्दयित्वा भारं पातयति हलं वा भनक्ति; एवमयमपि स्फुटाक्षरं रूक्षभणित्या वा भणितः कषायितत्वाद् असङ्खडं कृत्वा गच्छान्निर्गच्छेत् ।　　20

अत एवाह—गौरिव, वाशब्दस्योपमानार्थस्याऽत्र सम्बन्धाद्, असावपि 'तुदितः' खर-परुषभणनप्रतोदेन व्यथितः सन् मा 'हुः' निश्चितं 'प्रेरयेत्' संयमभारं बलादपहस्त्य पातयेत्, अत एव च 'सद्यः' तत्कालं यदा प्रमादः कृतस्तदैव न भण्यते । "धुव सारण" त्ति स वक्तव्यः—वत्स ! ध्रुवा—अवश्यं कर्त्तव्या संयमयोगेषु सीदतां सारणा, तथा च मौनीन्द्रवचनम्—

रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परियत्तउ ।　　25
भासियव्वा हिया भासा, सपक्खगुणकारिया ॥ (महानि० अ० २) ॥

'तत्' तस्माद् जिनाज्ञाराधनाय वयं भवन्तमेवं भणामः, न पुनर्मत्सर-प्रद्वेषादिना ॥ १२६८ ॥

अथ "सज्जं अतो न भन्नइ" त्ति पदव्याख्यानार्थमाह—

तद्दिवसं बिइए वा, सीयंतो वुच्चए पुणो तइयं ।
एगोऽवराहो ते सोढो, बीयं पुण ते न विसहामो ॥ १२६९ ॥　　30

---

१ °त्तः "अचियत्तं" स्फुट° भा० ॥ २ अतो मधुर-गम्भीरभणित्या सानुनयमेवाभिधीयते । अत एवाह भा० । "एवं फुडक्खरं भणिओ कसाइओ असंखडिता नासिज्जा, तम्हा फुडक्खरं न भाणियव्वो, साणुणयं भाणियव्वो जहा न कसाइज्जइ" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥

'सीदन्' सामाचार्यां प्रमाद्यन् तस्मिन्नेव दिवसेऽन्यस्यां वेलायां द्वितीये वा दिवसे पुनर्भूयोऽप्युच्यते 'तृतीया' प्रतिस्मारणा, एक उपदेशो द्वितीया स्मारणा तृतीया प्रतिस्मारणेति कृत्वा। कथम्? इत्याह—एकस्ते महानपराधः 'सोढः' तितिक्षितोऽस्माभिः, यदि पुनर्द्वितीयं स्वल्पमप्यपराधं करिष्यसि ततो वयं ते "न विसहामो" न सहिष्यामः ॥ १२६९ ॥

5 तथा चात्रार्द्रच्छगणकदृष्टान्तः क्रियते—

गोणाइहरणगहिओ, मुक्को य पुणो सहोढ गहिओ उ।
उल्लोल्लछगणहारी, न मुच्चए जायमाणो वि ॥ १२७० ॥

यथा कश्चित् चौरो गवादिहरणं कुर्वन्नारक्षकैर्गृहीतः ततः, 'मुञ्चत मामेकवारम्, नाहं भूयः स्वल्पमपि चौर्यं करिष्यामि' इत्युक्ते दयालुत्वाद् अपरोपरोधाद्वा तैर्मुक्तः पुनर्द्वितीयवेलायां 10 पूर्वाभ्यासवशाद् यद्यार्द्रार्द्रच्छगणहारी भवति, स्वल्पचौर्यकारीति भावः, तथापि 'सहोढः' सलोप्त्रो गृहीतः सन् याचमानोऽपि मोक्षणं न मुच्यते। एवं भवतोऽप्येकवारं महदपि प्रमादपदं तितिक्षितमस्माभिः, इत ऊर्द्ध्वं तु स्तोकमपि न तितिक्षामहे। इत्थमुक्तोऽपि यदि प्रमाद्यति तदा मासलघु दण्डं दत्त्वा द्वितीयं घट्टनादृष्टान्तं कुर्वन्ति ॥ १२७० ॥ तमेवाह—

घट्टिज्जंतं वुच्छं, इति उदिए दंडणा पुणो बिइयं।
15 **पासाणो संवुत्तो, अइरुंचिय कुंकुमं तइए ॥ १२७१ ॥**

यथा दुग्धमार्द्रहितं सद् घट्यमानं चाल्यमानमपि "वुच्छं" ति देशीपदत्वाद् अवदग्धं विनष्टमिति यावद्, एवं भवानप्यस्माभिरित्थं स्मारणादिना घट्यमानोऽपि प्रमादमेवाऽऽसेवितवान्, 'इति' एवम् 'उदिते' कथिते सति यदि भूयः प्रमाद्यति तदा पुनरपि 'दण्डना' मासलघुप्रायश्चित्तरूपा कर्त्तव्या। "बीयं" ति[3] एतद् द्वितीयमुदाहरणम्। इत्थं दण्डितोऽपि यदि प्रमादाद् 20 नोपरमते तदा रुञ्चनादृष्टान्तो वक्तव्यः—"पासाणो" इत्यादि। अति–अतीव रुञ्चितं–पिष्टं कुङ्कुमं किं पाषाणः संवृत्तः?। एवं भवानपि महता प्रयासेन प्रतिनोद्यमानः किमप्रमत्तः [किं प्रमत्तः] संवृत्तः? इति। एतत् तृतीयमुदाहरणं कृत्वा तथैव मासलघु दीयते ॥ १२७१ ॥

अथ यदुक्तं प्राक् "अविणीयाणं विवेगो य" त्ति (गा० १२२६) तदिदानीं भाव्यते—अविनीता नाम ये बहुशोऽपि प्रतिनोद्यमानाः प्रमाद्यन्ति, ते च च्छन्देवर्त्तमाना भण्यन्ते, ताँश्च 25 सूरय आत्मच्छन्देन वर्जयेयुः। कः पुनरात्मीयच्छन्दो येन ते परिह्रियन्ते? इति उच्यते—

तेण परं निच्छुभणा, आउट्टो पुण सयं परेहिं वा।
तंबोलपत्तनायं, नासेहिसि मज्झ अन्ने वि ॥ १२७२ ॥

---

१ °तीयां' प्रतिस्मारणाम्, एक° मो० ले०। °तीयाम्' इति प्रतिस्मारणाम्, एक भा० ॥ २ °म इति ॥ १२६९ ॥ अनेन सम्बन्धेनायातमार्द्रच्छगणदृष्टान्तमाह—गोणाइ भा० ॥ ३ °ति प्रतिस्मारणानन्तरमिदं घट्टनादृष्टान्तलक्षणं द्वितीयं पदं प्रयोक्तव्यम्। इत्थं भा० । "बीयं ति पडिसारणातो बीयं एयं। एवं दंडिओ पुणो वि जइ पमाएइ ताहे भण्णइ रुंचण त्ति" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ ४ पासाणो पच्छद्धं अइपीसिज्जमाणं कुंकुमं किं पासाणीभूतं?, एवं किं तुमं पि पडिचोहिज्जमाणो चेव पमाएसि?। इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ ५ एतत् प्रतिस्मारणातश्चिन्त्यमानं तृतीयपदमिति ॥ १२७१ ॥ अथ भा०। "पडिसारणाओ एयं ततियं" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥

'ततः परं' वारत्रयादूर्द्ध्वं यदि न निवर्त्तते तदा निष्काशना कर्त्तव्या, निर्गच्छ मदीयगच्छादिति । अथासौ स्वयं परेण वा प्रज्ञापितः सन् 'आवृत्तः' प्रमादात् प्रतिनिवृत्तः प्रतिभणति 'भगवन्! क्षमध्वं मदीयमपराधनिकुरम्बम्, न पुनरेवं करिष्यामि' इति, ततो यद् द्वारगाथायां पत्रज्ञातं सूचितं तदुपवर्ण्यते—"तंबोलपत्तनायं" ति, यथा तम्बोलपत्रं कुथितं सद् यदि न परित्यज्यते ततः शेषाण्यपि पत्राणि कोथयति । एवं त्वमपि स्वयं विनष्टो ममाऽन्यानपि साधून् 5 विनाशयिष्यसीति कृत्वा निष्काशितोऽस्माभिः । सम्प्रत्यप्रमत्तेन भवितव्यं मासगुरु च ते प्रायश्चित्तम् ॥ १२७२ ॥ अथ निष्काशनस्यैव विधिमाह—

सुहमेगो निच्छुब्भइ, णेगा भणिया उ जइ न वच्चंति ।
अन्नावएस उवहिं, जग्गावण सारिकह गमणं ॥ १२७३ ॥

ते पुनः प्रमाद्यन्त एको वाऽनेके वा । यद्येकस्ततः सुखेनैव 'निर्गच्छ मद्गच्छात्' इत्यभिधाय 10 निष्काश्यते । अथानेके—बहवस्ततस्ते यदि 'निर्गच्छत' इति भणिता अपि 'वयं बहवस्तिष्ठामः' इत्यवष्टम्भं कृत्वा न व्रजन्ति ततः शेषसाधून् रहस्यं ज्ञापयित्वाऽन्येन केनापि अपदेशेन—मिषेण यथा न तेषां शङ्का भवति तथोपधिं विहारयोग्यं कारयित्वा अन्यव्यपदेशेनैव ते रात्रौ चिरं जागरणं कारापणीया यथा न प्रातः शीघ्रमुत्तिष्ठन्ति । "सारिकह" त्ति सागारिकः—शय्यातरस्तस्याग्रतो रहसि कथनीयम्, यथा—वयं प्रभात एवामुकं ग्रामं व्रजिष्यामः, यदि कोऽपि महता 15 निर्बन्धेन युष्मान् प्रश्नयेत्, यथा—आचार्याः क गताः ? इति ततो भवद्भिस्तस्य यथावद् निवेदनीयम् । "गमणं" ति ततो गमनं कर्त्तव्यम् ॥ १२७३ ॥ गतेषु चाचार्येषु यदि ते ब्रूयुः—

मुक्का मो दंडरुइणो, भणंति इइ जे न तेसु अहिगारो ।
सेज्जायरनिब्बंधे, कहियाऽऽगय न विणए हाणी ॥ १२७४ ॥

'अहो! सुन्दरं समजनि यद् 'दण्डरुचेः' उग्रदण्डव्यसनिन आचार्याद् मुक्ता वयम्' इति ये 20 भणन्ति न तेष्वधिकारः । ये पुनः परित्यक्ताः सन्तो गाढं परितप्यन्ते 'आः! कष्टम्, उज्झिता वयं वराका निःसम्बन्धबन्धुभिस्तैर्भगवद्भिः, अतः कथमिव भविष्यामः ?' इति ते शय्यातरं महता निर्बन्धेन पृच्छन्ति—कथय कुत्रास्मान् विमुच्य गताः क्षमाश्रमणाः ? । स प्राह—अमुकं ग्रामम् । ततस्तेन कथिते त्वरितमागतानां तेषां न विनयहानिः कर्त्तव्या, किन्तु प्राग्वदेवाऽभ्युत्थानं दण्डकादिग्रहणं च कर्त्तव्यम् । ततस्ते बद्धाञ्जलिपुटाः पादपतिताश्छिन्नमुक्तावलिप्रकाशान्य- 25 श्रूणि विमुञ्चन्तो विज्ञपयन्ति—भगवन्! क्षमध्वमस्मदीयमपराधम्, विलोकयताऽस्मान् प्रसादमन्थरया दृशा, प्रतिपद्यध्वं भूयः स्वप्रतीच्छकतया, कुरुतानुग्रहं स्मारणादिना, प्रणिपातपर्यवसितप्रकोपा हि भवन्ति महात्मानः, इत ऊर्द्ध्वं वयं प्रमादं प्रयत्नतः परिहरिष्याम इति । ततो गच्छसत्काः साधवः सूरीन् कृताञ्जलयः प्रसादयन्ति ॥ १२७४ ॥ गुरवो ब्रुवते—आर्याः! अलं मम दुष्टाश्वसारथित्वकल्पेनामून् प्रति आचार्यककरणेन, एवमुक्ते साधवो भणन्ति—　　30

को नाम सारहीणं, स होइ जो भद्दवाइणो दमए ।
दुट्ठे वि उ जो आसे, दमेइ तं आसियं बिंति ॥ १२७५ ॥

---
१ एवं भवानपि भा० ॥　२ प्रातरेवा° भा० ॥

को नाम सारथीनां मध्ये स भवति यः 'भद्रवाजिनः' विनीताश्वान् दमयेत्? न कश्चिदसौ, सारथिरित्यर्थः । 'दुष्टान्' अविनीतानपि योऽश्वान् 'दमयति' शिक्षां ग्राहयति तम् 'आश्विकाः' अश्वदमं ब्रुवते लौकिकाः ॥ १२७५ ॥ अपि च—

होंति हु पमाय-खलिया, पुव्वब्भासा य दुच्चया भंते ! ।
न चिरं च जंतणेयं, हिया य अच्चंतियं अंते ॥ १२७६ ॥

'भदन्त !' परमकल्याणयोगिन् ! 'पूर्वाभ्यासाद्' अनादिभवाभ्यस्ततया दुस्त्यजानि प्रमाद-स्खलितानि भवन्ति प्रायो जन्तूनाम् । प्रमादाः—निद्रा-विकथादयः, स्खलितानि—अनुपयुक्तगमन-भाषणादीनि । न चेयं स्मारणादिरूपा यन्त्रणा 'चिरं' चिरकालं भाविनी, सात्मीभावमुपगते अमीषामप्रमादे को नाम स्मारणादिकं करिष्यति ? इति भावः । न चेयमापातवत् परिणामेऽपि दुस्सहा किन्तु 'हिता च' पथ्या 'आत्यन्तिकम्' अतिशयेन 'अन्ते' अवसाने परिणामे इत्यर्थः । यथा परिणामसुन्दरं तदापातकटुकमप्युपादेयम् ॥ १२७६ ॥ अत्रान्तरे सूरयस्तेषां प्रमादिसाधूनां तीव्रतरं संवेगमवगम्य तानेव स्थिरीकर्तुं **राजदृष्टान्तं** कुर्वन्ति—

अच्छिरुयालु नरिंदो, आगंतुअविज्जगुलियसंसणया ।
विसहामि त्ति य भणिए, अंजण वियणा सुहं पच्छा ॥ १२७७ ॥

एगो राया । तस्स अच्छिरुया जाया । वत्थव्वविज्जेहिं न सक्किओ तिगिच्छिउं । अन्नो अ आगंतुओ विज्जो आगंतुं भणइ—मम अत्थि गुलियाओ अच्छिसूलपसमणीओ, ताहिं अंजिएसु अच्छीसु तिव्वतरा दुरहियासा वेयणा भवइ मुहुत्तं, जइ न वि मे मारणाए संदिसाहि तो अंजेमि ते अच्छीणि । 'न मारेमि' त्ति अब्भुवगए अंजिएसु अच्छीसु तिव्वतरा वेयणा जाया । ताहे रन्ना भणियं—अच्छीणि मे पडियाणि, मारेह तं वेज्जं । तेहिं अब्भुवगंतु न मारिओ । मुहुत्तंतरेण उवसंता वेयणा । पोराणाणि अच्छीणि जायाणि । विज्जो पूइओ ॥

अथ गाथाक्षरार्थः—अक्ष्णः—चक्षुषो या रुग्—रोगस्तद्वान् कश्चिन्नरेन्द्रः । तस्य चागन्तुकवैद्येन गुटिकानां शंसना—स्वरूपकथना । ततो राज्ञा 'विषहाम्यहं वेदनाम्' इति भणिते वैद्येन चक्षुषोर्गुटिकाभिरञ्जनम् । ततो वेदना । पश्चात् क्रमेण सुखं सञ्जातम्, प्रगुणीभूते अक्षिणी इति । एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः—यथा तस्य राज्ञस्तत्कालदुस्सहमपि गुटिकाञ्जनं क्रमेण चक्षुषोः प्रगुणीकरणात् परिणामसुन्दरं समजनि, एवं भवतामपि स्मारणादिकं खर-परुषत्वाद् यद्यप्यापातकटुकं तथापि परिणामसुन्दरमेव द्रष्टव्यम्, इह परत्र च सकलकल्याणपरम्पराकारणत्वादिति ॥१२७७॥

उक्तानुक्तविधिसङ्ग्रहमाह—

इय अविणीयविवेगो, विगिंचियाणं च संगहो भूओ ।
जे उ निसग्गविणीया, सारणया केवलं तेसिं ॥ १२७८ ॥

"इय" एवमविनीतानां विवेकः—परित्यागः । "विगिंचियाणं च" त्ति परित्यक्तानां पुनरावृत्तानां भूयः सङ्ग्रहो विधेयः । ये तु निसर्गेण—स्वभावेन विनीतास्तेषां स्मारणैव केवलं कर्त्तव्या, यथा 'इदमित्थं कर्त्तव्यम्' इति ॥ १२७८ ॥ उपसंहरन्नाह—

एवं पडिच्छिऊणं, निप्फत्तिं कुणइ बारस समाओ ।

एसो चेव विहारो, सीसे निप्फाययंतस्स ॥ १२७९ ॥

'एवं' देशदर्शनं कुर्वन् शिष्य-प्रतीच्छकान् प्रतीच्छ्य निष्पत्तिं सूत्रार्थग्रहणादिना[1] द्वादश 'समाः' संवत्सराणि करोति । गतं निष्पत्तिद्वारम् । अथ विहारद्वारं व्याख्यायते—"एसो चेव" इत्यादि । एष एव विहारः शिष्यान् निष्पादयतो वेदितव्यः । इयमत्र भावना—तस्य देशदर्शनं कृत्वा गुरुपादमूलमागतस्य गुरुभिराचार्यपदमध्यारोप्य दिग्बन्धानुज्ञायां विहितायां नव- 5 कल्पविधिना विहरतो यः शिष्यनिष्पादनविधिः से[2] एवमेव द्वादश वर्षाणि यावद् विज्ञेयः, तुल्यवक्तव्यत्वादिति ॥ १२७९ ॥

अथैतदेव विहारद्वारमावृत्त्या जिनकल्पिकमाश्रित्य व्याचिख्यासुर्द्वारगाथामाह—

अव्वोच्छित्ती मण पंचतुलण उवगरणमेव परिकम्मे ।
तवसुत्तसुएगत्ते, उवसग्गसहे य वडरुक्खे ॥ १२८० ॥ 10

जिनकल्पिकानां विहारः

अव्यवच्छित्तिविषयं मनः प्रयुङ्क्ते । पञ्चानाम्—आचार्यादीनां तुलना—स्वयोग्यताविषया भवति, उपकरणं जिनकल्पोचितमेव गृह्णाति । 'परिकर्म' इन्द्रियादिजयरूपं करोति । तपः-सत्त्व-श्रुतैकत्वानि उपसर्गसहश्चेति पञ्च भावना भवन्ति । 'वटवृक्षे' इति जिनकल्पं[3] तीर्थकरादीनामभावे वटवृक्षस्याधस्तात् प्रतिपद्यते इति द्वारगाथासमासार्थः ॥ १२८० ॥ अथैनामेव विवरीषुराह—

अणुपालिओ य दीहो, परियाओ वायणा वि मे दिन्ना । 15
निप्फाइया य सीसा, सेयं खु महऽप्पणो काउं ॥ १२८१ ॥

तेनाचार्येण सूत्रार्थयोरव्यवच्छित्तिं कृत्वा पर्यन्ते—पूर्वापररात्रकालसमये धर्मजागरिकां जाग्रतेत्थं चिन्तनीयम्, यथा—अनुपालितो मया दीर्घः 'पर्यायः' प्रव्रज्यारूपः, वाचनाऽपि मया दत्ता उचितेभ्यः प्रतीच्छकादिभ्यः, निष्पादिताश्च भूयांसः शिष्याः, तदेवं कृता तीर्थस्याव्यवच्छित्तिः, तत्करणेन विहितमात्मनः ऋणमोक्षणम्, अत ऊर्द्धं 'श्रेयः' प्रशस्यतरं ममात्मनो हितं कर्तुम् 20 ॥ १२८१ ॥ किं नाम हितम्? इति चेद् उच्यते—

किन्नु विहारेणऽब्भुज्जएण विहरामऽणुत्तरगुणेणं ।
आओ अब्भुज्जयसासणेण विहिणा अणुमरामि ॥ १२८२ ॥

'किन्नु' इति वितर्के, 'अभ्युद्यतविहारेण' जिनकल्पादिना 'अनुत्तरगुणेन' अनुत्तराः—अनन्यसामान्या गुणाः—निर्ममत्वादयो यस्मिन् स तथा तेन अहं विहरामि? "आउ" त्ति उताहो 25 "अब्भुज्जयसासणेणं" ति सूचकत्वात् सूत्रस्याऽभ्युद्यतमरणविषयेण शासनोक्तेन विधिना 'अनुम्रिये' अनु—पश्चात् संलेखनाद्युत्तरकालं मरणं प्रतिपद्येऽहम्? इति ॥ १२८२ ॥

अभ्युद्यतविहार-मरणयोः स्वरूपमाह—

जिण सुद्ध अहालंदे, तिविहो अब्भुज्जओ अह विहारो ।
अब्भुज्जयमरणं पुण, पाओवग-इंगिणि-परिन्ना ॥ १२८३ ॥ 30

जिनकल्पः शुद्धपरिहारकल्पो यथालन्दकल्पश्चेति त्रिविधोऽभ्युद्यतोऽथैष विहारो मन्तव्यः ।

---

१ °ग्रहणा° मो० ले० विना ॥ २ सः 'एष एव' अनन्तरोक्तो विज्ञेयः, तुल्य° भा० ॥
३ °कल्पमपवादतो वट° भा० ॥

अभ्युद्यतमरणं पुनस्त्रिविधम्—पादपोपगमनम् इङ्गिनीमरणं 'परिज्ञा' इति भक्तप्रत्याख्यानम् ॥ १२८३ ॥ स्याद् बुद्धिः—द्वे अप्येते अभ्युद्यतरूपतया श्रेयसी, अतः कतरदनयोः प्रतिपत्तव्यम् ? उच्यते—

सयमेव आउकालं, नाउं पोच्छित्तु वा बहुं सेसं ।
5 सुबहुगुणलाभकंखी, विहारमब्भुज्जयं भजइ ॥ १२८४ ॥

स्वयमेवायुःकालं सातिशयश्रुतोपयोगाद् 'बहु' दीर्घं 'शेषम्' अवशिष्यमाणं ज्ञात्वा पृष्ट्वा वाऽन्यं श्रुताद्यतिशययुक्तमाचार्यं बहुशेषमवबुध्य ततः सुबहुगुणलाभकाङ्क्षी सन् विहारमभ्युद्यतं 'भजति' प्रतिपद्यत इत्यर्थः । इह चायं विधिः—यदि स्तोकमेवायुरवशिष्यते ततः पादपोपगमादीनामेकतरमभ्युद्यतमरणं प्रतिपद्यते, अथ प्रचुरमायुः परं जङ्घाबलपरिक्षीणस्ततो वृद्धावास-
10 मध्यास्ते, अथाऽऽयुर्दीर्घं न च जङ्घाबलपरिक्षीणस्तदाऽभ्युद्यतविहारं प्रतिपद्यत इति ॥ १२८४ ॥

गतमव्यवच्छित्तिमनोद्वारम् । अथ पञ्चतुलनेति द्वारम्—पञ्चानाम्—आचार्योपाध्याय-प्रवर्त्तक-स्थविर-गणावच्छेदकानां तुलना भवति, यथा—त्रयाणामभ्युद्यत[मरण-वृद्धावासा-ऽभ्युद्यत]विहाराणां कतरं प्रतिपद्यामहे ? । इह चैत एव प्रायोऽभ्युद्यतविहारस्याधिकारिण इति कृत्वा पञ्चेति सङ्ख्यानियमः कृतः । इत्थमात्मानं तोलयित्वा यदि जिनकल्पं प्रतिपित्सुस्तत इत्थं विधिं करोति—

15 गणनिक्खेवित्तरिओ, गणिस्स जो व ठविओ जहिं ठाणे ।
उवहिं च अहागडयं, गिण्हइ जावऽन्न णुप्पाए ॥ १२८५ ॥

'गणिनः' आचार्यस्य गणनिक्षेपः 'इत्वरः' परिमितकालीनो भवति, यो वा उपाध्यायादिर्यत्र 'स्थाने' पदे स्थापितः स तत्पदमात्मतुल्यगुणे साधावित्वरनिक्षेपेण निक्षिपति । आह किमर्थमसावित्वरं गणादिनिक्षेपं विदधाति ? न यावज्जीविकम् ? उच्यते—इह चक्राष्टकविवरगामिना
20 शिलीमुखेन वामलोचने पुत्रिकाया वेधनमिव दुष्करं गणाद्यनुपालनम्, अतः पश्यामस्तावत्—'एतेऽभिनवाचार्यप्रभृतयः किमस्य गणादेरनुपालनं कर्तुं यथावदीशते वा ? न वा ?, यदि नेशते ततो मया न प्रतिपत्तव्यो जिनकल्पः, यतो जिनकल्पानुपालनादपि श्रेष्ठतरमितरस्य तथाविधस्याभावे सूत्रोक्तनीत्या गणाद्यनुपालनम्, बहुतरनिर्जरालाभकारणत्वात्, न च बहुगुणपरित्यागेन स्वल्पगुणोपादानं विदुषां कर्तुमुचितम्, सुप्रतिष्ठितकार्यारम्भकत्वात् तेषाम्' इत्यभिसन्धाय स
25 भगवानित्वरं गणादिनिक्षेपं विदधातीति ।

उक्तञ्च पञ्चवस्तुकशास्त्रे इहैव प्रक्रमे श्रीहरिभद्रसूरिपूज्यैः—

पिच्छामु ताव एए, केरिसगा होंति अम्ह ठाणम्मि ? ।
जोगाण वि पाएणं, निव्वहणं दुक्करं होइ ॥ (गा० १३८०)
न य बहुगुणचाएणं, थेवगुणपसाहणं बुहजणाणं ।
30 इट्ठं कयाइ कज्जं, कुसला सुपइट्ठियारंभा ॥ (गा० १३८१)

अथोपकरणद्वारमाह—"उवहिं च" इत्यादि । यावद् 'अन्यं' जिनकल्पप्रायोग्यं शुद्धैषणायुक्तं प्रमाणोपेतं च 'उपधिं' वस्त्रादि नोत्पादयति तावद् यथाकृतमेव गृह्णाति । ततः स्वकल्प-

१ °ल्पतरोपादा° भा० ॥

प्रायोग्ये उपकरणे लब्धे सति प्राक्तनमुपकरणं व्युत्सृजतीति ॥ १२८५ ॥

गतमुपकरणद्वारम् । अथ परिकर्मद्वारम्—परिकर्मेति वा भावनेति वा एकार्थम् । ततोऽयमात्मानं भावनाभिः सम्यग् भावयति । आह सर्वेऽपि साधवस्तावद् भावितान्तरात्मानो भवन्ति अतः किं पुनर्भावयितव्यम्? उच्यते—

इंदिय-कसाय-जोगा, विणियमिया जइ वि सव्वसाहूहिं । 5
तह वि जओ कायव्वो, तज्जयसिद्धिं गणिंतेणं ॥ १२८६ ॥

यद्यपि सर्वसाधुभिरिन्द्रिय-कषाय-योगा विविधैः प्रकारैर्नियमिताः—जितास्तथापि जिनकल्पं प्रतिपत्तुकामेन पुनरेतेषां जयः कर्त्तव्यः । तत्रैहिका-ऽऽमुष्मिकापायपरिभावनादिना इन्द्रियाणां जयस्तथा कर्त्तव्यो यथेष्टा-ऽनिष्टविषयेषु गोचरमुपागतेषु राग-द्वेषयोरुत्पत्तिरेव न भवति । कषायाणामपि जये तथा यत्न आस्थेयो यथा दुर्वचनश्रवणादि बाह्यं कारणमवाप्यापि तेषामुदय एव 10 नाविर्भवति । योगानामपि मनःप्रभृतीनां जये तथा यतितव्यं यथा तेषामार्त्तध्यानादिकं दुष्प्रणिधानमेव नोदयमासादयति । अथ किमर्थमित्थमिन्द्रिय-कषाय-योगानां जयः कर्त्तव्यः? इत्याह—तेषाम्—इन्द्रियादीनां जयस्तज्जयः तज्जयेन सिद्धिः—जिनकल्पपारप्राप्तिस्तां 'गणयता' मन्यमानेनेन्द्रियादीनां जयः करणीयः ॥ १२८६ ॥ अत्रैव विशेषमाह—

जोगिंदिएहिं न तहा, अहिगारो निज्जिएहिं न हु ताइं । 15
कलुसेहिँ विरहियाइं, दुक्खसईबीयभूयाइं ॥ १२८७ ॥

योगैरिन्द्रियैश्च निर्जितैर्न तथा 'अधिकारः' प्रयोजनम्, यतो नैव 'तानि' योगेन्द्रियाणि 'कलुषैः' कषायैर्विरहितानि दुःखसस्यबीजभूतानि भवन्ति किन्तु कषाया एव दुःखपरम्पराया मूलबीजमिति भावः ॥ १२८७ ॥ आह यद्येवं योगा इन्द्रियाणि च न जेतव्यानि, तेषां कषायविरहितानां दुःखहेतुत्वायोगात्, उच्यते— 20

जेण उ आयाणेहिं, न विणा कलुसाण होइ उप्पत्ती ।
तो तज्जयं ववसिमो, कलुसजयं चेव इच्छंता ॥ १२८८ ॥

आदीयन्ते—गृह्यन्ते शब्दादयोऽर्था एभिरित्यादानानि—इन्द्रियाण्युच्यन्ते तैः, उपलक्षणत्वाद् योगैश्च विना येन हेतुना 'कलुषाणां' कषायाणामुत्पत्तिर्न भवति । कथम्? इति चेद् उच्यते—इह माया-लोभौ रागः क्रोध-मानौ तु द्वेष इत्यभिधीयते, तौ च राग-द्वेषाविष्टा-ऽनिष्टविषयान् 25 प्राप्य सञ्जायेते, ते च विषया इन्द्रियगोचरा इति कृत्वा इन्द्रियैर्विना न कषायाणामुत्पत्तिराविरस्ति । योगानपि मनोवाक्कायरूपानन्तरेण न क्वापि कषाया उदीयमाना दृश्यन्त इति तैरपि सह कषायाणामविनाभावो द्रष्टव्यः । यतश्चैवमतः 'तज्जयम्' इन्द्रिय-योगजयं 'व्यवस्यामः' इच्छामः 'कलुषजयं' कषायजयमेव इच्छन्त इति ॥ १२८८ ॥

आह के पुनर्गुणा भावनाभावितान्तरात्मनो भवन्ति? इति उच्यते— 30

खेयविणोओ साहसजओ[1] य लहुया तवो असंगो अ ।
सद्धाजणणं च परे, कालन्नाणं च नऽन्नत्तो ॥ १२८९ ॥

---

१ साहसे जयो भवति । साहसं णाम भयं तं ण उप्पज्जति । इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥

तपोभावनाभावितस्य 'खेदविनोदः' परिश्रमजयो भवति, चतुर्थादितपसा न परिश्राम्यतीत्यर्थः । सत्त्वभावनाभावितस्य साध्वसं-भयं तस्य जयो भवति । एकत्वभावनाभावितस्य 'लघुता' 'एक एवाहम्' इतिबुद्ध्या लघुभावो भवति । श्रुतभावनाभावितस्य तपो भवति, "न वि अत्थि न वि य होही, सज्झायसमं तवोकम्मं ।" (गा० ११६९) इति वचनात् । धृतिभावनाभा-
5 वितस्य स्वजनादिषु 'असङ्गः' निर्ममत्वं भवति । अन्यच्च श्रुतभावनां भावयन् अन्येषामपि श्रद्धाजननं करोति, यथा—वयमप्येवं कदा विधास्यामः ? इति । कालज्ञानं च पौरुष्यादिषु नान्यतः सकाशादवगन्तव्यं भवति किन्तु श्रुतपरावर्त्तनानुसारेण स्वयमेवोच्छ्वासादिकालकलाकलनतः पौरुष्यादिमानं जानाति । यत एते गुणास्ततो भावनीय आत्मा भावनया ॥ १२८९ ॥

सा च द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतस्तावदाह—

10 **सरवेह-आस-हत्थी-पवगाईया उ भावणा दव्वे ।**
अब्भास भावण त्ति य, एगट्ठं तत्थिमा भावे ॥ १२९० ॥

इह धानुष्को यद् अभ्यासविशेषात् प्रथमं स्थूलद्रव्यं ततो वालबद्धां कपर्दिकां ततः सुनिर्मलः स्वरेणापि लक्ष्यस्य वेधं करोति, यच्चाऽश्वः शीघ्रं शीघ्रतरं धावमानः शिक्षाविशेषाद् महदपि गर्त्तादिकं लङ्घयति, हस्ती वा शिक्ष्यमाणः प्रथमं काष्ठानि ततः क्षुल्लकान् पाषाणान् ततो
15 गोलिकां तदनु बदराणि तदनन्तरं सिद्धार्थानप्यभ्यासातिशयाद् गृह्णाति, प्लवको वा प्रथमं वंशे विलग्नः सन् प्लवते ततः पश्चादभ्यस्यन् आकाशेऽपि तानि तानि करणानि करोति, आदिशब्दाच्चित्रकरादिपरिग्रहः । एताः सर्वा अपि द्रव्यभावनाः । अभ्यास इति वा भावनेति वा एकार्थम् । तत्रैता वक्ष्यमाणलक्षणाः 'भावे' भावतो भावना मन्तव्याः ॥ १२९० ॥ ता एवाह—

दुविहाओ भावणाओ, असंकिलिट्ठा य संकिलिट्ठा य ।
20 **मुत्तूण संकिलिट्ठा, असंकिलिट्ठाहि भावंति ॥ १२९१ ॥**

द्विविधाश्च भावतो भावनाः । 'असंक्लिष्टाः' शुभाः 'संक्लिष्टाश्च' अशुभाः । तत्र मुक्त्वा संक्लिष्टभावना असंक्लिष्टाभिर्भावनाभिर्भावयन्ति जिनकल्पं प्रतिपित्सव इति ॥ १२९१ ॥

अथ कास्ताः संक्लिष्टभावनाः ? इत्याशङ्कापनोदाय तत्स्वरूपमभिधित्सुराह—

संक्लिष्टभावनानां फलम्

संखा य परूवणया, होइ विवेगो य अप्पसत्थासु ।
25 **एमेव पसत्थासु वि, जत्थ विवेगो गुणा तत्थ ॥ १२९२ ॥**

अप्रशस्तभावनानां सङ्ख्या पञ्चेति लक्षणा निरूपणीया । प्ररूपणा च तासां कर्त्तव्या । तासां चाप्रशस्तानां 'विवेकः' परिहारो भवति । एवमेव 'प्रशस्तास्वपि' तपःप्रभृतिभावनासु सङ्ख्या प्ररूपणा च वक्तव्या । नवरं "जत्थ विवेगो" त्ति यत्र विवेक इति पदं तत्राप्रशस्ता एव भावना द्रष्टव्याः; ता विवेक्तव्याः-परित्याज्या इति भावः । "गुणा तत्थ" त्ति यास्तु प्रशस्ता भावनाः

१ °नासीति भावः । यत भा० ॥ २ °षात् पङ्क्तां भुवमस्पृशन् मह° भा० ॥ ३ °नाः । अथ भावनेति कोऽर्थः ? इत्याह—अभ्यास भा० ॥ ४ °व्या न प्रशस्ता इति । 'तत्र' इति प्रशस्तभावनासु भाव्यमानासु गुणा भवन्ति, ते च "खेदविणोओ" (गा० १२८९) इत्यादिना प्रागेव भाविता इति चूर्ण्यभिप्रायेण व्याख्यानम् । अथ विशेषचूर्ण्यभिप्रायेण व्याख्यायते—"जत्थ विवेगो" त्ति यत्र प्रशस्तेऽपि वस्तुनि भा० ॥

तासु भाव्यमानासु गुणाः—खेद-विनोदादयः प्रागुक्ता भवन्तीति चूर्ण्यभिप्रायेण व्याख्यानम् । विशेषचूर्ण्यभिप्रायः पुनरयम्[2]—यत्र च प्रशस्तेऽपि वस्तुनि विवेकः—परित्यागोऽस्य घटते तत्र गुणा एव भवन्ति । यथा—आचार्यादीनामवर्णभाषण-श्रवणे औदासीन्यमवलम्बमानस्याप्यस्य गुण एव भवति, न पुनः स्थविरकल्पिकस्येव यथाशक्ति तन्निवारणमकुर्वतो दोष इति ॥ १२९२ ॥

अथाप्रशस्तभावनानां नामग्राहं गृहीत्वा सङ्ख्यामाह—

अप्रशस्ता भावनाः

कंदप्प देवकिब्बिस, अभिओगा आसुरा य सम्मोहा ।
एसा य[3] संकिलिट्ठा, पंचविहा भावणा भणिया ॥ १२९३ ॥

कन्दर्पः—कामस्तत्प्रधानाः षिङ्गप्राया देवविशेषाः कन्दर्पा उच्यन्ते तेषामियं कान्दर्पी । एवं देवानां मध्ये किल्बिषाः—पापा अत एवास्पृश्यादिधर्माणश्चण्डालप्रायास्तेषामियं दैवकिल्बिषी । आ—समन्ताद् आभिमुख्येन [वा] युज्यन्ते—प्रेष्यकर्मणि व्यापार्यन्त इत्याभियोग्याः—किङ्करस्थानीया देवविशेषास्तेषामियमाभियोगी । असुराः—भवनपतिदेवविशेषास्तेषामियमासुरी । सम्मुह्यन्तीति सम्मोहाः—मूढात्मानो देवविशेषास्तेषामियं साम्मोही । गाथायां प्राकृतत्वाद् आप्प्रत्ययः । एषा अप्रशस्ता पञ्चविधा भावना तत्तत्स्वभावाभ्यासरूपा भणिता ॥ १२९३ ॥ अथासामेव फलमाह—

अप्रशस्त-भावनानां फलम्

जो संजओ वि एआसु अप्पसत्थासु भावणं कुणइ ।
सो तव्विहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरणहीणो ॥ १२९४ ॥

यः 'संयतोऽपि' व्यवहारतः साधुरप्येताभिरप्रशस्ताभिर्भावनाभिः, गाथायां तृतीयार्थे सप्तमी, 'भावनम्' आत्मनो वासनं करोति सः '[4]तद्विधेषु' तादृशेषु कान्दर्पिकादिषु सुरेषु गच्छति । यस्तु 'चरणरहितः'[5] सर्वथा चारित्रसत्ताविकलो द्रव्यचरणहीनो वा सः 'भाज्यः' तद्विधेषु वा देवेषूत्पद्यते नरक-तिर्यङ्-मनुष्येषु वा ॥ १२९४ ॥

अथासामेव प्ररूपणां चिकीर्षुः प्रथमतः कन्दर्पभावनां प्ररूपयति—

कन्दर्प-भावना

कंदप्पे कुक्कुइए, दवसीले यावि हासणकरे य ।
विम्हाविंतो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥ १२९५ ॥

इह कन्दर्पशब्देन कन्दर्पवानुच्यते, एवं कौत्कुच्यवान् द्रवशीलश्चापि हासनकरश्च विस्मापयंश्च परं कान्दर्पीं भावनां करोतीति[6] सङ्ग्रहगाथासमासार्थः ॥ १२९५ ॥ अथ विस्तरार्थमाह—

कन्दर्पः

कहकहकहस्स हसणं, कंदप्पो अनिहुया य संलावा ।
कंदप्पकहाकहणं, कंदप्पुवएस संसा य ॥ १२९६ ॥

---

१ "पञ्च इति सङ्ख्या एकादिषड्वादिप्रतिषेधार्थम् । ताओ भावणाओ जाणित्ता अप्पसत्थाणं विवेगो कातव्वो, परिवर्जनमित्यर्थः । 'एवमेव' अवधारणे । किमवधारयितव्यम्? उच्यते—'संखा त परूवणता' जधा अप्पसत्थाणं तधा पसत्थाण वि । णवरं 'जत्थ विवेगो' त्ति वाक्यं अप्पसत्थाणं, 'गुणा तत्थ' त्ति पसत्थाणं घेत्तव्वा इति वाक्यशेषः । ते च गुणास्तपः-सत्त्वादयः ।" इति **चूर्णौ** ॥ २ "प्रशस्तस्यापि विवेक एव कार्यः, यथा आचार्यादीनामवर्णभाषण-श्रवणे माध्यस्थ्यं भावयतो गुण एव भवति, न स्थविरकल्पवद् दोषः ।" इति **विशेषचूर्णौ** ॥ ३ उ ता० ॥ ४ **'तद्विषयेषु' ताह°** भा० विना ॥ ५ **टीकाकृता** "चरणरहिओ" इतिपाठानुसारेण व्याख्यातम्, न चासौ पाठः क्वचनाप्युपलभ्यते । **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च "चरणहीणो" इति पाठ आदृतोऽस्ति । तथाहि—"चरणहीणो त्ति जो चरणविहूणो सो" इति ॥ ६ **°त्ति निर्युक्तिगाथा°** मो० ले० ॥

"कहकहकहस्स" त्ति तृतीयार्थे षष्ठी, 'कहकहकहेन' उच्चैःस्वरेण विवृतवदनस्य यद् हसनम्—अट्टट्टहास इत्यर्थः, यश्च 'कन्दर्पः' स्वानुरूपेण सह परिहासः, ये च 'अनिभृताः' निष्ठुरवक्रोक्त्यादिरूपा गुर्वादिनाऽपि समं संलापाः, यच्च कन्दर्पकथायाः—कामसम्बद्धायाः कथायाः कथनम्, यश्च कन्दर्पस्योपदेशः—'इत्थमित्थं कुरु' इति विधानद्वारेण कामोपदेशः, या च 'शंसा'
5 प्रशंसा कामविषया, एष सर्वोऽपि कन्दर्प उच्यते ॥ १२९६ ॥

गतं कन्दर्पद्वारम् । अथ कौत्कुच्यद्वारमाह—

कौत्कुच्यम्

भुम-नयण-वयण-दसणच्छदेहिँ कर-पाद-कण्णमाईहिं ।
तं तं करेइ जह हस्सए परो अत्तणा अहसं ॥ १२९७ ॥
वायाकोकुइओ पुण, तं जंपइ जेण हस्सए अन्नो ।
10 **नाणाविहजीवरुए, कुव्वइ मुहतूरए चेव ॥ १२९८ ॥**

कुत्कुचः—भण्डचेष्टः तस्य भावः कौत्कुच्यं तद् विद्यते यस्य स कौत्कुच्यवान् । स च द्वेधा—कायेन वाचा च । तत्र भ्रू-नयन-वदन-दशनच्छदैः कर-चरण-कर्णादिभिश्च देहावयवैस्तां तां चेष्टामात्मना अहसन्नेव करोति यथा परो हसति एष कायकौत्कुच्यवानुच्यते ॥१२९७॥
वाचा कौत्कुच्यवान् पुनस्तत् किमपि परिहासप्रधानं वचनं जल्पति येनाऽन्यो हसति, नाना-
15 विधानां वा मयूर-मार्जार-कोकिलादीनां जीवानां रुतानि—कूजितानि 'मुखतूर्याणि वा' मुखेनातोद्यवादनलक्षणानि तथा करोति यथा परस्य हास्यमायाति ॥ १२९८ ॥ अथ द्रवशीलमाह—

द्रवशीलः

भासइ दुयं दुयं गच्छए अ दरिउ व्व गोविसो सरए ।
सव्वदुयदुयकारी, फुट्टइ व ठिओ वि दप्पेणं ॥ १२९९ ॥

'द्रुतं द्रुतम्' असमीक्ष्य सम्भ्रमावेशवशाद् यो भाषते । यश्च द्रुतं द्रुतं गच्छति, क इव ?
20 इत्याह—शरदि 'दर्पित इव' दर्पोद्धुर इव 'गोवृषः' बलीवर्दविशेषः । शरदि हि प्रचुरचारिप्राणतया मक्षिकाद्युपद्रवरहिततया च गोवृषो मदोद्रेकादुच्छृङ्खलः पर्यटतीति, एवमसावपि निरङ्कुशस्त्वरितं त्वरितं गच्छति । यश्च 'सर्वद्रुतद्रुतकारी' प्रत्युपेक्षणादीनां सर्वासामपि क्रियाणामतित्वरितकारी । यश्च दर्पेण तीव्रोद्रेकवशात् स्फुटतीव 'स्थितोऽपि' स्वभावस्थोऽपि सन्, गमनादिक्रियामकुर्वन्नपीत्यर्थः । एष द्रवशील उच्यते ॥ १२९९ ॥ अथ हासकरमाह—

हासकरः

25 **वेस-वयणेहिँ हासं, जणयंतो अप्पणो परेसिं च ।**
अह हासणो त्ति भण्णइ, घयणो व्व छले नियच्छंतो ॥ १३०० ॥

"घयणो व्व" भाण्ड इव परेषां 'छिद्राणि' विरूपवेष-भाषाविपर्ययाणि "नियच्छंतो" त्ति निरन्तरमन्वेषयन् तादृशैरेव वेष-वचनैर्विचित्रैरात्मनः 'परेषां च' प्रेक्षकाणां हास्यं 'जनयन्' उत्पादयन् अथैषः 'हासनः' हास्यकर इति भण्यते ॥ १३०० ॥ अथ परविस्मापकमाह—

परविस्मापकः

30 **सुरजालमाइएहिं, तु विम्हयं कुणइ तव्विहजणस्स ।**
तेसु न विम्हयइ सयं, आहट्ट-कुहेडएहिँ च ॥ १३०१ ॥

सुरजालम्—इन्द्रजालम् आदिशब्दाद् अपरकौतुकपरिग्रहः तैः, तथा आहर्त्ताः—प्रहेलिकाः कुहेटकाः—वक्रोक्तिविशेषरूपास्तैश्च तथाविधग्राम्यलोकप्रसिद्धैर्यत् 'तद्विधजनस्य' तादृशस्य

बालिशप्रायलोकस्य 'विस्मयं' चित्तविभ्रमं करोति स्वयं पुनस्तेषु न विस्मयते एष परविस्मापकः ॥ १३०१ ॥ उक्ता कान्दर्पी भावना । अथ दैवकिल्बिषिकीं बिभावयिषुराह—

देवकिल्बिषिकी भावना

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियाण सव्वसाहूणं ।
माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥ १३०२ ॥

ज्ञानस्य केवलिनां धर्माचार्याणां सर्वसाधूनाम् एतेषामवर्णवादी, तथा 'मायी' स्वभावनिगूहनादिना मायावान् एष किल्बिषिकीं भावनां करोतीति **निर्युक्तिगाथा**समासार्थः ॥ १३०२ ॥ 5

अथ व्यासार्थमाह—

ज्ञानावर्णवादः

काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमाय अप्पमाया य ।
मोक्खाहिगारिगाणं, जोइसजोणीहिं किं च पुणो ॥ १३०३ ॥

इह केचिद् दुर्विदग्धाः प्रवचनाशातनापातकमगणयन्त इत्थं श्रुतस्यावर्णं ब्रुवते, यथा—**षड्जीवनिकाया**मपि षट् कायाः प्ररूप्यन्ते, **शस्त्रपरिज्ञा**यामपि त एव, अन्येष्वप्यध्ययनेषु बहुशस्त एवोपवर्ण्यन्ते; एवं व्रतान्यपि पुनः पुनस्तान्येव प्रतिपाद्यन्ते; तथा त एव प्रमादा-ऽप्रमादाः पुनः पुनर्वर्ण्यन्ते, यथा— **उत्तराध्ययनेषु आचाराङ्गे** वा; एवं च पुनरुक्तदोषः । किञ्च यदि केवलस्यैव मोक्षस्य साधनार्थमयं प्रयासस्तर्हि 'मोक्षाधिकारिणां' साधूनां **सूर्यप्रज्ञप्त्या**दिना ज्योतिषशास्त्रेण **योनिप्राभृतेन** वा किं पुनः कार्यम् ? न किञ्चिदित्यर्थः । तेषामित्थं ब्रुवाणानामिदमुत्तरम्—इह प्रवचने यत एव कायादयो भूयो भूयः प्ररूप्यन्ते तद् महता यत्नेनाऽमी परिपालनीयाः, इदमेव धर्मरहस्यमित्यादरातिशयख्यापनार्थत्वाद् न पुनरुक्तम् । यत उक्तम्— 10 15

अनुवादा-ऽऽदर-वीप्सा-भृशार्थ-विनियोग-हेत्वसूयासु ।
ईषत्सम्भ्रम-विस्मय-गणना-स्मरणेष्वपुनरुक्तम् ॥

ज्योतिःशास्त्रादि च शिष्यप्रव्राजनादिशुभकार्योपयोगफलत्वात् परम्परया मुक्तिफलमेवेति न कश्चिद् दोषः ॥ १३०३ ॥ गतो ज्ञानावर्णवादः । अथ केवल्यवर्णवादमाह— 20

केवल्यवर्णवादः

एगंतरमुप्पाए, अन्नोन्नावरणया दुवेण्हं पि ।
केवलदंसण-णाणाणमेगकाले व एगत्तं ॥ १३०४ ॥

इह केवलिनामवर्णवादो यथा—किमेषां ज्ञान-दर्शनोपयोगौ क्रमेण भवतः ? उत युगपत् ? । यद्याद्यः पक्षस्ततो यं समयं जानाति तं समयं न पश्यति यं समयं पश्यति तं समयं न जानातीत्येवमेकान्तरिते उत्पादे 'द्वयोरपि' केवलज्ञान-दर्शनयोरन्योन्यावरणता भवेत्, ज्ञानावरण-दर्शनावरणयोः समूलकाषं कषितत्वाद् अपरस्य चाऽऽवारकस्याऽभावात् परस्परावारकतैवानयोः प्राप्नोतीति भावः । अथ युगपदिति द्वितीयः पक्षः कक्षीक्रियते सोऽपि न क्षोदक्षमः, कुतः ? इत्याह—'एककाले' युगपद् उपयोगद्वयेऽङ्गीक्रियमाणे वाशब्दः पक्षान्तरद्योतनार्थः 'द्वयोरपि' साकारा-ऽनाकारोपयोगयोरेकत्वं प्राप्नोति, तुल्यकालभावित्वादिति । अत्रोत्तरम्—इह तथाजीवसामाव्यादेव सर्वस्यापि केवलिन एकस्मिन् समये एकतर एवोपयोगो भवति न द्वौ, "सव्वस्स 25 30

---

१ स्वशक्तिनिगू° भा० विना ॥ २ °ल्बिषीं भाव° भा० ॥ ३ °भावित्वेन परस्परं संलुलितत्वादिति भा० ॥

केवलिस्सा, जुगवं दो नत्थि उवओगा" (विशे० गा० ३०९६) इति वचनात् । यथा चायमेक एवैकसमये उपयोग उपपद्यते तथा **विशेषावश्यका**दिषु (गाथा ३०८८–३१३४) **श्रीजिनभद्रक्षमाश्रमणा**दिभिः पूर्वसूरिभिः सप्रपञ्चमुपदर्शित इति नेहोपदर्श्यते, ग्रन्थगौरव-भयात् । द्वितीयपक्षानुपपत्तिनोदना त्वनभ्युपगतोपालम्भत्वादाकाशरोमन्थनमिव केवलं भवतः 5 प्रयासकारिणीति ॥ १३०४ ॥ अथ धर्माचार्यावर्णवादमाह—

धर्माचार्या-वर्णवादः

जच्चाईहिँ अवण्णं, भासइ वट्टइ न यावि उववाए ।
अहितो छिद्दप्पेही, पगासवादी अणणुकूलो ॥ १३०५ ॥

जात्या आदिशब्दात् कुलादिभिश्च सद्भिरसद्भिर्वा दोषैरवर्णं भाषते, यथा—नैते विशुद्ध-जाति-कुलोत्पन्नाः, न वा लोकव्यवहारकुशलाः, नाप्येते औचित्यं विदन्तीत्यादि । न चापि 10 वर्त्तते 'उपपाते' गुरूणां सेवावृत्तौ, 'अहितः' अनुचितविधायी, 'छिद्रप्रेक्षी' मत्सरितया गुरो-र्दोषस्थाननिरीक्षणशीलः, 'प्रकाशवादी' सर्वसमक्षं गुरुदोषभाषी, 'अननुकूलः' गुरूणामेव प्रत्य-नीकः **कूलवालक**वत्, एष धर्माचार्यावर्णवादः ॥ १३०५ ॥

अथ सर्वसाधूनामवर्णवादमाह—

साध्ववर्ण-वादः

अविसहणाऽतुरियगई, अणाणुवत्ती य अवि गुरूणं पि ।
15 **खणमित्तपीइ-रोसा, गिहिवच्छलकाऽइसंचइआ ॥ १३०६ ॥**

अहो ! अमी साधवः 'अविषहणाः' न कस्यापि पराभवं सहन्ते, अपि तु स्वपक्ष-परपक्षाप-माने सञ्जाते सति देशान्तरं गच्छन्ति, "तुरियगइ" त्ति अकारप्रश्लेषाद् 'अत्वरितगतयः' मायया लोकावर्जनाय मन्दगामिनः, 'अननुवर्त्तिनः' प्रकृत्यैव निष्ठुराः 'गुरूणामपि' महतामपि, आस्तां सामान्यलोकस्येत्यपिशब्दार्थः, द्वितीयोऽपिशब्दः सम्भावनायाम्, सम्भाव्यन्त एवंविधा 20 अपि साधव इति, 'क्षणमात्रप्रीति-रोषाः' तदैव रुष्टास्तदैव च तुष्टा अनवस्थितचित्ता इत्यर्थः, 'गृहि-वत्सलाः' तैस्तैश्चाटुवचनैरात्मानं गृहस्थस्य रोचयन्ति, 'अतिसञ्चयिनः' सुबहुवस्त्र-कम्बल्यादिसङ्ग्र-हशीलाः लोभबहुला इति भावः । अत्र निर्वचनानि—इह साधवः स्वपक्षाद्यपमाने यद् देशान्तरं गच्छन्ति तद् अप्रीतिक-परोपतापादिभीरुतया न पराभवासहिष्णुतया, अत्वरितगतयोऽपि स्थावर-त्रसजन्तुपीडापरिहारार्थं न तु लोकरञ्जनार्थम्, अननुवर्त्तिनोऽपि संयमबाधाविधायिन्या अनुवर्त्त-25 नाया अकरणात् न प्रकृतिनिष्ठुरतया, क्षणमात्रप्रीति-रोषा अपि प्रतनुकषायतया नानवस्थितचि-त्ततया, गृहिवत्सला अपि 'कथं नु नामामी धर्मदेशनादिना यथाऽनुरूपोपायेन धर्मं प्रतिपद्येरन् ?' इति बुद्ध्या न पुनश्चाटुकारितया, सञ्चयवन्तोऽपि 'मा भूद् उपकरणाभावे संयम-प्रवचना-ऽऽत्म-विराधना' इति बुद्ध्या न तु लोभबहुलतयेति ॥ १३०६ ॥ अथ मायिद्वारमाह—

मायी

गूहइ आयसभावं, घाएइ गुणे परस्स संते वि ।
30 **चोरो व्व सव्वसंकी, गूढायारो वितहभासी ॥ १३०७ ॥**

'गूहति' संवृणोति 'आत्मस्वभावम्' आत्मनः सम्बन्धिनं दुष्टपरिणामं बहिर्बकवृत्त्या, तथा परस्य सम्बन्धिनः 'गुणान्' ज्ञानादीन् सतोऽप्यभिनिवेशादिना घातयति, चौर इव 'सर्वशङ्की' प्रच्छन्नपापकारितया 'अमुकोऽमुकश्च मत्समक्षमित्थं भणिष्यति' इति सर्वस्यापि शङ्कां करोति,

गूढः—मायाग्रन्थिगुपिल आचारः—प्रवृत्तिर्यस्य स गूढाचारः, 'वितथभाषी' मृषाभाषणशीलः, एष मायी द्रष्टव्य इति ॥ १३०७ ॥ उक्ता कैल्बिषी भावना । अथाभियोगीमाह—

आभियोगी भावना

कोउअ भूई पसिणे, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी ।
इड्ढि-रस-सायगुरुतो, अभिओगं भावणं कुणइ ॥ १३०८ ॥

ऋद्धि-रस-सातगुरुकः सन् यः कौतुकाजीवी भूतिकर्माजीवी प्रश्नाजीवी प्रश्नप्रश्नाजीवी 5 निमित्ताजीवी च भवति स एवंविध आभियोगीं भावनां करोतीति ॥ १३०८ ॥

कौतुकादिपदव्याख्यानार्थमाह—

कौतुकम्

विण्हवण-होम-सिरपरिरयाइ खारदहणाइँ धूवे य ।
असरिसवेसग्गहणं, अवयासण-उत्थुभण-बंधा ॥ १३०९ ॥

बालादीनां रक्षादिनिमित्तं स्त्रिया वा सौभाग्यादिसम्पादनाय विशेषेण स्नपनं तद् विस्नपनम्, 10 होमः—शान्तिकादिहेतोरग्निहवनम्, शिरःपरिरयः—करभ्रमणाभिमन्त्रणम्, आदिशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः, 'क्षारदहनानि' तथाविधव्याधिशमनायाग्नौ लवणप्रक्षेपरूपाणि, "धूवे अ" त्ति तथाविधद्रव्ययोगगर्भस्य धूपस्य समर्पणम्, 'असदृशवेषग्रहणं' नाम स्वयमार्यः सन्ननार्यवेषं करोति पुरुषो वा स्वं रूपमन्तर्हित्य स्त्रीवेषं विदधातीत्यादि, "अवयासणं" वृक्षादीनामालिङ्गापनम्, अवस्तोभनम्—अनिष्टोपशान्तये निष्ठीवनेन थुथुकरणम्, बन्धः—कण्डकादिबन्धनम्, एतत् सर्व- 15 मपि कौतुकमुच्यते ॥ १३०९ ॥ अथ भूतिकर्म व्याचष्टे—

भूतिकर्म

भूईएँ मट्टियाएँ व, सुत्तेण व होइ भूइकम्मं तु ।
वसही-सरीर-भंडगरक्खाअभियोगमाईया ॥ १३१० ॥

'भूत्या' भस्मरूपया विद्याभिमन्त्रितया 'मृदा वा' आर्द्रपांशुलक्षणया 'सूत्रेण वा' तन्तुना यत् परिरयवेष्टनं तद् भूतिकर्मोच्यते । किमर्थमेवं करोति ? इत्याह—वसति-शरीर-भाण्डकानां या 20 स्तेनाद्युपद्रवेभ्यो रक्षा तन्निमित्तमभियोगः—वशीकरणम्, आदिशब्दाद् ज्वरादिस्तम्भनपरिग्रहः ॥ १३१० ॥ अथ प्रश्नमाह—

प्रश्नः

पण्हो उ होइ पसिणं, जं पासइ वा सयं तु तं पसिणं ।
अंगुट्ठुच्चिट्ठ-पडे, दप्पण-असि-तोय-कुड्डाई ॥ १३११ ॥

'प्रश्नस्तु' देवतादिपृच्छारूपः पसिणं भण्यते; यद्वा यत् 'स्वयम्' आत्मना तुशब्दादन्येऽपि 25 तत्रस्थाः पश्यन्ति तत् पसिणं प्राकृतशैल्याऽभिधीयते । किं तत् ? इत्याह—अङ्गुष्ठे "उच्चिट्ठ" त्ति कंसारादिभक्षणेनोच्छिष्टे पटे—प्रतीते दर्पणे—आदर्शे असौ—खड्गे तोये—उदके कुड्ये—भित्तौ आदिशब्दाद् बाह्वादौ वा यद् देवतादिकमवतीर्णं पृच्छति पश्यति वा स प्रश्नः । यदि वा "कुद्धाइ" त्ति पाठः, तत्र च क्रुद्धः प्रशान्तो वा यत् तथाविधकल्पविशेषात् पश्यति स प्रश्न इति ॥ १३११ ॥ प्रश्नप्रश्नमाह— 30

प्रश्नाप्रश्नः

पसिणापसिणं सुमिणे, विज्जासिट्ठं कहेइ अन्नस्स ।
अहवा आइंखिणिया, घंटियसिट्ठं परिकहेइ ॥ १३१२ ॥

---

१ मृषाभा° मो० ले० ॥ २ च स प° त० डे० विना ॥

यत् स्वप्नेऽवतीर्णया विद्यया—विद्याधिष्ठात्र्या देवतया शिष्टं—कथितं सद् 'अन्यस्मै' पृच्छकाय कथयति; अथवा "आइंखिणिया" डोम्बी तस्याः कुलदैवतं घण्टिकयक्षो नाम स पृष्टः सन् कर्णे कथयति, सा च तेन शिष्टं—कथितं सदन्यस्मै पृच्छकाय शुभा-ऽशुभादि यत् परिकथयति एष प्रश्नप्रश्नः ॥ १३१२ ॥ निमित्तमाह—

निमित्तम् 5 तिविहं होइ निमित्तं, तीय-पडुप्पन्न-ऽणागयं चेव ।
तेण न विणा उ नेयं, नज्जइ तेणं निमित्तं तु ॥ १३१३ ॥

त्रिविधं भवति निमित्तम् । तद्यथा—अतीतं प्रत्युत्पन्नमनागतं च । कालत्रयवर्त्तिलाभा-ऽलाभादिपरिज्ञानहेतुश्चूडामणिप्रभृतिकः शास्त्रविशेष इत्यर्थः । कुतः ? इत्याह—'तेन' विवक्षितशास्त्रविशेषेण विना 'ज्ञेयं' लाभा-ऽलाभादिकं न ज्ञायत इति लाभा-ऽलाभादिज्ञाननिमित्तत्वाद् 10 निमित्तमुच्यते । एतानि कौतुकादीनि य आजीवति स तत्तदाजीवको मन्तव्य इति ॥१३१३॥

अथ 'ऋद्धि-रस-सातगुरुकः' (गा० १३०८) इतिपदव्याख्यानार्थमाह—

एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो आभिओगियं बंधे ।
बीयं गारवरहिओ, कुव्वं आराहगुच्चं च ॥ १३१४ ॥

'एतानि' कौतुकादीनि ऋद्धि-रस-सातगौरवार्थं 'कुर्वाणः' प्रयुञ्जानः सन् 'आभियोगिकं' 15 देवादिप्रेष्यकर्मव्यापारफलं कर्म बध्नाति । 'द्वितीयम्' अपवादपदमत्र भवति—गौरवरहितः सन्नतिशयज्ञाने सति निस्पृहवृत्त्या प्रवचनप्रभावनार्थमेतानि कौतुकादीनि कुर्वन्नाराधको भवति उच्चैर्गोत्रं च कर्म बध्नाति, तीर्थोन्नतिकरणादिति ॥ १३१४ ॥

गता आभियोगिकी भावना । अथाऽऽसुरीमाह—

आसुरी भावना 20 अणुबद्धविग्गहो च्चिय, संसत्ततवो निमित्तमाएसी ।
निक्किव निराणुकंपो, आसुरियं भावणं कुणइ ॥ १३१५ ॥

अनुबद्धविग्रहः संसक्ततपा निमित्तादेशी निष्कृपो निरनुकम्पः सन् आसुरीं भावनां करोतीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ॥ १३१५ ॥ विस्तरार्थमाह—

अनुबद्ध-विग्रहः निच्चं वुग्गहसीलो, काऊण य नाणुतप्पए पच्छा ।
न य खामिओ पसीयइ, सपक्ख-परपक्खओ आवि[2] ॥ १३१६ ॥

25 'नित्यं' सततं 'विग्रहशीलः' कलहकरणस्वभावः । कृत्वा च कलहं नानुतप्यते पश्चात्, यथा—हा ! किं कृतं मया पापेन ? इति । तथा 'क्षामितोऽपि' 'क्षम्यतां ममायमपराधः' इति भणितोऽपि स्वपक्ष-परपक्षयोरपि 'न च' नैव 'प्रसीदति' प्रसन्नतां भजते, तीव्रकषायोदयत्वात् । अत्र च स्वपक्षः साधु-साध्वीवर्गः, परपक्षो गृहस्थवर्गः । एषोऽनुबद्धविग्रह उच्यते ॥१३१६॥

अथ संसक्ततपसमाह—

संसक्त-तपाः 30 आहार-उवहि-पूयासु जस्स भावो उ निच्चसंसत्तो ।
भावोवहतो कुणइ अ, तवोवहाणं तदट्ठाए ॥ १३१७ ॥

आहारोपधि-पूजासु यस्य 'भावः' परिणामः 'नित्यसंसक्तः' सदाप्रतिबद्धः स एवं रसगौरवा-

१ विग्गह° त० डे० ता० ॥ २ °ओ वा वि भा० विना ॥

दिना भावेनोपहतः करोति 'तपउपधानम्' अनशनादिकं 'तदर्थम्' आहाराद्यर्थं यः संसक्ततपा इति ॥ १३१७ ॥ निमित्तादेशिनमाह—

तिविह निमित्तं एक्केक छव्विहं जं तु वन्नियं पुव्विं ।
अभिमाणाभिनिवेसा, वागरियं आसुरं कुणइ ॥ १३१८ ॥

निमित्ता-देशी

'त्रिविधम्' अतीतादिकालत्रयविषयं यत् पूर्वमिहैवाभियोगिकभावनायां (गाथा १३१३) 5 वर्णितं तद् एकैकं 'षड्विधं' लाभा-ऽलाभ-सुख-दुःख-जीवित-मरणविषयभेदात् षट्प्रकारम् । आह आभियोगिकभावनानिबन्धनतया पूर्वमिदमुक्तम् अतः कथमिदमिहाभिधीयते ? इत्याह—'अभिमानाभिनिवेशाद्' अहङ्कारतीव्रतया 'व्याकृतं' प्रकटितमेतद् निमित्तमासुरीं भावनां करोति, अन्यथा त्वाभियोगिकीमिति ॥ १३१८ ॥ निष्कृपमाह—

चंकमणाई सत्तो, सुनिक्किवो थावराइसत्तेसु । 10 निष्कृपः
काउं च नाणुतप्पइ, एरिसओ निक्किवो होइ ॥ १३१९ ॥

स्थावरादिसत्त्वेषु चङ्क्रमणं—गमनं आदिशब्दात् स्थान-शयना-ऽऽसनादिकं 'सक्तः' क्वचित् कार्यान्तरे व्यासक्तः सन् 'सुनिष्कृपः' सुष्ठुगतघृणो निःशूकः करोतीति शेषः । कृत्वा च तेषु चङ्क्रमणादिकं नानुतप्यते, केनचिद् नोदितः सन् पश्चात्तापपुरस्सरं मिथ्यादुष्कृतं न ददातीत्यर्थः । ईदृशो निष्कृपो भवति, इदं निष्कृपस्य लक्षणमिति भावः ॥ १३१९ ॥ निरनुकम्पमाह— 15

जो उ परं कंपंतं, दट्ठूण न कंपए कढिणभावो ।
एसो उ निरणुकंपो, अणु पच्छाभावजोएणं ॥ १३२० ॥

निरनुकम्पः

यस्तु 'परं' कृपास्पदं कुतश्चिद् भयात् कम्पमानमपि दृष्ट्वा कठिनभावः सन् न कम्पते एष निरनुकम्पः । कुतः ? इत्याह—अनुशब्देन पश्चाद्भाववाचकेन यो योगः—सम्बन्धस्तेन, किमुक्तं भवति ?—अनु—पश्चाद् दुःखितसत्त्वकम्पनादनन्तरं यत् कम्पनं सा अनुकम्पा, निर्गता अनुकम्पा 20 अस्मादिति निरनुकम्प उच्यते ॥ १३२० ॥ उक्ता आसुरी भावना । सम्प्रति साम्मोहीमाह—

उम्मग्गदेसणा १ मग्गदूसणा २ मग्गविप्पडीवत्ती ३ ।
मोहेण य ४ मोहित्ता ५, सम्मोहं भावणं कुणइ ॥ १३२१ ॥

साम्मोही भावना

उन्मार्गदेशना १ मार्गदूषणा २ मार्गविप्रतिपत्तिश्च ३ यस्य भवतीति वाक्यशेषः, मोहेन च यः स्वयं मुह्यति ४, एवं कृत्वा परं च मोहयित्वा ५ साम्मोहीं भावनां करोतीति[1] **निर्युक्तिगाथासमासार्थः** ॥ १३२१ ॥ अथैनामेव विवरीषुराह— 25

नाणाइ अदूसिंतो, तव्विवरीयं तु उवदिसइ मग्गं ।
उम्मग्गदेसओ[3] एस आय अहिओ परेसिं च ॥ १३२२ ॥

उन्मार्ग-देशना

'ज्ञानादीनि' पारमार्थिकमार्गरूपाण्यदूषयन् 'तद्विपरीतं' ज्ञानादिविपरीतमेवोपदिशति 'मार्गं' धर्मसम्बन्धिनम्, एष उन्मार्गदेशकः । अयं चात्मनः परेषां च बोधिबीजोपघातादिना 'अहितः' 30 प्रतिकूल इत्येषा उन्मार्गदेशना ॥ १३२२ ॥ अथ मार्गदूषणामाह—

१ °ति गाथा° भा० कां० ॥ २ °णादी दूसेंतो ता० ॥ ३ °सणा एस ता० ॥

मार्गदूषणा

नाणादि तिहा मग्गं, दूसयए जे य मग्गपडिवन्ना ।
अबुहो पंडियमाणी, समुट्ठितो तस्स घायाए ॥ १३२३ ॥

ज्ञानादिकं 'त्रिधा' त्रिविधं पारमार्थिकं मार्गं स्वमनीषिकाकल्पितैर्जातिदूषणैर्दूषयति, ये च तस्मिन् मार्गे प्रतिपन्नाः साध्वादयस्तानपि दूषयति, 'अबुधः' तत्त्वपरिज्ञानविकलः, 'पण्डितमानी' 5 दुर्विदग्धः, 'समुत्थितः' उद्यतः 'तस्य' पारमार्थिकमार्गस्य 'घाताय' निर्लोठनायेति, एषा मार्गदूषणा ॥ १३२३ ॥ मार्गविप्रतिपत्तिमाह—

मार्गविप्रतिपत्तिः

जो पुण तमेव मग्गं, दूसेउमपंडिओ सतक्काए ।
उम्मग्गं पडिवज्जइ, अकोविअप्पा जमालीव ॥ १३२४ ॥

यः पुनः 'तमेव' पारमार्थिकं मार्गमसद्भिर्दूषणैर्दूषयित्वा 'अपण्डितः' सद्बुद्धिरहितः सन् 10 'स्वतर्कया' स्वकीयमिथ्याविकल्पेन देशत उन्मार्गं प्रतिपद्यते 'अकोविदात्मा' सम्यक् शास्त्रार्थपरिज्ञानविकलो जमालिवत्, यथाऽसौ भगवद्वचनं "क्रियमाणं कृतम्" इति दूषयित्वा "कृतमेव कृतम्" इति प्रतिपन्नवान् । एषा मार्गविप्रतिपत्तिः ॥ १३२४ ॥ अथ मोहद्वारमाह—

मोहः

भावोवहयमईओ, मुज्झइ नाण-चरणंतराईसु ।
इड्ढीओ अ बहुविहा, दट्ठुं परतित्थियाणं तु ॥ १३२५ ॥

15 भावेन—शङ्कादिपरिणामेनोपहता—दूषिता मतिर्यस्य स भावोपहतमतिकः एवंविधः 'मुह्यति' वैचित्त्यमुपयाति ज्ञान-चरणान्तरादिषु । ज्ञानान्तराणि नाम ज्ञानविशेषाः, तद्विषयो व्यामोहो यथा—यदि नाम परमाण्वादिसकलरूपिद्रव्यावसानविषयग्राहकत्वेन सङ्ख्यातीतरूपाण्यवधिज्ञानानि सन्ति तत् किमपरेण मनःपर्यवज्ञानेन ? इति । चरणान्तरव्यामोहो यथा—यदि सामायिकं सर्वसावद्यविरतिरूपं छेदोपस्थापनीयमप्येवंविधमेव तत् को नामानयोर्विशेषः ? आदिशब्दाद् 20 दर्शनान्तर-मतान्तर-वाचनान्तरादिपरिग्रहः । 'ऋद्धीश्च बहुविधाः' अनेकप्रकाराः समृद्धीः परतीर्थिकानां दृष्ट्वा यद् मुह्यति स मोह उच्यते ॥ १३२५ ॥ अथ परं मोहयित्वेति व्याचष्टे—

परमोहकः

जो पुण मोहेइ परं, सब्भावेणं व कइअवेणं वा ।
सम्मोहभावणं सो, पकरेइ अबोहिलाभाय ॥ १३२६ ॥

पुनःशब्दो विशेषणे, यः पुनः सन्मार्गात् 'परम्' अन्यं प्राणिनं 'मोहयति' चित्तविभ्रमं 25 नयति 'सद्भावेन वा' सत्येनैव 'कैतवेन वा' परिकल्पनया स सम्मोहभावनां प्रकरोति 'अबोधिलाभाय' अबोधिफलदायिनीमित्यर्थः ॥ १३२६ ॥

उक्ता साम्मोही भावना । अथाऽऽसां भावनानां सामान्यतः फलमाह—

एआओ भावणाओ, भावित्ता देवदुग्गइं जंति ।
तत्तो वि चुया संता, परिंति भवसागरमणंतं ॥ १३२७ ॥

30 एता भावनाः 'भावयित्वा' अभ्यस्य 'देवदुर्गतिं 'कान्दर्पिकादिदेवगतिरूपां यान्ति संयता अपि । 'ततोऽपि' देवदुर्गतेश्च्युताः सन्तः पर्यटन्ति 'भवसागरं' संसारसमुद्रमनन्तमिति ॥१३२७॥

उक्ता अप्रशस्ता भावनाः । सम्प्रति प्रशस्तभावना अभिधित्सुराह—

---

१ दूसेंतो जे ता० ॥

प्रशस्ता भावनाः

तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य । (ग्रन्थाग्रम्–६०००)
तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओ ॥ १३२८ ॥

तपसा सत्त्वेन सूत्रेण एकत्वेन बलेन च एवं 'तुलना' भावना पञ्चधा प्रोक्ता जिनकल्पं प्रतिपद्यमानस्येति[1] **निर्युक्तिगाथासमासार्थः** ॥ १३२८ ॥ अथ विस्तरार्थमभिधित्सुराह—

5 तपोभावना

जो जेण अणब्भत्थो, पोरिसिमाई तवो उ तं तिगुणं ।
कुणइ छुहाविजयट्ठा, गिरिनइसीहेण दिट्ठंतो ॥ १३२९ ॥

यद् येन पौरुष्यादिकं तपः 'अनभ्यस्तं' सात्मीभावमनानीतं तत् 'त्रिगुणं' त्रीन् वारान् करोति । यथा—प्रथमं पौरुषीं वारत्रयासेवनेन सात्मीभावमानीय ततः पूर्वार्द्धं तथैवासेव्य सात्मीभावमानयति; एवं निर्विकृतिकादिष्वपि[2] द्रष्टव्यम् । किमर्थम्? इत्याह—क्षुद्विजयार्थम्, यथा क्षुत्परीषहसहने सात्म्यं भवतीत्यर्थः । 10

अत्र च **गिरिनदीसिंहेन दृष्टान्तः**—यथाऽसौ पूर्णां गिरिनदीं तरन् परतटे चिह्नं करोति, यथा—अमुकप्रदेशे वृक्षाद्युपलक्षिते मया गन्तव्यमिति, स च तरन् तीक्ष्णेनोदकवेगेनापह्रियते ततो व्यावृत्त्य भूयः प्रगुणमेवोत्तरति, यदि ह्रियते ततो भूयस्तथैवोत्तरति, एवं यावत् सकलामपि गिरिनदीं प्रगुणमेवोत्तरीतुं न शक्नोति तावत् तदुत्तरणाभ्यासं न मुञ्चति । एवमयमपि यावद् विवक्षितं तपः सात्मीभावं न याति तावत् तदभ्यासं न मुञ्चति ॥ १३२९ ॥ एतदेवाह— 15

एक्केक्कं ताव तवं, करेइ जह तेण कीरमाणेणं ।
हाणी न होइ जइआ, वि होज्ज छम्मासुवसग्गो ॥ १३३० ॥

एकैकं तपस्तावत् करोति यथा 'तेन' तपसा क्रियमाणेनापि विहितानुष्ठानस्य हानिर्न भवति । यदाऽपि[3] कथञ्चिद् भवेत् षण्मासान् यावद् 'उपसर्गः' देवादिकृतोऽनेषणीयकरणादिरूपस्तदाऽपि षण्मासान् यावदुपोषित आस्ते न पुनरनेषणीयमाहारं गृह्णाति ॥ १३३० ॥ 20

तपस एव गुणान्तरमाह—

अप्पाहारस्स न इंदियाइँ विसएसु संपवत्तंति ।
नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जएँ यावि ॥ १३३१ ॥

तपसा क्रियमाणेनाल्पाहारस्य सतो नेन्द्रियाणि 'विषयेषु' स्पर्शादिषु सम्प्रवर्त्तन्ते, न च 'क्लाम्यति' बाधामनुभवति तपसा, नैव च 'रसिकेषु' स्निग्ध-मधुरेष्वशनादिषु 'सजति' सङ्गं 25 करोति, तेषु परिभोगाभावेनादराभावात् ॥ १३३१ ॥ अपि च—

तवभावणाइ पंचिंदियाणि दंताणि जस्स वसमिंति ।
इंदियजोग्गा(गा)यरिओ, समाहिकरणाइँ कारयए ॥ १३३२ ॥[4]

तपोभावनया हेतुभूतया 'पञ्च' इति पञ्चसङ्ख्याकानीन्द्रियाणि दान्तानि सन्ति यस्य 'वशम्' आयत्ततामागच्छन्ति सः 'इन्द्रिययोग्या(गा)चार्यः' इन्द्रियप्रगुणनक्रियागुरुः 'समाधिकरणानि' 30

---

१ °ति समा° भा० कां० ॥ २ एवमेकाशन-निर्वि° भा० विना ॥ ३ °प वा वि ता० विना ॥
४ "तवभावणाए० गाहा । सो इंदियाइं वसे काउं, जोगा इति वा करणाणि त्ति वा एगट्ठं, जो इंदियस्स समाहिजोगाओ काउं सक्केइ सो इंदियजोगायरिओ, सो इंदियस्स समाहिकरणाणि कारेति ।" इति विशेषचूर्णौ ॥

समाधिर्व्यापारान् कारयति इन्द्रियाणि, यथा यथा ज्ञानादिषु समाधिरुत्पद्यते तथा तथा तानि कारयतीत्यर्थः ॥ १३३२ ॥ उक्ता तपोभावना । अथ सत्त्वभावनामाह—

सत्त्वभावना

जे वि य पुव्विं निसि निग्गमेसु विसहिंसु साहस-भयाइं ।
अहि-तक्कर-गोवाई, विसिंसु घोरे य संगामे ॥ १३३३ ॥

5 येऽपि च राजप्रव्रजितादयः पूर्वं गृहवासे 'निशि' रात्रौ वीरचर्यादिना निर्गमेषु साध्वसम्—अहेतुकभयरूपं भयं—सहेतुकं ते अहि-तस्कर-गोपादिसम्बन्धिनी 'व्यषहन्' विषोढवन्तः, घोरे च सङ्ग्रामे सात्त्विकतया "विसिंसु"त्ति प्राविशन् तेऽपि जिनकल्पं प्रतिपित्सवः सत्त्वभावनामवश्यं भावयन्ति ॥ १३३३ ॥ कथम्? इति चेद् उच्यते—

पासुत्ताण तुयट्टं, सोयव्वं जं च तीसु जामेसु ।
10 **थोवं थोवं जिणइ उ, भयं च जं संभवइ जत्थ ॥ १३३४ ॥**

यत् स्थविरकल्पिकानां पार्श्वत उत्तानकं वा त्वग्वर्त्तनम्, यच्च कारणे त्रिषु 'यामेषु' प्रहरेषु 'सुप्तव्यं' शयनम्, कारणाभावे तु यत् तृतीयप्रहरे सुप्तव्यं तत् सर्वमपि स्तोकं स्तोकं जयति शनैः शनैरित्यर्थः, 'भयं च' मूषिकादिजनितं यद् 'यत्र' उपाश्रयादिषु सम्भवति तत् तत्र जयति ॥१३३४॥

अत्र च सत्त्वभावनायां पञ्च प्रतिमा भवन्ति । ता एवाह—

सत्त्वभावनाऽभ्यासार्थं प्रतिमापञ्चकम्

15 **पढमा उवस्सयम्मी, बिइया बाहिं तइया चउक्कम्मि ।**
सुन्नघरम्मि चउत्थी, तह पंचमिया सुसाणम्मि ॥ १३३५ ॥

प्रथमा प्रतिमा उपाश्रये १ द्वितीया उपाश्रयाद् बहिः २ तृतीया 'चतुष्के' चत्वरे ३ चतुर्थी शून्यगृहे ४ पञ्चमी श्मशाने[1] ५ ॥ १३३५ ॥ तत्र प्रथमां तावदाह—

भोगजढे गंभीरे, उव्वरए कोट्ठए अलिंदे वा ।
20 **तणुसाइ जागरो वा, झाणट्ठाए भयं जिणइ ॥ १३३६ ॥**

"भोगजढे" अपरिभोग्ये 'गम्भीरे' सान्धकारे उपाश्रयसत्केऽपवरके वा कोष्ठके वा अलिन्दके वा 'तनुशायी' स्तोकनिद्रावान् 'जाग्रद् वा' निद्रामकुर्वन् 'ध्यानार्थं' शुभाध्यवसायस्थैर्यहेतोः प्रसुप्तेषु शेषसाधुषु कायोत्सर्गस्थितो भयं जयति ॥ १३३६ ॥ कथम्? इत्याह—

छिक्कस्स व खइयस्स व, मूसिगमाईहिँ वा निसिचरेहिं ।
25 **जह सहसा न वि जायइ, रोमंचुब्भेय चाडो वा ॥ १३३७ ॥**

स्पृष्टस्य वा खादितस्य वा मूषकैः आदिग्रहणाद् मार्जारादिभिः 'निशाचरैः' रात्रिपरिभ्रमणशीलैः यथा सहसा नापि जायते 'रोमाञ्चोद्भेदः' भयोद्रेकजनितो रोमोद्धर्षः 'चाँडो'[2] वा पलायनं तथा सत्त्वभावनयाऽऽत्मा भावयितव्यः ॥ १३३७ ॥

उक्ता प्रथमा प्रतिमा । अथ द्वितीयादिकाश्चतस्रोऽप्यतिदिशन्नाह—

30 **सविसेसतरा बाहिं, तक्कर-आरक्खि-सावयाईया ।**
सुण्णघर-सुसाणेसु य, सविसेसतरा भवे तिविहा ॥ १३३८ ॥

यान्युपाश्रयप्रतिमायां भयान्युक्तानि तान्युपाश्रयाद् बहिः प्रतिमायां सविशेषतराणि तस्करा-

---

१ °शानगृहे भा० ॥ २ "चाडो णासणं" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥

ऽऽरक्षिक-श्वापदादिभयसहितानि मन्तव्यानि । शून्यगृह-श्मशानयोः चशब्दात् चतुष्के च सविशेषतराणि 'त्रिविधानि' दिव्य-मानुष्य-तैरश्चोपसर्गरूपाणि भयानि भवन्ति, तान्यपि सम्यग् जयतीति प्रक्रमः ॥ १३३८ ॥ अस्या एव भावनायाः फलमाह—

देवेहिँ भेसिओ वि य, दिया व रातो व भीमरूवेहिं ।
तो सत्तभावणाए, वहइ भरं निब्भओ सयलं ॥ १३३९ ॥ 5

तत एवं सत्त्वभावनया स्वभ्यस्तया दिवा वा रात्रौ वा भीमरूपैर्देवैर्भेषितोऽपि 'भरं' जिनकल्पभारं सकलमपि निर्भयः सन् वहतीति ॥ १३३९ ॥ गता सत्त्वभावना । अथ सूत्रभावनामाह—

सूत्र-भावना

जइ वि य सनाममिव परिचियं सुअं अणहिय-अहीणवन्नाई ।
कालपरिमाणहेउं, तहा वि खलु तज्जयं कुणइ ॥ १३४० ॥

यद्यपि स्वनामेव तस्य श्रुतं परिचितम् 'अनधिका-ऽहीनवर्णादि' अनत्यक्षरं अहीनाक्षरम् 10 आदिशब्दाद् अव्याविद्धाक्षरादिगुणोपेतं च तथापि कालपरिमाणहेतोः 'तज्जयं' श्रुताभ्यासं करोति ॥ १३४० ॥ कथम् ? इति चेद् उच्यते—

उस्सासाओ पाणू, तओ य थोवो तओ वि य मुहुत्तो ।
मुहुत्तेहिँ पोरिसीओ, जाणेइ निसा य दिवसा य ॥ १३४१ ॥

श्रुतपरावर्त्तनानुसारेणैव सम्यगुच्छ्वासमानं कलयति, तत उच्छ्वासात् 'प्राणः' उच्छ्वास- 15 निःश्वासात्मकः, ततश्च प्राणात् 'स्तोकः' सप्तप्राणमानः, ततोऽपि च स्तोकाद् 'मुहूर्त्तः' घटिकाद्वयमानः, मुहूर्त्तैश्च पौरुष्यस्तेन भगवता ज्ञायन्ते, ताभिश्च पौरुषीभिर्निशाश्च दिवसाँश्च जानाति ॥ १३४१ ॥ तथा—

मेहाईछन्नेसु वि, उभओकालमहवा उवस्सग्गे ।
पेहाइ भिक्ख पंथे, नाहिइ कालं विणा छायं ॥ १३४२ ॥ 20

मेघादिना च्छन्नेष्वपि—अनुपलक्ष्येषु विभागेषु 'उभयकालं' क्रियाणां प्रारम्भ-परिसमाप्तिरूपम्, अथवा 'उपसर्गे' दिव्यादौ दिवस-रजन्यादिव्यत्ययकरणलक्षणे प्रेक्षादेः-उपकरणप्रत्युपेक्षाया आदिशब्दादावश्यककरणादेः "भिक्ख" त्ति भिक्षायाः "पंथि" त्ति मार्गस्य विहारस्येत्यर्थः, एतेषां सर्वेषामपि यः कालस्तं छायां विना स्वयमेव ज्ञास्यति ॥ १३४२ ॥

अथ सूत्रभावनाया एव गुणानाह— 25

एगग्गया सुमह निज्जरा य नेव मिणणम्मि पलिमंथो ।
न पराहीणं नाणं, काले जह मंसचक्खूणं ॥ १३४३ ॥

श्रुतपरावर्त्तनया चित्तस्यैकाग्रता भवति, सुमहती च निर्जरा भवति स्वाध्यायविधानप्रत्यया, नैव च्छायामापने 'पलिमन्थः' सूत्रार्थव्याघातलक्षणः, न च 'काले' पौरुष्यादिकालविषयं 'पराधीनं' सूर्यच्छायायत्तं ज्ञानम् यथा अन्येषां 'मांसचक्षुषां' छद्मस्थानां साधूनाम् ॥ १३४३ ॥ उपसंहरन्नाह— 30

सुयभावणाएँ नाणं, दंसण तवसंजमं च परिणमइ ।
तो उवओगपरिण्णो, सुयमव्वहितो समाणेइ ॥ १३४४ ॥

---

१ °हुत्तेहिँ ता० ॥ २ °मानस्तेन ज्ञायते, मुहूर्त्तैश्च पौरुषीर्विजानाति, ताभिश्च भा० ॥

श्रुतभावनया आत्मानं भावयन् ज्ञानं दर्शनं तपःप्रधानं च संयमं सम्यक् परिणमयति। ततः 'उपयोगपरिज्ञः' श्रुतोपयोगमात्रेणैव कालपरिज्ञाता "सुत्तं" ति श्रुतभावनाभ्यथितः सन् समापयतीति ॥ १३४४ ॥ गता सूत्रभावना । अथैकत्वभावनामाह—

एकत्व-भावना

जइ वि य पुव्वममत्तं, छिन्नं साहूहिँ दारमाईसु ।
5 आयरियाइममत्तं, तहा वि संजायए पच्छा ॥ १३४५ ॥

यद्यपि च पूर्वं—गृहवासकालभावि ममत्वं साधुभिः दाराः—कलत्रं तेषु आदिग्रहणात् पुत्रादिषु च्छिन्नमेव तथाप्याचार्यादिविषयं ममत्वं 'पश्चात्' प्रव्रज्यापर्यायकाले सञ्जायते ॥ १३४५ ॥

तच्च कथं परिहापयितव्यम्? उच्यते—

दिट्ठिनिवायाऽऽलावे, अवरोप्परकारियं सपडिपुच्छं ।
10 परिहास मिहो य कहा, पुव्वपवत्ता परिहवेइ ॥ १३४६ ॥

गुर्वादिषु ये पूर्वं दृष्टिनिपाताः—सस्निग्धावलोकनानि ये च तैः सहाऽऽलापास्तान्, तथा 'परस्परोपकारितां' मिथो भक्त-पानदान-ग्रहणाद्युपकारम्, 'सप्रतिपृच्छं' सूत्रार्थादिप्रतिपृच्छया सहितं 'परिहासं' हास्यं 'मिथः कथाश्च' परस्परवार्त्ताः पूर्वप्रवृत्ताः सर्वा अपि परिहापयति ॥ १३४६ ॥ ततश्च—

15 तणुईकयम्मि पुव्वं, बाहिरपेम्मे सहायमाईसु ।
आहारे उवहिम्मि य, देहे य न सज्जए पच्छा ॥ १३४७ ॥

सहायः—सङ्घाटिकसाधुस्तद्विषये आदिशब्दादाचार्यादिविषये च बाह्यप्रेमणि पूर्वं 'तनुकीकृते' परिहापिते सति ततः पश्चादाहारे उपधौ देहे च 'न सजति' न ममत्वं करोति ॥ १३४७ ॥

ततः किं भवति? इत्याह—

20 पुव्विं छिन्नममत्तो, उत्तरकालं वेविज्जमाणे वि ।
साभाविय इअरे वा, खुब्भइ दट्ठुं न संगइए ॥ १३४८ ॥

पूर्वं 'छिन्नममत्वः' 'सर्वेऽपि जीवा असकृद् अनन्तशो वा सर्वजन्तूनां स्वजनभावेन शत्रुभावेन च सञ्जाताः, अतः कोऽत्र स्वजनः? को वा परः?' इतिभावनया त्रुटितप्रेमबन्धः सन् 'उत्तरकालं' जिनकल्पप्रतिपत्त्यनन्तरं व्यापाद्यमानानपि 'सङ्गतिकान्' स्वजनान् स्वाभाविकान् 'इतरान् 25 वा' वैक्रियशक्त्या देवादिनिर्मितान् दृष्ट्वा 'न क्षुभ्यति' ध्यानान्न चलति ॥ १३४८ ॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

एकत्वभावनायां पुष्पचूलोदन्तम्

पुप्फपुर पुप्फकेऊ, पुप्फवई देवि जुयलयं पसवे ।
पुत्तं च पुप्फचूलं, धूअं च सनामिअं तस्स ॥ १३४९ ॥
सहवड्डियाऽणुरागो, रायत्तं चेव पुप्फचूलस्स ।
30 घरजामाउगदाणं, मिलइ निसिं केवलं तेणं ॥ १३५० ॥

---

१ तनुकीकृते सति पूर्वं बाह्यप्रेमणि 'सहायादिषु' सहायः-सङ्घाटिकासाधुः आदिशब्दाद् आचार्यादिपरिग्रहः, ततः पश्चाद् आहारे उपधौ देहे वा 'न सजति' भा० ॥ २ वड्ढिअ° ता० ॥ ३ °सिअं पसवे ता० ॥

पव्वज्जा य नरिंदे, अणुपव्वयणं च भावणेगत्ते ।
वीमंसा उवसग्गे, विउेहिँ समुहिं च कंदणया ॥ १३५१ ॥

पुप्फपुरं नयरं । तत्थ **पुप्फकेऊ** राया, **पुप्फवई** देवी । सा अन्नया जुगलयं पसूया—**पुप्फचूलो** दारओ **पुप्फचूला** दारिया । ताणि दो वि सहवड्ढियाणि परोप्परं अईव अणुरत्ताणि । अन्नया **पुप्फचूलो** राया जाओ । **पुप्फचूला** राइणा घरजामाउगस्स दिन्ना । सा य दिवसं 5 सव्वं भाउणा समं अच्छइ । अन्नया **पुप्फचूलो** राया पव्वइओ । अणुरागेणं **पुप्फचूला** वि भगिणी पव्वइया । सो य **पुप्फचूलो** अन्नया जिणकप्पं पडिवज्जिउकामो एगत्तभावणाए अप्पाणं भावेइ । इओ य एगेणं देवेणं वीमंसणानिमित्तं **पुप्फचूलाए** अज्जाए रूवं विउव्विऊणं तं धुत्ता धरिसिउं पवत्ता । **पुप्फचूलो** य अणगारो तेणं ओगासेणं वोलेइ । ताहे सा **पुप्फचूला** अज्जा 'जेट्ठज्ज ! सरणं भवाहि' त्ति वाहरइ । सो य भगवं वुच्छिन्नपेमबंधणो 10

"एगो हं नत्थि मे को वि, नाहमन्नस्स कस्सइ ।"

इच्चाइ एगत्तभावणं भाविंतो गओ सट्ठाणं । एवं एगत्तभावणाए अप्पा भावेयव्वो त्ति ॥

गाथाक्षरयोजना त्वेवम्—पुष्पपुरे पुष्पकेतू राजा । पुष्पवती देवी युगलं प्रसूते । वर्त्तमाननिर्देशस्तत्कालविवक्षया । पुत्रं च पुष्पचूलं दुहितां च तस्य 'सनामिकां' समानाभिधानाम् ॥ तयोश्च सहवर्द्धितयोरनुरागः । राजत्वं चैव पुष्पचूलस्य । पुष्पचूलायाश्च गृहजामात्रे दानम् । सा च 15 'तेन' भर्त्रा समं केवलं 'निशि' रात्रौ मिलति ॥ प्रव्रज्या च 'नरेन्द्रे' पुष्पचूलाख्ये । तदनु प्रव्रजनं च पुष्पचूलायाः । ततो जिनकल्पं प्रतिपित्सुरेकत्वभावनां भावयितुं लग्नः । 'विमर्शः' परीक्षा । तदर्थं देवेनोपसर्गे क्रियमाणे विटैः सम्मुखीं पुष्पचूलां कृत्वा धर्षणं कर्त्तुमारब्धम् । ततः 'क्रन्दना' आर्य ! शरणं शरणमिति ॥ १३४९ ॥ १३५० ॥ १३५१ ॥

अथोपसंहारमाह— 20

एगत्तभावणाए, न कामभोगे गणे सरीरे वा ।
सज्जइ वेरग्गगओ, फासेइ अणुत्तरं करणं ॥ १३५२ ॥

एकत्वभावनया भाव्यमानया 'कामभोगेषु' शब्दादिषु 'गणे' गच्छे शरीरे वा 'न सजति' न सङ्गं करोति, किन्तु वैराग्यगतः सन् 'स्पृशति' आराधयति 'अनुत्तरं करणं' प्रधानयोगसाधनं जिनकल्पपरिकर्मेति ॥ १३५२ ॥ गता एकत्वभावना । अथ बलभावना । तत्र बलं द्विधा— 25 शारीरबलं भावबलं च । तत्र भावबलमाह—

बलभावना

भावो उ अभिस्संगो, सो उ पसत्थो व अप्पसत्थो वा ।
नेह-गुणओ उ रागो, अपसत्थ पसत्थओ चेव ॥ १३५३ ॥

भावो नाम अभिष्वङ्गः । 'स तु' स पुनरभिष्वङ्गो द्विधा—प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च[3] । तत्रापत्य-कलत्रादिषु स्नेहजनितो यो रागः सोऽप्रशस्तः, यः पुनराचार्योपाध्यायादिषु गुणबहुमानप्रत्ययो रागः 30 स प्रशस्तः । तस्य द्विविधस्यापि भावस्य येन मानसावष्टम्भेनासौ व्युत्सर्गं करोति तद् भावबलं

१ प्रव्रजनं च नरेन्द्रे, अनुप्रव्रजनं च पुष्प° भा० ॥ २ तदनुरागेणानुप्रव्रज° डे० ॥
३ °श्च । कथम्? इत्याह—"नेह" इत्यादि । इहापत्य° भा० ॥

मन्तव्यम् । शारीरमपि बलं शेषजनापेक्षया जिनकल्पार्हस्यातिशायिकमिष्यते ॥ १३५३ ॥

आह तपो-ज्ञानप्रभृतिभिर्भावनाभिर्भावयतः कृशतरं शरीरं भवति ततः कुतोऽस्य शारीरबलं भवति ? इति, उच्यते—

कामं तु सरीरबलं, हायइ तव-नाणभावणजुअस्स ।
देहावचए वि सती, जह होइ धिई तहा जयइ ॥ १३५४ ॥ 5

'कामम्' अनुमतं 'तुः' अवधारणे अनुमतमेवास्माकं यत् तपो-ज्ञानभावनायुक्तस्य शरीरबलं हीयते, परं देहापचयेऽपि सति यथा 'धृतिः' मानसावष्टम्भलक्षणा निश्चला भवति तथाऽसौ यतते, धृतिबलेन सम्यगात्मानं भावयतीत्यर्थः ॥ १३५४ ॥

आह इत्थं धृतिबलेन भावयतः को नाम गुणः स्यात् ? उच्यते—

10 **कसिणा परीसहचमू, जइ उट्ठिज्जाहि सोवसग्गा वि ।**
दुद्धरपहकरवेगा, भयजणणी अप्पसत्ताणं ॥ १३५५ ॥
धिइधणियबद्धकच्छो, जोहेइ अणाउलो तमव्वहिओ ।
बलभावणाएँ धीरो, संपुण्णमणोरहो होइ ॥ १३५६ ॥

'कृत्स्ना' सम्पूर्णा 'परीषहचमूः' मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः—क्षुधादयस्त एव 15 तेषां वा चमूः—सेना सा यदि 'उत्तिष्ठेत' सम्मुखीभूय परिभवनाय प्रगुणीभवेत् 'सोपसर्गाऽपि' दिव्याद्युपसर्गैः कृतसहायकाऽपि, तथा "दुद्धरपहकरवेग" त्ति दुर्द्धरं—दुर्वहं पन्थानं—सम्यग्दर्शनादिरूपं मोक्षमार्गं करोतीति दुर्द्धरपथकरस्तथाविधो वेगः—प्रसरो यस्याः सा दुर्द्धरपथकरवेगा, 'भयजननी' संत्रासं[3]करी 'अल्पसत्त्वानां' कापुरुषाणाम् ॥ १३५५ ॥

तामेवंविधामपि स जिनकल्पं प्रतिपत्तुकामो योधयति । कथम्भूतः ? धृतिरेव धणियम्—20 अत्यर्थं बद्धा कक्षा येन स तथा 'अनाकुलः' औत्सुक्यरहितः 'अव्यथितः' निष्प्रकम्पमनाः स बलभावनया तां योधयित्वा 'धीरः' सत्त्वसम्पन्नः सन् सम्पूर्णमनोरथो भवति, परीषहोपसर्गान् पराजित्य स्वप्रतिज्ञां पूरयतीत्यर्थः ॥ १३५६ ॥ अपि च—

धिइ-बलपुरस्सराओ, हवंति सव्वा वि भावणा एता ।
तं तु न विज्जइ सज्झं, जं धिइमंतो न साहेइ ॥ १३५७ ॥

25 सर्वा अप्येतास्तपःप्रभृतयो भावना धृति-बलपुरस्सरा भवन्ति, नहि धृति-बलमन्तरेण षाण्मासिकतपःकरणाद्यनुगुणास्ताः तथा भावयितुं शक्यन्ते । किञ्च 'तत् तु' तत् पुनः 'साध्यं' कार्यं जगति न विद्यते यद् 'धृतिमान्' सात्त्विकः पुरुषो न साधयति, "सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्" इति वचनात् । एतेन "अव्वोच्छित्ती मण" (गा० १२८०) इत्यादिद्वारगाथायाः "उवसग्गसहे" इति यत् पदं तद् भावितं मन्तव्यम्, बलभावनया उपसर्गसहत्वभावादिति ॥ १३५७ ॥

30 गता बलभावना । अथ "उवसग्गसहे य" त्ति इत्यत्र यः चशब्दः सोऽनुक्तसमुच्चये वर्त्तते, अतस्तदर्थलब्धं विधिविशेषमाह—

---

१ **शरीरमिति ततः** मो० ले० ॥ २ °**चये सत्यपि यथा** भा० ॥ ३ °**सकारिणी 'अल्प°** मो० ले० विना ॥

जिणकप्पियपडिरूवी, गच्छे वसमाण दुविह परिकम्मं।
ततियं भिक्खायरिया, पंतं लूहं अभिगहीया ॥ १३५८ ॥

एवमसौ पञ्चभिर्भावनाभिर्भावितान्तरात्मा जिनकल्पिकस्य प्रतिरूपी–तदनुरूपो भूत्वा गच्छ एव वसन् द्विविधं परिकर्म वक्ष्यमाणनीत्या करोति। तथा तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षाचर्या, तत्रापि प्रान्तं रूक्षमाहारं गृह्णाति, एषणा च 'अभिगृहीता' अभिग्रहयुक्ता ॥ १३५८ ॥ तथा— 5

परिणाम-जोगसोही, उवहिविवेगो य गणविवेगो य।
सिज्जा-संथारविसोहणं च विगईविवेगो य ॥ १३५९ ॥
तो पच्छिमम्मि काले, सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं।
पच्छा निच्छयपत्थं, उवेइ जिणकप्पियविहारं ॥ १३६० ॥

परिणामस्य गुर्वादिममत्वविच्छेदेन योगानां चावश्यकव्यापाराणां यथाकालमेव करणेन 10 शुद्धिः तथा प्राक्तनस्योपधेर्विवेको गणविवेकश्च शय्या-संस्तारस्य विशोधनं च विकृतिविवेकश्च तदा तेन कर्त्तव्यः ॥ १३५९ ॥

ततः 'पश्चिमे काले' तीर्थाव्यवच्छित्तिकरणानन्तरं 'सत्पुरुषनिषेवितं' धीरपुरुषाराधितं 'परम-घोरं' अत्यन्तदुरनुचरं 'पश्चाद्' आयतौ 'निश्चयपथ्यम्' एकान्तहितं जिनकल्पिकविहारमुपैति ॥ १३६० ॥ अथ द्विविधं परिकर्म व्याख्यानयति— 15

पाणी पडिग्गहेण व, सचेल निचेलओ जहा भविया।
सो तेण पगारेणं, भावेइ अणागयं चेव ॥ १३६१ ॥

द्विविधं परिकर्म

द्विविधं परिकर्म, तद्यथा—पाणिपरिकर्म प्रतिग्रहपरिकर्म च; अथवा सचेलपरिकर्म अचेल-परिकर्म च। तत्र यो यथा पाणिपात्रधारकः प्रतिग्रहधारको वा सचेलको अचेलको वा भविता स तेनैव प्रकारेण पाणिपात्रभोजित्वादिना अनागतमेवाऽऽत्मानं भावयति ॥ १३६१ ॥ 20

प्रकारान्तरमाह—

आहारे उवहिम्मि य, अहवा दुविहं तु होइ परिकम्मं।
पंचसु अ दोसु अग्गह, अभिग्गहो अन्नयरियाए ॥ १३६२ ॥

अथवा द्विविधं परिकर्म आहारे उपधौ च। तत्राहारं तावदसौ तृतीयपौरुष्यामवगाढायां गृह्णाति, तं चालेपकृतमेव। तत्राप्यसंसृष्टादीनां सप्तानां पिण्डैषणानां मध्याद् 'द्वयोः' आद्य-25 योरेषणयोः 'अग्रहः' सर्वथैवास्वीकारः, उपरितनीषु 'पञ्चसु' उद्धृता-ऽल्पलेपा-ऽवगृहीता-प्रगृही-तोज्झितधर्मिकासु ग्रहणम्। तत्राप्यभिग्रहोऽन्यतरस्यामेषणायाम्, एकया भक्तमपरया पानकमिति नियम्य शेषाभिस्तिसृभिस्तद्दिवसमग्रहणमित्यर्थः। उपधौ तु वस्त्र-पात्रयोः प्रतिमाचतुष्टयं यत्

१ "आहारे॰ गाथा। आहारपरिकम्मेणं उवधिपरिकम्मेण य। तत्थाहारो ततियाए पोरुसीए। भत्त-पाणं अलेवाडं गेण्हियव्वं। तदपि सत्तण्हं पिंडेसण-पाणेसणाणं आदिल्लियाओ दो मोत्तुं उवरिल्लियाहिं पंचहिं 'आग्गहो' आङ् मर्यादा-ऽभिविध्योः आ-मर्यादया ग्रहः आग्रहः। कायं दीहा मत्ता॰ लक्खणगाथा। दोहि-मभिग्गहो, तत्थ वि 'अण्णतरीए अभिग्रहः' अण्णाए भत्तं अण्णाए पाणयं गेण्हति। वत्थे उवरिल्लियाहिं दोहिं आग्गहो, अभिग्गहो अण्णतरियाए॥" इति चूर्णिः॥

पीठिकायामुक्तं (गाथाः ६१० प्रभृतयः ६५५ प्रभृतयश्च) तत्राद्यद्वयवर्जमुत्तरयोरेव ग्रहणम् । तत्राप्यपरस्यामभिग्रहः ॥ १३६२ ॥ अथ "पंतं लूहं"ति व्याचष्टे—

निप्फाव-चणकमाई, अंतं पंतं तु होइ वावण्णं ।
नेहरहियं तु लूहं, जं वा अबलं सभावेणं ॥ १३६३ ॥

5 निष्पावाः—वल्लाश्चणकाः—प्रतीता आदिशब्दात् कुल्माषादिकं च आन्तमित्युच्यते । प्रान्तं पुनस्तदेव 'व्यापन्नं' विनष्टं कुथितमित्यर्थः । यत् पुनः स्नेहरहितं तद् रूक्षम्, यद्वा स्वभावेन 'अबलं' रब्वादिकं तदपि रूक्षं मन्तव्यम् ॥ १३६३ ॥ अत्रैव विधिविशेषमाह—

उक्कुडुयासणसमुइं, करेइ पुढवीसिलाइसुववेसे ।
पडिवन्नो पुण नियमा, उक्कुडुओ केइ उ भयंति ॥ १३६४ ॥
10 **तं तु न जुज्जइ जम्हा, अणंतरो नत्थि भूमिपरिभोगो ।**
तम्मि य हु तस्स काले, ओवग्गहितोवही नत्थि ॥ १३६५ ॥

उत्कुटुकासनस्य "समुइं" ति देशीवचनत्वाद् अभ्यासं करोति, 'पृथिवीशिलादिषु वा' पृथ्वीशिलापट्टके आदिशब्दाद् अपरेष्वपि तथाविधयथासंस्तृतेषु उपविशेद्वा । जिनकल्पं प्रतिपन्नः पुनर्नियमादुत्कुटुक एव । केचिद् 'भजन्ति' विकल्पं कुर्वन्ति—उत्कुटको वा तिष्ठेदुपविशेद्वा, तत्तु 15 न युज्यते, यस्माद् 'अनन्तरः' अव्यवहितो नास्ति साधूनां तावद् भूमिपरिभोगः, "सुद्धपुढवीए न निसिए" (दशवै० अ० ८ गा० ५) त्ति वचनात्; तस्मिंश्च जिनकल्पकाले औपग्रहिकोपधिर्नास्ति, तदभावाच्च निषद्याऽपि नास्तीति गम्यते[2], ततश्चार्थादापन्नं उत्कुटक एव तिष्ठति ॥ १३६४ ॥ १३६५ ॥ उक्तश्चशब्दसूचितो विधिशेषः । अथ वटवृक्षद्वारमाह—

जिनकल्पप्रतिपत्तिकालीनो विधिः

दव्वाई अणुकूले, संघं असती गणं समाहूय ।
20 **जिण गणहरे य चउदस, अभिन्न असती य वडमाई ॥ १३६६ ॥**

इत्थमात्मानं परिकर्म्य द्रव्ये आदिशब्दात्[3] क्षेत्रे काले भावे च 'अनुकूले' प्रशस्ते सङ्घं मीलयित्वा सङ्घस्य 'असति' अभावे गणं स्वकीयमवश्यमेव समाहूय ततः प्रथमं जिनः—तीर्थकरस्तस्यान्तिके तदभावे गणधरसन्निधाने तदलाभे चतुर्दशपूर्वधरान्तिके तदसम्भवेऽभिन्नदशपूर्वधरपार्श्वे तस्याप्यसति वटवृक्षस्याध आदिग्रहणात् तदप्राप्तावशोका-[4]ऽश्वत्थवृक्षादीनामधस्ताद् जिनकल्पं 25 प्रतिपद्यते ॥ १३६६ ॥ केन विधिना ? इत्याह—

गणि गणहरं ठवित्ता, खामे अगणी उ केवलं खामे ।
सव्वं च बाल-वुड्ढं, पुव्वविरुद्धे विसेसेणं ॥ १३६७ ॥

'गणी' गच्छाधिपाचार्यः स पूर्वमित्वरनिक्षिप्तगणं स्वशिष्यं गणधरं स्थापयित्वा श्रमणसङ्घं क्षमयति । "अगणि" त्ति यस्तु गणी न भवति किन्तु सामान्यसाधुः स केवलं क्षमयति न तु

---

१ अन्त° मो० ले० ॥ २ °ते, तस्याश्चाभावे शुद्धपृथिव्यामुपवेशनस्याकल्पनीयत्वाद् ऊर्ध्वा° भा० । "नास्ति तस्यौपग्रहिकमुपकरणम्, तेन निषद्या नास्तीति गम्यते, तदभावादुपवेशनाभावः" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ ३ °त् क्षेत्र-काल-भावेषु 'अनुकूलेषु' प्रशस्तेषु सङ्घं भा० ॥ ४ °णादशोका° भा० ॥

कमपि स्थापयति । किं पुनः क्षमयति ? इत्याह—'सर्वं' सकलमपि सङ्घं चशब्दात् तदभावे स्वगच्छं बाल-वृद्धाकुलम् । ये च 'पूर्वविरुद्धाः' प्राग्विराधितास्तान् विशेषेण क्षमयति ॥१३६७॥

कथं पुनः ? इत्याह—

जइ किंचि पमाएणं, न सुट्ठु मे वट्टियं मए पुव्विं ।
तं मे खामेमि अहं, निस्सल्लो निक्कसाओ अ ॥ १३६८ ॥

क्षामणा

यदि किञ्चित् 'प्रमादेन' अनाभोगादिना न सुष्ठु 'मे' भवतां मया वर्त्तितं पूर्वं तद् "मे" युष्मान् क्षमयाम्यहं निःशल्यो निष्कषायश्च ॥ १३६८ ॥

इत्थं तेन क्षमिते सति शेषसाधवः किं कुर्वन्ति ? इत्याह—

आणंदअंसुपायं, कुणमाणा ते वि भूमिगयसीसा ।
खामिंति जहरिहं खलु, जहारिहं खामिता तेणं ॥ १३६९ ॥

'तेऽपि' साधव आनन्दाश्रुपातं कुर्वाणाः 'भूमिगतशीर्षाः' क्षितिनिहितशिरसः सन्तः क्षमयन्ति 'यथार्हं' यो यो रत्नाधिकः स स प्रथममित्यर्थः, तेनाचार्येण 'यथार्हं' यथापर्यायज्येष्ठं क्षामिताः सन्त इति ॥ १३६९ ॥ अथेत्थं क्षामणायां के गुणाः ? इत्याह—

खामिंतस्स गुणा खलु, निस्सल्लय विणय दीवणा मग्गे ।
लाघवियं एगत्तं, अप्पडिबंधो अ जिणकप्पे ॥ १३७० ॥

जिनकल्पे प्रतिपद्यमाने साधून् क्षमयतः खल्वेते गुणाः । तद्यथा—'निःशल्यता' मायादिशल्याभावो भवति । विनयश्च प्रयुक्तो भवति । मार्गस्य दीपना कृता भवति, इत्थमन्यैरपि क्षामणकपुरस्सरं सर्वं कर्त्तव्यमिति । 'लाघवम्' अपराधभारापगमतो लघुभाव उपजायते । 'एकत्वं' 'क्षामिता मयाऽमी साधवः, इत ऊर्द्ध्वमेक एवास्मि' इत्यनुध्यानं भवति । 'अप्रतिबन्धश्च' ममत्वस्य च्छिन्नत्वाद् भूयः शिष्येषु प्रतिबन्धो न भवति ॥ १३७० ॥

अथ निजपदस्थापितस्य सूरेरनुशिष्टिमाह—

अह ते सबाल-वुड्ढो, गच्छो साइज्ज णं अपरितंतो ।
एसो हु परंपरतो, तुमं पि अंते कुणसु एवं ॥ १३७१ ॥
पुव्वपवित्तं विणयं, मा हु पमाएहिँ विणयजोगेसु ।
जो जेण पगारेणं, उववज्जइ तं च जाणाहिं ॥ १३७२ ॥

न्यस्थापिताचार्यं प्रति गच्छसाधूंश्च प्रति प्राक्तनाचार्यस्य शिक्षावचनानि

अथैषः 'ते' तव सबाल-वृद्धो गच्छो निसृष्ट इति शेषः, अतः 'अपरितान्तः' अनिर्विण्णः "णं" एनं गच्छं 'सातयेः' सङ्ग्रोपायेः, सारणा-वारणादिना सम्यक् पालयेरित्यर्थः । न च 'परित्यक्तोऽहममीभिः' इत्यादि परिभाव्यम्, यत एष एव 'परम्परकः' शिष्या-ऽऽचार्यक्रमो यद् अव्यवच्छित्तिकारकं शिष्यं निष्पाद्य शक्तौ सत्यामभ्युद्यतविहारः प्रतिपत्तव्यः । त्वमपि 'अन्ते' शिष्यनिष्पादनादिकार्यपर्यवसाने एवमेव कुर्याः ॥ १३७१ ॥

१ °वाः सा° भा० डे० ॥ २ °न्ति ते 'यथार्हं' यथापर्यायज्येष्ठं यथार्थं तेन क्षामि° भा० ॥ ३ °श्चाराधितो भव° भा० ॥ ४ "एगत्तं" ति एकत्वभावनात्मकं 'क्षामिता मो० डे० ॥ ५ संयमात्मनि खेदं प्रापयेः, सा° मो० ले० ॥

ये च तव बहुश्रुत-पर्यायज्येष्ठादयो विनययोग्याः—गौरवार्हास्तेषु 'पूर्वप्रवृत्तं' यथोचितं विनयं 'मा प्रमादयेः' मा प्रमादेन परिहापयेः । यश्च साधुर्येन तपः-स्वाध्याय-वैयावृत्त्यादिना प्रकारेण 'उपयुज्यते' निर्जराप्रत्युपयोगमुपयाति 'तं च जानीहि' तं तथैव प्रवर्त्तयेत्यर्थः, ॥ १३७२ ॥ अथ साधूनामनुशिष्टिं प्रयच्छति—

5 **ओमो समराइणिओ, अप्पतरसुओ अ मा य णं तुब्भे ।**
परिभवह तुम्ह एसो, विसेसओ संपयं पुज्जो ॥ १३७३ ॥

'अवमोऽयं समरात्निकोऽयं अल्पतरश्रुतो वाऽयमस्मदपेक्षया, अतः किमर्थमस्य आज्ञानिर्देशं वयं कुर्महे ?' इति मा यूयममुं परिभवत । यत एष युष्माकं साम्प्रतमस्मत्स्थानीयत्वाद् गुरुतर-गुणाधिकत्वाच्च विशेषतः पूज्यः, न पुनरवज्ञातुमुचित इति भावः ॥ १३७३ ॥

10 इत्थमुभयेषामप्यनुशिष्टिं प्रदाय किं करोति ? इत्याह—

पक्खीव पत्तसहिओ, सभंडगो वच्चए निरवयक्खो ।
एगंतं जा तइया, तीएँ विहारो सें नऽन्नासु ॥ १३७४ ॥

यथा पक्षी पत्राभ्यां—पक्षाभ्यां सहितः प्राक्तनस्थाननिरपेक्षः स्थानान्तरं व्रजति, एवमयमपि भगवान् 'सभाण्डकः' पात्रसहितः 'निरपेक्षः' गच्छसत्कापेक्षया रहितः 'एकान्तं' मासकल्पप्रायोग्यं

15 क्षेत्रं व्रजति । अयं च यावत् तृतीयपौरुषी[1] तावद् गच्छति, यतस्तस्यामेव "से" तस्य विहारो नान्यासु पौरुषीषु, यत्र तु चतुर्थी पौरुषी भवति तत्र नियमात् तिष्ठतीति ॥ १३७४ ॥

तस्मिन् निर्गते सति शेषसाधवः किं कुर्वन्ति ? इत्याह—

सीहम्मि व मंदरकंदराओं नीहम्मिए तओ तम्मि ।
चक्खुविसयं अइगए, अइंति आणंदिया साहू ॥ १३७५ ॥

20 सिंहे इव मन्दरकन्दरायास्तस्मिन्ननगारसिंहे गच्छाद् "नीहम्मिए" निर्गते सति कियन्तमपि भूभागमनुगमनं विधाय ततश्चक्षुर्विषयम् 'अतिक्रान्ते' अदर्शनीभूते आयान्ति स्ववसतिम् 'आनन्दिताः' 'अहो ! अयं भगवान् सुखसेवनीयं स्थविरकल्पविहारं विहायातिदुष्करमभ्युद्यतविहार-मभ्युपैति' इति परिभावनया हृष्टाः सन्तः साधव इति ॥ १३७५ ॥ इदमेव सविशेषमाह—

निच्चेल सचेले वा, गच्छारामा विणिग्गए तम्मि ।
25 **चक्खुविसयं अईए, अयंति आणंदिया साहू ॥ १३७६ ॥**

निश्चेले वा सचेले वा गच्छारामात् सुखसेवनीयाद् विनिर्गते तस्मिँश्चक्षुर्विषयमतीते आयान्त्यानन्दिताः साधव इति ॥ १३७६ ॥ अथासौ विवक्षितं क्षेत्रं गत्वा किं करोति ? इत्याह—

आभोएउं खेत्तं, निव्वाघाएण मासनिव्वाहिं ।
गंतूण तत्थ विहरइ, एस विहारो समासेणं ॥ १३७७ ॥

30 'आभोग्य' विज्ञाय क्षेत्रं 'निर्व्याघातेन' विघ्नाभावेन 'मासनिर्वाहि' मासनिर्वहणसमर्थं गत्वा 'तत्र' क्षेत्रे 'विहरति' स्वनीतिं परिपालयति । एष विहारो विशेषानुष्ठानरूपोऽस्य भगवतः समासेन प्रतिपादित इति ॥ १३७७ ॥ उक्तं विहारद्वारम् । अथ सामाचारीद्वारमाह—

---

१ °या पौ° भा० ॥

इच्छा-मिच्छा-तहकारो, आवस्सि निसीहिया य आपुच्छा ।
पडिपुच्छ छंदण निमंतणा य उवसंपया चेव ॥ १३७८ ॥

सामाचारीद्वारम्

'इदं मदीयं कार्यमिच्छया कुरुत, न बलाभियोगेन' इत्येवमिच्छायाः करणमिच्छाकारः । कथञ्चित् स्खलितस्य 'मिथ्या मदीयं दुष्कृतम्' इति भणनं मिथ्याकारः । गुर्वादिषु ब्रुवाणेषु 'यथाऽऽदिशत यूयं तथैव' इति भणनं तथाकारः । क्वचिद् बहिर्गमनकार्ये समुत्पन्ने 'अवश्यं 5 गन्तव्यम्' इति भणनं आवश्यिकी । वसतिप्रवेशे 'निषिद्धोऽहं गमनक्रियायाः' इति भणनं नैषेधिकी । स्वकार्यप्रवृत्तावाप्रच्छनमापृच्छा । आदिष्टस्य कार्यस्य करणकाले पुनः प्रच्छनं प्रतिपृच्छा । पूर्वगृहीतेनाशनादिना साधूनामभ्यर्थना च्छन्दना । तेनैवागृहीतेन 'यथालाभं युष्मद्योग्यमसुकमानेष्ये' इति प्रार्थना निमन्त्रणा । उपसम्पद् द्विधा—साधुविषया गृहस्थविषया च । ज्ञानादिहेतोर्यदपरं गणं गत्वोपसम्पद्यते सा साधुविषया । यत् पुनरवस्थाननिमित्तं गृहिणामनु- 10 ज्ञापनं सा गृहस्थविषया ॥ १३७८ ॥

अथैतासां मध्याद् जिनकल्पिकस्य काः सामाचार्यो भवन्ति ? इत्युच्यते—

आवसि निसीहि मिच्छा, आपुच्छुवसंपदं च गिहिएसु ।
अन्ना सामायारी, न होंति से सेसिया पंच ॥ १३७९ ॥

जिनकल्पिकस्य चक्रवालसामाचार्यः

आवश्यिकीं नैषेधिकीं मिथ्याकारमापृच्छां उपसम्पदं च 'गृहिषु' गृहस्थविषया एताः पञ्च 15 सामाचारीर्जिनकल्पिकः प्रयुङ्क्ते । अन्याः सामाचार्यो न भवन्ति 'से' तस्य 'शेषाः पञ्च' इच्छाकाराद्याः, प्रयोजनाभावात् ॥ १३७९ ॥ आदेशान्तरमाह—

आवासियं निसीहियं, मोत्तुं उवसंपयं च गिहिएसु ।
सेसा सामायारी, न होंति जिणकप्पिए सत्त ॥ १३८० ॥

आवश्यिकीं नैषेधिकीं मुक्त्वा उपसम्पदं च 'गृहिषु' गृहस्थविषया जिनकल्पिकस्य 'शेषाः 20 सामाचार्यः' मिथ्याकाराद्याः सप्त न भवन्ति, तद्विषयस्य स्खलितादेरभावात् ॥ १३८० ॥

अहवा वि चक्कवाले, सामायारी उ जस्स जा जोग्गा ।
सा सव्वा वत्तव्वा, सुयमाई वा इमा मेरा ॥ १३८१ ॥

अथवाऽपि 'चक्रवाले' प्रत्युपेक्षणादौ नित्यकर्मणि यस्य जिनकल्पिकादेर्या सामाचारी योग्या सा सर्वा अत्र सामाचारीद्वारे वक्तव्या । श्रुतादिका वा 'इयं' वक्ष्यमाणा 'मेरा' मर्यादा सामा- 25 चारी ॥ १३८१ ॥ तामेवाभिधित्सुर्द्वारगाथात्रयमाह—

सुय संघयणुवसग्गे, आतंके वेदणा कइ जणा य ।
थंडिल्ल वसहि केच्चिर, उच्चारे चेव पासवणे ॥ १३८२ ॥
ओवासे तणफलए, सारक्खणया य संठवणया य ।
पाहुडि अग्गी दीवे, ओहाण वसे कइ जणा य ॥ १३८३ ॥ 30
भिक्खायरिया पाणग, लेवालेवे तहा अलेवे य ।
आयंबिल पडिमाओ, जिणकप्पे मासकप्पो य ॥ १३८४ ॥

जिनकल्पिकस्य श्रुतादिकाः सामाचार्यः

---

१ बोधव्वा ता० ॥

श्रुतं १ संहननं २ उपसर्गाः ३ आतङ्कः ४ वेदनाः ५ कतिजनाश्च ६ स्थण्डिलं ७ वसतिः ८ कियच्चिरं ९ उच्चारश्चैव १० प्रश्रवणं ११ अवकाशः १२ तृणफलकं १३ संरक्षणता च १४ संस्थापनता च १५ प्राभृतिका १६ अग्निः १७ दीपः १८ अवधानं १९ वत्स्यथ कति जनाश्च २० भिक्षाचर्या २१ पानकं २२ लेपालेपः २३ तथा अलेपश्च २४ आचाम्लं २५ प्रतिमाः 5 २६ मासकल्पश्च २७ "जिणकप्पे" त्ति एतानि सप्तविंशतिद्वाराणि जिनकल्पविषयाणि वक्तव्यानीति[1] द्वारगाथात्रयसमुदायार्थः ॥ १३८२ ॥ १३८३ ॥ १३८४ ॥ अथावयवार्थं प्रतिद्वारं प्रतिपिपादयिषुः "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायात् प्रथमतः श्रुतद्वारमाह—

आयारवत्थुतइयं, जहन्नयं होइ नवमपुव्वस्स ।
तहियं कालण्णाणं, दस उक्कोसेण भिन्नाइं ॥ १३८५ ॥

10 जिनकल्पिकस्य जघन्यकं श्रुतं 'नवमपूर्वस्य' प्रत्याख्याननामकस्याचाराख्यं तृतीयं वस्तु तस्मिन्नधीते सति कालज्ञानं भवतीत्यतस्तदर्वाक्छ्रुतपर्याये वर्त्तमानस्य न जिनकल्पप्रतिपत्तिः । उत्कर्षतो दश पूर्वाणि भिन्नानि श्रुतपर्यायः । सम्पूर्णदशपूर्वधरः पुनरमोघवचनतया प्रवचन-प्रभावनापरोपकारादिद्वारेणैव बहुतरं निर्जरालाभमासादयति अतो नासौ जिनकल्पं प्रतिपद्यते ॥ १३८५ ॥ उक्तं श्रुतद्वारम् १ । अथ संहननद्वारमाह—

15 **पढमिल्लुगसंघयणा, धिईएँ पुण वज्जकुड्डसामाणा ।**
उप्पज्जंति न वा सिं, उवसग्गा एस पुच्छा उ ॥ १३८६ ॥

जिनकल्पिकाः 'प्रथमिल्लुकसंहननाः' वज्रर्षभनाराचसंहननोपेताः 'धृत्या' अङ्गीकृतनिर्वाहक्षम-मनःप्रणिधानरूपया वज्रकुड्यसमानाः २ । अथोपसर्गद्वारम्—उत्पद्यन्ते न वा अमीषामुपसर्गा दिव्यादयः ? इत्येषा पृच्छा ॥ १३८६ ॥ अत्रोत्तरमाह—

20 **जइ वि य उप्पज्जंते, सम्मं विसहंति ते उ उवसग्गे ।**
रोगातंका चेवं, भइआ जइ होंति विसहंति ॥ १३८७ ॥

नायमेकान्तो यदवश्यमेतेषामुपसर्गा उत्पद्यन्ते[3], परं यद्युत्पद्यन्ते तथापि सम्यगदीनमनसो विषहन्ते तानुपसर्गान् ३ । आतङ्कद्वारमतिदिशति—रोगाश्च—कालसहाः आतङ्काश्च—सद्योघा-तिनः एवमेव 'भाज्याः' उत्पद्यन्ते वा न वा । यदि 'भवन्ति उत्पद्यन्ते ततो नियमाद् विष-25 हन्ते ४ ॥ १३८७ ॥ वेदनाद्वारमाह—

अब्भोवगमा ओवक्कमा य तेसि वियणा भवे दुविहा ।
धुवलोआई पढमा, जरा-विवागाइ बिइएक्को ॥ १३८८ ॥

आभ्युपगमिकी औपक्रमिकी च 'तेषां' जिनकल्पिकानां द्विविधा वेदना भवति । तत्र प्रथमा 'ध्रुवलोचादि' ध्रुवः—प्रतिदिनभावी लोचः, आदिशब्दादातापना-तपःप्रभृतिपरिग्रहः । 'द्वितीया तु' 30 औपक्रमिकी 'जरा-विपाकादिः' जरा—प्रतीता विपाकः—कर्मणामुदयस्तत्समुत्था ५ । अथ कियन्तो जनाः ? इति द्वारम्—"एक्को" त्ति एक एवायं भगवान् भवति ६ । यदि वा इदं द्वारमुपरि-

---

१ °त्ति गाथा° मो० ले० विना ॥ २ °द्वारमाह—आचार° भा० ॥ ३ °न्ते, यद्यप्युत्पद्य° मो० ले० कां० ॥ ४ °चाद्या' ध्रु° भा० विना ॥

ष्टाद् व्याख्यास्यते ॥ १३८८ ॥ अथ स्थण्डिलद्वारमाह—

उच्चारे पासवणे, उस्सग्गं कुणइ थंडिले पढमे ।
तत्थेव य परिजुण्णे, कयंकिच्चो उज्झई वत्थे ॥ १३८९ ॥

उच्चारस्य प्रश्रवणस्य च 'उत्सर्गं' परित्यागं 'प्रथमे' अनापाते असंलोके स्थण्डिले करोति । 'तत्रैव' प्रथमस्थण्डिले 'कृतकार्यः' विहितशीतत्राणादिवस्त्रकार्य उज्झति वस्त्राणि ॥ १३८९ ॥ 5
अयं च संज्ञां व्युत्सृज्य न निर्लेपयति, कुतः ? इति चेद् उच्यते—

अप्पमभिन्नं वच्चं, अप्पं लूहं च भोयणं भणियं ।
दीहे वि उ उवसग्गे, उभयमवि अथंडिले न करे ॥ १३९० ॥

अल्पमभिन्नं च 'वर्चः' पुरीषमस्य भवति, कुतः ? इत्याह—यतोऽल्पं रूक्षं च भोजनमस्य भणितं भगवद्भिः । अल्पा-ऽभिन्नवर्चस्कतया तथाकल्पत्वाच्चासौ न निर्लेपयति । न चासौ 10 'दीर्घेऽपि' बहुदैवसिके उपसर्गे 'उभयमपि' संज्ञां कायिकीं च 'अस्थण्डिले' आपातादिदोषयुक्ते भूभागे करोति ७ ॥ १३९० ॥ वसतिद्वारमाह—

अममत्त अपरिकम्मा, नियमा जिणकप्पियाण वसहीओ ।
एमेव य थेराणं, मुत्तूण पमज्जणं एक्कं ॥ १३९१ ॥

'अममत्वा' ममेयमित्यभिष्वङ्गरहिता 'अपरिकर्मा' साध्वर्थमुपलेपनादिपरिकर्मवर्जिता नियमाद् 15 जिनकल्पिकानां वसतिः । स्थविरकल्पिकानामप्येवमेव वसतिरममत्वा अपरिकर्मा च द्रष्टव्या, मुक्त्वा प्रमार्जनामेकामन्यत् परिकर्म तेऽपि न कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १३९१ ॥ एतदेव स्पष्टयति—

[3]बिले न ढक्कंति न खज्जमाणिं, गोणाई वारिंति न भज्जमाणिं ।
[2]दारे न ढक्कंति न वऽग्गलिंति, दप्पेण थेरा भइआ उ कज्जे ॥ १३९२ ॥

एते भगवन्तो बिलानि धूल्यादिना न स्थगयन्ति, न वा गवादिभिः खाद्यमानां भज्यमानां वा 20 वसतिं निवारयन्ति, द्वारे "न ढक्कंति" कपाटाभ्यां न संयोजयन्ति, न वा '[4]अर्गलयन्ति' नार्गलया नियन्त्रयन्ति । स्थविरकल्पिका अपि 'दर्पेण' कार्याभावे एवमेव न वसतेः परिकर्म कुर्वन्ति, 'कार्ये तु' पुष्टालम्बने 'भाज्याः' परिकर्म कुर्वन्त्यपीति भावः ८ ॥ १३९२ ॥ कियच्चिरोच्चार-प्रश्रवणा-ऽवकाश-तृणफलक-संरक्षण-संस्थापनाद्वाराणि गाथाद्वयेन भावयति—

25

किच्चिरकालं वसिहिह, इत्थ य उच्चारमाइए कुणसु ।
इह अच्छसु मा य इहं, तण-फलए गिण्हिमे मा य ॥ १३९३ ॥
सारक्खह गोणाई, मा य पडिंतिं उविक्खहउ भंते ! ।
अन्नं वा अभिओगं, नेच्छंतऽचियत्तपरिहारी ॥ १३९४ ॥

यस्यां वसतौ याच्यमानायां तदीयस्वामिन इत्थं भणन्ति—कियच्चिरं कालं वत्स्यथ यूयम् ? ९, यद्वा 'अत्र' प्रदेशे 'उच्चारादीनि' पुरीष-प्रश्रवणादीनि कुरु, अत्र तु मा कुरु १०–११, 'इह' 30 अस्मिन्नवकाशे आसीथाः, [5]इह मेति १२, 'एतानि वा' हस्तसंज्ञया निर्दिश्यमानानि तृण-फल-

---

१ °यकज्जो उ° ता० ॥ २ दारं ण ढक्केंति ता० ॥ ३ बिले ण घट्टेंति न ता० ॥ ४ 'अर्गलन्ति' मो० डे० । "अग्गलंति" भा० ॥ ५ °काशे भवता आसितव्यम्, इह मेति १२ भा० ॥

कानि गृह्णीयाः मा एतानीति १३, संरक्षत वा गवादीन् बहिर्निर्गच्छतो यूयमस्माकं क्षेत्रादौ गतानां व्याकुलानां वा १४, मा च पतन्तीं वसतिमुपेक्षध्वं किन्तु 'संस्थापना' पुनःसंस्काररूपा विधेया १५। "संठवणया य" त्ति (गाथा १३८३) द्वारगाथायां यश्चशब्दस्तेन सूचितमन्यं वा स्वाध्यायनिषेधादिरूपं यत्र वसतिस्वामी 'अभियोगं' नियन्त्रणां करोति तं मनसाऽपि नेच्छन्ति, 5 सूक्ष्मस्याप्यप्रीतिकस्य परिहारिणोऽमी भगवन्त इति ॥ १३९३ ॥ १३९४ ॥

प्राभृतिका-ऽग्नि-दीपा-ऽवधानद्वाराणि व्याचष्टे—

पाहुडिय दीवओ वा, अग्गि पगासो व जत्थ न वसन्ति ।
जत्थ य भणंति ठंते, ओहाणं देह गेहे वि ॥ १३९५ ॥

यस्यां वसतौ 'प्राभृतिका' बलिः क्रियते १६ दीपको वा यस्यां विधीयते १८ 'अग्निः' 10 अङ्गार-ज्वालादिकस्तस्य प्रकाशो वा यत्र भवति तत्र न वसन्ति १७। यत्र च तिष्ठति सत्यगारिणो भणन्ति अस्माकमपि गेहे 'अवधानम्' उपयोगं ददतेति तत्रापि नावतिष्ठन्ते १९ ॥ १३९५ ॥ वत्स्यथ कति जनाः ? इति द्वारमाह—

वसहिं अणुण्णविंतो, जइ भण्णइ कइ जण त्थ तो न वसे ।
सुहुमं पि न सो इच्छइ, परस्स अप्पत्तियं भगवं ॥ १३९६ ॥

15 वसतिमनुज्ञापयन् यद्यसौ भण्यते 'कति जना यूयं वत्स्यथ ?' इति तत्रापि न वसति, कुतः ? इत्याह—सूक्ष्ममपि नासाविच्छति परस्याप्रीतिकं भगवान् । "कइ जणा उ" त्ति अत्र यस्तुशब्दस्तेनान्यामपीषदप्रीतिकजननीं वसतिमसौ परिहरतीति गम्यते २० । उक्तञ्च **पञ्चवस्तुके**—

सुहुमं पि हु अचियत्तं, परिहरए सो परस्स नियमेणं ।
जं तेण तुसद्दाओ, वज्जइ अन्नं पि तज्जणणिं ॥ (गा० १४५०)॥ १३९६ ॥

20 भिक्षाचर्या-पानक-लेपालेप-[अलेप]द्वाराणि विवृणोति—

तइयाइ भिक्खचरिया, पग्गहिया एसणा य पुव्वुत्ता ।
एमेव पाणगस्स वि, गिण्हइ अ अलेवडे दो वि ॥ १३९७ ॥

तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षाचर्या, एषणा च 'प्रगृहीता' अभिग्रहयुक्ता, सा च "पंचसु गह दोसऽग्गहु" (गा० १३६२) इत्यादिना पूर्वमेवोक्ता २१ । एवमेव पानकस्यापि तृतीयपौरुष्यां 25 प्रगृहीतया चैषणया ग्रहणं करोति २२ । अत्र शिष्यः पृच्छति—"लेवालेवे" त्ति किमसौ जिनकल्पिको लेपकृतं गृह्णाति ? उतालेपकृतम् ? २३ । अत्र सूरिः—"अलेवे" त्ति पदं विवृण्वन्नुत्तरमाह—'द्वे अपि' भक्त-पाने 'अलेपकृते' वल्ल-चणक-सौवीरादिरूपे गृह्णाति न लेपकृते २४ ॥ १३९७ ॥ आयामाम्ल-प्रतिमाद्वारद्वयमाह—

आयंबिलं न गिण्हइ, जं च अणायंबिलं पि लेवाडं ।
30 **न य पडिमा पडिवज्जइ, मासाई जा य सेसाओ ॥ १३९८ ॥**

आयामाम्लमसौ न गृह्णाति, पुरीषभेदादिदोषसम्भवात्; अनायामाम्लमपि यद् लेपकृतं तन्न गृह्णाति २५ । न च प्रतिमा मासिक्यादिका असौ प्रतिपद्यते । याश्च 'शेषाः' भद्र-महाभद्रादिकाः प्रतिमास्ता अपि न प्रतिपद्यते, स्वकल्पस्थितिप्रतिपालनमेव तस्य विशेषाभिग्रह इति

भावः २६ ॥ १३९८ ॥ अथ मासकल्प इति द्वारमभिधित्सुराह—

कप्पे सुत्त-ऽत्थविसारयस्स संघयण-विरियजुत्तस्स ।
जिणकप्पियस्स कप्पइ, अभिगहिया एसणा निच्चं ॥ १३९९ ॥

कल्पे जिनकल्पविषयौ यौ सूत्रार्थौ तत्र विशारदस्य—निपुणस्य संहननं—शारीरबलं वीर्यं—धृतिस्ताभ्यां युक्तस्य जिनकल्पिकस्य कल्पते 'अभिगृहीता' साभिग्रहा एषणा ॥ १३९९ ॥ 5

सा च मासकल्पस्थितिमनुपालयतो भवतीत्यतस्तस्यैव विधिमाह—

छव्वीहीओ गामं, काउं एक्किक्कियं तु सो अडइ ।
वज्जेउं होइ सुहं, अनिययवित्तिस्स कम्माई ॥ १४०० ॥

यत्रासौ मासकल्पं करोति तं ग्रामं 'षड् वीथीः' गृहपङ्क्तिरूपाः कृत्वा ततः प्रतिदिनमेकैकां वीथीमटति यावत् षष्ठे दिवसे षष्ठीम् । कुतः ? इत्याह—अनियतवृत्तेरपरापरवीथीषु पर्यटतः 10 'कर्मादि' आधाकर्म-पूतिकर्मादिकं 'सुखं वर्जयितुं भवति' सुखेनैव परिहर्तुं शक्यत इति भावः ॥ १४०० ॥ कथं पुनराधाकर्मादिसम्भवो भवति ? इत्याशङ्क्य तत्सम्भवं दिदर्शयिषुराह—

अभिग्गहे दट्ठुं करणं, भत्तोगाहिमग तिन्नि पूईयं ।
चोदग ! एगमणेगे, कप्पो त्ति य सत्तमे सत्त ॥ १४०१ ॥

तस्य भगवतः प्रथमवीथीमटतः कयाचिदगार्या श्रद्धातिरेकाद् घृत-मधुसंयुक्तं भैक्षमुपनीतम्, 15 तेन च 'न कल्पते मे लेपकृता भिक्षा' इति न गृहीतम्, तत एवमादीनभिग्रहान् दृष्ट्वा आधाकर्मणः करणं भवति । तच्च भक्तमवगाहिमं वा भवेत् । त्रीणि च दिवसानि तत् पूतिकम् । नोदकः प्रश्नयति—एकं ग्रामं किमनेकान् भागान् षड्वीथीरूपान् करोति ? । सूरिराह—कल्प एषोऽमीषां यत् षड् वीथीः कृत्वा सप्तमे दिवसे पर्यटन्ति, सप्त च जना एकस्यां वसतौ सम्भवन्तीति समासार्थः ॥ १४०१ ॥ अथ विस्तरार्थमाह— 20

दट्ठूण य अणगारं, सड्ढी संवेगमागया काइ ।
नत्थि महं तारिसयं, अन्नं जमलज्जिया दाहं ॥ १४०२ ॥

तमनगारं तपःशोषितमलपटलजटिलवपुषं दृष्ट्वा काचित् श्राद्धिका परमसंवेगमागता सती चिन्तयति—किं मे जीवितेन यद् ईदृशस्य महात्मनो भिक्षा न दीयते ?, नास्ति मम तादृशं शोभनमन्नं यद् अहमलज्जिता सती दास्यामि ॥ १४०२ ॥ ततः— 25

सव्वपयत्तेण अहं, कल्लं काऊण भोअणं विउलं ।
दाहामि तुट्ठमणसा, होहिइ मे पुण्णलाभो त्ति ॥ १४०३ ॥

सर्वप्रयत्नेनाहं 'कल्ये' द्वितीयेऽहनि भोजनं विपुलं कृत्वा दास्यामि 'तुष्टमनसा' प्रहृष्टेन चेतसा, ततो भविष्यति मे महान् पुण्यलाभः । इत्थं विचिन्त्य द्वितीये दिवसे विपुलमशनादि भक्तमवगाहिमं वा उपस्कृत्य तं भगवन्तं प्रतीक्षमाणा तिष्ठति ॥ १४०३ ॥ 30

ततः किमभूत् ? इत्याह—

फेडित वीही तेहिं, अणंतवरनाण-दंसणधरेहिं ।
अदीण अपरितंता, बिइयं च पर्हिडिया तहियं ॥ १४०४ ॥

स्फेटिता–परिहृता वीथी 'तैः' जिनकल्पिकैः, कथम्भूतैः ? 'अनन्तवरज्ञान-दर्शनधरैः' इहा-नन्तज्ञानमयत्वादनन्ताः–तीर्थकरास्तैरुपदिष्टे वरे–उत्तमे जिनकल्पिकानां ये ज्ञान-दर्शने उपलक्ष-णत्वात् चारित्रं च तानि धारयन्तीत्यनन्तवरज्ञान-दर्शनधरास्तैः । आह च चूर्णिकृत्—

अणंतं नाणं जेसिं ते अणंता–तित्थकरा, तेहिं जिणकप्पियाणं वरं नाणं दंसणं चरित्तं च
5 जं भणियं तद्धरेहिं ति ॥

ततस्ते 'अदीनाः' मनसा अविषण्णाः 'अपरितान्ताः' कायेनानिर्विण्णा द्वितीयां वीथीं क्रमा-गतां पर्यटितास्तत्र क्षेत्रे । एकवचनप्रक्रमेऽपि बहुवचनाभिधानमन्येषामपि जिनकल्पिकानामेवं-विधवृत्तान्तसम्भवख्यापनार्थम् ॥ १४०४ ॥ अत्र चेयं व्यवस्था—

पढमदिवसम्मि कम्मं, तिन्नि उ दिवसाइँ पूइयं होइ ।
10 **पूतीसु तिसु न कप्पइ, कप्पइ तइओ जया कप्पो ॥ १४०५ ॥**

प्रथमे दिवसे तद् भक्तमुपस्कृतमाधाकर्म । त्रीणि दिवसानि यावद् तद् गृहं पूतिर्भवति, तेषु च त्रिषु पूतिदिनेषु तस्मिन् गृहेऽन्यदपि किञ्चिन्न कल्पते । यदा तु तृतीयः कल्पो गतो भवति तदा कल्पते । कल्पशब्देनेह दिवस उच्यते । उक्तञ्च **पञ्चवस्तुकटीकायाम्**—

कल्पते तृतीये 'कल्पे' दिवसे गतेऽपरस्मिन्नहनीति (गा० १४६६) । ॥ १४०५ ॥
15 इदमेव स्पष्टयन्नाह—

बिइयदिवसम्मि कम्मं, तिन्नि उ दिवसाइँ पूइयं होइ ।
तिसु कप्पेसु न कप्पइ, कप्पइ तं छट्ठदिवसम्मि ॥ १४०६ ॥

यस्मिन् दिवसे स जिनकल्पिकः प्रथमवीथ्यामटन् तया दृष्टस्तदपेक्षया द्वितीये दिवसे तद् भक्तमाधाकर्म, तदनन्तरं त्रीणि दिवसानि पूतिकं भवति, तेषु त्रिषु 'कल्पेषु' दिवसेषु न कल्पते,
20 किन्तु कल्पते तत् षष्ठे दिवसे ॥ १४०६ ॥ अथावगाहिमविषयं विधिमाह—

कल्लं से दाहामी, ओगाहिमगं न आगतो अज्ज ।
तइयदिवसाइतं होइ पूइयं कप्पए छट्ठे ॥ १४०७ ॥

अवगाहिमं दिनद्वयमपि क्षमत इति कृत्वा सा श्राद्धा चिन्तयति—यदर्थमयमवगाहिमपाको मया कृतः स मुनिरद्य मम गृहाङ्गणं नागतः, अतः कल्ये "से" तस्याहं दास्यामीदमवगाहिममिति
25 विचिन्त्य तद्दानार्थं यदि स्थापयति तदा तत् तृतीयेऽपि दिवसे कर्मैव भवति । यत् पुनस्तस्मि-न्नेव पाकदिवसे व्यवच्छिन्नभावा सा आत्मार्थितं करोति तदवगाहिममपि भक्तवद् मौलदिवसापे-क्षया द्वितीये दिवसे कर्म, तृतीयादिषु तद् गृहं पूतिकम्, षष्ठे तु दिवसे कल्पते ॥ १४०७ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

एमेवोगाहिमगं, नवरं तइयदिवसे वि तं कम्मं ।
30 **तिसु पूइयं न कप्पइ, कप्पइ तं सत्तमे दिवसे ॥ १४०८ ॥**

'एवमेव' भक्तवद् अवगाहिममपि यत् तद्दिवस एवात्मार्थीकृतं तद् द्वितीये दिवसे कर्म, तृतीयादिषु त्रिषु पूति, षष्ठे तु कल्पते । नवरं यत् तद्दिवसे नाऽऽत्मार्थयति तत् तृतीयेऽपि

---

१ °हामि ता० ॥

दिवसे कर्म, ततस्त्रिषु दिवसेषु तत् पूतिकं गृहमिति कृत्वा न कल्पते, किन्तु कल्पते तद् गृहं सप्तमे दिवसे, अत एव चासौ भूयः सप्तमे दिने तस्यां वीथ्यां पर्यटति ॥ १४०८ ॥

आह यद्येवं तर्हि यदि तस्मिन्नेव दिवसे तं प्रथमवीथीमटन्तं दृष्ट्वा कश्चिदाधाकर्मादि कुर्याद् मोदकादिकं वा तदर्थं कृत्वा सप्तमदिवसं यावदव्यवच्छिन्नभावः स्थापयेत् तदानीमसौ कथं जानाति? कथं वा परिहरति? इति, उच्यते— 5

चोयग! तं चेव दिणं, जइ वि करिज्जाहि कोइ कम्माई ।
न हु सो तं न वियाणइ, एसो पुण सिं अहाकप्पो ॥ १४०९ ॥

हे नोदक! तस्मिन्नेव दिने यद्यपि कुर्यात् कश्चित् किञ्चिदाधाकर्मादि 'न हि' नैव स तन्न विजानाति, "द्वौ नञौ प्रकृत्यर्थं गमयतः" इति वचनाद् जानात्येवासौ श्रुतोपयोगबलेन । आह यद्यसौ श्रुतोपयोगप्रामाण्यादेव जानीते ततः किमर्थमेकं ग्राममनेकभागान् परिकल्प्य पर्यटति?, 10 उच्यते—कल्प एषः "सिं" अमीषां भगवतां यत् सप्तमे दिवसे भूयः प्रथमवीथीं पर्यटन्ति ॥ १४०९ ॥ ततश्च तं सप्तमे दिवसे प्रथमवीथीमटन्तं दृष्ट्वा सा श्राद्धिका ब्रूयात्—

किं नागय त्थ तइया, असव्वओ मे कओ तुह निमित्तं ।
इइ पुट्ठो सो भगवं, बिइयाएसे इमं भणइ ॥ १४१० ॥

'तदानीं यूयं किं नागताः?, "थ" इति निपातः पूरणार्थः, मया हि त्वन्निमित्तं विपुलं 15 भक्तादिकमुपस्कुर्वन्त्या युष्मदनुपयोगादसद्व्ययः कृतः' इति पृष्टोऽसौ भगवाँस्तूष्णीक आस्ते इति शेषः । 'द्वितीयादेशे' आदेशान्तरे पुनरिदं भणति ॥ १४१० ॥ किं तत्? इत्याह—

अनियंताओ वसहीओ, भमरकुलाणं च गोकुलाणं च ।
समणाणं सउणाणं, सारइआणं च मेहाणं ॥ १४११ ॥

अनियताः 'वसतयः' अवस्थानानि उपलक्षणत्वात् परिभ्रमणानि च । केषाम्? इत्याह— 20 भ्रमरकुलानां च गोकुलानां च श्रमणानां शकुनानां शारदानां च मेघानाम् । इत्थमनियतचर्यया भिक्षाटने श्रद्धावतामपि प्राणिनां नाधाकर्मादिकरणे भूयः प्रवृत्तिरुपजायत इति ॥ १४११ ॥

अथ "सत्त" (गा० १४०१) त्ति पदं विवृणोति—

एक्काए वसहीए, उक्कोसेणं वसंति सत्त जणा ।
अवरोप्परसंभासं, चयंति अन्नोन्नवीहिं च ॥ १४१२ ॥ 25

एकस्यां वसतावुत्कर्षतः सप्त 'जनाः' जिनकल्पिका वसन्ति । ते चैकत्र वसन्तोऽपि परस्पर-सम्भाषणं 'त्यजन्ति' न कुर्वन्तीत्यर्थः; अन्योन्यवीथीं च त्यजन्ति, यस्मिन् दिने यस्यां वीथ्यामेकः पर्यटति न तस्मिन्नेव तस्यामपर इत्यर्थः ॥ १४१२ ॥

गतं सामाचारीद्वारम् । अथ स्थितिद्वारमभिधित्सुराह—

खेत्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए । 30
कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिग्गहा य ॥ १४१३ ॥
पव्वावण मुंडावण, मणसाऽऽवन्ने वि से अणुग्घाया ।

---

१ °गओ त्थ ता० ॥ २ °यसा वस° ता० ॥

कारण निप्पडिकम्मे, भत्तं पंथो य तइयाए ॥ १४१४ ॥

कस्मिन् क्षेत्रेऽमी भगवन्तो भवन्ति? १ एवं काले २ चारित्रे ३ तीर्थे ४ पर्याये ५ आगमे ६ वेदे ७ कल्पे ८ लिङ्गे ९ लेश्यायां १० ध्याने ११ गणनायां १२ अभिग्रहाश्चामीषां भवन्ति न वा? १३ प्रव्राजनायां १४ मुण्डापनायां च कीदृशी स्थितिः १५ मनसा आपन्ने 5 अपराधे "से" तस्य 'अनुद्धाताः' चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तं १६ कारणं १७ निष्प्रतिकर्म १८ भक्तं पन्थाश्च तृतीयस्यां पौरुष्याम् १९. इति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः ॥ १४१३ ॥ १४१४ ॥

व्यासार्थं प्रतिद्वारमभिधित्सुः प्रथमतः क्षेत्रद्वारमङ्गीकृत्याह—

जम्मण-संतीभावेसु होज्ज सव्वासु कम्मभूमीसु ।
साहरणे पुण भइयं, कम्मे व अकम्मभूमे वा ॥ १४१५ ॥

10 क्षेत्रविषया द्विधा मार्गणा—जन्मतः सद्भावतश्च । जन्मतो यत्र क्षेत्रेऽयं प्रथमत उत्पद्यते, सद्भावतस्तु यत्र जिनकल्पं प्रतिपद्यते प्रतिपन्नो वाऽस्ति, तत्र जन्म-सद्भावयोरुभयोरप्ययं 'सर्वासु कर्मभूमीषु' भरतपञ्चकैरावतपञ्चक-विदेहपञ्चकलक्षणासु भवेत् । 'संहरणे' देवादिना अन्यत्र नयने पुनः 'भाज्यं' भजनीयम्, कर्मभूमौ वा भवेद् अकर्मभूमौ वा । एतच्च सद्भावमाश्रित्योक्तम् । जन्मतस्तु कर्मभूमावेवायं भवतीति १ ॥१४१५॥ उक्तं क्षेत्रद्वारम् । अथ कालद्वारमाह—

15 **ओसप्पिणीइ दोसुं, जम्मणतो तीसु संतिभावेणं ।**
उस्सप्पिणि विवरीया, जम्मणतो संतिभावे य ॥ १४१६ ॥
नोसप्पिणिउस्सप्पे, भवंति पलिभागतो चउत्थम्मि ।
काले पलिभागेसु य, साहरणे होंति सव्वेसु ॥ १४१७ ॥

अवसर्पिण्यां जन्मतः 'द्वयोः' सुषमदुःषमा-दुःषमसुषमयोस्तृतीयचतुर्थारकयोर्भवेत्; सद्भा-20 वतस्तु 'त्रिषु' तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमारकेषु, दुःषमसुषमाया अन्ते जातो दुःषमायां जिनकल्पं प्रतिपद्यते इति कृत्वा । उत्सर्पिणी विपरीता जन्मतः सद्भावतश्च । इदमुक्तं भवति—उत्सर्पिण्यां दुःषमा-दुःषमसुषमा-सुषमदुःषमासु तिसृषु समासु जन्माऽश्नुते, दुःषमसुषमा-सुषमदुःषमयोस्तु द्वयोरमुं कल्पं प्रतिपद्यते, दुःषमायां तीर्थं नास्तीति कृत्वा तस्यां जातस्यापि दुःषमसुषमायामेव कल्पप्रतिपत्तिरिति ॥ १४१६ ॥

25 नोअवसर्पिण्युत्सर्पिणीरूपे अवस्थितकाले चत्वारः प्रतिभागाः, तद्यथा—सुषमसुषमाप्रतिभागः सुषमाप्रतिभागः सुषमदुःषमाप्रतिभागः दुःषमसुषमाप्रतिभागश्चेति । तत्राद्यो देवकुरूत्तरकुरुषु, द्वितीयो हरिवर्ष-रम्यकवर्षयोः, तृतीयो हैमवतैरण्यवतयोः, चतुर्थस्तु महाविदेहेषु । तत्र चतुर्थे प्रतिभागे जन्मतः सद्भावतश्चामी भवन्ति, नाद्येषु त्रिषु प्रतिभागेषु । "काले" त्ति यो महाविदेहजो जिनकल्पिकः स सुषमसुषमादिषु षट्स्वपि कालेषु संहरणतो भवेत् । "पलिभागेसु अ" त्ति 30 भरतैरावत-महाविदेहेषु सम्भूताः संहरणतः सर्वेष्वपि प्रतिभागेषु देवकुर्वादिसम्बन्धिषु सम्भवन्तीति २ ॥ १४१७ ॥ चारित्रद्वारमाह—

---

१ °सार्थमाह भा० ॥ २ °मयोररकयोः सद्भावतस्तु 'तिसृषु' सुषमदुःषमा-दुःषमसुषमा-दुःषमासु स्थितिर्भवति । उत्सर्पिणी वि° भा० ॥

पढमे वा बीये वा, पडिवज्जइ संजमम्मि जिणकप्पं ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरे संजमे होज्जा ॥ १४१८ ॥

'प्रथमे वा' सामायिकाख्ये 'द्वितीये वा' छेदोपस्थापनीयनाम्नि संयमे वर्त्तमानो जिनकल्पं प्रतिपद्यते । तत्र मध्यमतीर्थकर-विदेहतीर्थकृत्तीर्थवर्त्ती प्रथमे संयमे, पूर्व-पश्चिमतीर्थकरतीर्थवर्त्ती तु द्वितीये इति मन्तव्यम् । पूर्वप्रतिपन्नः पुनरसौ जिनकल्पिकः 'अन्यतरस्मिन्' सूक्ष्मसम्परायादावपि संयमे उपशमश्रेण्यां वर्त्तमानो भवेत् ३ ॥ १४१८ ॥ तीर्थ-पर्यायद्वारद्वयमाह—

नियमा होइ सतित्थे, गिहिपरियाए जहन्न गुणतीसा ।
जइपरियाए वीसा, दोसु वि उक्कोस देसूणा ॥ १४१९ ॥

स जिनकल्पिको नियमात् तीर्थे भवति, न पुनर्व्यवच्छिन्नेऽनुत्पन्ने वा तीर्थे ४ । पर्यायो द्विधा—गृहिपर्यायो यतिपर्यायश्च । तत्र गृहिपर्यायो जन्मपर्याय इत्येकोऽर्थः, तत्र जघन्यत एकोनत्रिंशद् वर्षाणि । यतिपर्याये तु जघन्यतो विंशतिवर्षाणि । उत्कर्षतस्तु 'द्वयोरपि' गृहिपर्याय-यतिपर्याययोर्देशोनां पूर्वकोटीं यदा प्राप्तो भवति तदा जिनकल्पं प्रतिपद्यते ५ ॥ १४१९ ॥

अथाऽऽगम-वेदद्वारे आह—

न करिंति आगमं ते, इत्थीवज्जो उ वेदो इक्कतरो ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्ज सवेओ अवेओ वा ॥ १४२० ॥

न कुर्वन्ति 'ते' जिनकल्पिकाः 'आगमम्' अपूर्वश्रुताध्ययनम्, पूर्वाधीतं तु श्रुतं विश्रोतसिकाक्षयहेतोरेकाग्रमनाः सम्यगनुसरति ६ । वेदमङ्गीकृत्य—प्रतिपत्तिकाले 'स्त्रीवर्जे एकतरः' पुरुषवेदो नपुंसकवेदो वा असंक्लिष्टस्तस्य भवेत् । पूर्वप्रतिपन्नः पुनः सवेदोऽवेदो वा भवेत् । तत्र जिनकल्पिकस्य तद्भवे केवलोत्पत्तिप्रतिषेधादुपशमश्रेण्यां वेदे उपशमिते सत्यवेदत्वम् । तदुक्तम्—

उवसमसेढीए खलु, वेदे उवसामियम्मि उ अवेदो ।
न उ खविए तज्जम्मे, केवलपडिसेहभावाओ ॥ (पञ्चव० गा० १४९८)

शेषकालं तु सवेद इति ७ ॥ १४२० ॥ अथ कल्प-लिङ्ग-लेश्याद्वाराण्याह—

ठियमट्ठियम्मि कप्पे, लिंगे भयणा उ दव्वलिंगेणं ।
तिहि सुद्धाहि पढमया, अपढमया होज्ज सव्वासु ॥ १४२१ ॥

स्थितकल्पे—प्रथमा-ऽन्तिमजिनसत्के अस्थितकल्पे च—मध्यमजिन-महाविदेहजिनसत्के अमी भवेयुः ८ । लिङ्गे चिन्त्यमाने भजना तु द्रव्यलिङ्गेन कार्या । तुशब्दो विशेषणे । किं विशिनष्टि ? प्रथमतः प्रतिपद्यमानो द्रव्य-भावलिङ्गयुक्त एव भवति । ऊर्द्धमपि भावलिङ्गं नियमाद् भवति, द्रव्यलिङ्गं तु जीर्णत्वात् चौरादिभिरपहृतत्वाद्वा कदाचिन्न भवत्यपि । उक्तञ्च—

इयरं तु जिण्णभावाइएहिँ सययं न होइ वि कयाइ ।
न य तेण विणा वि तहा, जायइ से भावपरिहाणी ॥ (पञ्चव० गा० १५०२)

---

१ °र्थकृतां विदेहतीर्थकृतां च प्रथमे, पूर्व° भा० ॥ २ °न्न उगुतीसा ता० ॥ ३ तत्र गृहिपर्याये जन्मत आरभ्य जघन्यत एकोनत्रिंश° भा० ॥ ४ तत्रोपशमश्रेण्यां वेदे उपशामिते सत्यवेदः । तदु° भा० ॥ ५ °मादेव भ° भा० ॥

'इतरद्' इति द्रव्यलिङ्गम् ९। लेश्या अङ्गीकृत्य 'तिसृषु प्रशस्तलेश्यासु' तैजस्यादिकासु 'प्रथमकाः' प्रतिपद्यमानका भवन्ति। 'अप्रथमकास्तु' पूर्वप्रतिपन्नाः 'सर्वास्वपि' शुद्धा-ऽशुद्धासु लेश्यासु भवेयुः, केवलमशुद्धासु वर्त्तमानो नात्यन्तसंक्लिष्टासु वर्त्तते न च भूयांसं कालमिति १० ॥ १४२१ ॥ ध्यान-गणनाद्वारद्वयमाह—

5 **धम्मेण उ पडिवज्जइ, इअरेसु वि होज्ज इत्थ झाणेसु।**
पडिवत्ति सयपुहुत्तं, सहसपुहुत्तं च पडिवन्ने ॥ १४२२ ॥

धर्म्येण[1] ध्यानेन तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वात् प्रवर्द्धमानेन सता कल्पं प्रतिपद्यते। पूर्वप्रतिपन्नस्तु 'इतरेष्वपि' आर्त्तादिषु ध्यानेषु कर्मवैचित्र्यबलाद् भवेदपि, केवलं कुशलपरिणामस्योद्दामत्वात् तीव्रकर्मपरिणतिजनितः सोऽपि रौद्रा-ऽऽर्त्तभावोऽस्य प्रायो निरनुबन्धो भवति। तदुक्तम्—

10 एवं च कुसलजोगे, उद्दामे तिव्वकम्मपरिणामा।
रुद्द-ऽट्टेसु वि भावो, इमस्स पायं निरणुबंधो ॥ (पञ्चव० गा० १५०६) ११।

गणनाद्वारे—'प्रतिपत्तिं' प्रतिपद्यमानतामङ्गीकृत्योत्कर्षतः शतपृथक्त्वमेकस्मिन् समयेऽमीषां भगवतां प्राप्यते। पूर्वप्रतिपन्नकानां पुनरुत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्वम्, कर्मभूमिपञ्चदशकेऽप्येतावतामेवोत्कर्षतः प्राप्यमाणत्वात्। जघन्यतस्तु प्रतिपद्यमानका एको द्वौ त्रयो वेत्यादि। पूर्वप्रतिपन्नास्तु 15 जघन्यतोऽपि सहस्रपृथक्त्वमेव, महाविदेहपञ्चके सर्वदैवैतावतामवाप्यमानत्वात्। नवरमुत्कृष्टपदाज्जघन्यपदं लघुतरमिति १२ ॥ १४२२ ॥ अभिग्रह-प्रव्राजना-मुण्डापनाद्वाराणि व्याचष्टे—

भिक्खायरियाईया, अभिग्गहा नेव सो उ पव्वावे।
उवदेसं पुण कुणती, धुवपव्वाविं वियाणित्ता ॥ १४२३ ॥

भिक्षाचर्या—ऋज्वी-गत्वाप्रत्यागतिकादयो गोचरचर्याविशेषास्तदादयोऽभिग्रहा इत्वरत्वादस्य 20 न भवन्ति, जिनकल्प एव हि यावत्कथिकस्तस्याभिग्रहः, तत्र च प्रतिनियता निरपवादाश्च गोचरादयः, अतस्तत्पालनमेवास्य परमं विशुद्धिस्थानम्। यदाह—

एयम्मि गोयराई, नियया नियमेण निरववादा य।
तप्पालणं चिय परं, एयस्स विसुद्धिठाणं तु ॥ (पञ्चव० गा० १५१०) १३।

तथा नैवासावन्यं प्रव्राजयति, उपलक्षणत्वाद् न च मुण्डापयति, कल्पस्थितिरियमिति कृत्वा 25 उपदेशं पुनः 'करोति' प्रयच्छति 'ध्रुवप्रव्राजिनम्'[2] अवश्यप्रव्रजनशीलं विज्ञाय कञ्चन सत्त्वम्। तं च संविग्नगीतार्थसाधूनां समीपे प्रहिणोति १४–१५ ॥ १४२३ ॥

अथ "मणसाऽऽवन्ने वि से अणुग्घाय" त्ति द्वारम्—मनसाऽपि सूक्ष्ममतीचारमापन्नस्यास्य सर्वजघन्यं चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् १६। अथ कारण-निष्प्रतिकर्मद्वारे आह—

निप्पडिकम्मसरीरा, न कारणं अत्थि किंचि नाणाई।
30 **जंघाबलम्मि खीणे, अविहरमाणो वि नाऽऽवज्जे ॥ १४२४ ॥**

निष्प्रतिकर्मशरीरा अमी भगवन्तो नाक्षिमलादिकमप्यपनयन्ति, न वा चिकित्सादिकं कारयन्ति १७। न च तेषां 'कारणम्' आलम्बनं ज्ञानादिकं किञ्चिद् विद्यते यद्बलात् ते द्वितीयपदासे-

---

१ धर्मेण त० डे० कां० ॥ २ °व्वाविं ति आभि° ता० ॥

वनं विदध्युः १८ । 'भक्तं पन्थाश्च तृतीयस्याम्' इति द्वारम्—तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षाकालो विहारकालश्चास्य भवति, शेषासु तु पौरुषीषु प्रायः कायोत्सर्गेणाऽऽस्ते । जङ्घाबले परिक्षीणे पुनः 'अविहरन्नपि' विहारमकुर्वन्नपि नापद्यते कमपि दोषम्, किन्त्वेकत्रैव क्षेत्रे स्वकल्पस्थितिमनुपालयतीति १९ ॥ १४२४ ॥ व्याख्यातं स्थितिद्वारम् । तद्व्याख्याने चाभिहितो जिनकल्पविहारः । अथ शुद्धपरिहारिक-यथालन्दिकविहारविषयं विधिमतिदिशन् विशेषं च बिभणिषुराह— 5

परिहारविशुद्धिक यथालन्दकल्पयोर्विधिः

एसेवं कमो नियमा, सुद्धे परिहारिए अहालंदे ।
नाणत्ती य जिणेहिं, पडिवज्जइ गच्छ गच्छो य ॥ १४२५ ॥

एष एव "पव्वज्जा सिक्खावय" (गाथा ११३२) इत्यादिकः क्रमः शुद्धपरिहारिके यथालन्दिके च मन्तव्यः । नवरं परिहारकल्पविषयं नानात्वं 'जिनेभ्यः' जिनकल्पिकेभ्यः सकाशात्, किम्? इत्याह—प्रतिपद्यते "गच्छ गच्छो य" त्ति गच्छद्वयं चशब्दात् तृतीयश्च गच्छः, 10 त्रयो गच्छा जघन्यतोऽप्यमुं कल्पं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ॥ १४२५ ॥

तवभावणणाणत्तं, करंति आयंबिलेण परिकम्मं ।
इत्तिरिय थेरकप्पे, जिणकप्पे आवकहियाओ ॥ १४२६ ॥

तपोभावनायां नानात्वं—विशेषः, किम्? इत्याह—कुर्वन्त्यायामाम्लेन ते भगवन्तः 'परिकर्म' अभ्यासम् । ते च द्विविधाः—इत्वरा यावत्कथिकाश्च । प्रस्तुतकल्पपरिसमाप्तौ ये भूयः स्थवि- 15 रकल्पं प्रतिपद्यन्ते ते इत्वराः, ये तु जिनकल्पं ते यावत्कथिकाः ॥ १४२६ ॥

पुण्णे जिणकप्पं वा, अइंति तं चेव वा पुणो कप्पं ।
गच्छं वा इंति पुणो, तिन्नि विहाणा सिं अविरुद्धा ॥ १४२७ ॥

'पूर्णे' शुद्धपरिहारकल्पे जिनकल्पं वा आयान्ति, तमेव वा परिहारविशुद्धिकं कल्पं पालयन्ति, गच्छं वा आगच्छन्ति पुनः । एवं त्रीण्यपि 'विधानानि' प्रकाराः "सिं" तेषां परिहार- 20 विशुद्धिकानामविरुद्धानि ॥ १४२७ ॥

इत्तरियाणुवसग्गा, आतंका वेयणा य न भवंति ।
आवकहियाण भइया, तहेव छ ग्गामभागा उ ॥ १४२८ ॥

इत्वराणां शुद्धपरिहारकाणामुपसर्गा आतङ्का वेदनाश्च न भवन्ति, तत्कल्पप्रभावादेव जीतमेतत् । यावत्कथिकानां तु भाज्या उपसर्गादयः, जिनकल्पस्थितानां तेषां तत्सम्भवात् । यथा 25 च जिनकल्पिकानां षड् ग्रामभागा भिक्षाटनविषया उक्तास्तथैवामीषामपि । एवं सर्वाऽपि सामाचारी तथैव द्रष्टव्या । विशेषः पुनरयम्—नवपुरुषप्रमाणो गणस्तावदमुं कल्पं प्रतिपद्यते, तत्र चत्वारः परिहारिकाः, चत्वारः पुनरनुपरिहारिकाः, एकस्तु तेषां कल्पस्थितः, अनुपरिहारिकाणां कल्पस्थितस्य चैकः सम्भोगः, परिहारिकाणां पृथक् पृथगित्यादिका प्रक्रिया तावज्ज्ञेया यावत् षण्मासाः । (ग्रन्थाग्रम्—६५०० । मूलत एवम्— ११९००) ततः परिहारिका अनुपरिहा- 30 रिकीभवन्ति, अनुपरिहारिकाः परिहारिकत्वं प्रतिपद्यन्ते, कल्पस्थितस्तु प्राक्तन एवेत्येवमपि षण्मासाः । ततः कल्पस्थितोऽपि षण्मासान् यावत् परिहारिकत्वं प्रतिपद्यते, शेषास्तु यथायोगमनु-

१ °व गमो ता० ॥ २ वि ठाणा सि अ° ता० ॥ ३ °ल्पं परिपाल° त० डे० ॥

पारिहारिकत्वं कल्पस्थितत्वं चेत्यष्टादशभिर्मासैरयं कल्पः समाप्यत इत्यलं प्रसङ्गेन । एतेषां हि स्वरूपमिहैव षष्ठोद्देशके भाष्यकृतैव न्यक्षेण वक्ष्यते ॥ १४२८ ॥ अमीषामेव स्थितिनानात्वमभिधित्सुः प्राक्तनमेव (गा० १४१३-१४) द्वारगाथाद्वयमाह—

खेत्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए ।
5 **कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिगहा य ॥ १४२९ ॥**
पव्वावण मुंडावण, मणसाऽऽवन्ने वि से अणुग्घाया ।
कारण निप्पडिकम्मा, भत्तं पंथो य तइयाए ॥ १४३० ॥

अस्य समासार्थो व्यासार्थश्च जिनकल्पिकद्वार इवावगन्तव्यः ॥ १४२९ ॥ १४३० ॥ यत्तु यत्र विशेषस्तत्र तमुपदर्शयति—

10 **खेत्ते भरहेरवएसु होंति साहरणवज्जिया नियमा ।**
ठियकप्पम्मि उ नियमा, एमेव य दुविह लिंगे वि ॥ १४३१ ॥

क्षेत्रद्वारे पारिहारिका भरतैरावतयोरेव भवन्ति, न विदेहेषु । तत्रापि 'संहरणवर्जिताः' अमी न केनापि देवादिनाऽन्यत्र संह्रियन्ते । एतेन कालद्वारनानात्वमप्युक्तं मन्तव्यम् । तच्चेदम्— काले उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां वा भवेयुः, न नोअवसर्पिण्युत्सर्पिण्यां सुषमसुषमादिषु वा प्रतिभा-15 गेषु । कल्पद्वारे—नियमादमी स्थितकल्पे भवन्ति, प्रथम-चरमतीर्थकरतीर्थव्यतिरेकेणामीषामभावात् । लिङ्गद्वारे—एवमेव 'द्विविधेऽपि' द्रव्य-भावरूपे लिङ्गे नियमादमी भवन्ति॥१४३१॥

चारित्रद्वारनानात्वमाह—

तुल्ल जहन्ना ठाणा, संजमठाणाण पढम-बितियाणं ।
तत्तो असंख लोए, गंतुं परिहारियट्ठाणा ॥ १४३२ ॥
20 **ते वि असंखा लोगा, अविरुद्धा ते वि पढम-बिइयाणं ।**
उवरिं पि ततो असंखा, संजमठाणा उ दोण्हं पि ॥ १४३३ ॥

'प्रथम-द्वितीययोः' सामायिक-च्छेदोपस्थापनीयरूपयोः संयमस्थानयोः सम्बन्धीनि यानि जघन्यस्थानानि तानि परस्परं तुल्यानि, विशुद्धिसाम्यात् । 'ततः' जघन्यसंयमस्थानेभ्यः परतः 'असङ्ख्येयान् लोकान् गत्वा' असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेषु संयमस्थानेषु व्यतीतेष्वित्यर्थः 25 परिहारिकस्य—परिहारविशुद्धिकस्य संयमस्थानानि भवन्ति, तान्यपि 'असङ्ख्येया लोकाः' असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि । एतानि च 'प्रथम-द्वितीययोरपि' सामायिक-च्छेदोपस्थापनीययोर्विशुद्धिविशेषसाम्यादविरुद्धानि, तयोरपि सम्बन्धीनि भवन्तीत्यर्थः । 'ततः' परिहारिकसंयमस्थानेभ्य उपर्यपि असङ्ख्येयानि संयमस्थानानि 'द्वयोरपि' सामायिक-च्छेदोपस्थापनीययोर्भवन्ति, ततः सामायिक-च्छेदोपस्थापनीये व्यवच्छिद्येते । ततः परं सूक्ष्मसम्परायस्यान्तर्मुहूर्त्तसमय-30 प्रमाणान्यसङ्ख्येयानि संयमस्थानानि भवन्ति । तत ऊर्द्धमनन्तगुणमेकं यथाख्यातचारित्रस्य संयमस्थानमिति ॥ १४३२ ॥ १४३३ ॥ अथ प्रकृतयोजनामाह—

सट्ठाणे पडिवत्ती, अन्नेसु वि होज्ज पुव्वपडिवन्नो ।
अन्नेसु वि वट्टंतो, तीयनयं वुच्चई पप्प ॥ १४३४ ॥

'स्वस्थाने' स्वेषु—परिहारविशुद्धिकचारित्रसत्केषु संयमस्थानेषु वर्त्तमानः परिहारकल्पस्य प्रतिपत्तिं करोति । पूर्वप्रतिपन्नः 'अन्येष्वपि' सामायिकादिसंयमस्थानेषु स्वसंयमस्थानापेक्षया विशुद्धतरेष्वध्यवसायविशेषाद् भवेत् । तेषु चान्येष्वपि संयमस्थानेषु वर्त्तमानोऽसावनुभूतपूर्व-परिहारविशुद्धिकसंयमस्थानत्वाद् 'अतीतनयम्' अतीतार्थाभ्युपगमपरं व्यवहारनयं 'प्राप्य' अङ्गी-कृत्य परिहारविशुद्धिक इति प्रोच्यते, निश्चयनयमङ्गीकृत्य पुनर्नोच्यते, संयमस्थानान्तराध्यासना-दिति ॥ १४३४ ॥ गणनाद्वारे नानात्वमाह—

गणओ तिन्नेव गणा, जहन्न पडिवत्ति सयसो उक्कोसा ।
उक्कोस-जहन्नेणं, सतसो च्चिय पुव्वपडिवन्ना ॥ १४३५ ॥

इह गणना द्विधा—गणप्रमाणतः पुरुषप्रमाणतश्च । तत्र यदा किल प्रस्तुतकल्पस्य प्रतिपत्तिः प्राप्यते तदा 'गणतः' गणप्रमाणमाश्रित्य त्रय एव गणा जघन्यतः प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य ज्ञातव्याः । उत्कर्षतः 'शतशः' शतपृथक्त्वसङ्ख्याका गणा अमुं कल्पं युगपत् प्रतिपद्यन्ते । ये तु पूर्वप्रतिप-न्नास्ते उत्कर्षतो जघन्यतश्च 'शतश एव' शतपृथक्त्वसङ्ख्याका एव । नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपद-मधिकतरम् ॥ १४३५ ॥

सत्तावीस जहन्ना, सहस्स उक्कोसतो उ पडिवत्ती ।
सयसो सहस्ससो वा, पडिवन्ना जहन्न उक्कोसा ॥ १४३६ ॥

सप्ता(प्त)विंशतिः पुरुषा जघन्यतोऽस्य कल्पस्य प्रतिपत्तिं कुर्वन्ति, त्रिषु नवकगणेषु सप्ता-(प्त)विंशतेर्जनानां भावात् । उत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्वम् । पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यतः 'शतशः' शत-पृथक्त्वम्, उत्कर्षतः 'सहस्रशः' सहस्रपृथक्त्वम् ॥ १४३६ ॥ पुरुषप्रमाणत एव विशेषमाह—

पडिवज्जमाण भइया, इक्को वि उ होज्ज ऊणपक्खेवे ।
पुव्वपडिवन्नया वि उ, भइया इक्को पुहुत्तं वा ॥ १४३७ ॥

प्रतिपद्यमानकाः पुरुषाः 'भक्ताः' विकल्पिताः । कथम्? इत्याह—एकोऽपि भवेदूनप्रक्षेपे, अपिशब्दाद् द्व्यादयोऽपि । इदमुक्तं भवति—पूर्णायामष्टादशमास्यां यदि केचित् परिहारिकाः कालगता जिनकल्पं वा प्रतिपन्ना गच्छं वा प्रत्यागताः, ये शेषास्ते तमेव परिहारकल्पमनुपाल-यितुकामाः, ततो यावद्भिः प्रविष्टैर्नवको गणः पूर्यते तावन्तोऽपरे प्रवेशनीया इति कृत्वा प्रति-पद्यमानका एक-द्व्यादिसङ्ख्याका अपि भवेयुः । पूर्वप्रतिपन्नका अपि भाज्याः । कथम्? इत्याह—एको वा भवेत् पृथक्त्वं वा । इयमत्र भावना—यदि पूर्णेष्वष्टादशसु मासेष्वष्टौ परिहारविशु-द्धिकाः कल्पान्तरं प्रतिपद्यन्ते तत एकः पूर्वप्रतिपन्नः; यदा तु केचित् कल्पान्तरं प्रतिपद्यन्ते केचित्तु द्व्यादिसङ्ख्याकास्तमेव कल्पमनुपालयन्ति तदा पृथक्त्वं पूर्वप्रतिपन्नकानां भवतीति ॥ १४३७ ॥ गतं गणनाद्वारम् । शेषद्वाराणि तु सर्वाण्यपि जिनकल्पतुल्यवक्तव्यान्येवेत्युक्तं शुद्धपरिहारनानात्वम् । सम्प्रति यथालन्दकल्पनानात्वमाह—

लंदो उ होइ कालो, उक्कोसगलंदचारिणो जम्हा ।
तं चिय मज्झ पमाणं, गणाण उक्कोस पुरिसाणं ॥ १४३८ ॥

लन्दस्तु भवति कालः, लन्दशब्देन काल उच्यते इत्यर्थः । स पुनस्त्रिधा—जघन्य उत्कृष्टो

मध्यमश्च । यावता कालेनोदकार्द्रः करः शुष्यति तावान् जघन्यः, उत्कृष्टः पञ्च रात्रिन्दिवानि, जघन्यादूर्द्धमुत्कृष्टादर्वाक् सर्वोऽपि मध्यमः। इह चोत्कृष्टलन्देनाधिकारः । तथा चाह—'उत्कृष्टलन्दचारिणः' उत्कृष्टं लन्दं—पञ्चरात्ररूपमेकस्यां वीथ्यां चरणशीला यस्मात्, ततोऽमी 'उत्कृष्टलन्दानतिक्रमो यथालन्दम्, तदस्त्येषाम्' इति व्युत्पत्त्या यथालन्दिका उच्यन्ते । 'तदेव च' 5 लन्दमानं 'मध्यमं' त्रिकलक्षणममीषां गणप्रमाणम्, त्रयो गणा अमुं कल्पं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । 'तदेव च' लन्दमानमुत्कृष्टं पञ्चकात्मकमेकैकस्य गणस्य पुरुषाणां प्रमाणं द्रष्टव्यम्, एकैकस्मिन् गणे पञ्च पञ्च पुरुषा भवन्तीति भावः ॥ १४३८ ॥

ज च्चेव य जिणकप्पे, मेरा सा चेव लंदियाणं पि ।
नाणत्तं पुण सुत्ते, भिक्खायरि मासकप्पे य ॥ १४३९ ॥

10 यैव च जिनकल्पे 'मर्यादा' सामाचारी भणिता तुलनादिका सैव यथालन्दिकानामपि मन्तव्या । नानात्वं पुनः सूत्रे भिक्षाचर्यायां मासकल्पे चशब्दात् प्रमाणे चेति ॥ १४३९ ॥

तत्र सूत्रे तावद् नानात्वमभिधातुमाह—

पडिबद्धा इअरे वि य, इक्किका ते जिणा य थेरा य ।
अत्थस्स उ देसम्मी, असमत्ते तेसि पडिबंधो ॥ १४४० ॥

15 यथालन्दिका द्विधा—गच्छप्रतिबद्धा इतरे च । पुनरेकैके द्विविधाः—जिनाश्च स्थविराश्च[१] । तत्र ये प्रस्तुतकल्पपरिसमाप्तौ जिनकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते जिनाः, ये तु स्थविरकल्पं भूयः समाश्रयिष्यन्ते ते स्थविराः । अथ कुतोऽमीषां गच्छविषयः प्रतिबन्धः ? इत्याह—'अर्थस्य [तु]' तुशब्दस्यावधारणार्थत्वादर्थस्यैव न सूत्रस्य देशः—एकदेशोऽद्याप्यसमाप्तः—न गुरुसमीपे गृहीत इति तस्मिन् ग्रहीतव्ये सति तेषां गच्छे प्रतिबन्धः । आह तमर्थदेशं समाप्यामी विवक्षित-20 कल्पं किं न प्रतिपद्यन्ते ? उच्यते—तदानीं हि लग्न-योग-चन्द्रबलादीनि प्रशस्तानि वर्त्तन्ते, अन्यानि च प्रशस्तलग्नादीनि दूरकालवर्तीनि, न वा तथाभव्यानि, ततोऽमी अगृहीतेऽप्यर्थदेशे तं कल्पं प्रतिपद्य गुर्वधिष्ठितक्षेत्राद् बहिर्व्यवस्थिता विशिष्टतरानुष्ठाननिरता अगृहीतमर्थशेषं गृह्णन्ति । अथ भिक्षाचर्यायां नानात्वम्—ग्रामं षड्वीथीः परिकल्प्यैकैकस्यां वीथ्यां पञ्चरात्रिन्दिवानि पर्यटन्ति, एवं षड्भिर्वीथीभिः पर्यटिताभिर्मासकल्पः समाप्यते । मासकल्पविषयं तु नाना-25 त्वमेषामुत्तरत्र भणिष्यते ॥ १४४० ॥

अथ स्थविराणां जिनानां च यथालन्दिकानां परस्परं कः प्रतिविशेषः ? उच्यते—

थेराणं नाणत्तं, अतरंतं अप्पिणंति गच्छस्स ।
ते वि य सें फासुएणं, करिंति सव्वं तु पडिकम्मं ॥ १४४१ ॥
एक्कक्कपडिग्गहगा, सप्पाउरणा हवंति थेराओ ।
30 **जे पुण सिं जिणकप्पे, भय तेसिं वत्थ-पायाणि ॥ १४४२ ॥**

स्थविरकल्पयथालन्दिकानां 'नानात्वं' विशेषोऽयम्—'अतरन्तं' ग्लान्या अशक्नुवन्तं निजं

१ °श्च । ये जिनकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते जिनाः, इतरे स्थविराः । अथ° भा० ॥ २ स्थविरयथालन्दिकानां 'नानात्वं' विशेषोऽयम्—'अतरन्तं' अशक्नुवन्तं ग्लानीभूतं स्वसाधुं

साधुं गच्छस्यार्पयन्ति । 'तेऽपि च' गच्छवासिनः "से" तस्य यथालन्दिकग्लानस्य प्राशुकेनान्ना-दिना सर्वमेव प्रतिकर्म कुर्वन्ति । जिनकल्पयथालन्दिकास्तु निष्प्रतिकर्माणः, ततो ग्लानीभूता अपि न चिकित्सादि कारयन्ति । तथा ये स्थविरा यथालन्दिकास्ते 'एकैकप्रतिग्रहकाः' प्रत्येक-मेकप्रतिग्रहोपेताः 'सप्रावरणाः' सवस्त्राश्च भवन्ति । ये पुनरमीषां मध्ये जिनकल्पे भविष्यन्ति तेषां 'भाज्ये' विकल्पनीये वस्त्र-पात्रे, यदि पाणिपात्रभोजिनः प्रावरणरहिताश्च जिनकल्पिका 5 भविष्यन्ति तदा वस्त्र-पात्रे न गृह्णन्ति, शेषास्तु यथोचितं गृह्णन्ति ॥ १४४१ ॥ १४४२ ॥

अथ प्रमाणनानात्वं भावयति—

गणमाणओ जहन्ना, तिन्नि गण सयग्गसो य उक्कोसा ।
पुरिसपमाणे पनरस, सहस्ससो चेव उक्कोसा ॥ १४४३ ॥

'गणमानतः' गणमानमाश्रित्य जघन्यतस्त्रयो गणाः, उत्कर्षतस्तु 'शताग्रशः' शतपृथक्त्वं 10 गणा[1] अमुं कल्पं प्रतिपद्यन्ते । पुरुषप्रमाणे तु जघन्यतः पञ्चदश पुरुषा[2] अस्य कल्पस्य प्रतिपद्य-मानकाः, त्रिषु पञ्चकगणेषु जघन्यतः प्रतिपद्यमानेषु पञ्चदशजनानां भावात् । उत्कर्षतः पुरुषप्र-माणं 'सहस्रशः' सहस्रपृथक्त्वम् ॥ १४४३ ॥ अत्रैव विशेषमाह—

पडिवज्जमाणगा वा, एक्कादि हवेज्ज ऊणपक्खेवे ।
होंति जहन्ना एए, सयग्गसो चेव उक्कोसा ॥ १४४४ ॥ 15

प्रतिपद्यमानका एते जघन्या एकादयो वा भवेयुर्न्यूनप्रक्षेपे सति, यदा ग्लानत्वादिवशतो गच्छस्य स्वसाधुसमर्पणादिना तेषां न्यूनता भवति तदैकादयः साधवस्तत्र प्रवेश्यन्ते येन पञ्चको गच्छः पूर्यत इत्यर्थः । तथा 'शताग्रशः' शतसङ्ख्याः पुरुषा न्यूनप्रक्षेपे उत्कर्षतः प्रतिपद्यमानका भवन्ति ॥ १४४४ ॥ पूर्वप्रतिपन्नानां मानमाह—

पुव्वपडिवन्नगाण वि, उक्कोस-जहन्नसो परीमाणं । 20
कोडिपुहुत्तं भणियं, होइ अहालंदियाणं तु ॥ १४४५ ॥

पूर्वप्रतिपन्नानामप्युत्कर्षतो जघन्यतश्च परिमाणं कोटिपृथक्त्वं यथालन्दिकानां भवति, महा-विदेहपञ्चके जघन्यपदवर्त्तिनः कर्मभूमिपञ्चदशके चोत्कर्षपदवर्त्तिनः कोटिपृथक्त्वस्यामीषां प्राप्य-माणत्वात् । भणितमेतद्[3] भगवद्भिरिति ॥ १४४५ ॥ गतो यथालन्दकल्पविहारः । अथ गच्छ-वासिनां मासकल्पविधिमभिधित्सुः प्रस्तावनार्थं प्राक्तनीमेव (गा० ११३२) मूलद्वारगाथामाह— 25

गच्छवासिनां मासकल्पविधिः

पव्वज्जा सिक्खापय, अत्थग्गहणं च अनियओ वासो ।
निप्फत्ती य विहारो, सामायारी ठिई चेव ॥ १४४६ ॥

गच्छस्यार्पयन्ति । 'तेऽपि च' गच्छवासिनः "से" तस्य ग्लानस्य प्राशुकेनान्नादिना कुर्वन्ति सर्वमेव 'प्रतिकर्म' प्रतिजागरणम्, जिनकल्पं प्रतिपत्तुकामास्तु नात्मीयं ग्लानं गच्छ-स्यार्पयन्तीति भावः । तथा ये स्थविरा यथा° भा० ॥ ३ ग्लानं गच्छस्या° त० डे० कां० ॥

१ °णाः प्रतिपद्यमानकाः । पुरुष° मो० ले० विना ॥ २ °षाः, पञ्चको हि गणोऽमुं कल्पं प्रतिपद्यते, गणाश्च जघन्यतस्त्रयः, ततः पञ्च त्रिभिर्गुणिताः पञ्चदश भवन्ति । उत्क° भा० । °षाः, त्रिषु पञ्चकगणेषु पञ्चदशजनानां त० डे० कां० ॥ ३ °तमेव भ° भा० त० विना ॥

अत्र प्रव्रज्यादीनि पञ्च द्वाराणि यथा जिनकल्पद्वारे तथाऽत्रापि मन्तव्यानि ॥ १४४६ ॥ अथ विहारद्वारविषयं विधिमभिधित्सुराह—

निप्फत्तिं कुणमाणा, थेरा विहरंति तेसिमा मेरा ।
आयरिय उवज्झाया, भिक्खू थेरा य खुड्डा य ॥ १४४७ ॥

5 शिष्याणां निष्पत्तिं कुर्वन्तः 'स्थविराः' गच्छवासिनः साधवः 'विहरन्ति' अप्रतिबद्धं विहारं विदधति । तेषां चेत्थं विहरतामियं 'मर्यादा' सामाचारी । तत्र गच्छवासिनस्तावत् पञ्चविधाः, तद्यथा—आचार्या उपाध्याया भिक्षवः स्थविराः क्षुल्लकाश्चेति ॥ १४४७ ॥

धीरपुरिसपन्नत्तो, सप्पुरिसनिसेविओ अ मासविही ।
तस्स पडिलेहगा पुण, सुत्तत्थविसारगा भणिया ॥ १४४८ ॥

10 धीरपुरुषैः—तीर्थकर-गणधरैः प्रज्ञप्तः, सत्पुरुषैश्च—जम्बू-प्रभवादिभिर्निषेवितः—अनुष्ठितो मासकल्पविधिः । 'तस्य पुनः' मासकल्पविधेः प्रत्युपेक्षकाः सूत्रार्थविशारदाः साधवो भणिता भगवद्भिः । स पुनर्विहारः शरदादिर्भवति ॥ १४४८ ॥ कथम् ? इति चेद् उच्यते—

वासावासातीए, अट्ठसु चारो अतो उ सरदाई ।
पडिलेह-संकमविही, ठिए अ मेरं परिकहेहं ॥ १४४९ ॥

15 वर्षावासेऽतीते—अतिक्रान्ते 'अष्टसु' ऋतुबद्धमासेषु 'चारः' मासे मासे क्षेत्रान्तरगमनलक्षणो विहारो भवति, अतः शरदादिरयं मन्तव्यः । तत्र च क्षेत्रप्रत्युपेक्षणविधिं क्षेत्रान्तरसङ्क्रमणविधिं प्रत्युपेक्षिते च क्षेत्रे "ठिए" त्ति स्थितानां सतां या काचिद् मर्यादा तामहं परिकथयिष्यामि ॥ १४४९ ॥ प्रतिज्ञातमेव यथाक्रमं व्याचिख्यासुराह—

क्षेत्रप्रत्यु-पेक्षण-विधिः

निग्गमणम्मि उ पुच्छा, पत्तमपत्ते अइच्छिए वा वि ।
20 **वाघायम्मि अपत्ते, अइच्छिए तस्स असतीए ॥ १४५० ॥**

यत्र वर्षावासः कृतस्ततः क्षेत्राद् निर्गमने 'पृच्छा' किं कार्त्तिकचतुर्मासे प्राप्ते निर्गन्तव्यम् ? उताप्राप्ते ? आहोश्विदतिक्रान्ते ? उच्यते—यदि कोऽपि व्याघातस्तदा अप्राप्ते वा अतिक्रान्ते वा निर्गच्छन्ति । 'तस्य' व्याघातस्य 'असति' अभावे प्राप्ते चातुर्मासिकदिने मार्गशीर्षप्रतिपदि निर्गत्य बहिर्गत्वा पारयन्ति ॥ १४५० ॥ कः पुनर्व्याघातः ? इत्याह—

25 **पत्तमपत्ते रिक्खं, असाहगं पुण्णमासिणिमहो वा ।**
पडिकूल त्ति य लोगो, मा वोच्छिइ तो अईयम्मि ॥ १४५१ ॥

प्राप्ते चातुर्मासिकदिवसे अप्राप्ते वा यद्याचार्याणाम् 'ऋक्षं' नक्षत्रम् 'असाधकम्' अननुकूलं पौर्णमासीमहो वा तदा भवेत् कार्त्तिकीमहोत्सव इत्यर्थः, तत्र च लोको निर्गच्छतः साधून् दृष्ट्वा अमङ्गलं मन्यमानः 'प्रतिकूलाः' 'असन्महोत्सवप्रतिपन्थिनोऽमी मुण्डा येऽस्मिन्नेवंविधे महोत्सवे 30 स्वमुखमस्माकं दर्शयन्ति' इत्येवं 'मा वक्ष्यति' मा भणिष्यति, ततोऽतीते निर्गन्तव्यम् ॥ १४५१ ॥

पत्ते अइच्छिए वा, असाहगं तेण णिंति अप्पत्ते ।
नाउं निग्गमकालं, पडिचरए पेसविंति तहा ॥ १४५२ ॥

अथ प्राप्ते अतिक्रान्ते वा निर्गमनकाले नक्षत्रमसाधकम्, उपलक्षणत्वाद् मेघो वा वर्षणाद्

नोपरंस्यते पन्थानः कर्दमदुर्गमाश्च भविष्यन्तीत्यतिशयज्ञानवशेन परिज्ञाय 'तेन' कारणेन 'अप्राप्ते' चातुर्मासिके निर्गच्छन्ति । निर्गमनकालं च ज्ञात्वा 'प्रतिचरकान्' क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान् तथा प्रेषयन्ति यथा तेष्वायातेषु सत्सु निर्गमनकाल उपढौकते ॥ १४५२ ॥ तच्च क्षेत्रं द्विधा—दृष्टपूर्वमदृष्टपूर्वं च, उभयमपि नियमात् प्रत्युपेक्षणीयम्, कुतः ? इति चेद् उच्यते—

अप्पडिलेहियदोसा, वसही भिक्खं व दुल्लहं होजा । 5
बालाइ-गिलाणाण व, पाउग्गं अहव सज्झाओ ॥ १४५३ ॥

अप्रत्युपेक्षिते क्षेत्रे गच्छतामेते दोषाः—सा पूर्वदृष्टा वसतिः स्फेटिता पतिता वा भवेत्, अन्ये वा साधवस्तस्यां स्थिता भवेयुः, भैक्षं वा दुर्लभं भवेत्, दुर्भिक्षादिभावाद् बालादीनां ग्लानानां वा प्रायोग्यं दुर्लभं भवेत्, स्वाध्यायो वा दुर्लभः स्यात्, मांस-शोणितादिभिरस्वाध्यायिकैराकीर्णत्वात् ॥ १४५३ ॥ यतश्चैवमतः किं विधेयम् ? इत्याह— 10

तम्हा पुव्विं पडिलेहिऊण पच्छा विहीए संकमणं ।
पेसेइ जइ अणापुच्छिउं गणं तत्थिमे दोसा ॥ १४५४ ॥

तस्मात् पूर्वं प्रत्युपेक्ष्य क्षेत्रं पश्चाद् विधिना सङ्क्रमणं तत्र कर्त्तव्यम् । अथाप्रत्युपेक्षिते व्रजन्ति ततश्चतुर्लघु, आज्ञाभङ्गे चतुर्गुरु, अनवस्थायां चतुर्लघु, मिथ्यात्वे चतुर्लघु, यद् वा संयमविराधनादिकं प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । यदि पुनराचार्यः 'गणं' गच्छमनापृच्छ्य क्षेत्रप्रत्युपे- 15 क्षकान् प्रेषयति तदा मासलघु । 'तत्र' गणमनापृच्छ्य प्रेषणे इमे दोषाः ॥ १४५४ ॥

तेणा सावय मसगा, ओमऽसिवे सेहइत्थि पडिणीए ।
थंडिल्ल वसहि उट्ठाण एवमाई भवे दोसा ॥ १४५५ ॥

स्तेना द्विविधाः—शरीरस्तेना उपधिस्तेनाश्च, 'श्वापदाः' सिंह-व्याघ्रादयः 'मशकाः' प्रतीताः 'अवमं' दुर्भिक्षं 'अशिवं' व्यन्तरकृत उपद्रवः, शैक्षस्य वा तत्र सागारिकः स्त्रियो वा मोहोद्रेक- 20 बहुलाः साधूनुपसर्गयन्ति, प्रत्यनीको वा कोऽप्युपद्रवति, स्थण्डिलानि वा तत्र न विद्यन्ते, वसतिर्वा नास्ति, "उट्ठाणे" त्ति उत्थितः–उद्वसितः स देशः, एवमादयस्तत्रापान्तराले पथि गच्छतां दोषा भवन्ति ॥ १४५५ ॥ तत्र स्थाने प्राप्तानां पुनरिमे दोषाः—

पच्चंत तावसीओ, सावय दुब्भिक्ख तेणपउराइं ।
नियग पउट्ठुट्ठाणे, फेडणया हरियपत्ती य ॥ १४५६ ॥ 25

स ग्रामः 'प्रत्यन्तः' म्लेच्छाद्युपद्रवोपेतः, तापस्यो वा तत्र प्रचुरमोहाः संयमात् परिभ्रंशयन्ति, श्वापदभयं दुर्भिक्षभयं स्तेनप्रचुराणि च तानि क्षेत्राणि, शैक्षस्यान्यस्य वा कस्यापि साधोस्तत्र 'निजकाः' स्वजनास्ते तमुत्प्रव्राजयन्ति, 'प्रद्विष्टो वा' प्रत्यनीकस्तत्र साधूनुपद्रवति, उत्थितो वा स ग्रामः, स्फेटिता वा सा वसतिः, 'स्फेटितानि वा' विपरिणामितानि तानि कुलानि येषां निश्रया तत्र गम्यते । आह च चूर्णिकृत्— 30

फेडियाणि वा ताणि कुलाणि जेसिं निस्साए गम्मइ त्ति ।

"हरियपत्ती य"[3] त्ति हरितपत्रशाकं बाहुल्येन तत्र भक्ष्यते । अथवा तत्र देशे केषुचिद् गृहेषु

---

१ °यमेन प्र° डे० ॥ २ °लादि वा तत्र न विद्यते मो० ले० ॥ ३ "हरितपण्णी पिकच्छायं

राज्ञो दण्डं दत्त्वा देवतोपहारार्थमागन्तुकः पुरुषो मार्यते, गृहस्य चोपरिष्टादार्द्रा वृक्षशाखा चिह्नं क्रियते, एतेन चिह्नेनास्माभिराख्यातमेव भवति, अतो मारणेऽप्यस्माकं न दोष इति। यत एते दोषा अतः सर्वमपि गणमामन्त्र्य क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः प्रेषणीयाः ॥ १४५६ ॥

यदि पुनर्न सर्वमपि गणमामन्त्रयते तत एते दोषाः—

क्षेत्रप्रत्युपेक्षणायाः प्राग् गणस्य सम्मतिः

5 **सीसे जइ आमंते, पडिच्छगा तेण बाहिरं भावं।**
जइ इअरे तो सीसा, ते वि समत्तम्मि गच्छंति ॥ १४५७ ॥
तरुणा बाहिरभावं, न य पडिलेहोवहिं न किइकम्मं।
मूलगपत्तसरिसगा, परिभूया वच्चिमो थेरा ॥ १४५८ ॥

यद्याचार्यः शिष्यान् केवलानामन्त्रयति 'कस्यां दिशि क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः प्रेषयितुमुचिताः?' 10 इति ततो मासलघु, आज्ञादयश्च दोषाः। प्रतीच्छकाश्च 'तेन' कारणेन बाह्यं भावं गच्छेयुः—अहो! स्वशिष्या एवामीषां सर्वकार्येषु प्रमाणं न वयमिति, अतो राग-द्वेषदूषितत्वात् को नामामीषामुपकण्ठे स्थास्यति? इति। यदि 'इतरान्' प्रतीच्छकानामन्त्रयते ततः शिष्या बहिर्भावं गच्छेयुः—प्रतीच्छका एव तावदमीषां प्रसादपात्रम्, अतः किमर्थं वयमेव वैयावृत्त्यादिप्रयासं कुर्मः? इति। 'तेऽपि' प्रतीच्छकाः समाप्ते सूत्रार्थग्रहणे स्वगच्छं गच्छन्ति। ततश्चाचार्य उभ-15 यैरपि प्रतीच्छक-शिष्यैः परित्यक्तः सन्नेकाकी सञ्जायेत ॥ १४५७ ॥

अथ वृद्धानामन्त्रयते ततस्तरुणा बहिर्भावं मन्यन्ते, 'न च' नैव गुरूणां क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाणां वा उपकरणं प्रत्युपेक्षन्ते, न वा स्थविरादीनामुपधिं वहन्ति, न च कृतिकर्म-भक्तपानानयन-विश्रामणादिकं कुर्वते, 'वृद्धा एव सर्वमपि विधास्यन्ति, केऽत्र वयमस्थापितमहत्तराः?' इति। अथैतद्दोषभयात् तरुणानेव पृच्छति ततः स्थविराश्चिन्तयेयुः—'मौलकपत्रसदृशाः' मौलम्—आद्यं 20 यत् पर्णं परिपक्वप्रायं यदि वा मूलकः—कन्दविशेषस्तस्य यत् पत्रं निस्सारं तत्सदृशा वयम् अत एव च 'परिभूताः' परिभवपदमायाता इत्यतो व्रजामो वयं गणान्तरमिति ॥ १४५८ ॥

अथाकिञ्चित्करत्वात् स्थविराणामनामन्त्रणेऽपि का नाम हानिः सम्पद्यते? उच्यते—

जुन्नमएहिँ विहूणं, जं जूहं होइ सुट्ठु वि महल्लं।
तं तरुणरहसपोइअ, मयगुम्मइअं सुहं हंतुं ॥ १४५९ ॥

25 जीर्णाः—परिणतवयसो ये मृगास्तैर्विहीनं यद् यूथं भवति 'सुष्ठ्वपि' अतिशयेन 'महत्' महासमूहात्मकं तद् यूथं "तरुण" त्ति भावप्रधानत्वाद् निर्देशस्य तारुण्येन—यौवनवशेन यो रभसः—चापलं गौरिगीतश्रवणादिविषयं तेन "पोतितं" ति देशीवचनत्वादितस्ततः स्पन्दितं 'मदगुल्मि-

---

पण्णं वा भुञ्जति। अधवा तत्थ वज्झइ आगंतुओ, ताधे हरितसाले घेत्तुं पियपुच्छओ जणो एति। अधवा तत्थ विसं गरो वा दिज्जति जहा अम्हगामे भमो वा उद्दिज्जति। ताधे तेसु घरेसु हरिता साहुलया कीरंति। एतेहिं चिंधेहिं अम्हेहिं अक्खातमेव भवति, अक्खाते य अम्हं न दोसो विसदाणे। जम्हा एते दोसा तम्हा सव्वो गणो आमंतेयव्वो।" इति **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च ॥

१ त० डे० विनाऽन्यत्र—**°णादिष्वत्यन्तासक्तिरिति यावत् तत्र पोति°** भा०। **°णादिकं तेन पोति°** मो० छे० ॥ २ **°त्वाद् निमग्नं मद°** भा०। **°त्वात् त्रासितं मद°** कां०। "पोइता त्रासिताः" इति **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च ॥

तं' मदेन घूर्णितचेतनं सत् सुखं 'हन्तुं' विनाशयितुम्, सुखेन तद् व्यापाद्यत इति भावः ।

उक्तञ्च—

अतिरागप्रणीतान्यतिरभसकृतानि च ।
तापयन्ति नरं पश्चात्, क्रोधाध्यवसितानि च ॥

यतश्चैवमतः सर्व एव मिलिताः सन्तः प्रष्टव्याः ॥ १४५९ ॥ अत्रैव प्रायश्चित्तमाह— 5

आयरियअवाहरणे, मासो वाहित्तऽणागमे लहुओ ।
वाहित्ताण य पुच्छा, जाणगसिट्ठे तओ गमणं ॥ १४६० ॥

आचार्या गणं न व्याहरन्ति—नामन्त्रयन्ते मासलघु । शिष्य-प्रतीच्छक-तरुण-स्थविराणामन्य-तमान् विशेष्यामन्त्रयन्ते तदाऽपि मासलघु । तेऽपि च व्याहृताः सन्तो यदि नागच्छन्ति तदाऽपि मासलघु । व्याहृत्य च सर्वमपि गणं पृच्छा कर्त्तव्या, यथा—कतरत् क्षेत्रं प्रत्युपेक्षणीयम्? । 10
ततो ज्ञायकेन—क्षेत्रस्वरूपज्ञेन शिष्टे—कथिते सति गमनं क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैः कर्त्तव्यम् ॥ १४६० ॥

आमन्त्रणस्यैव विधिमाह—

थुइमंगलमामंतण, नागच्छइ जो व पुच्छिओ न कहे ।
तस्सुवरिं ते दोसा, तम्हा मिलिएसु पुच्छिज्जा ॥ १४६१ ॥

आवश्यके समापिते 'स्तुतिमङ्गलं कृत्वा' तिस्रः स्तुतीर्दत्त्वेति भावः । सर्वेषामपि साधूना- 15
मामन्त्रणं कर्त्तव्यम् । कृते चामन्त्रणे यः कश्चिद् नाऽऽगच्छति आगतो वा क्षेत्रस्वरूपं पृष्टः सन् न कथयति तदा मासलघु, तथा तस्योपरि 'ते दोषाः' स्तेन-श्वापदादयो भवन्ति ये तत्र गतानां भविष्यन्ति । तस्माद् मिलितेषु सर्वेष्वपि पृच्छेत्, उपलक्षणत्वात् सर्वेऽपि च कथयेयुः ॥१४६१॥

अत्रैव मतान्तरमुपन्यस्य दूषयन्नाह—

केई भणंति पुव्विं, पडिलेहिय एवमेव गंतव्वं । 20
तं तु न जुज्जइ वसहीफेडण आगंतु पडिणीए ॥ १४६२ ॥

केचिद् भणन्ति—'पूर्वं' प्राक् प्रत्युपेक्षिते क्षेत्रे एवमेव गन्तव्यम् न पुनस्तत्र क्षेत्रप्रत्युपे-क्षकाः प्रेषणीया इति, तत् तु 'न युज्यते' न घटते । कुतः? इत्याह—वसतेः कदाचित् स्फेटनं कृतं भवेत्, आगन्तुको वा प्रत्यनीकस्तत्र सम्भवेत्, अतः पूर्वदृष्टमपि क्षेत्रं प्रत्युपेक्षणीयम् ॥ १४६२ ॥ अथ कथं प्रष्टव्यम्? इत्याह— 25

कयरी दिसा पसत्था, अमुगी सव्वेसि अणुमए गमणं ।
चउदिसि ति दु एक्कं वा, सत्तग पणगे तिग जहन्ने ॥ १४६३ ॥

यदा सर्वेऽपि साधवो मिलिता भवन्ति तदा गुरवो ब्रुवते—आर्याः! पूर्णोऽयमस्माकं मास-कल्पः, क्षेत्रान्तरं सम्प्रति प्रत्युपेक्षणीयम्, अतः कतरा दिक् साम्प्रतं प्रशस्ता? । ते ब्रुवते—'अमुका' पूर्वादीनामन्यतमा । एवं सर्वेषां यद्यसौ 'अनुमता' अभिरुचिता तदा गमनं कर्त्तव्यम् । 30
प्रथमं चतसृष्वपि दिक्षु, अथ चतुर्थ्यां कोऽप्यशिवाद्युपद्रवस्ततस्तिसृषु दिक्षु, तदभावे द्वयोर्दिशोः, तदसत्येकस्यां दिशि गच्छन्ति । ते चैकैकस्यां दिश्युत्कर्षतः सप्त व्रजन्ति, सप्तानामभावे पञ्च,

---

१ °तलोचनं मो० के० ॥

जघन्येन तु त्रयः साधवो नियमाद् गच्छन्ति ॥ १४६३ ॥

तत्र च ये आभिग्रहिकाः–क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रतिपन्नाभिग्रहास्ते स्वयमेव गुरूनापृच्छ्य गच्छन्ति । अथ न सन्त्याभिग्रहिकास्ततः को विधिः ? इत्याह—

उत्सर्गतः योग्या अयोग्याश्च क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः

वेयावच्चगरं बाल वुड्ढ खमयं वहंतऽगीयत्थं ।
5 गणवच्छेइअगमणं, तस्स व असती य पडिलोमं ॥ १४६४ ॥

वैयावृत्त्यकरं १ बालं २ वृद्धं ३ क्षपकं ४ 'वहन्तं' योगवाहिनं ५ अगीतार्थं ६ एतान् न क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय व्यापारयेत्, किन्तु गणावच्छेदकस्य गमनं भवति । तस्य वाशब्दादपरस्य वा गीतार्थस्य 'असति' अभावे 'प्रतिलोमं' प्रतीपक्रमेण पश्चानुपूर्व्येत्यर्थः, एतानेवागीतार्थमादिं कृत्वा व्यापारयेदिति सङ्ग्रहगाथासमासार्थः ॥ १४६४ ॥

10 अथैनामेव विवरीषुः प्रथमतः प्रायश्चित्तमाह—

आइतिए चउगुरुगा, लहुओ मासो उ होइ चरिमतिए ।
आणाइणो विराहण, आयरियाई मुणेयव्वा ॥ १४६५ ॥

'आदित्रिके' वैयावृत्त्यकर-बाल-वृद्धलक्षणे व्यापार्यमाणे चत्वारो गुरुकाः । 'चरमत्रिके तु' क्षपक-योगवाहि-अगीतार्थलक्षणे लघुको मासः । आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना चाऽऽचार्या-15 दीनां ज्ञातव्या ॥ १४६५ ॥ तामेव भावयति—

ठवणकुले व न साहइ, सिट्ठा व न दिंति जा विराहणया ।
परितावणमणुकंपण, तिण्हऽसमत्थो भवे खमओ ॥ १४६६ ॥

वैयावृत्त्यकरः प्रेष्यमाणो रुष्यति । रुषितश्च यान्याचार्यादिप्रायोग्यदायकानि स्थापनाकुलानि तानि न कथयति । 'शिष्टानि वा' कथितानि परं तानि तस्यैव ददति नान्यस्य, तेन भावित-20 त्वात् तेषाम् । ततोऽलभ्यमाने प्रायोग्ये या काचिदात्मनो ग्लानादीनां वा विराधना तन्निष्पन्न-मांचार्यस्य प्रायश्चित्तम् । अथ क्षपकं प्रेषयति ततो यदसौ शीता-ऽऽतपादिना परिताप्यते तन्नि-ष्पन्नम्, देवता वा काचित् क्षपकमनुकम्पमाना खलु क्षेत्रेऽपि भक्त-पानमुत्पादयति, लोको वा क्षपक इति कृत्वा तस्यानुकम्पया सवर्मपि ददाति नान्यस्य, तपःक्षामकुक्षिश्चासौ तिसृणां गोचरचर्याणामसमर्थ इति ॥ १४६६ ॥ बालद्वारमाह—

25 हीरेज्ज व खेलेज्ज व, कज्जा-ऽकज्जं न याणई[1] बालो ।
सो व अणुकंपणिज्जो, न दिंति वा किंचि बालस्स ॥ १४६७ ॥

ह्रियेत वा म्लेच्छादिना, खेलयेद् वा चेटरूपैः सार्द्धम्, 'कार्या-ऽकार्यं च' कर्त्तव्या-ऽकर्त्तव्यं न जानाति बालः । 'स वा' बालः स्वभावत एवानुकम्पनीयो भवति ततः सर्वोऽपि लोकस्तस्य भक्त-पानं प्रयच्छति । स चागत्याचार्याय कथयति—यथा सर्वमपि प्रायोग्यं तत्र प्राप्यते । 30 ततस्तद्वचनादागतस्तत्र गच्छः, यावन्न किञ्चिद् लभ्यते । न ददति वा किञ्चिद् बालाय लोकाः, पराभवनीयतया दर्शनात् ॥ १४६७ ॥ वृद्धद्वारमाह—

---

१ न आणए बालो ता० ॥

वुड्ढोऽणुकंपणिज्जो, चिरेण न य मग्ग थंडिले पेहे ।
अहवा वि बाल-वुड्ढा, असमत्था गोयरतियस्स ।। १४६८ ।।

'वृद्धः' परिणतवया अनुकम्पनीयो लोकस्य भवति, ततश्चायं सर्वत्रापि लभते नापरः । तथा स मन्दं मन्दं गच्छन् चिरकालेनोपैति, न च 'मार्गं' पन्थानं स्थण्डिलानि च प्रत्युपेक्षते । अथवा बाल-वृद्धावसमर्थौ 'गोचरत्रिकस्य' त्रिकालभिक्षाटनस्येति ।। १४६८ ।। योगवाहिद्वारमाह— 5

तूरंतो व न पेहे, गुणणालोभेण न य चिरं हिंडे ।
विगइं पडिसेहेई, तम्हा जोगिं न पेसिज्जा ।। १४६९ ।।

योगवाही 'श्रुतं मम पठितव्यं वर्त्तते' इति त्वरमाणः सन्नपान्तराले पन्थानं न प्रत्युपेक्षते । गुणना—परावर्त्तना तस्या लोभेन चिरमसौ भिक्षां न हिण्डते । लभ्यमानामपि 'विकृतिं' घृतादिकामसौ प्रतिषेधयति । तस्माद् योगिनं न प्रेषयेत् ।। १४६९ ।। अगीतार्थद्वारमाह— 10

अपवादतः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः

पंथं च मास वासं, उवस्सयं एच्चिरेण कालेण ।
एहामो त्ति न याणइ, अगीतो पडिलोम असतीए ।। १४७० ।।

अगीतार्थः 'पन्थानं' मार्गं 'मासं' मासकल्पविधिं 'वासं' वर्षावासविधिं 'उपाश्रयं' वसतिमेतानि परीक्षितुं न जानाति । तथा शय्यातरेण पृष्टः 'कदा यूयमागमिष्यथ ?' ततोऽसौ ब्रवीति— 'इयता कालेन' अर्द्धमासादिना वयमेष्याम इत्येवं वदतो यः खल्वविधिभाषणजनितो दोषस्तमगीतार्थो न जानाति । यत एवमतः प्रथमतो गणावच्छेदकेन गन्तव्यम् । तस्याभावेऽपरोऽपि यो गीतार्थः स व्यापारणीयः । तस्यापि 'असति' अभावे 'प्रतिलोमं' पश्चानुपूर्व्या एतानेवागीतार्थमादिं कृत्वा प्रेषयेत् ।। १४७० ।। केन विधिना ? इति चेद् उच्यते— 15

क्षेत्रप्रत्युपेक्षाकृते गमनविधिः प्रत्युपेक्षणीयस्य च निरूपणा

सामायारिमगीए, जोगिमणागाढ खमग पारावे ।
वेयावच्चे दायण, जुयल समत्थं व सहियं वा ।। १४७१ ।। 20

अगीतार्थः **ओघनिर्युक्ति**सामाचारीं कथयित्वा प्रेषणीयः । तदभावे 'अनागाढयोगी' बाह्ययोगवाही योगं निक्षिप्य प्रेष्यते । तस्याप्यभावे क्षपकः, तं च प्रथमं 'पारयेत्' पारणं कारयेत्, ततो 'मा क्षपणं कार्षीः' इति शिक्षां दत्त्वा प्रहिणुयात् । तस्याप्यभावे वैयावृत्त्यकरः प्रेष्यते । "दायण" त्ति स वैयावृत्त्यकरो वास्तव्यसाधूनां स्थापनाकुलानि दर्शयति । ततो बाल-वृद्धयुगलम्, कथम्भूतम् ? 'समर्थं' दृढशरीरम्, वाशब्दो विकल्पार्थः, 'सहितं वा' वृषभसाधुसमन्वितम् । इत्थमादिष्टैस्तैः शेषसाधूनां स्वमुपधिं समर्प्य परस्परं क्षामणां कृत्वा गमनकाले भूयोऽपि गुरूनापृच्छ्य गन्तव्यम् । यदि नापृच्छन्ति तदा मासलघु । ते चावश्यिकीं कृत्वा निर्गच्छन्ति ।। १४७१ ।। 25

कियन्तः ? कथं च ? इत्याह—

तिन्नेव गच्छवासी, हवंतऽहालंदियाण दोन्नि जणा ।
गमणे चोदगपुच्छा, थंडिलपडिलेहऽहालंदे ।। १४७२ ।। 30

जघन्यतस्त्रयो गच्छवासिनो जना एकैकस्यां दिशि व्रजन्ति । यथालन्दिकानां तु गच्छप्रतिबद्धानां द्वौ जनावेकस्यां दिशि क्षेत्रप्रत्युपेक्षकौ गच्छतः । शेषासु तिसृषु दिक्षु गच्छवासिनामाचार्या आदिशन्ति, यथा—यथालन्दिकानामपि योग्यं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षणीयम् । तेषां च गमने

प्ररूपिते नोदकपृच्छा वक्तव्या । स्थण्डिलप्रत्युपेक्षणं यथालन्दिकानां वाच्यम् ॥ १४७२ ॥

तत्र गमनद्वारं विवृणोति—

पंथुच्चारे उदए, ठाणे भिक्खंतरा य वसहीओ ।
तेणा सावय वाला, पच्चावाया य जाणविही ॥ १४७३ ॥

5 'पन्थानं' मार्गं "उच्चारे" त्ति उच्चार-प्रश्रवणभूमिके, "उदए" त्ति पानकस्थानानि येषु बाला-दियोग्यं प्राशुकैषणीयं पानकं लभ्यते, "ठाणे" त्ति विश्रामस्थानानि, "भिक्ख" त्ति येषु येषु प्रदेशेषु भिक्षा प्राप्यते न वा, अन्तरा—अन्तराले वसतयः—प्रतिश्रयाः सुलभा दुर्लभा वा, स्तेनाः श्वापदा व्यालाश्च यत्र सन्ति न वा, प्रत्यपायाश्च यत्र दिवा रात्रौ वा भवन्ति, तदेतत् सर्वं सम्यग् निरूपयद्भिर्गन्तव्यम् । यानं—गमनं तस्य विधिरयं द्रष्टव्य इति ॥ १४७३ ॥

10 इदमेव व्याचिख्यासुराह—

वावारिय सच्छंदाण वा वि तेसिं इमो विही गमणे ।
दव्वे खेत्ते काले, भावे पंथं तु पडिलेहे ॥ १४७४ ॥

'व्यापारिताः' आचार्येण नियुक्ताः 'स्वच्छन्दाः' नाम ये आभिग्रहिकाः, तेषामुभयेषामप्ययं गमने विधिः । तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च पन्थानं प्रत्युपेक्षन्ते ॥ १४७४ ॥

15 कथम् ? इत्याह—

कंटग तेणा वाला, पडिणीया सावया य दव्वम्मि ।
सम विसम उदय थंडिल, भिक्खायरियंतरा खेत्ते ॥ १४७५ ॥
दिय राओ पच्चवाए, य जाणई सुगम-दुग्गमे काले ।
भावे सपक्ख-परपक्खपेल्लणा निण्हगाईया ॥ १४७६ ॥

20 द्रव्यतः कण्टकाः स्तेना व्यालाः प्रत्यनीका श्वापदाश्च पथि प्रत्युपेक्षणीयाः । क्षेत्रतः 'समः' गिरिकन्दरा-प्रपात-निम्नोन्नतरहितः पन्थाः, 'विषमः' तद्विपरीतः, "उदग" त्ति पानीयबहुलो मार्गः, स्थण्डिलानि भिक्षाचर्या तथा 'अन्तरा' अपान्तराले वसतयः ॥ १४७५ ॥

कालतो दिवा रात्रौ वा प्रत्यपायान् जानाति, यथा—अत्र दिवा प्रत्यपाया न रात्रौ, अत्र तु रात्रौ न दिवेति; यद्वा दिवा रात्रौ वाऽयं पन्थाः सुगमो दुर्गमो वा । भावतः स्वपक्षेण परपक्षेण वा 25 प्रेरितः—आक्रान्तोऽयं ग्रामः पन्था वा न वेति । अथ कः पुनः स्वपक्षः को वा परपक्षः ? इत्याह— "निण्हगाईय" त्ति निह्नव-पार्श्वस्थादयः साधुलिङ्गधारिणः स्वपक्षः, आदिग्रहणात् चरक-परिव्राज-कादयः परपक्षः । एवं प्रत्युपेक्षमाणास्तावद् व्रजन्ति यावद् विवक्षितक्षेत्रं प्राप्ताः ॥ १४७६ ॥

उक्तं गमनद्वारम् । अथ नोदकपृच्छाद्वारमाह—

सुत्तत्थाणि करिंते, न व त्ति वच्चंतगाउ चोएइ ।
30 **न करिंति मा हु चोयग !, गुरूण निइआइआ दोसा ॥ १४७७ ॥**

परो नोदयति—क्षेत्रप्रत्युपेक्षका व्रजन्तः किं सूत्रार्थौ कुर्वते न वा ?। गुरुराह—न कुर्वन्ति, मा भूवन् गुरूणां नित्यवासादयो दोषाः । अतो यदि सूत्रपौरुषीं कुर्वन्ति तदा मासलघु, अर्थ-पौरुष्यां मासगुरु ॥ १४७७ ॥

"थंडिलपडिलेहऽहालंदे" (गा० १४७२) त्ति पदं व्याख्यानयति—

सुत्तत्थपोरिसीओ, अपरिहवंता वयंतऽहालंदी ।
थंडिल्ले उवओगं, करिंति रत्तिं वसंति जहिं ॥ १४७८ ॥

यथालन्दिकाः सूत्रार्थपौरुष्यावपरिहापयन्तो विहारं भिक्षाचर्यां च तृतीयस्यां पौरुष्यां कुर्वाणा व्रजन्ति । यत्र च रात्रौ वसन्ति तत्र 'स्थण्डिले' कालग्रहणादियोग्ये उपयोगं कुर्वन्ति ॥ १४७८ ॥ 5

केन विधिना गच्छवासिनस्तत्र क्षेत्रे प्रविशन्ति ? इत्याह—

सुत्तत्थे अकरिंता, भिक्खं काउं अइंति अवरण्हे ।
बीयदिणे सज्झाओ, पोरिसि अद्धाए संघाडो ॥ १४७९ ॥

सूत्रार्थावकुर्वन्तः प्रस्तुतक्षेत्रासन्ने ग्रामे भिक्षां कृत्वा समुद्दिश्य अपराह्णे विचारभूमिस्थण्डिलानि प्रत्युपेक्षमाणा विवक्षितं क्षेत्रं "अइंति" त्ति प्रविशन्ति । ततो वसतिं गृहीत्वा तत्रावश्यकं कृत्वा 10 कालं प्रत्युपेक्ष्य प्रादोषिकं स्वाध्यायं कृत्वा प्रहरद्वयं शेरते । ये तु न शेरते तेऽर्द्धरात्रिक-वैरात्रिक-कालद्वयमपि गृह्णन्ति । ततः प्राभातिकं कालं गृहीत्वा द्वितीयदिने स्वाध्यायः कर्त्तव्यः । ततोऽर्द्धायां पौरुष्यामतिक्रान्तायां सङ्घाटको भिक्षामटति ॥ १४७९ ॥ एतदेवाह—

वीयार भिक्खचरिया, वुच्छाणऽचिरुग्गयम्मि पडिलेहा ।
चोयग भिक्खायरिया, कुलाइँ तहुवस्सयं चेव ॥ १४८० ॥ 15

विचारभूमी प्रथममेवाऽपराह्णे प्रत्युपेक्षणीया । ततो रात्रावुषितानामचिरोद्गते सूर्ये अर्द्धपौरुष्यां भिक्षाचर्यायाः प्रत्युपेक्षणा भवति । अत्र नोदकः प्रश्नयति—किमिति प्रातरारभ्य भिक्षाचर्या विधीयते ? । सूरिरभिदधाति—एवं भिक्षाचर्यां कुर्वाणाः 'कुलानि' दानकुलादीनि तथोपाश्रयं च ज्ञास्यन्तीति समासार्थः ॥ १४८० ॥ अथैतदेव व्याचष्टे—

बाले वुड्ढे सेहे, आयरिय गिलाण खमग पाहुणए । 20
तिन्नि य काले जहियं, भिक्खायरिया उ पाउग्गा ॥ १४८१ ॥

षष्ठी-सप्तम्योरर्थं प्रति अभेदाद् बालस्य वृद्धस्य शैक्षस्य आचार्यस्य ग्लानस्य क्षपकस्य प्राघूर्णकस्य च 'प्रायोग्या' तदनुकूलप्राप्यमाणभक्त-पाना 'त्रीनपि' पूर्वाह्ण-मध्याह्न-सायाह्नलक्षणान् कालान् यत्र भिक्षाचर्या भवति तत् क्षेत्रं गच्छस्य योग्यमिति गम्यते ॥ १४८१ ॥

कथं पुनस्तत् प्रत्युपेक्ष्यते ? इत्याह— 25

खेत्तं तिहा करित्ता, दोसीणे नीणितम्मि उ वयंति ।
अन्नोन्ने बहुलद्धे, थोवं दल मा य रूसिज्जा ॥ १४८२ ॥

क्षेत्रं 'त्रिधा' त्रीन् भागान् कृत्वा एकं विभागं प्रत्युषसि पर्यटन्ति, द्वितीयं मध्याह्ने, तृतीयं सायाह्ने । तत्र यत्र प्रातरेव भोजनस्य देशकालस्तत्र प्रथमं पर्यटन्ति । अथ नास्ति प्रातः क्वापि देशकालस्ततः "दोसीणे" पर्युषिते आहारे निस्सारिते वदन्ति, यथा—अन्यान्येषु गृहेषु 30 पर्यटद्भिः बहुः—प्रचुर आहारो लब्धस्तेन च भृतमिदं भाजनम् अतः स्तोकं देहि, 'मा च

१ "जत्थ य वसंति तत्थ महाथंडिल्लस्स उवओगं करेंति" इति विशेषचूर्णौ ॥ २ °ना एवंविधा 'त्रिष्वपि' पूर्वाह्न-मध्याह्न-सायाह्नलक्षणेषु कालेषु यत्र भा० ॥

रुषः' मा रोषं कार्षीः 'यदेते न गृह्णन्ति' इति । एतच्चामी परीक्षार्थं कुर्वन्ति 'किमयं दानशीलो न वा ?' इति ॥ १४८२ ॥

अहव न दोसीणं चिय, जायामो देहि णे दहिं खीरं ।
खीरे घय गुल गोरस, थोवं थोवं च सव्वत्थ ॥ १४८३ ॥

5 अथवा न वयं दोसीणमेव याचामः किन्तु देहि "णे" अस्मभ्यं दधि क्षीरं च । क्षीरे लब्धे सति घृतं गुडं गोरसं च याचित्वा सर्वत्र स्तोकं स्तोकमेव गृह्णन्ति । एवं तावत् प्रत्युषसि येषु भिक्षाया देशकालो यानि च भद्रककुलानि तानि सम्यगवधारयन्ति यथा बाल-वृद्ध-क्षपकादीनां प्रथम-द्वितीयपरीषहार्दितानां समाधिसन्धारणार्थं प्रातरेव तेषु पेयादीनि याचित्वोपनीयन्ते । एकमेकस्य पर्याप्तं गृहीत्वा वसतिमागम्यालोचनादिविधिपुरस्सरं समुद्दिश्य मध्याह्ने द्वितीये 10 विभागे भिक्षां पर्यटन्ति ॥ १४८३ ॥ कथम् ? इत्याह—

मज्झण्हे पउर भिक्खं, परिताविय पेज्ज जूस पय कढियं ।
ओभट्ठमणोभट्ठं, लब्भइ जं जत्थ पाउग्गं ॥ १४८४ ॥

मध्याह्ने प्रचुरं भैक्षं तथा 'परितापितं' परितलितं सुकुमारिकादि पक्वान्नं यद्वा 'परितापितं' क्वथितं कट्टरादिकमित्यर्थः 'पेया' यवागूः 'यूषः' मुद्गरसः तथा 'पयः' दुग्धं 'क्वथितं' तापितम् । 15 एवमेव भाषितमनवभाषितं वा यद् यत्र प्रायोग्यमन्विष्यते तत् तत्र यदि लभ्यते तदा प्रशस्तं तत् क्षेत्रम् । अत्राप्येकस्य पर्याप्तं गृहीत्वा प्रतिनिवृत्त्य समुद्दिश्य संज्ञाभूमीं गत्वा वैकालिकीं पात्रादिप्रत्युपेक्षणां कृत्वा सायाह्ने तृतीये विभागे भिक्षामटन्ति ॥ १४८४ ॥ कथम् ? इत्याह—

चरिमे परिताविय पेज्ज खीर आएस-अतरणट्ठाए ।
एक्केकगसंजुत्तं, भत्तट्ठं एकमेकस्स ॥ १४८५ ॥

20 चरिमे भिक्षाकाले परितापितं पेया क्षीरं च येषु प्राप्यते तानि कुलानि सम्यगवधारयन्ति । किमर्थम् ? इत्याह—आदेशाः—प्राघूर्णकास्तदा समागच्छेयुः, अतरणः—ग्लानस्तदानीं पथ्यमुपयुञ्जीत तदर्थम्, उपलक्षणत्वाद् बालाद्यर्थं च । अत्राप्येकस्य पर्याप्तं गृहीत्वा प्रतिनिवर्त्तन्ते । यत आह—"एक्केक्कग" इत्यादि । एकैकः साधुरन्यसाधुना संयुक्तो यस्मिन्नानयने तदेकैकसंयुक्तं 'भक्तार्थम्' उदरपूरमाहारमेकैकस्य साधोरर्थायानयन्ति । इदमुक्तं भवति—प्रातर्द्वौ साधू 25 सङ्घाटकेन पर्यटतः, तृतीयो रक्षपाल आस्ते; द्वितीयस्यां वेलायां तयोर्मध्यादेक आस्ते, अपरः प्रथमव्यवस्थितं गृहीत्वा प्रयाति; तृतीयस्यां तु द्वितीयवेलारक्षपालः प्रथमव्यवस्थितरक्षपालेन सह पर्यटति, यस्तु वारद्वयं पर्यटितः स तिष्ठति; एवं त्रयाणां जनानां द्वौ द्वौ वारौ पर्यटनं योजनीयम् ॥ १४८५ ॥ किञ्च—

ओसह भेसज्जाणि य, काले य कुले अ दाणसड्ढाई ।
30 **सग्गामे पेहित्ता, पेहंति तओ परग्गामे ॥ १४८६ ॥**

'औषधानि' हरीतक्यादीनि 'भैषजानि' पेयादीनि त्रिफलादीनि वा चशब्दात् पिप्पलकनखरदनादीनि च "काले य" त्ति येषु कुलेषु यत्र काले वेला यानि वा दानश्राद्धादीनि कुलानि एतानि स्वग्रामे प्रत्युपेक्ष्य ततः परग्रामे प्रत्युपेक्षन्ते ॥ १४८६ ॥ अत्र च चालनां कारयति—

चोयगवयणं दीहं, पणीयगहणे य अत्थु अवे दोसा ।
जुज्जइ तं गुरु-पाहुण-गिलाणगट्ठा न दप्पट्ठा ॥ १४८७ ॥
जइ पुण खद्ध-पणीए, अकारणे एक्कसिं पि गिण्हिज्जा ।
तहियं दोसा तेण उ, अकारणे खद्ध-निद्धाइं ॥ १४८८ ॥

नोदकः—प्रेरकस्तस्य वचनं—चाल्नारूपम्—ननु तेषामित्थं दीर्घां भिक्षाचर्यां कुर्वतां प्रणी- 5
तस्य च—दधि-दुग्धादेर्ग्रहणे 'दोषाः' सूत्रार्थपरिमन्थ-मोहोद्भवादयो भवेयुः । सूरिराह—भद्र ! युज्यते 'तत्' प्रणीतग्रहणं दीर्घभिक्षाटनं च गुरु-प्राघूर्णक-ग्लानार्थम्, न 'दर्पार्थं' नात्मनो बल-वर्णादिहेतोः ॥ १४८७ ॥

यदि पुनः खद्धं—प्रचुरं प्रणीतं—स्निग्ध-मधुरं ते 'अकारणे' गुर्वादिकारणाभावे एकशोऽपि गृह्णीयुः ततः 'तस्मिन्' खद्ध-प्रणीतग्रहणे भवेयुर्दोषाः । कुतः ? इत्याह—अकारणे आत्मार्थं 10
यस्मात् तेन "खद्ध-निद्धाइं" ति प्रचुर-स्निग्धानि भक्ष्यन्त इति वाक्यशेषः । अतो गुरु-ग्लानादि-हेतोः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाकाले प्रणीतं गृह्णतां चिरं च पर्यटतां न कश्चिद् दोष इति ॥ १४८८ ॥

अथ "कुलाइँ तहुवस्सयं चेव" (गा० १४८०) त्ति पदं व्याख्यायते—भिक्षामटन्तः कुलानि जानन्ति । कथम् ? इत्याह—

दाणे अभिगम सड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते । 15
मामाए अचियत्ते, कुलाइँ जाणंति गीयत्था ॥ १४८९ ॥

'दानश्राद्धानि' प्रकृत्यैव दानरुचीनि, 'अभिगमश्राद्धानि' प्रतिपन्नाणुव्रतानि श्रावककुलानि, 'सम्यक्त्वश्राद्धानि' अविरतसम्यग्दृष्टीनि, तथैव 'मिथ्यात्वे' मिथ्यादृष्टिकुलानि, 'मामकानि' 'मा मदीयं गृहं श्रमणाः प्रविशन्तु' इति प्रतिषेधकारीणि, "अचियत्ते" त्ति नास्ति प्रीतिः साधुषु गृहमुपागतेषु येषां तान्यप्रीतिकानि, एतानि कुलानि गीतार्था पर्यटन्तः सम्यग् जानन्ति 20
॥ १४८९ ॥ उपाश्रयाँश्च जानन्ति । कथम् ? इत्याह—

जेहिँ कया उ उवस्सय, समणाणं कारणा वसहिहेउं ।
परिपुच्छिया सदोसा, परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥ १४९० ॥

इह श्रमणाः पञ्चधा—तापसाः शाक्याः परिव्राजका आजीवका निर्ग्रन्थाश्च । तेषां पञ्चानां निर्ग्रन्थानामेव वा 'कारणात्' कारणमुद्दिश्येत्यर्थः, कारणमेव व्यनक्ति—वसतिः—अवस्थानं 25
तद्धेतोः—तन्निमित्तम्, यैर्गृहिभिः कृता उपाश्रयास्तेषां समीपे भिक्षामटद्भिः 'परिपृच्छ्य' उपाश्रयमूलोत्पत्तिं पर्यनुयुज्य 'सदोषाः' सावद्यदोषदुष्टास्ते उपाश्रयाः प्रयत्नेन परिहर्त्तव्याः ॥ १४९० ॥ तथा—

जेहिँ कया उ उवस्सय, समणाणं कारणा वसहिहेउं ।
परिपुच्छिय निद्दोसा, परिभोत्तुं जे सुहं होइ (होंति) ॥ १४९१ ॥ 30

यैः कृता उपाश्रयाः 'श्रमणानां' निर्ग्रन्थवर्जानां शाक्यादीनां कारणाद् वसतिहेतोस्तान् परि-पृच्छ्य 'निर्दोषाः' निरवद्यास्ते उपाश्रयाः परिभोक्तुं "जे" इति निपातः पादपूरणे 'सुखं भवन्ति'

---

१ °ह्णीयात् ततः मो० के० बिना ॥

सुखेनैव संयमबाधामन्तरेण ते परिभुज्यन्त इत्यर्थः ॥ १४९१ ॥

जेहिँ कया पाहुडिया, समणाणं कारणा वसहिहेउं ।
परिपुच्छिया सदोसा, परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥ १४९२ ॥

यैः कृता 'प्राभृतिका' उपाश्रयेषु उपलेपन-धवलनादिका 'श्रमणानां' पञ्चानामपि साधूनामेव 5 वा कारणाद् वसतिहेतोः तान् परिपृच्छ्य 'सदोषाः' उत्तरगुणैरशुद्धत्वात् सावद्यास्ते उपाश्रयाः प्रयत्नेन परिहर्त्तव्याः ॥ १४९२ ॥

जेहिँ कया पाहुडिया, समणाणं कारणा वसहिहेउं ।
परिपुच्छिय निद्दोसा, परिभोत्तुं जे सुहं होइ (होंति) ॥ १४९३ ॥

यैः कृता प्राभृतिका 'श्रमणानां' साधुवर्जितानां तापसादीनां कारणाद् वसतिहेतोस्तान् परि- 10 पृच्छ्य निर्दोषा इति मत्वा परिभोक्तुं "जे" इति प्राग्वत् 'सुखं भवन्ति' सुखेनैव परिभुज्यन्त इत्यर्थः ॥ १४९३ ॥ अथ कीदृशे स्थाने वसतिरन्वेषणीया ? उच्यते—यावन्मात्रं क्षेत्रं वसिमाक्रान्तं भवति तावन्मात्रं पूर्वाभिमुखवामपार्श्वोपविष्टवृषभाकारं बुद्ध्या परिकल्प्य प्रशस्तेषु स्थानेषु वसतिर्गृह्यते । अथ कुत्रावयवस्थाने गृह्यमाणा वसतिः किंफला भवति ? इत्युच्यते—

गच्छवासिनां निवासयोग्या वसतिः

सिंगक्खोडे कलहो, ठाणं पुण नत्थि होइ चलणेसु ।
15 **अहिठाणे पुट्टरोगो, पुच्छम्मि य फेडणं जाणे ॥ १४९४ ॥**
मुहमूलम्मि उ चारी, सिरे अ कउहे अ पूअ सक्कारो ।
खंधे पट्ठीइ भरो, पुट्टम्मि उ धायओ वसहो ॥ १४९५ ॥

'शृङ्गखोडे' शृङ्गप्रदेशे यदि वसतिं करोति तदा निरन्तरं साधूनां कलहो भवति । 'स्थानम्' अवस्थितिः पुनर्नास्ति 'चरणेषु' पादप्रदेशेषु । 'अधिष्ठाने' अपानप्रदेशेषु "पुट्टं" ति उदरं तस्य 20 रोगो भवति । 'पुच्छे' पुच्छप्रदेशे 'स्फेटनम्' अपनयनं वसतेर्जानीहि ॥ १४९४ ॥

मुखमूले यदि वसतिः तदा 'चारी' भोजनसम्पत्तिः प्रशस्ता । 'शिरसि' शृङ्गयोर्मध्ये ककुदि च वसतिकरणे पूजा च वस्त्र-पात्रादिभिः सत्कारश्चाभ्युत्थानादिना साधूनां भवति । स्कन्धप्रदेशे पृष्ठप्रदेशे च वसतौ सत्यां साधुभिरितस्तत आगच्छद्भिर्भरो भवति । 'पोट्टे' उदरप्रदेशे वसतौ गृह्यमाणायां 'ध्रातः' नित्यतृप्तः 'वृषभः' वृषभपरिकल्पनागृहीतवसतिनिवासी साधुजनो भव- 25 तीति । एवं परीक्ष्याऽप्रशस्तस्थानव्युदासेन प्रशस्तेषु स्थानेषु स्त्री-पशु-पण्डकवर्जिता वसतिरन्वेषणीया ॥ १४९५ ॥ तदन्वेषणे चायं विधिः—

वसत्यन्वेषणस्य विधिः

देउलियअणुण्णवणा, अणुण्णविएँ तम्मि जं च पाउग्गं ।
भोयण काले किच्चिर, सागरसरिसा उ आयरिया ॥ १४९६ ॥

देवकुलिका—यक्षादीनामायतनं तत्पार्श्ववर्तिनो वा मठाः । आह किमर्थं देवकुलिकाया 30 निबन्धः ? उच्यते—सा प्रायेण ग्रामादीनां बहिर्भवति, साधुभिश्चोत्सर्गतो बहिः स्थातव्यम्, देवकुलिका च विविक्तावकाशा भवति, अतः प्रथमतस्तस्या अनुज्ञापना कर्त्तव्या । अथ नास्ति देवकुलिका बहिर्वा समस्त्यपायं ततो ग्रामादेरन्तः प्रतिश्रयोऽन्विष्यते । यस्तत्र प्रभुः प्रभुसन्दिष्टो

१ "देउलिया णाम जा सभा पवा वा जणविमुक्का, देउलियाए वा जे पासे मढा" इति **विशेषचूर्णौ** ॥

वा सः 'प्रायोग्यं' वक्ष्यमाणमनुज्ञाप्यते । अनुज्ञापिते सति तस्मिन् यच्च तेन प्रायोग्यमनुज्ञातं तस्य परिभोगः कार्यः । अथासौ नानुजानीते प्रायोग्यं ततो भोजनदृष्टान्तः कर्त्तव्यः । तथा कियच्चिरं कालं भवन्तः स्थास्यन्ति ? इति पृष्टे अभिधातव्यम्—यावद् भवतां गुरूणां च प्रतिभासते । कियन्तो भवन्त इहावस्थास्यन्ते ? इति पृष्टे वक्तव्यम्—सागरः–समुद्रस्तत्सदृशा आचार्या भवन्तीति सङ्ग्रहगाथासमासार्थः ॥ १४९६ ॥　5

अथैनामेव व्याचिख्यासुः "अणुन्नविए तम्मि" इति पदं विवृणोति—

जं जं तु अणुन्नायं, परिभोगं तस्स तस्स काहिंति ।
अविदिन्ने परिभोगं, जइ काहिइ तत्थिमा सोही ॥ १४९७ ॥

'यद् यत्' तृण-डगलादिकं शय्यातरेणानुज्ञातं तस्य तस्य परिभोगमभिरुचिते क्षेत्रे समायाताः सन्तः करिष्यन्ति । यदि पुनः 'अवितीर्णे' शय्यातरेणाननुज्ञाते द्रव्य-क्षेत्रादौ परिभोगं कोऽपि 10 करिष्यति तत्र 'इयं' वक्ष्यमाणा शोधिः ॥ १४९७ ॥ तामेवाह—

इक्कड-कढिणे मासो, चाउम्मासो अ पीढ-फलएसु ।
कट्ठ-कलिंचे[1] पणगं, छारे तह मल्लगाईसु ॥ १४९८ ॥

इक्कडमये कठिनमये च संस्तारकेऽदत्ते गृह्यमाणे लघुमासः । चत्वारो मासा लघवः पीठ-फलकेषु । तथा काष्ठ-कलिञ्चयोः क्षारे मल्लक-तृण-डगलादिषु च पञ्चकम् । अतः प्रायोग्यमनुज्ञा- 15 पनीयम् ॥ १४९८ ॥ अथासौ ब्रूयात् 'किं तत् प्रायोग्यम् ?' ततो वक्तव्यम्—

[2]दव्वे तण-डगलाई, अच्छण-भाणाइधोवणा खित्ते ।
काले उच्चाराई, भावि गिलाणाइ कूरुवमा ॥ १४९९ ॥

प्रायोग्यं चतुर्द्धा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । तत्र 'द्रव्ये' द्रव्यतस्तृण-डगलानि, आदिशब्दात् क्षार-मल्लकादीनि च । क्षेत्रतः "अच्छणं" ति स्वाध्यायादिहेतोः प्राङ्गणादिप्रदे- 20 शेऽवस्थानम्, तथा भाजनानाम् आदिग्रहणादाचार्यादिसत्कमलिनवस्त्राणां धावनं–प्रक्षालनं च प्रतिश्रयाद् बहिर्विधीयते । कालतो रात्रौ दिवा वा अवेलायामुच्चारस्य प्रश्रवणस्य वा व्युत्सर्जनम् । भावतो ग्लानस्यापरस्य वा प्राघूर्णकादेर्निवात-प्रवाताद्यवकाशस्थापनेन समाधिसम्पादनम् इत्युक्ते यद्यनुजानाति ततः सुन्दरम् । अथ ब्रूयात्—'मया युष्मभ्यं वसतिरेव दत्ता, अहमन्यद् युष्मदीयं प्रायोग्यं न जानामि' ततो यः प्राग् भोजनदृष्टान्त उद्दिष्टः स उपदर्श्यते—"कूरुव- 25 मे"ति कूरः–भक्तं तस्योपमा । यथा केनचित् कस्यापि पार्श्वे कूरः प्रार्थितः, तेन च दत्तः, ततस्तस्य स्नाना-ऽऽसन-भाजनोपढौकना-ऽवगाहिम-सूप-नानाविधव्यञ्जनादीन्यपि दीयन्ते; एवं भवताऽपि वसतिं प्रयच्छता सर्वमपि प्रायोग्यं दत्तमेव भवति, परं तथापि वयं भवन्तं भूयोऽपि तृतीयव्रतभावनामनुवर्त्तयन्तोऽनुज्ञापयामः । एवमुक्ते स सर्वमपि प्रायोग्यमनुजानीयात् ततो यत्र यद् उच्चारादिव्युत्सर्जनमनुज्ञातं तत् तत्र विधेयम् ॥ १४९९ ॥ यत आह—　30

उच्चारे पासवणे, लाउअनिल्लेवणे य अच्छणए ।

---

१ "कलिंचि त्ति तणपूलिया" इति **विशेषचूर्णौ** ॥ २ गाथेयं **विशेषचूर्णिकृता** "जं जं तु०" १४९७ गाथायाः प्राग् व्याख्याताऽस्ति ॥

करणं तु अणुन्नाए, अणणुन्नाए भवे लहुओ ॥ १५०० ॥

उच्चारस्य प्रस्रवणस्य 'अलाबुनिर्लेपनस्य' पात्रप्रक्षालनस्य "अच्छणए" त्ति स्वाध्यायार्थमव-स्थानस्य गाथायां षष्ठ्यर्थे सप्तमी 'करणं' समाचरणं शय्यातरेणानुज्ञाते प्रदेशे कर्त्तव्यम् । अथा-ननुज्ञाते अवकाशे उच्चारादिकं करोति तदा लघुको मास इति ॥ १५०० ॥

5 गतं भोजनद्वारम् । अथ कियच्चिरं कालमिति द्वारम्—यदि शय्यातरः प्रश्नयति 'कियन्तं कालं यूयं स्थास्यथ?' ततो वक्तव्यम्—

जाव गुरूण य तुब्भ य, केवइया तत्थ सागरेणुवमा ।
केवइ कालेणेहिह, सागार ठवंति अन्ने वि ॥ १५०१ ॥

यावद् गुरूणां युष्माकं च प्रतिभाति तावदवस्थास्यामः, परं निर्व्याघाते मासमेकं व्याघाते तु
10 हीनमधिकं वा वयमेकत्र तिष्ठामः । अथ 'मासमेव स्थास्यामः' इति निर्द्धारितं भणति ततो मास-लघु । अथासौ प्रश्नयेत् 'कियन्तो यूयं तिष्ठथ ?' ततो वक्तव्यम्—"सागरेणुवम" त्ति सागरः—समुद्रस्तेनोपमा—यथा समुद्रः कदाचित् प्रसरति कदाचिच्चापसरति, एवमाचार्या अपि कदा-चिद् दीक्षामुपसम्पदं वा प्रतिपद्यमानैः साधुभिः परिवारतः प्रसर्पन्ति कदाचित् तेष्वेवान्यत्र गतेष्वपसर्पन्ति, अत इयन्त इति सङ्ख्यानं कर्तुं न शक्यते । यस्तु 'एतावन्तो वयम्' इति निश्चितं
15 ब्रूते तस्य मासलघु । अथासौ पृच्छति कियता कालेन 'एष्यथ' आगमिष्यथ ? ततः 'साकारं' सविकल्पं वचनं 'स्थापयन्ति' ब्रुवते इत्यर्थः । यथा—अन्येऽपि क्षेत्रप्रत्युपेक्षका अपरासु दिक्षु गताः सन्ति ततस्तैर्निवेदिते यदा गुरूणां विचारे समेष्यति तदा व्याघाताभावे इयत्सु दिवसेषु गतेषु व्याघाते तु हीने अधिके वा काले वयमेष्याम इति । यः पुनः 'इयता कालेनागमिष्यामः' इति ब्रवीति[1] तस्य मासलघु ॥ १५०१ ॥

20 **पुव्वद्दिट्ठेविच्छइ, अहव भणिज्जा हवंतु एवइआ ।**
तत्थ न कप्पइ वासो, असई खेत्तस्सऽणुन्नाओ ॥ १५०२ ॥

अथासौ 'पूर्वदृष्टान्' यैः प्राग् मासकल्पो वर्षावासो वा कृत आसीत् तानेवेच्छति नान्यान्, भणति च—ये साधवो मया दृष्टपूर्वास्तेषामहं शीलसमाचारं सर्वमपि जानामि अतस्त एवेह समानेतव्या न शेषाः; अथवा भणेत्—ये वा ते वा साधवो भवन्तु परमेतावन्त एवात्र तिष्ठन्तु
25 तत्र किं कर्त्तव्यम् ? इत्याह—'तत्र' एवं शय्यातरेण निर्द्धारिते सति 'न कल्पते वासः' न युज्यते तस्यां वसताववस्थातुमिति भावः । अथ नास्त्यपरं मासकल्पप्रायोग्यं क्षेत्रं तत इतरस्या वसतेरलाभे तस्यामेव वसतौ वासोऽनुज्ञातः ॥ १५०२ ॥

तत्र च वसतां यदि प्राघूर्णकः समागच्छति ततः को विधिः ? इत्याह—

सक्कारो सम्माणो, भिक्खग्गहणं च होइ पाहुणए ।
30 **जइ वसइ जाणओ तहिँ, आवज्जइ मासियं लहुगं ॥ १५०३ ॥**

'सत्कारः' वन्दना-ऽभ्युत्थानादिः 'सम्मानः' विश्रामणादिः 'भिक्षाग्रहणम्' उपविष्टस्य भिक्षाया आनयनम्, एतत् सर्वमपि प्राघूर्णके आगते सति कर्त्तव्यम् । यदि वसतिर्येषां तेषां वा परि-

१ ब्रूयात् तस्य भा० ॥

मितानां साधूनां दत्ता तदा यावन्तः प्राघुणकाः समायातास्तावतो वास्तव्यानन्यत्र विसर्ज्य प्राघुणकाः स्थाप्यन्ते । अथ नामग्राहं गृहीत्वा नियमितानामेव साधूनां सा दत्ता ततः प्राघुणकस्य वसतिस्वरूपं निवेद्यते । निवेदिते च यदि 'ज्ञोऽपि' वसतिस्वरूपं जानानोऽपि तत्र वसति तदा आपद्यते मासिकं लघुकम् ॥ १५०३ ॥ ततः—

किइकम्म भिक्खगहणे, कयम्मि जाणाविओ बहिं वसइ । 5
हिय-नट्ठेसुं संका, सुण्हा उब्भाम वोच्छेदो ॥ १५०४ ॥

'कृतिकर्मणि' विश्रामणादौ भिक्षाग्रहणे च कृते सति वसतिस्वरूपं ज्ञापितः सन् रात्रौ बहिर्वसति । यदि ज्ञापितोऽपि सन् बहिर्न व्रजति तदा सागारिकस्य केनचिच्चौरादिना हृते नष्टे च एवमेवादृश्यमाने कस्मिंश्चिद् वस्तुनि शङ्का भवेत्—नूनं यदद्यामुकं वस्तु न दृश्यते तदेतेषां यः प्राघुणको रात्रावुषित्वा प्रतिगतः तेन हृतं भविष्यति । 'स्नुषा वा' वधू रात्रावुद्भ्रामकेण सह 10 गता भवेत् तत्रापि यदि प्राघुणकस्य शङ्कां सागारिकः करोति तदा तद्द्रव्या-ऽन्यद्रव्याणां व्यवच्छेदो भवेत् ॥ १५०४ ॥ एवं वसतौ लब्धायां किं विधेयम् ? इत्याह—

महास्थण्डिलस्य प्रतिलेखना

पडिलेहियं च खेत्तं, थंडिलपडिलेहऽमंगले पुच्छा ।
गामस्स व नगरस्स व, सियाणकरणं पढम वत्थुं ॥ १५०५ ॥

यदा क्षेत्रं सम्यक् प्रत्युपेक्षितं भवति तदा 'महास्थण्डिलं' शवपरिष्ठापनभूमिलक्षणं प्रत्युपेक्ष- 15 णीयम् । "अमंगले पुच्छ" त्ति नोदकः पृच्छति—भगवन् ! यूयं तिष्ठन्त एव किमेवममङ्गलं कुरुथ ? । सूरिराह—ग्रामस्य वा नगरस्य वा "सियाणकरणं" श्मशानस्थापनायोग्यं 'प्रथमम्' आद्यं वास्तु प्रत्युपेक्ष्यत इति वाक्यशेषः । इयमत्र भावना—ग्राम-नगरादीनां तत्प्रथमतया निवेश्यमानानां वास्तुविद्यानुसारेण प्रथमं श्मशानवास्तु निरूप्य ततः शेषाणि देवकुल-सभा-सौधादिवास्तूनि निरूप्यन्ते, लोके तथादृष्टत्वात्, न च तदमाङ्गलिकम्, एवमत्रापि महास्थ- 20 ण्डिलं प्रथमं प्रत्युपेक्ष्यमाणमस्माकं नामाङ्गलिकं भवतीति ॥ १५०५ ॥

तच्च कस्यां दिशि प्रत्युपेक्षणीयम् ? उच्यते—

दिस अवरदक्खिणा दक्खिणा य अवरा य दक्खिणापुव्वा ।
अवरुत्तरा य पुव्वा, उत्तर पुव्वुत्तरा चेव ॥ १५०६ ॥

प्रथमतो महास्थण्डिलप्रत्युपेक्षणविषया अपरदक्षिणा दिक् । अथ तस्यां नदी-क्षेत्रा-ऽऽरामा- 25 दिर्व्याघातः ततो दक्षिणा । तस्या अभावे अपरा । तदलाभे दक्षिणपूर्वा । तदसत्त्वे अपरोत्तरा । तस्या अप्यप्राप्तौ पूर्वा । तस्या असम्भवे उत्तरा । उत्तरस्या अभावे पूर्वोत्तरा दिग् मन्तव्या ॥ १५०६ ॥ अथासामेव गुण-दोषविचारणामाह—

पउरन्न-पाण पढमा, बीयाए भत्त-पाण न लहंति ।
तइयाइ उवहिमाई, चउत्थी सज्झाय न करिंति ॥ १५०७ ॥ 30
पंचमियाएँ असंखड, छट्ठीएँ गणस्स भेयणं जाण ।
सत्तमिया गेलन्नं, मरणं पुण अट्ठमीए उ ॥ १५०८ ॥

'प्रथमा' अपरदक्षिणा दिक् प्रचुरान्न-पाना भवति, तस्यां प्रत्युपेक्ष्यमाणायां प्रचुरमन्न-पानं

प्राप्यत इत्यर्थः । यदि तस्यां सत्यां 'द्वितीयां' दक्षिणां प्रत्युपेक्षन्ते ततो भक्त-पानं न लभन्ते । अथ प्रथमायां कोऽपि व्याघातस्ततो द्वितीयामपि प्रत्युपेक्षमाणाः शुद्धाः । एवमुत्तरास्वपि दिक्षु भावनीयम् । तथा तृतीयस्यां "उवहिमाइ" त्ति उपधिः—वस्त्र-पात्रादिकः स्तेनैरपह्रियते, तस्मिँश्चा-पहृते तृणग्रहणा-ऽग्निसेवनादयो दोषाः । चतुर्थ्यां 'स्वाध्यायं न कुर्वन्ति' स्वाध्यायः कर्त्तव्यो न 5 भवतीत्यर्थः ॥ १५०७ ॥

पञ्चम्याम् 'असङ्खडं' कलहः साधूनां भवति । षष्ठ्यां 'गणस्य' गच्छस्य 'भेदनं' द्वैधीभवनं जानीहि । सप्तमी 'ग्लान्यं' ग्लानत्वं साधूनां जनयति । अष्टम्यां पुनर्मरणमपरस्य साधोरुपजायते ॥ १५०८ ॥ अमुमेव गाथाद्वयोक्तमर्थमेकगाथया प्रतिपादयति—

समाही य भत्त-पाणे, उवगरणे तुमंतुमा य कलहो उ ।
10 **भेदो गेलन्नं वा, चरिमा पुण कड्डए अन्नं ॥ १५०९ ॥**

प्रथमायां भक्त-पानलाभेन साधूनां समाधिराविर्भवति । द्वितीयायां भक्त-पानं न लभन्ते । तृतीयायामुपकरणमपह्रियते । चतुर्थ्यामेकः साधुरपरं भणति—त्वमेवमपराधं कृतवान्, अपरो ब्रूते—न मया अपराद्धं त्वमेवेदं विनाशितवानित्येवं तुमंतुमा भवति, तस्याः करणेन स्वाध्यायो न भवतीति भावः । पञ्चम्यां 'कलहः' भण्डनम् । षष्ठ्यां 'भेदः' गच्छस्य द्वैधीभावः । सप्तम्यां 15 ग्लानत्वम् । 'चरमा' अष्टमी पुनरन्यं साधुं 'कर्षति' पञ्चत्वं प्रापयतीत्यर्थः ॥ १५०९ ॥

एक्केक्कम्मि उ ठाणे, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया ।
आणाइणो अ दोसा, विराहणा जा जहिं भणिया ॥ १५१० ॥

एकैकस्मिन् स्थाने यथोक्तक्रममन्तरेण दक्षिणादीनां दिशां प्रत्युपेक्षणे चत्वारो मासा अनु-द्धाताः प्रायश्चित्तं भवन्ति, आज्ञादयश्च दोषाः, 'विराधना' भक्त-पानालाभोपधिहरणादिका या 20 यत्र भणिता सा तत्र द्रष्टव्या ॥ १५१० ॥

एतेन विधिना यदा क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं भवति तदा किमपरं भवति ? इत्याह—

पडिलेहियं च खेत्तं, अह य अहालंदियाण आगमणं ।
नत्थि उवस्सयवालो, सव्वेहि वि होइ गंतव्वं ॥ १५११ ॥

एकतो गच्छवासिभिः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं भवति, अथात्रान्तरे यथालन्दिकानामागमनं भवति, 25 ते हि सूत्रार्थपौरुष्यावहापयन्तस्तृतीयपौरुष्यां विहारं कुर्वन्तो गच्छवासिभिः क्षेत्रे प्रत्युपेक्षिते समायान्ति, तेषां च नास्ति तत्र क्षेत्रे स्थापनयोग्य उपाश्रयपालः, जनद्वयस्यैवागमनादिति कृत्वा सर्वैरपि भवति गन्तव्यम् ॥१५११॥ अथ ते यथालन्दिकाः कथं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षन्ते ? उच्यते—

गच्छवासियथालन्दकृते क्षेत्रप्रत्युपेक्षणम्

पुच्छिय रुइयं खेत्तं, गच्छे पडिबद्ध बाहि पेहिंति ।
जं तेसिं पाउग्गं, खेत्तविभागे य पूरिंति ॥ १५१२ ॥

30 ये गच्छप्रतिबद्धा यथालन्दिकास्तैर्गच्छवासिनः पृष्टाः—आर्याः ! अभिरुचितं क्षेत्रं न वा ? इति । ततो गच्छवासिनः प्राहुः—अभिरुचितम् । ततो यथालन्दिका गच्छवासिप्रत्यु-(ग्रन्थाग्रम्—७०००) पेक्षितस्य क्षेत्रस्य "बाहिं" ति सक्रोशयोजनाद् बहिः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षन्ते । कथम् ?

१ °सम्यां ग्ला° भा० विना ॥ २ °लः, एकाकिनः स्थातुं विहर्तुं वा न कल्पत इति कृ° भा० ॥

इत्याह—यत् 'तेषां' यथालन्दिकानां 'प्रायोग्यं' कल्पनीयमलेपकृतं भक्त-पानं परिकर्मरहिता च वसतिस्तदेव गृह्णन्ति, 'क्षेत्रविभागाश्च' षड्वीथीरूपास्तानपि पूरयन्ति ॥ १५१२ ॥

जं पि न वच्चंति दिसिं, तत्थ वि गच्छेल्लगा सिं पेहंति ।
पग्गहियएसणाए, विगई-लेवाडवज्जाइं ॥ १५१३ ॥

यामपि दिशं यथालन्दिका न व्रजन्ति 'तत्रापि' तस्यामपि दिशि गच्छवासिनः क्षेत्रप्रत्युपे- 5 क्षकाः 'तेषां' यथालन्दिकानां योग्यं स्वप्रत्युपेक्षितक्षेत्रस्य सक्रोशयोजनाद् बहिः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षन्ते । कथम्? इत्याह—प्रगृहीतया–साभिग्रहया तृतीयपौरुष्यामुपरितनैषणापञ्चकस्यान्यतरयैषणया विकृति-लेपकृतवर्जे भक्त-पाने गृह्णन्ति, घृतादिका विकृतीस्तक्र-तीमनादिकं द्राक्षापानादिकं च लेपकृतं वर्जयन्तीत्यर्थः ॥ १५१३ ॥

जइ तिन्नि सव्वगमणं, एहामु त्ति लहुओ य आणाई । 10
परिकम्म कुड्डकरणं, नीहरणं कट्ठमाईणं ॥ १५१४ ॥

यदि ते गच्छवासिनस्त्रयो जनास्ततः सर्वेषामपि गुरुसकाशे गमनम् । ते च गच्छन्तो यदि सागारिकेण पृच्छ्यन्ते 'किं यूयमागमिष्यथ न वा?' ततो यदि 'एष्यामः' आगमिष्याम इति निर्वचनमर्पयन्ति ततो लघुको मासः आज्ञादयश्च दोषाः । शय्यातरश्चिन्तयति—'यदेते एष्याम इत्युक्त्वा प्रतिगतास्तद् नूनमागमिष्यन्ति' इति परिभाव्य 'परिकर्म' उपलेपनादिकं वसतेः 15 कुर्यात्, कुड्यस्य वा जीर्णस्योपलक्षणत्वात् कपाटस्य वा करणं–संस्थापनं विदध्यात्, काष्ठानाम् आदिग्रहणात् तृणानां धान्यस्य वा 'नीहरणं' निष्काशनं कुर्यात् ॥ १५१४ ॥

यद्वा तेषामाचार्याणामपरं किमपि क्षेत्रमभिरुचितं ततस्तत्र गताः, तत्र च क्षेत्रेऽपरे साधवः समायाताः ततः किम्? इत्याह—

अद्धाणनिग्गयाई, असिवाइ गिलाणओ अ जो जत्थ । 20
णेहामो त्ति य लहुओ, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥ १५१५ ॥

अध्वा–विप्रकृष्टो मार्गस्ततो निर्गताः–निष्क्रान्ता अशिवादिभिर्वा कारणैः प्रेरिताः परिश्रान्तास्ते साधवस्तत्रायाताः । तत्र चान्या वसतिर्नास्ति, सैव प्राचीनसाधुप्रत्युपेक्षिता वसतिस्तैर्याचिता । सागारिको ब्रूते—मयेयमन्येषां साधूनां दत्ताऽस्ति, तेऽप्येष्याम इति भणित्वा गताः सन्ति, अतो नाहं दातुमुत्सहे । एवं ते वसतिमलभमानाः श्वापद-स्तेन-कण्टकैः शीतेन वा प्रार- 25 भ्यमाणाः प्रतिगमनादीनि कुर्युः, ग्लानो वा यस्तेषां सह विहारं कार्यमाणो यत्र यत् परितापनादिकं प्राप्नोति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । यतश्चैवमतः 'एष्यामः' इति न वक्तव्यम् । 'न एष्यामः' इत्यपि वदतां मासलघु, तत्राप्याज्ञादयो दोषाः ॥ १५१५ ॥ अपरे चेमे—

वक्कइअ विकएण व, फेडण धन्नाइछुभणमावासे ।
नीणिंते अहिकरणं, विराहणा हाणि हिंडंते ॥ १५१६ ॥ 30

'नागमिष्यन्ति साधवः' इति कृत्वा 'वक्रयिता' वक्रयेण–भाटकेन दत्ता सा वसतिः, विक्रयेण वा दत्ता विक्रीतेत्यर्थः; स्फेटनं वा वसतेः कृतम्, धान्यस्य आदिशब्दाद् भाण्डस्यान्यस्य वा उपकरणजातस्य क्षेपणं तस्यां कृतम्, चटुक-चारणादयो वा तत्र शय्यातरेणावासिताः, तेषां चाचा-

र्याणां तदेव क्षेत्रमभिरुचितं ततस्तत्रैव समागताः । स प्राह—युष्माकं साधुभिरिति कथितं 'वयं नैष्यामः' ततो मयेयमन्येषां दत्ता धान्यादीनां वा भृता । ततो यथाभद्रकोऽसौ सागारिकस्तान् बटुकादीन् निष्काशयति, ततस्तेषु निष्काश्यमानेषु 'अधिकरणं' पृथिव्याद्युपमर्दनम् । यच्च ते प्रद्विष्टाः सागारिकस्य साधूनां वा करिष्यन्ति तन्निष्पन्नम् । वसतिं वा विना 'हिण्डमा-5नानाम्' इतस्ततः पर्यटतां या संयमादिविराधना या च सूत्रार्थयोः परिहाणिस्तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तम् । तस्मान्न वक्तव्यं 'नैष्यामः' इति ॥ १५१६ ॥ किं पुनस्तर्हि वक्तव्यम् ? उच्यते—

जह अम्हे तह अन्ने, गुरु-जेट्ठमहाजणस्स अम्हे मो ।
पुव्वभणिया उ दोसा, परिहरिया कुड्डमाईया ॥ १५१७ ॥

यथा वयमत्रागतास्तथा अन्येऽपि साधवस्तिसृषु दिक्षु गताः सन्ति ततो न जानीमः कीदृशं 10क्षेत्रं तैः प्रत्युपेक्षितमस्ति ? । अस्माकं तावदिदं क्षेत्रमभिरुचितम्, परं गुरवश्च—आचार्या ज्येष्ठमहाजनश्च—ज्येष्ठार्यसाधुसमुदायो गुरु-ज्येष्ठमहाजनं तस्य वयम् 'मो' इति पादपूरणे परतन्त्रा वर्त्तामहे इति वाक्यशेषः । ततस्तत्रगतानां गुरूणां ज्येष्ठार्याणां वा यद् विचारे समेष्यति तद् विधास्यामः । एवंब्रुवाणैः 'पूर्वभणिताः' कुड्यकरणादयो दोषाः परिहृताः ॥ १५१७ ॥

इत्थमुक्त्वा सागारिकमापृच्छ्य ते किं कुर्वन्ति ? इत्याह—

15 **जइ पंच तिन्नि चत्तारि छसु सत्तसु य पंच अच्छंति ।**
चोयगपुच्छा सज्झायकरण वच्चंत-अच्छंते ॥ १५१८ ॥

यदि ते पञ्च जनास्ततस्त्रयस्तत्रैवासते द्वौ गुरुसकाशं गच्छतः । अथ षड् जनास्ततश्चत्वारस्तिष्ठन्ति द्वौ गुरूणामभ्यर्णे व्रजतः । अथ सप्त जनाः ततः पञ्च तत्रैवासते द्वौ गुरूणामुपकण्ठे गच्छतः । यदि च ऋजुः पन्थाः सव्याघातस्ततोऽपरं पन्थानं प्रत्युपेक्षन्ते । नोदकः पृच्छति—20ये ते गुरुसकाशं व्रजन्ति ये च ते उपाश्रये आसते ते उभयेऽपि किं स्वाध्यायं कुर्वते वा न वा ? ॥ १५१८ ॥ उच्यते—

वच्चंतकरण अच्छंतअकरणे लहुओ मासो गुरुओ उ ।
जावइकालं गुरुणो, न इंति सव्वं अकरणाए ॥ १५१९ ॥

ये तावद् व्रजन्ति ते यदि सूत्रपौरुषीं कुर्वन्ति ततो मासलघु, अर्थपौरुषीं कुर्वन्ति मासगुरु । 25ये तूपाश्रये तिष्ठन्ति तेषां सूत्रपौरुष्या अकरणे लघुको मासः, अर्थपौरुष्या अकरणे गुरुको मासः । यावत्कालं गुरूणां समीपे[1] 'नायान्ति' न प्राप्नुवन्ति तावत् "सव्वं अकरणाए" त्ति सर्वमपि—सूत्रमर्थं च न कुर्वन्ति ॥ १५१९ ॥ इदमेव सविशेषमाह—

जइ वि अणंतर खेत्तं, गयाओ तह वि अगुणंतगा एंति ।
नियया॰ई मा गच्छे, इतरत्थ य सिज्जवाघाओ ॥ १५२० ॥

30 यद्यपि 'अनन्तरम्' अव्यवहितमेव क्षेत्रं गतास्तथापि 'अगुणयन्तः' सूत्रार्थावकुर्वन्त आयान्ति । कुतः ? इत्याह—नित्यवासादयो दोषा गच्छस्य मा भूवन्, 'इतरत्र च' प्रत्युपेक्षिते क्षेत्रे चिरकालं विलम्ब्यागच्छतां शय्यायाः—उपाश्रयस्य व्याघातो मा भूत् ॥ १५२० ॥

---

१ समीपं भा॰ त॰ डे॰ ॥ २ 'न या° मो॰ ले॰ ॥

यत एवमतोऽगुणयन्तः समागम्य ते इदं कुर्वन्ति—

ते पत्त गुरुसगासं, आलोएंती जहकमं सव्वे ।
चिंता वीमंसा या, आयरियाणं समुप्पन्ना ॥ १५२१ ॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैः प्रत्युपेक्षितस्य क्षेत्रस्य आचार्याणां समक्षं निवेदनम्

'ते' क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः प्राप्ताः सन्तो गुरुसकाशमालोचयन्ति यथाक्रमं सर्वेऽपि क्षेत्रस्वरूपम् । ततस्तेषामालोचनां श्रुत्वा 'चिन्ता' 'कस्यां दिशि व्रजामः?' इत्येवंलक्षणा 'मीमांसा च' शिष्या-5 भिप्रायविचारणा आचार्याणां समुत्पन्ना ॥ १५२१ ॥ [1]अथैनामेव गाथां भावयति—

गंतूण गुरुसगासं, आलोएत्ता कहिंति खेत्तगुणे ।
न य सेसकहण मा होज्ज ऽसंखडं रत्ति साहंति ॥ १५२२ ॥

गत्वा गुरूणां सकाशमालोच्य गमनागमनातिचारं कथयन्ति क्षेत्रगुणान् । ते चाचार्यान् विमुच्य 'न च' नैव शेषाणां साधूनां कथयन्ति । कुतः? इत्याह—मा भूद् असङ्खडं स्वस्वक्षे-10 त्रपक्षपातसमुत्थम् । यद्यन्येषां कथयन्ति तदा मासलघु । तस्माद् रात्रौ "साहंति" त्ति कथयन्ति ॥ १५२२ ॥ कथम्? इति चेद् उच्यते—आचार्या आवश्यकं समाप्य मिलितेषु सर्वेष्वपि साधुषु पृच्छन्ति—आर्याः! आलोचयत कीदृशानि क्षेत्राणि? । तत उत्थाय गुरूनभिवन्द्य बद्धाञ्जलयो यथाज्येष्ठमालोचयन्ति—

पढमाएँ नत्थि पढमा, तत्थ य घय-खीर-कूर-दधिमाई । 15
बिइयाएँ बीय तइयाएँ दो वि तेसिं च धुव लंभो ॥ १५२३ ॥
ओभासिय धुव लंभो, पाउग्गाणं चउत्थिए नियमा ।
इहरा वि जहिच्छाए, तिकाल जोगं च सव्वेसिं ॥ १५२४ ॥

'प्रथमायां' पूर्वस्यां दिशि यद् अस्माभिः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं तत्र 'प्रथमा' सूत्रपौरुषी नास्ति, तस्यामेव भिक्षाटनवेलासम्भवात्, परं तत्र क्षेत्रे घृत-क्षीर-कूर-दध्यादीनि प्रकामं प्राप्यन्ते ।20 द्वितीयाः क्षेत्रप्रत्युपेक्षका ब्रुवते—द्वितीयस्यां दिशि 'द्वितीया' अर्थपौरुषी नास्ति, तस्यामेव भिक्षा-टनवेलाभावात्, घृत-दुग्ध-दध्यादीनि तु तथैव लभ्यन्ते । तृतीया ब्रुवते—तृतीयस्यां दिशि 'द्वे अपि' सूत्रार्थपौरुष्यौ विद्येते, मध्याह्ने भिक्षालाभसद्भावात्, तेषां च घृत-दुग्धादीनां 'ध्रुवः' निश्चितो लाभ इति ॥ १५२३ ॥ तथा—

चतुर्थाः पुनरित्थमाहुः—अस्मत्प्रत्युपेक्षितायां चतुर्थ्यां दिशि प्रायोग्याणामवभाषितानां 25 'ध्रुवः' अवश्यम्भावी लाभः । 'इतरथाऽपि' अवभाषणमन्तरेणापि 'यदृच्छया' प्रकामं 'त्रिकालं' पूर्वाह्न-मध्याह्ना-ऽपराह्नलक्षणे कालत्रये 'सर्वेषामपि' बाल-वृद्धादीनां 'योग्यं' सामान्यं भक्त-पानं प्राप्यते ॥१५२४॥ इत्थं सर्वैरपि स्वस्वक्षेत्रस्वरूपे निवेदिते सत्याचार्याश्चिन्तयन्ति—कस्यां दिशि गन्तुं युज्यते? । ततः स्वयमेवाद्यानां तिसृणां दिशां सूत्रार्थहान्यादिदोषजालं परिभाव्य चतुर्थीं दिशमनन्तरोक्तदोषरहितत्वेन गन्तव्यतया विनिश्चित्य किं कुर्वन्ति? इत्याह— 30

इच्छागहणं गुरुणो, कत्थ वयामो त्ति तत्थ ओअरिया ।
खुड्डिया भणंति पढमं, तं चिय अणुओगतत्तिल्ला ॥ १५२५ ॥

---

१ तत्र यथा ते आलोचयन्ति तथा प्रतिपादयति इत्यवतरणं भा० प्रतौ ॥ २ कहिँ च° ता० ॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैर्निवेदितेषु क्षेत्रेषु गन्तव्यक्षेत्रस्य निर्णयः

बिइयं सुत्तग्गाही, उभयग्गाही य तइयगं खेत्तं ।
आयरिओ उ चउत्थं, सो उ पमाणं हवइ तत्थ ॥ १५२६ ॥

'गुरोः' आचार्यस्य 'इच्छाग्रहणं' शिष्याणामभिप्रायपरीक्षणं भवति—आर्याः ! कथयत 'कुत्र' कस्यां दिशि व्रजामः ? इति । ततो ये 'औदरिकाः' स्वोदरभरणैकचित्तास्ते 'क्षुभिताः' सम्भ्रान्ताः 5 सन्तो भणन्ति—प्रथमां दिशं व्रजामो यत्र प्रथमपौरुष्यामेव प्रकामं भोजनमवाप्यते । तामेव दिशं "अणुओगततिल्ल" त्ति अनुयोगग्रहणैकनिष्ठाः शिष्या गन्तुमिच्छन्ति, येन द्वितीयपौरुष्यां निर्व्याघातमर्थग्रहणं भवति ॥ १५२५ ॥

ये तु सूत्रग्राहिणस्ते भणन्ति—द्वितीयां दिशं गच्छामः यत्र न सूत्रपौरुषीव्याघात इति । ये तूभयग्राहिणस्ते 'तृतीयं' तृतीयदिग्वर्त्ति क्षेत्रमिच्छन्ति, तत्र हि द्वयोरप्याद्यपौरुष्योर्निर्व्याघातं 10 सूत्रार्थग्रहणे भवतः । आचार्यास्तु चतुर्थं क्षेत्रं गन्तुमिच्छन्ति, यतस्तत्र त्रिष्वपि कालेषु बालवृद्धाद्यर्थं सामान्यभक्तं प्राघूर्णकाद्यर्थं पुनरवभाषितं दुग्धादिकं प्रायोग्यं प्राप्यते, न च कोऽपि सूत्रार्थयोर्व्याघात इति । 'स एव च' आचार्यः 'तत्र' तेषां मध्ये प्रमाणं भवति ॥ १५२६ ॥

आह किं पुनः कारणं येनाचार्याश्चतुर्थक्षेत्रमिच्छन्ति ? इति अत आह—

मोहुब्भवो उ बलिए, दुब्बलदेहो न साहए अत्थं ।
15 **तो मज्झबला साहू, दुट्ठस्से होइ दिट्ठंतो ॥ १५२७ ॥**

प्रथम-द्वितीय-तृतीयेषु क्षेत्रेषु प्रचुरस्निग्ध-मधुराहारप्राप्तेः शरीरेण बलवान् भवति, बलवतश्चावश्यम्भावी मोहोद्भवः । एवं तर्हि यत्र भिक्षा न लभ्यते तत्र गत्वा बुभुक्षाक्षामकुक्षयस्तिष्ठन्तु, नैवम्, दुर्बलदेहः साधुर्न साधयति 'अर्थं' ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपम् । यत एवं ततः 'मध्यबलाः' नातिबलवन्तो न वाऽतिदुर्बलाः साधव इष्यन्ते । दुष्टाश्वश्च भवत्यत्र दृष्टान्तः—'दुष्टाश्वः' 20 गर्दभः, स यथा प्रचुरभक्षणादुद्दर्पितः सन् उत्लुत्य कुम्भकारारोपितानि भाण्डानि भिनत्ति, भूयस्तेनैव कुम्भकारेण निरुद्धाहारः सन् भाण्डानि वोढुं न शक्नोति; स एव च गर्दभो विमध्यमाहारक्रियया प्रतिचर्यमाणः सम्यग् भाण्डानि वहति । एवं साधवोऽपि यदि स्निग्ध-मधुराभ्यवहारतः शरीरोपचयभाजो भवन्ति, तत उत्पन्नदुर्निवारमोहोद्रेकतया संयमयोगान् बलादुपमृद्नु(द्नी)युः, आहाराभावे त्वतिक्षामवपुषः सन्तः संयमयोगान् वोढुं न शक्नुयुः; मध्यमबलोपेतास्तु व्यपगतौ- 25 त्सुक्या अनुद्विग्नपरिणामाः सुखेनैव संयमयोगान् वहन्तीति मत्वा क्षेत्रत्रयं परिहृत्याचार्याश्चतुर्थं क्षेत्रं व्रजन्ति ॥ १५२७ ॥ किञ्च—

पणपन्नगस्स हाणी, आरेणं जेण तेण वा धरइ ।
जइ तरुणा नीरोगा, वच्चंति चउत्थगं ताहे ॥ १५२८ ॥

पञ्चपञ्चाशद्वार्षिकस्य मानुषस्य विशिष्टाहारमन्तरेण 'हानिः' बलपरिहाणिर्भवति । "आरेणं" ति 30 पञ्चपञ्चाशतो वर्षेभ्य आरतः वर्तमानो येन वा तेन वा आहारेण 'ध्रियते' निर्वहति । ततो यदि ते साधवस्तरुणास्तथा नीरोगास्ततश्चतुर्थमेव क्षेत्रं व्रजन्ति न शेषाणि ॥ १५२८ ॥

जइ पुण जुण्णा थेरा, रोगविमुक्का व असहुणो तरुणा ।

---

१ °ण्डकानि मो० ले० ॥

ते अणुकूलं खेत्तं, पेसिंति न यावि खग्गूडे ॥ १५२९ ॥

यदि पुनः 'जीर्णाः' पञ्चपञ्चाशद्वार्षिकादय इति भावः, के ते ? 'स्थविराः' वृद्धाः, तथा तरुणा अपि ये रोगेण—ज्वरादिना मुक्तमात्रा अत एव च 'असहिष्णवः' न यदपि तदप्याहार-जातं परिणमयितुं समर्थाः 'तान्' एवंविधान् स्थविर-तरुणान् 'अनुकूलं' प्रायोग्यलाभसम्भवेन हितं 'क्षेत्रं' प्रथमक्षेत्रादिकं गीतार्थमेकं सहायं समर्प्य प्रेषयन्ति सूरयः, 'न चापि' नैव खग्गू- 5 डान् । इहालसाः स्निग्ध-मधुराद्याहारलम्पटाः खग्गूडा उच्यन्ते ॥ १५२९ ॥

आह कियता पुनः कालेन ते वृद्धादयः पुष्टिं गृह्णन्ति ? उच्यते—पञ्चभिर्दिवसैः । तथा च वैद्यकशास्त्रार्थसूचिकामेतदर्थविषयामेव गाथामाह—

एग पणगऽद्धमासं, सट्ठी सुण-मणुय-गोण-हत्थीणं ।
राइंदिएहिँ उ बलं, पणगं तो एक दो तिन्नि ॥ १५३० ॥ 10

क्षीणशरीरस्य शुनः पोष्यमाणस्यैकेन रात्रिन्दिवेन बलमुपजायते । एवं मनुष्यस्य रात्रिन्दिव-पञ्चकेन, गो-बलीवर्दस्यार्द्धमासेन, हस्तिनस्तु क्षीणवपुषः पुष्टिमारोप्यमाणस्य षष्ट्या दिवसैर्बलमु-द्भवति । तत एते वृद्धादयः प्रथमक्षेत्रे पोष्यमाणाः पञ्चकमेकं रात्रिन्दिवानां व्यवस्थाप्यन्ते, ततश्चतुर्थक्षेत्रे नीयन्ते । अथ पञ्चकेनामी न बलं गृहीतवन्तः ततो द्वे पञ्चके, तथापि बलमगृ-ह्णानास्त्रीणि पञ्चकानि व्यवस्थाप्य चतुर्थक्षेत्रे नेतव्याः ॥ १५३० ॥ एवं ते चतुर्थक्षेत्रगमनं 15 निर्णीय शय्यातरमापृच्छ्य क्षेत्रान्तरं सङ्क्रामन्ति तद्विषयं विधिमभिधित्सुराह—

क्षेत्रान्तर-गमनसमये शय्यातर-स्यापृच्छा तत्कारणा-दिकं च

सागारिय आपुच्छण, पाहुडिया जह य वज्जिया होइ ।
के वच्चंते पुरओ, उ भिक्खुणो उदाहु आयरिया ॥ १५३१ ॥

क्षेत्रान्तरं सङ्क्रामद्भिः सागारिकस्याऽऽप्रच्छनं कर्त्तव्यम् । यथा च 'प्राभृतिका' हरितच्छेद-नाद्यधिकरणरूपा वर्जिता भवति तथा विधिना आप्रच्छनीयम् । तथा गच्छतां के पुरतो व्रजन्ति ? 20 किं भिक्षवः ? उताहो आचार्याः ? इति निर्वचनीयम् । एष द्वारगाथासमासार्थः ॥ १५३१ ॥

अथैनामेव विवरीषुराह—

सागारिअणापुच्छण, लहुओ मासो उ होइ नायव्वो ।
आणाइणो य दोसा, विराहण इमेहिँ ठाणेहिं ॥ १५३२ ॥

सागारिकमनापृच्छ्य यदि गच्छन्ति तदा लघुको मासः प्रायश्चित्तं भवति ज्ञातव्यः, आज्ञा- 25 दयश्च दोषाः । विराधना चामीभिः स्थानैः प्रवचनादेर्भवति ॥ १५३२ ॥ तान्येवाह—

सागारिअपुच्छगमणम्मि बाहिरा मिच्छैगमण कयनासी ।
अवस्स वि हिय-नट्ठे, तेणगसंका य जं चऽन्नं ॥ १५३३ ॥

सागारिकमनापृच्छ्य यदि गच्छन्ति ततः सागारिकश्चिन्तयेत्—"बाहिरि"त्ति बाह्या लोकधर्मस्यामी भिक्षवः, यतः— 30

आपुच्छिऊण गम्मइ, कुलं च सीलं च माणिअं होइ ।

---

१ °य-गावि-ह° ता० ॥ २ °गृह्णतश्ची° डे० ॥ ३ °च्छ छेद कयनासी । निहि-साहु-अभिधारण, तेणग° ता० ॥ ४ °च्छ्य गमने सागा° भा० ॥

अभिजाओ त्ति अ भन्नइ, सो वि जणो माणिओ होइ ॥

एष लोकधर्मः । तथा "मिच्छगमण" त्ति 'ये लोकधर्ममपि प्रत्यक्षदृष्टं नावबुध्यन्ते ते कथमतीन्द्रियमदृष्टं धर्ममवभोत्स्यन्ते ?' इति सागारिको मिथ्यात्वं गच्छेत् । तथा 'कृतनाशिनः' कृतघ्ना एते, एकरात्रमपि हि यस्य गेहे स्थीयते तमनापृच्छ्य गच्छतां भवत्यौचित्यपरिहाणिः,
5 किं पुनरमीषामियन्ति दिनानि मम गृहे स्थित्वा युक्तं मामनापृच्छ्य गन्तुम् ? इति । तथा 'अन्यस्य' प्रातिवेश्मिकस्य अपिशब्दात् सागारिकस्य वा हृते नष्टे वा कस्मिंश्चिद् वस्तुनि स्तेनकशङ्का भवेत्—यदमी साधवोऽनापृच्छ्य गतास्तद् नूनमेभिरेव स्तेनितं तद् द्रव्यमिति । "जं चऽन्नं" ति यच्च 'अन्यद्' वसतिव्यवच्छेदादि भवति तदपि द्रष्टव्यम् ॥ १५३३ ॥ तदेवाह—

वसहीए वोच्छेदो, अभिधारिंताण वा वि साहूणं ।
10 पव्वज्जाभिमुहाणं, तेणेहि व संकणा होज्जा ॥ १५३४ ॥

'विप्रलम्भितास्तावदमीभिरेकवारम्, अत ऊर्ध्वं ये [2]केचन संयता इति नाम उद्वहन्ते तेभ्यो वसतिं न प्रदास्यामि' इत्येवं वसतेर्व्यवच्छेदो भवेत्[3]। तथा 'अभिधारयन्तो नाम' ये साधवस्तमाचार्यं मनसिकृत्योपसम्पदः प्रतिपत्त्यर्थं समायातास्ते सागारिकं प्रक्ष्यन्ति—आचार्याः कस्मिन् क्षेत्रे विहृतवन्तः ?; सागारिकः प्राह—यः कथयित्वा व्रजति स ज्ञायते यथा अमुकत्र गत इति, ये
15 तु प्रथमत एव नापृच्छन्ति ते कथं ज्ञायन्ते ?; ततस्तेषामभिधारयतां साधूनाम् 'अहो ! लोकव्यवहारबहिर्मुखा अमी आचार्याः, ततः को नामामीषामुपकण्ठे उपसम्पत्स्यते ?' इति विचिन्त्य [4]स्वगच्छे गणान्तरे वा गमनं भवेदिति वाक्याध्याहारः । स चाचार्यस्तेषां श्रुतवाचना[5]प्रदानादिजन्याया निर्जराया अनाभागी भवति । प्रव्रज्याभिमुखानां वा "तेणेहि" त्ति [6]स्तेनविषया शङ्का भवेत् । किमुक्तं भवति ?—केचिदगारिणः संसारप्रपञ्चविरक्तचेतसस्तदन्तिके प्रव्रज्यां प्रतिपि-
20 त्सवः समायाताः सागारिकं पृच्छन्ति—क्व गता आचार्याः ?; स प्राह—वयं न जानीमः तत्स्वरूपमिति, ततस्तेषामगारिणां शङ्का समुपजायते, यथा—नूनं किमप्यस्य सागारिकस्य चोरयित्वा गतास्ते, अन्यथा किमर्थमेष परिस्फुटमाचार्याणां गमनवृत्तान्तं न निवेदयति ? इति । ततश्च ते प्रव्रज्यामप्रतिपद्यमाना यत् षण्णां जीवनिकायानां विराधनां कुर्वन्ति यच्च बोटिक-निह्नवादिषु व्रजन्ति अपरान् वा प्रव्रजतो विपरिणामयन्ति तन्निष्पन्नमाचार्याणां प्रायश्चित्तम् । यत एवमतः
25 सागारिकमापृच्छ्य गन्तव्यम् ॥ १५३४ ॥ सा च पृच्छा द्विविधा—विधिपृच्छा अविधिपृच्छा च । तत्राविधिपृच्छामभिधित्सुः प्रायश्चित्तं तावदाह—

---

१ °स्य' सागारिकव्यतिरिक्तस्य अपि° भा० ॥ २ केचित् सं° त० डे० ॥ ३ °त्, ततोऽध्वनिर्गतादयो यदवाप्स्यन्ति तन्निष्पन्नम् । 'अभि° भा० । "जं च अद्धाणणिग्गया साहू पाविहिंति तण्णिप्फण्णं" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ ४ मो० ले० विनाऽन्यत्र—इति कृत्वा स्वगच्छे गणान्तरे वा गमनं भवेत् । स चाचा° त० डे० कां० । इति पुनरावृत्तिर्भवेत्, उपसम्पदमप्रतिपद्यैव भूयः स्वगच्छं गणान्तरं वा गच्छेयुरिति भावः । स चाचा° भा० ॥ ५ मो० ले० विनाऽन्यत्र—°नादिजन्या° त० डे० कां० । °नादिप्रदानजन्या° भा० ॥ ६ °षां स्तेनविषया शङ्का भा० ॥

गमनसमयेऽविधिपृच्छा

अविहीपुच्छणें लहुओ, तेसिं मासो उ दोस आणाई ।
मिच्छत्त पुव्वभणियं, विराहण इमेहिँ ठाणेहिं ॥ १५३५ ॥

अविधिप्रच्छने 'तेषाम्' आचार्याणां लघुको मासः, दोषाश्चाज्ञादयः, तथा मिथ्यात्वं 'पूर्वभणितं' प्रागुक्तमेव मन्तव्यम् । विराधना एभिः स्थानैर्भवति ॥ १५३५ ॥ तान्येवाह—

सहसा दट्ठुं उग्गाहिएण सिज्जायरी उ रोविज्जा । 5
सागारियस्स संका, कलहे य सएज्झिखिंसणया ॥ १५३६ ॥

अविधिपृच्छा नाम वस्त्र-पात्राद्युपकरणं विहारार्थमुद्ग्राह्य पृच्छन्ति 'वयमिदानीं विहारं कुर्महे' ततः 'सहसा' अकस्माद् उद्ग्राहितेन उपकरणेन प्रस्थितान् दृष्ट्वा शय्यातरी रुदियात्, तद् दृष्ट्वा सागारिकस्य शङ्का भवेत्—मयि प्रवसति कदाचिदप्यस्या अक्षिणी अश्रुपातं न कुरुतः, अमीषु तु प्रस्थितेष्वित्थमश्रूणि मुञ्चतः, ततो भवितव्यं कारणेनेति[1] । मिथ्यात्वं गच्छेत्, तद्रव्या- 10 ऽन्यद्रव्यव्यवच्छेदादयश्च दोषाः । तथा "सहज्झिय" त्ति प्रातिवेश्मिकी रुदन्तीं शय्यातरीं दृष्ट्वा पश्चात् कलहे समुत्पन्ने खिंसनां कुर्यात्—किमन्यद् भवदीयं दुश्चरितमुद्दीर्यते येन तदानीमाचार्येषु विहारं कर्तुमुद्यतेषु भवत्या रुदितम्, किं वा स आचार्यस्ते पिता भवति येन रोदिषि ? इति ॥ १५३६ ॥

अथानागतमेव पृच्छन्ति 'वयममुकदिवसे गमिष्यामः' तत्राप्यमी दोषाः— 15

हरियच्छेअण छप्पईअथिच्चणं किच्चणं च पुत्ताणं ।
गमणं च अमुगदिवसे, संखडिकरणं विरूवं वा ॥ १५३७ ॥

तानि शय्यातरमानुषाणि 'अद्य साधवो गमिष्यन्ति' इति कृत्वा क्षेत्रादौ न गच्छन्ति । ततो यानि तत्र महान्ति तानि धर्मं शृणुयुः । चेटरूपाणि स्नुषाश्च पुरोहडादिषु हरितच्छेदनं यद्वा परस्परं षट्पदिकानां "थेच्चणं" उपमर्दनं "किच्चणं" ति कर्त्तनं वा विदध्युः, पोतानि—वस्त्राणि 20 तेषां प्रक्षालनं कुर्वीरन् । यद्वा 'अमुकदिवसे गमनं करिष्यामः' इत्युक्ते संयतार्थं सङ्खड्याः करणं भवेत् । तत्र यदि गृह्णन्ति तदाऽऽधाकर्मादयो दोषाः, अगृह्णतां तु प्रद्वेषगमनादयः । "विरूवं" ति 'विरूपम्' अनेकप्रकारं कुड्यधवलनादिकमपरमप्यधिकरणं कुर्युः । यत एते दोषा अतोऽविधिपृच्छा न विधेया ॥ १५३७ ॥ कः पुनः पृच्छायां विधिः ? इत्याह—

जत्तो पाए खेत्तं, गया उ पडिलेहगा ततो पाए । 25 गमनसमये पृच्छाया विधिः
सागारियस्स भावं, तणुइंति गुरू इमेहिं तु ॥ १५३८ ॥

'यतः प्रगे' यतो दिनादारभ्य क्षेत्रप्रत्युपेक्षका गताः 'ततः प्रगे' ततः प्रभृति सागारिकस्य 'भावं' प्रतिबन्धं 'तनूकुर्वन्ति' हानिं प्रापयन्ति 'गुरवः' आचार्या एभिर्वचनैः ॥ १५३८ ॥

तान्येवाह—

उच्छू वोलिंति वइं, तुंबीओ जायपुत्तभंडाओ । 30
वसहा जायत्थामा, गामा पव्वायचिक्खल्ला ॥ १५३९ ॥
अप्पोदगा य मग्गा, वसुहा वि य पक्कमट्टिया जाया ।

---

१ ततश्च साग° भा० ॥ २ °ति, ततश्च तद्र° भा० ॥ ३ यदि वा भा० ॥

अक्कोकंता पंथा, विहरणकालो सुविहियाणं ॥ १५४० ॥

इह पूर्वं शरदादिर्विहारो भवतीत्युक्तम्, अतः शरत्कालमेवाङ्गीकृत्याभिधीयते—इक्षवः 'वोलयन्ति' व्यतिक्रामन्ति 'वृतिं' स्वपरिक्षेपरूपाम्, तुम्ब्यश्च 'जातपुत्रभाण्डाः' समुत्पन्नतुम्बकाः, तथा वृषभा जातस्थामानः, ग्रामाः प्रम्लानचिक्खलाः, अल्पोदकाश्च मार्गाः, वसुधाऽपि च पक्व- 5 मृत्तिका जाता, अन्यैः—पथिकादिभिरुत्क्रान्ताः—क्षुण्णाः पन्थानः सम्प्रति वर्त्तन्ते, अतो विहरणकालः सुविहितानाम्। एतद् गाथाद्वयं शय्यातरस्य शृण्वतो गुरवश्चङ्क्रमणं कुर्वन्तः पठन्ति। ततः शय्यातरो ब्रूयात्—भगवन्! किमिदानीं यूयं गमनोत्सुकाः?। गुरवः प्राहुः—बाढम्, गन्तुकामा वयम्, प्रेषिताश्चास्माभिः क्षेत्रान्तरं प्रत्युपेक्षितुं साधवः। इत्थमन्तराऽन्तरा प्रज्ञाप्यमानानां शय्यातरमानुषाणां व्यवच्छिद्यते स्नेहानुबन्धः ॥ १५३९ ॥ १५४० ॥ ततः—

गमनसमये शय्यातरस्योपदेशदानम् 10

आवासयकयनियमा, कल्लं गच्छामु तो उ आयरिया।
सपरिजणं सागरियं, वाहेउं दिंति अणुसट्ठिं ॥ १५४१ ॥

आवश्यकं—प्रतिक्रमणं तदेवावश्यमनुष्ठेयत्वाद् नियमः स कृतो यैस्ते कृतावश्यकनियमाः। गाथायां प्राकृतत्वादावश्यकशब्दस्य पूर्वनिपातः। "कल्लं गच्छामु" त्ति "वर्त्तमानासन्ने वर्त्तमाना" इति वचनात् 'कल्ये' प्रभाते गमिष्याम इति मत्वा तत आचार्याः 'सपरिजनं' सकुटुम्बं सागा- 15 रिकं व्याहृत्य ददति 'अनुशिष्टिं' धर्मकथां कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १५४१ ॥ ततः—

पव्वज्ज सावओ वा, दंसणसड्ढो जहन्नओ वसहिं।
जोगम्मि वट्टमाणे, अमुगं वेलं गमिस्सामो ॥ १५४२ ॥

स शय्यातरो धर्मकथां श्रुत्वा कदाचित् प्रव्रज्यां प्रतिपद्यते। अथ प्रव्रज्यां प्रतिपत्तुमशक्तस्ततः 'श्रावको भवति' देशविरतिं प्रतिपद्यते। अथ तामप्यङ्गीकर्तुमक्षमस्ततः 'दर्शनश्राद्धः' 20 अविरतसम्यग्दृष्टिर्भवति। अथ दर्शनमप्युररीकर्त्तुं नोत्सहते ततो जघन्यतोऽवश्यन्तया वसतिं साधूनां यथा ददाति तथा प्रज्ञाप्यते। भूयोऽपि धर्मकथां समाप्याचार्या ब्रुवते—योऽसौ योगो गमनायास्मान् प्रेरयति तस्मिन् वर्त्तमाने सति "अमुगं वेलं" ति सप्तम्यर्थे द्वितीया अमुकस्यां वेलायां गमिष्यामः। इत्थं विकालवेलायां कथयित्वा प्रत्युषसि व्रजन्ति ॥१५४२॥ कथम्? इत्याह—

क्षेत्रान्तरे गमनम् 25

तदुभय सुत्तं पडिलेहणा य उग्गयमणुग्गए वा वि।
पडिच्छाहिगरण तेणे, नट्ठे खग्गूड संगारो ॥ १५४३ ॥

'तदुभयं' सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कृत्वा व्रजन्ति। अथ दूरं क्षेत्रं गन्तव्यं ततः सूत्रपौरुषीं कृत्वा। अथ दूरतरं ततः पादोनप्रहरे पात्रप्रत्युपेक्षणां कृत्वा। अथ दूरतमं तत उद्गतमात्रे सूर्ये। अथातिदवीयान् मार्गो गन्तव्यः गच्छश्च तृषादिभिराक्रान्त उत्सूरे न शक्नोति गन्तुं ततोऽनुद्गते सूर्ये प्रचलन्ति। "पडिच्छ" त्ति निशि निर्गता उपाश्रयाद् बहिः परस्परं प्रतीक्षन्ते। अन्यथा ये 30 पश्चान्निर्गच्छन्ति ते न जानन्ति 'केनापि मार्गेण गताः साधवः?' ततो महता शब्देनाप्रेतनान् साधून् व्याहरेयुः, ततश्च 'अधिकरणम्' अप्कायवधवाहन-वणिग्ग्रामान्तरगमनादि भवति।

१ °नाम्। इत्थमुक्ते शय्यातरो ब्रूयात् भा० ॥ २ °त्ति ते साधव उपाश्रयाद् बहिर्निर्गताः परस्परं भा० ॥

"[1]तेणे नट्ठे" त्ति ते पाश्चात्यसाधवोऽप्रेतनानां 'नष्टाः' स्फिटिताः सन्तः स्तेनकैरुपद्रूयेरन् अतः प्रतीक्षणीयम् । "खग्गूड" त्ति कश्चित् खग्गूडः—निद्रालुः उपलक्षणत्वात् कश्चिद्वा धर्मश्रद्धालुरिदं ब्रूते—'न कल्पते साधूनां रात्रौ विहर्तुम्' इति तस्य "संगारो" त्ति सङ्केतः क्रियते—त्वयाऽमुकत्रागन्तव्यमिति ॥ १५४३ ॥ अथास्या एव गाथायाः कानिचित् पदानि विवृणोति—

पडिलेहंत च्चिय वेंटियाउ काउं कुणंति सज्झायं । 5
चरिमा उग्गाहेउं, सो[2]च्चा मज्झण्हि वच्चंति ॥ १५४४ ॥

ते साधवः प्रभाते प्रत्युपेक्षमाणा एव वस्त्राणि विण्टिकाः कुर्वन्ति । ततो विण्टिकाः कृत्वा स्वाध्यायं कुर्वन्ति तावद् यावत् 'चरमा' पादोनपौरुषी । ततः पात्रकाणि प्रत्युपेक्षणापूर्वं 'उद्ग्राह्य' ग्रन्थिदानादिना सज्जीकृत्य ततोऽर्थं श्रुत्वा 'मध्याह्ने' प्रहरद्वयसमये व्रजन्ति ॥ १५४४ ॥

कथम्? इत्याह— 10

तिहि-करणम्मि पसत्थे, णक्खत्ते अहिवईण अणुकूले ।
घेत्तूण णिंति वसभा, अक्खे सउणे परिक्खंता ॥ १५४५ ॥

गमनसमये प्रशस्तदिन-शकुनाद्यवलोकनं तत्कारणानि च

तिथिश्च—नन्दा-भद्रादिका करणं च—बव-बालवादिकं तिथि-करणं तस्मिन् उपलक्षणत्वाद् वार-योग-मुहूर्त्तादिषु प्रशस्तेषु नक्षत्रे च 'अधिपतीनाम्' आचार्याणामनुकूले वहमाने सति, किम्? इत्याह—'अक्षान्' गुरूणामुत्कृष्टोपधिरूपान् गृहीत्वा 'वृषभाः' गीतार्थसाधवः शकुनान् परीक्ष- 15 माणाः "णिंति" निर्गच्छन्ति ॥१५४५॥ आह किमर्थं प्रथममाचार्या न निर्गच्छन्ति? उच्यते—

वासस्स य आगमणं, अवसउणे पट्ठिया नियत्ता य ।
ओभावणा उ एवं, आयरिया मग्गओ तम्हा ॥ १५४६ ॥

वर्षणं वर्षः—वृष्टिस्तस्यागमनं दृष्ट्वा अपशकुने वा दृष्टे वृषभाः प्रस्थिताः सन्तो निवृत्ता अपि न लोकापवादमासादयन्ति, सामान्यसाधुत्वात् । यदि पुनराचार्या वृष्टिमपशकुनान् वा विज्ञाय 20 निवर्त्तन्ते तत एवमपभ्राजना भवति, यथा—यदेव ज्योतिषिकाणां विज्ञानं तदप्यमी आचार्या न बुध्यन्ते अपरं किमवभोत्स्यन्ते? । तस्मादाचार्याः 'मार्गतः' पृष्ठतो निर्गच्छन्ति न पुनरग्रतः । अथ पुरतो गच्छन्ति ततो मासलघु । एतेन "के वच्चंते पुरओ उ भिक्खुणो उदाहु आयरि-य" (गा० १५३१) त्ति पदं भावितम् ॥ १५४६ ॥ आह 'अपशकुने दृष्टे सति निवर्त्तन्ते' इत्युक्तं तत्र के शकुनाः? के वा अपशकुनाः? इति अत्रोच्यते— 25

मइल कुचेले अब्भंगियल्लए साण खुज्ज वडभे या ।
एए तु अप्पसत्था, हवंति खित्ताउ णिंतस्स ॥ १५४७ ॥

अपशकुनाः

'मलिनः' शरीरेण वस्त्रैर्वा मलीमसः 'कुचेलः' जीर्णवस्त्रपरिधानः 'अभ्यङ्गितः' स्नेहाभ्यक्त-

---

१ "तेण" त्ति स्तेनका विबुद्धाः सन्तो मोषणार्थमायाताः पश्चाद् व्रजन्ति । "नट्ठे" त्ति कदाचित् कोऽपि साधुः मार्गात् परिभ्रश्येत् । अतः प्रथममेव प्रदोषवेलायां सङ्केतः क्रियते-अमुकत्रार्द्धमार्गे वृक्षादेरधस्ताद् विश्रामं ग्रहीष्यामः, अमुकत्र वसतिं स्वीकरिष्याम इति । "खग्गूड" त्ति कश्चित् कदाग्रही खग्गूड- इदं ब्रूते—न क° भा० ॥ २ सोउं तो जंति मज्झण्हे ता० ॥

शरीरः श्वा वामपार्श्वाद् दक्षिणपार्श्वगामी 'कुब्जः' वक्रशरीरः 'वडभः' वामनः । 'एते' मलिनादयोऽप्रशस्ता भवन्ति क्षेत्रान्निर्गच्छतः ॥ १५४७ ॥ तथा—

रत्तपड चरग तावस, रोगिय विगला य आउरा वेज्जा ।
कासायवत्थ उद्धूलिया य जत्तं न साहंति ॥ १५४८ ॥

5 'रक्तपटाः' सौगताः, 'चरकाः' क(का)णादा धाटीवाहका वा, 'तापसाः' सरजस्काः, 'रोगिणः' कुष्ठादिरोगाक्रान्ताः, 'विकलाः' पाणि-पादाद्यवयवव्यङ्गिताः, 'आतुराः' विविधदुःखोपद्रुताः, 'वैद्याः' प्रसिद्धाः, 'काषायवस्त्राः' कषायवस्त्रपरिधानाः, 'उद्धूलिताः' भस्मोद्धूलितगात्रा धूलीधूसरा वा । एते क्षेत्रान्निर्गच्छद्भिर्दृष्टाः सन्तो यात्रा—गमनं तत्प्रवर्त्तकं कार्यमप्युपचाराद् यात्रा तां न साधयन्ति ॥ १५४८ ॥ उक्ता अपशकुनाः । अथ शकुनानाह—

शकुनाः

10 **नंदीतूरं पुण्णस्स दंसणं संख-पडहसद्दो य ।**
भिंगार-छत्त-चामर-वाहण-जाणा पसत्थाइं ॥ १५४९ ॥
समणं संजयं दंतं, सुमणं मोयगा दधिं ।
मीणं घंटं पडागं च, सिद्धमत्थं वियागरे ॥ १५५० ॥

'नन्दीतूर्यं' द्वादशविधतूर्यसमुदायो युगपद् वाद्यमानः, 'पूर्णस्य' पूर्णकलशस्य दर्शनम्, 15 शङ्ख-पटहयोः शब्दश्च श्रूयमाणः, भृङ्गार-च्छत्र-चामराणि प्रतीतानि, 'वाहन-यानानि' वाहनानि—हस्ति-तुरङ्गमादीनि यानानि—शिबिकादीनि, एतानि 'प्रशस्तानि' शुभावहानि ॥ १५४९ ॥

'श्रमणं' लिङ्गमात्रधारिणम्, 'संयतं' षट्कायरक्षणे सम्यग्यतम्, 'दान्तम्' इन्द्रिय-नोइन्द्रियदमनेन, 'सुमनसः' पुष्पाणि, मोदका दधि च प्रतीतम्, 'मीनं' मत्स्यम्, घण्टां पताकां च दृष्ट्वा श्रुत्वा वा 'सिद्धं' निष्पन्नम् 'अर्थं' प्रयोजनं व्यागृणीयादिति ॥ १५५० ॥

20 अथ प्रशस्तेषु शकुनेषु सञ्जातेषु गुरवः किं कुर्वन्ति ? इत्याह—

सिज्जायरेऽणुसासइ, आयरिओ सेसगा चिलिमिलिं तु ।
काउं गिण्हंतुवहिं, सारवियपडिस्सया पुव्विं ॥ १५५१ ॥

शय्यातराननुशास्ते आचार्यः, यथा—व्रजामो वयम्, भवद्भिर्धर्मकर्मण्यप्रमत्तैर्भवितव्यमिति । शेषास्तु साधवः चिलिमिलीं 'कृत्वा' बद्ध्वा तदन्तरिताः सन्त उपधिं 'गृह्णन्ति' संयन्त्रयन्तीत्यर्थः, 25 कथम्भूताः ? सारविताः—सम्मार्जिताः प्रतिश्रयो यैस्ते सारवितप्रतिश्रयाः 'पूर्वं' प्रथमम् ॥ १५५१ ॥

अथ कः कियदुपकरणं गृह्णाति ? इत्युच्यते—

बालाईया उवहिं, जं वोढु तरंति तत्तियं गिण्हे ।
जहण्णेण अहाजायं, सेसं तरुणा विरिंचंति ॥ १५५२ ॥

बाल-वृद्ध-राजप्रव्रजितादयो यावन्मात्रमुपधिं वोढुं शक्नुवन्ति तावन्मात्रमेव गृह्णन्ति । यदि च 30 सर्वथैव न शक्नुवन्ति तदा 'जघन्येन' सर्वस्तोकतया यथाजातमुपधिं गृह्णन्ति । 'शेषं' बालादिसत्कमुपकरणं तरुणाः साधवः 'विरिञ्चन्ति' विभज्य गृह्णन्ति ॥ १५५२ ॥

तत्र च यदि 'आभिग्रहिकाः' 'बाल-वृद्धादीनामुपधिरस्माभिर्वोढव्यः' इत्येवं प्रतिपन्नाभिग्रहाः

---

१ शाखि° भा० विना ॥

सन्ति ततस्ते परस्परं विभज्य गृह्णन्ति । अथ न सन्त्याभिग्रहिकास्ततः को विधिः ? इत्याह—

आयरिओवहि बालाइयाण गिण्हंति संघयणजुत्ता ।
दो सोत्ति उण्णि संथारए य गहणेकपासेणं ॥ १५५३ ॥

आचार्योपधिं बालादीनां चोपधिं गृह्णन्ति 'संहननयुक्ताः' अनाभिग्रहिका अपि सन्तो ये समर्थ-साधवः । कथम् ? इत्याह—द्वौ सौत्रिकौ कल्पौ एक और्णिकः कल्पः संस्तारकः चशब्दादुत्तर-पट्टकश्च । एतेषामाचार्यादिसम्बन्धिनां "गहणेक्कपासेणं" ति सप्तम्यर्थे तृतीया 'एकस्मिन् पार्श्वे' एकत्र स्कन्धे ग्रहणं कुर्वन्ति । द्वितीये तु पार्श्वे आत्मीयमुपधिं स्थापयन्ति ॥ १५५३ ॥

अथ "खग्गूड" (गा० १५४३) त्ति पदं विवृणोति—

रत्तिं न चेव कप्पइ, नीयदुवारे विराहणा दुविहा ।
पण्णवण बहुतर गुणा, अणिच्छ बीओ व उवही वा ॥ १५५४ ॥ 10

कश्चिद् धर्मश्रद्धालुतया खग्गूडतया वा प्राह—रात्रौ न चैव कल्पते विहर्तुम्, यतः "नीय-दुवारं तमसं, कोट्ठगं परिवज्जए।" (दशवै० अ० ५ गा० २०) त्ति वचनाद् दिवाऽपि तावद् नीचद्वारे कोष्ठके प्राणिनां कण्टकादीनां चानुपलभ्यमानतया 'द्विविधा' संयमा-ऽऽत्मविराधना भवति इति कृत्वा प्रवेष्टुं न कल्पते, किं पुना रात्रौ विहर्तुं कल्पिष्यते ? । इत्थं ब्रुवाणस्य तस्य प्रज्ञापना कर्त्तव्या, यथा—वत्स ! दूरतमक्षेत्रस्य गन्तव्यतया बहुतरा गुणाः सबाल-वृद्धस्य गच्छस्य 15 साम्प्रतं रात्रौ गमने भवन्ति । इत्थमपि प्रज्ञापितो यदि नेच्छति ततोऽस्य 'द्वितीयः' सहायो दीयते उपधिर्वा तस्य जीर्ण उपहतश्च समर्प्यते[3], मा सारतरस्तदीयोपधिः स्तेनैर्गृह्येत मा वा रात्रौ सुप्त-स्योपहन्येतेति ॥ १५५४ ॥ तदेवमुक्तविधिना ततः क्षेत्राद् निर्गत्य सूत्रोक्तनीत्या गच्छन्ति । ग्रामं च प्राप्तानां क्षेत्रप्रत्युपेक्षका यत्र पूर्वं वसतिः प्रत्युपेक्षिता आसीत् तत्र प्रथमं स्वयं गत्वा वसतिं निरूप्य ततो गच्छं तत्र प्रवेशयन्ति । तत्र रात्रावुषित्वा प्रभाते ग्रामान्तरं गच्छन्ति । एवं च— 20

वच्चंतेहि य दिट्ठो, गामो रमणिज्जभिक्ख-सज्झाओ ।
जं कालमणुन्नाओ, अणणुन्नाए भवे लहुओ ॥ १५५५ ॥

व्रजद्भिस्तैः साधुभिः कश्चिद् ग्रामो दृष्टः, कथम्भूतः ? रमणीयं—सुखप्राप्यत्वेन मनोज्ञभक्त-पानलाभेन च भैक्षं अत एव रमणीयः स्वाध्यायश्च यत्र स रमणीयभैक्ष-स्वाध्यायः । एवंविधो ग्रामः 'यं' यावन्तं 'कालम्' एकदिवसलक्षणं स्थातव्यत्वेनानुज्ञातः तावन्तं कालं वसन्तो न प्राय-25 श्चित्तभाजो भवन्ति । 'अननुज्ञाते' द्वितीयादिषु दिवसेषु वसतां लघुको मासो भवेत्[4] ॥ १५५५ ॥

अथवा—

तवसोसिय उव्वाया, खुल लुक्खाहारदुब्बला वा वि ।
एग दुग तिन्नि दिवसे, वयंति अप्पाइया वसिउं ॥ १५५६ ॥

तपसा—षष्ठा-ऽष्टमादिना ये शोषिता ये वा उद्वाताः—अतीवपरिश्रान्ताः ये च "खुल" त्ति 30

---

१ °ल्पः तथा सं° त० ॥ २ तु स्कन्धे आ° भा० ॥ ३ °ते, तदीयः पुनः शोभनो गृह्यते, मा स्तेनादयस्तमेकाकिनं दृष्ट्वा शोभनमुपधिं गृह्णीयुरिति ॥ १५५४ ॥ तदेव° भा० ॥ ४ °त् । एष एकः पक्षः ॥ १५५५ ॥ अथवा भा० ॥

कर्कशक्षेत्रादायाताः ये वा रूक्षाहारभोजित्वाद् दुर्बलाः, एते एकं वा द्वौ वा त्रीन् वा दिवसान् तस्मिन् ग्रामे 'उषित्वा' स्थित्वा 'आप्यायिताः' मनोज्ञाहारैः स्वस्थीभूताः अपरं ग्रामं व्रजन्ति ॥ १५५६ ॥ इदमेव भावयति—

पढमदिणे समणुण्णा, सोहीवुड्ढी अकारणे परतो ।
तिन्नि व (वि) समणुन्नाया, तओ परेणं भवे सोही ॥ १५५७ ॥

प्रथमदिने तत्र ग्रामे वसतां समनुज्ञा, प्रथमो दिवसस्तत्रानुज्ञात इति भावः । ततः 'परतः' द्वितीयादिदिवसेष्वकारणे वसतां शोधिः—प्रायश्चित्तं तस्या वृद्धिर्भवति । सा चानन्तरगाथायां वक्ष्यते । अथ तपःशोषितत्वादिकमनन्तरगाथोक्तं कारणं वर्त्तते तत्र त्रीण्यपि दिनानि समनुज्ञातानि । 'ततः' दिवसत्रयात् परतः 'शोधिः' प्रायश्चित्तं भवेत् ॥ १५५७ ॥ तामेवाह—

सत्तरत्तं तवो होइ, तओ छेओ पहावई ।
छेएणऽच्छिन्नपरियाए, तओ मूलं तओ दुगं ॥ १५५८ ॥

सप्तरात्रं यावत् तपो भवति । 'ततः' सप्तरात्रानन्तरं छेदः प्रधावति । छेदेनाप्यच्छिन्नपर्याये साधौ ततो मूलम् । ततः 'द्विकम्' अनवस्थाप्य-पाराञ्चिकद्वयम् ॥ १५५८ ॥

इदमेव व्याख्यानयति—

मासो लहुओ गुरुओ, चउरो लहुया य होंति गुरुगा य ।
छम्मासा लहु गुरुगा, छेओ मूलं तह दुगं च ॥ १५५९ ॥

इह प्रथमदिवसे वसन्तोऽनुज्ञाता एव, "पढमदिणे समणुन्न" (गा० १५५७) त्ति वचनात् । द्वितीये दिवसे यदि मनोज्ञाहारलम्पटतया तत्र ग्रामे वसन्ति तदा लघुको मासः, तृतीये गुरुकाः(कः), चतुर्थे चत्वारो लघवः, पञ्चमे चतुर्गुरवः, षष्ठे षण्मासा लघवः, सप्तमे षण्मासा गुरवः, ततः सप्तरात्रानन्तरमष्टमे दिवसे च्छेदः, नवमे मूलम्, दशमेऽनवस्थाप्यम्, एकादशे पाराञ्चिकमिति । अथ तपःशोषितशरीरादयस्ते ततस्त्रीणि दिवसानि वसन्तः प्रायश्चित्तं नापद्यन्ते, "तिन्नि व (वि) समणुन्नाय" (गा० १५५७) त्ति वचनात् । चतुर्थे दिवसे वसतां लघुमासः, पञ्चमे गुरुमासः, षष्ठे चतुर्लघवः, सप्तमे चतुर्गुरवः, अष्टमे षड्लघवः, नवमे षड्गुरवः, दशमे च्छेदः, एकादशे मूलम्, द्वादशेऽनवस्थाप्यम्, त्रयोदशे पाराञ्चिकमिति **विशेषचूर्ण्य**-भिप्रायः । **बृहद्भाष्ये** पुनरित्थमुक्तम्—

एक्केक्क सत्तवारा, मासाईयं तवं तु दाऊण ।
छेओ वि सत्तसत्तओ, तिन्नि गमा तस्स पुव्वुत्ता ॥

'पूर्वं' **पीठिकायां** (गाथा ७०६) 'तस्य' च्छेदस्य ये त्रयो गमा उक्तास्तेऽत्रापि द्रष्टव्याः । तत्र यतः स्थानात् तपः प्रारब्धं तत आरभ्य च्छेदोऽपि दीयते, लघुमासादारभ्येत्यर्थः इत्येको गमः । लघुपञ्चकादारभ्येति द्वितीयः । गुरुपञ्चकादारभ्येति तृतीयः ॥ १५५९ ॥

इदं सामान्यतः प्रायश्चित्तम् । अथ विशेषत आह—

अणणुण्णाए निक्कारणे व गुरुमाइणं चउण्हं पि ।

---

१ °व पञ्चद्वयं भा° भा० ॥ २ °दणे दसो ता० ॥

गुरुगा लहुगा गुरुगो, लहुओ मासो य अच्छंते ॥ १५६० ॥

अननुज्ञाते दिवसत्रयादूर्द्ध्वं 'निष्कारणे वा' कारणं विना प्रथमदिवसादूर्द्ध्वं गुर्वादीनां चतुर्णामपि तिष्ठतां यथाक्रमं गुरुका लघुका गुरुको लघुकश्च मासः । इयमत्र भावना—आचार्यस्याननुज्ञाते निष्कारणे वा तिष्ठतश्चत्वारो गुरवः, वृषभस्य चत्वारो लघवः, अभिषेकस्य गुरुमासः, भिक्षोर्लघुमासः ॥ १५६० ॥ आह किंनिमित्तमित्थं प्रायश्चित्तमापद्यते ? उच्यते— 5

नेहाम्ब त्ति य दोसा, जे पुव्वं वण्णिया कइयमादी ।
ते चेव अणट्ठाए, अच्छंते कारणे जयणा ॥ १५६१ ॥

'नैष्यामः' नागमिष्याम इत्युक्ते ये पूर्वं 'क्रयितादयः' वसतेर्भाटकसमर्पण-विक्रयणादयो दोषा वर्णितास्ते चैव अर्थः-प्रयोजनं तदभावोऽनर्थं तेन प्रयोजनमन्तरेणेत्यर्थः, तत्र ग्रामे तिष्ठतां दोषाः । किमुक्तं भवति ?—तत्र ग्रामे रसगौरवबहुलतया तेषां तिष्ठतां कालविलम्बलगनात् 10 चिकीर्षितमासकल्पे क्षेत्रे वसतिं शय्यातरो भाटकेन समर्पयेत् विक्रीणीत वा धान्यादिना वा क्रियेत बटुकादीनां वा दद्यात् ततस्त एवात्मविराधनादयो दोषाः । कारणे तु तिष्ठतां यतना, एकं द्वौ त्रीन् वा दिवसान् स्थित्वा तथा गन्तव्यं यथा विलम्बमन्तरेण तत् क्षेत्रं प्राप्यत इति भावः । एवमेतेन विधिना व्रजन्तस्तावद् गता यावद् मूलक्षेत्रम् ॥ १५६१ ॥

ततः किम् ? इत्याह— 15

भत्तट्ठिया व खमगा, पुव्विं पविसंतु ताव गीयत्था ।
परिपुच्छिय निद्दोसे, पविसंति गुरू गुणसमिद्धा ॥ १५६२ ॥

ते हि भक्तार्थिनः क्षपका वा सन्तस्तत्र क्षेत्रे प्रविशन्ति । 'भक्तार्थिनः' भोक्तुकामाः, 'क्षपकाः' उपोषिताः । तत्र च पूर्वं तावद् गीतार्थाः प्रविशन्तु । ततस्तैः गीतार्थैः 'परिपृच्छ्य' शय्यातरं पृष्ट्वा निर्दोषे उपाश्रये सुनिश्चिते सति प्रविशन्ति गुरवो गुणसमृद्धाः । साभिप्रायकमिदं विशे- 20 षणम् । ते हि भगवन्तो गुरवो गुणैः समृद्धाः, अतो यदि प्रथमं प्रविश्य सव्याघातां वसतिं मत्वा प्रतिनिवर्त्तन्ते ततो भवति महानवर्णवादः, यथा—एतेषामेतदपि ज्ञानं नास्तीति, ततः पश्चात् प्रविशन्ति ॥ १५६२ ॥ अथैनामेव गाथां विवरीषुराह—

बाहिरगामे वुच्छा, उज्जाणे ठाण वसहिपडिलेहा ।
इहरा उ गहियभंडा, वसहीवाघाय उड्डाहो ॥ १५६३ ॥ 25

प्रत्यासन्ने बाह्यग्रामे उषिताः प्रत्युषसि विवक्षितक्षेत्रस्योद्यानमागम्य तत्र स्थानं कुर्वन्ति । यैः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं ते वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्रेष्यन्ते । 'इतरथा' यदि वसतिमप्रत्युपेक्ष्य प्रविशन्ति ततो मासलघु । सा वसतिरन्येषां प्रदत्ता भवेत् ततः 'गृहीतभाण्डाः' गृहीतोपकरणा वसतिव्याघाते सत्यपरां वसतिमन्वेषयन्त इतस्ततः पर्यटन्ति, तथाभूतांश्च दृष्ट्वा उड्डाहो भवेत्, यथा—अहो ! निष्परिग्रहा निर्ग्रन्था इति ॥ १५६३ ॥ ततः किं विधेयम् ? इत्याह— 30

तम्हा पडिलेहिय साहियम्मि पुव्वगत असति सारविए ।
फड्डगफड्ड पवेसो, कहणा न य उड्डऽणायरिए ॥ १५६४ ॥

तस्मात् चिलिमिली-दण्डकप्रोञ्छने गृहीत्वा वसतिं प्रत्युपेक्ष्य यदि सा नान्येषां प्रदत्ता

तदा "साहियम्मि" त्ति शय्यातरस्य 'आचार्या आगताः सन्ति' इति कथिते सति यदि 'पूर्व-गताः' पूर्वस्थिताः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकास्तत्र सन्ति तदा तैः प्रागेव वसतिः प्रमार्जितैव । अथ न सन्ति ततः स्वयमेव "सारविए" त्ति सम्मार्जिते प्रतिश्रये द्वारे च चिलिमिलीं बद्ध्वा धर्मकथिनमेकं मुक्त्वा व्यावृत्य गुरूणां निवेदयन्ति । ततो वृषभास्तथैवाक्षान् गृहीत्वा शकुनान् परीक्षमाणाः प्रविशन्ति । तैश्च प्रविष्टैः शेषाः साधवः स्पर्द्धकस्पर्द्धकैः प्रविशन्ति, न पुनः सर्वे एकत्र पिण्डीभूयेति भावः । यश्च तत्र धर्मकथिकः स्थित आस्ते स सागारिकस्य धर्मकथां करोति । स च "अणायरिय" त्ति आचार्यं मुक्त्वा शेषसाधूनां ज्येष्ठार्याणामप्यभ्युत्थानं न करोति 'मा भूद् धर्मकथाया व्याघातः' इति ॥ १५६४ ॥

अथ वृषभाणां प्रविशतां शकुना-ऽपशकुनविभागनिरूपणायाह—

वसति-प्रवेशे-ऽपशकुन-शकुनाः

मइल कुचेले अब्भंगियल्लए साण खुज्ज वडभे या ।
एयाइँ अप्पसत्थाइँ होंति गामं अइंताणं ॥ १५६५ ॥
रत्तपड चरग तावस, रोगिय विगला य आउरा वेज्जा ।
कासायवत्थ उद्धूलिया य कज्जं न साहिंति ॥ १५६६ ॥
नंदीतूरं पुण्णस्स दंसणं संख-पडहसद्दो य ।
भिंगार-छत्त-चामर-वाहण-जाणा पसत्थाइं ॥ १५६७ ॥
समणं संजयं दंतं, सुमणं मोयगा दधिं ।
मीणं घंटं पडागं च, सिद्धमत्थं वियागरे ॥ १५६८ ॥

चतस्रोऽपि गाथाः प्राग्वत् (गाथाः १५४७—५०) । नवरं श्वा दक्षिणपार्श्वाद् वामपार्श्वगामी गृह्यते ॥ १५६५ ॥ १५६६ ॥ १५६७ ॥ १५६८ ॥

इत्थं वृषभेषु प्रशस्तैः शकुनैः प्रविष्टेषु सूरयः क्षेत्रं प्रविश्य किं कुर्वन्ति ? इत्याह—

आचार्यस्य वसति-प्रवेशन-विधिः

पविसंते आयरिए, सागरिओ होइ पुव्व दट्ठव्वो ।
अद्दट्ठूण पविट्ठो, आवज्जइ मासियं लहुयं ॥ १५६९ ॥

"पविसंते आयरिए" त्ति तृतीयार्थे सप्तमी, वसतिं प्रविशता आचार्येण सागारिकः पूर्वमेव द्रष्टव्यो भवति । अथ सागारिकमदृष्ट्वैव प्रविष्ट आचार्यः तत आपद्यते मासिकं लघुकम् ॥ १५६९ ॥ अथाचार्यमायान्तं दृष्ट्वा धर्मकथी किं करोति ? इत्याह—

आयरियअणुट्ठाणे, ओभावण बाहिरा अदक्खिन्ना ।
कहणं तु वंदणिज्जा, अणालवंते वि आलावो ॥ १५७० ॥

धर्मकथिना आचार्याणामभ्युत्थानं कर्तव्यम् । यदि न करोति तदा 'अपभावना' लाघवमाचार्याणां भवति—नूनं नामधारक एवायमाचार्यः, नास्य किमप्याज्ञैश्वर्यं विद्यते । यद्वा लोकव्यवहारस्य बाह्या अमी, यतः पञ्चानामप्यकुलीनां तावदेका ज्येष्ठा भवति । तथा 'अदाक्षिण्याः' 'गुरूनपि प्रति एतेषां दाक्षिण्यं नास्ति' इति शय्यातरश्चिन्तयति । "कहणं तु" त्ति शय्यातरस्य

१ °त्र वसन्ति मो० ॥ २ सर्वेऽपि एक° डे० ॥ ३ प्रविष्यन्तः (प्रविशन्तः) सन्तः त० डे० कां० ॥

धर्मकथिना कथनीयम्, यथा—वन्दनीया एते भगवन्त इति । ततो गुरुभिस्तावत्ततोऽपि शय्यातरस्यालापः कर्त्तव्यः ॥ १५७० ॥ अथ न कुर्वन्त्यालपनमाचार्यास्तत एते दोषाः—

थद्धा निरोवयारा, अग्गहणं लोकजत्त वोच्छेदो ।

तम्हा खलु आलवणं, सयमेव य तत्थ धम्मकहा ॥ १५७१ ॥

स शय्यातरश्चिन्तयेत्—अहो ! 'स्तब्धाः' आत्माभिमानिन एते, वचसाऽपि नान्यस्य गौरवं प्रयच्छन्ति । 'निरुपकाराः' कृतमप्युपकारं न बहुमन्यन्ते, कृतघ्ना इत्यर्थः । 'अग्रहणम्' अनादरो मां प्रत्यमीषाम् । लोकयात्रामप्येते न जानन्ति, लोके हि यो यस्याश्रयदानादिनोपकारी स ततः स्निग्धदृष्ट्यवलोकन-मधुरसम्भाषणादिकां महतीं प्रतिपत्तिमर्हतीति । इत्थं कषायितस्तद्द्रव्यस्यान्यद्रव्याणां वा व्यवच्छेदं कुर्यात् । यत एवं तस्मात् खल्वालपनमाचार्येण कर्त्तव्यम्, स्वयमेव च तत्राचार्येण धर्मकथा कार्या ॥ १५७१ ॥ कथम् ? इत्याह—

वसहिफलं धम्मकहा, कहणमलद्धीओ सीस वावारे ।

पच्छा अइंति वसहिं, तत्थ य भुज्जो इमा मेरा ॥ १५७२ ॥

धर्मकथां कुर्वन्तः सूरयो वसतिफलं कथयन्ति । यथा—

रयणगिरिसिहरसरिसे, जंबूणयपवरवेइआकलिए ।

मुत्ताजालगपयरग-खिंखिणिवरसोभितविडंगे ॥

वेरुलिय-वयर-विद्दुमखंभसहस्सोवसोभिअमुदारे ।

साहूण वसहिदाणा, लभती एयारिसे भवणे ॥ (कल्पबृहद्भाष्ये) इत्यादि ।

अथाचार्याणां धर्मकथने लब्धिर्न भवति तदा शिष्यं धर्मकथालब्धिसम्पन्नं व्यापारयेयुः । ततः पश्चादाचार्याः प्रविशन्ति वसतिम् । तत्र च प्रविष्टानां 'भूयः' पुनरियं 'मर्यादा' सामाचारी ॥ १५७२ ॥ तामेवाभिधित्सुराह—

मर्यादा-स्थापनयोर्व्यवस्था

मज्जाया-ठवणाणं, पवत्तगा तत्थ होंति आयरिया ।

जो उ अमज्जाइल्लो, आवज्जइ मासियं लहुयं ॥ १५७३ ॥

मर्यादा च—सामाचारी स्थापना च दानादिकुलानां तयोः प्रवर्त्तकास्तत्र क्षेत्रे आचार्या भवन्ति । यश्च साधुः 'अमर्यादावान्' मर्यादामाचार्यैः स्थापितां न पालयति स आपद्यते मासिकं लघुकम् ॥ १५७३ ॥ मर्यादामेवाह—

मर्यादा

पडिलेहण संथारग, आयरिए तिन्नि सेस एक्केक्कं ।

विंटियउक्खेवणया, पविसइ ताहे य धम्मकही ॥ १५७४ ॥

उच्चारे पासवणे, लाउअनिल्लेवणे अ अच्छणए ।

करणं तु अणुन्नाए, अणणुन्नाए भवे लहुओ ॥ १५७५ ॥

संस्तारकभूमीनां 'प्रत्युपेक्षणाम्' अवलोकनां कुर्वते । तत्राचार्यस्य तिस्रः संस्तारकभूमयो निरूपणीयाः, तद्यथा—एका निवाता अपरा प्रवाता तृतीया निवातप्रवाता । शेषाणां साधूनामे-

१ 'यश्च' आचार्यः 'अमर्यादावान्' मर्यादाम् उपलक्षणत्वात् स्थापनां च न प्रवर्त्तयति स आपद्यते मासिकं लघुकम् ॥ १५७३ ॥ अथ मर्यादां तावदाह भा० ॥

कैकां संस्तारकभूमिं यथारत्नाधिकतया अर्पयन्ति न यथाकथञ्चिदिति । तैश्च तदानीमात्मीयात्मीय-विण्टिकामामुत्क्षेपणं कर्त्तव्यम्, येन तासूत्क्षिप्तासु भूमिभागः प्रतिनियतपरिमाणच्छेदेनावगम्यते । तदा च धर्मकथी संस्तारकग्रहणार्थं धर्मकथामुपसंहृत्य प्रतिश्रयाभ्यन्तरे प्रविशति । तथा क्षेत्र-प्रत्युपेक्षकाः शय्यातरानुज्ञातां भुवं ग्लानाद्यर्थं दर्शयन्ति । यथा—इयति प्रदेशे उच्चारपरिष्ठापन-5 मनुज्ञातम् नेत ऊर्द्ध्वम्, एवं "पासवणे" त्ति प्रश्रवणभूमिं "लाउए" त्ति अलाबूनि—तुम्बकानि तेषां कल्पकरणप्रायोग्यं प्रदेशं 'निर्लेपनं' पुतप्रक्षालनं तस्य स्थानं "अच्छणए" त्ति यत्र स्वाध्यायं कुर्वद्भि-रास्यते, एतानि तथैव दर्शयन्ति । ततो य एव शय्यातरेणानुज्ञातोऽवकाशस्तत्रैवोच्चारादीनां करणं भगवद्भिरादिष्टम् । अननुज्ञाते त्ववकाशे कुर्वतो मासलघु, तद्रव्या-ऽन्यद्रव्यव्यवच्छेदादयश्च दोषाः ॥ १५७४ ॥ १५७५ ॥ उक्ता मर्यादा । अथ स्थापनामभिधित्सुः प्रस्तावनामाह—

स्थापना

10 **भत्तट्ठिया व खमगा, अमंगलं चोयणा जिणाहरणं ।**
जइ खमगा वंदंता, दाइंतियरे विहिं वोच्छं ॥ १५७६ ॥

ते हि साधवः क्षेत्रं प्रविशन्तो भक्तार्थिनो वा भवेयुः क्षपका वा । यदि क्षपकाः ततो नोद-कस्य 'नोदना' प्रेरणा, यथा—प्रथममेव तावदमङ्गलमिदं यदुपवासं प्रत्याख्याय प्रविश्यते । सूरि-राह—'जिनाहरणं' जिनानामुदाहरणमत्र मन्तव्यम् । ते हि भगवन्तो निष्क्रमणसमये प्रायश्च-15 तुर्थादि तपः कृत्वा निष्क्रामन्ति, न च तत् तेषाममङ्गलम्, एवमत्रापि भावनीयम् । ततश्च यदि ते क्षपकास्तदा चैत्यानि वन्दमाना एव दर्शयन्ति स्थापनाकुलानि क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः । अथ भक्ता-र्थिनस्ते ततः "इयरे" त्ति इतरेषु भक्तार्थिषु यो विधिस्तं वक्ष्ये ॥ १५७६ ॥ तमेवाह—

सव्वे दट्टुं उग्गाहिएण ओयरिय भय समुप्पज्जे ।
तम्हेक दोहि तिहिं वा, उग्गाहिय चेइए वंदे ॥ १५७७ ॥

20 चैत्यवन्दनार्थं गन्तुकामा यदि सर्वेऽपि पात्रकमुद्ग्राहयेयुः ततः सर्वान् साधून् उद्ग्राहितेन पात्रकेण दृष्ट्वा 'अहो ! औदरिका एते' इति श्रावकश्चिन्तयति । भयं च तस्य समुत्पद्यते, यथा—कथमेतावतां मयैकेन दास्यते ? इति । तस्मादेकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा साधुभिरुद्ग्राहितपात्रकैः शेषैः पुनरनुद्ग्राहितपात्रैः सहिताः सूरयश्चैत्यानि वन्दन्ति ॥ १५७७ ॥

अथ यद्येकोऽपि साधुः पात्रकं नोद्ग्राहयति ततः को दोषः ? इत्याह—

25 **सद्धाभंगोऽणुग्गाहियम्मि ठवणाइया भवे दोसा ।**
घरचेइय आयरिए, कयवयगमणं च गहणं च ॥ १५७८ ॥

अथानुद्ग्राहिते पात्रके प्रयान्ति ततश्चैत्यानि वन्दमानान् दृष्ट्वा कोऽपि धर्मश्रद्धावान् भक्त-पानेन निमन्त्रयेत् तदा यदि भाजनं नास्तीति कृत्वा न गृह्यते ततः श्रद्धाभङ्गस्तस्योपजायते । अथ ब्रुवते 'पात्रकं गृहीत्वा यावद् वयमागच्छामस्तावदेवमेव तिष्ठतु' ततः स्थापनादयो दोषा भवेयुः । 30 तस्मादुद्ग्राहणीयं पात्रकम् । जिनगृहेषु च वृन्देन सर्वेऽपि चैत्यानि वन्दित्वा गृहचैत्यवन्दनार्थ-माचार्येण कतिपयैः साधुभिरुद्ग्राहितपात्रकैः समं गमनं कर्त्तव्यम् । तत्र यदि श्रावकः प्राशुकेन भक्त-पानेन निमन्त्रयेत् ततो ग्रहणमपि तस्य कर्त्तव्यम् ॥ १५७८ ॥

---

१ प्रायेणोपवासं कृत्वैव नि° भा० ॥ २ °भ्यन्ते भा० ॥ ३ सर्वैरपि कां० ॥

आह कानि पुनः कुलानि चैत्यवन्दनं विदधानास्ते दर्शयन्ति ? उच्यते—

दाणे अभिगम सड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।
मामाए अचियत्ते, कुलाइँ दाइंति गीयत्था ॥ १५७९ ॥

यथाभद्रको दानरुचिः दानश्राद्धः । सम्यग्दृष्टिर्गृहीताणुव्रतोऽभिगमश्राद्धः । "सम्मत्ते" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिः । "मिच्छत्ते" त्ति आभिग्रहिकमिथ्यादृष्टिः । 'मामाको नाम' ईर्ष्यालुतया 'हे श्रमण ! मा मदीयं गृहमायासीः' इति ब्रवीति । यस्त्वीर्ष्यालुतयैव साधुषु गृहं प्रविशत्सु महद्-अप्रीतिकं स्वचेतसि करोति वाचा न किमपि ब्रूते एष देशीभाषया अचियत्तः । एतेषां कुलानि दर्शयन्ति 'गीतार्थाः' क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः ॥ १५७९ ॥ दर्शयित्वा च किं कुर्वन्ति ? इत्याह—

दाणे अभिगम सड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।
मामाए अचियत्ते, कुलाइँ ठाविंति गीयत्था ॥ १५८० ॥ 10

एतानि कुलानि स्थापयन्ति गीतार्थाः, 'अमीषु प्रवेष्टव्यम्, अमीषु तु न' इति व्यवस्थापयन्तीत्यर्थः ॥ १५८० ॥ अथ न स्थापयन्ति तदा किम् ? इत्याह—

दाणे अभिगम सड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।
मामाए अचियत्ते, कुलाइँ अठविंति चउगुरुगा ॥ १५८१ ॥

एतानि कुलान्यस्थापयतश्चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तम् ॥ १५८१ ॥ यत एवमतः— 15

कयउस्सग्गाऽऽमंतण, अपुच्छणे अकहिएगयर दोसा ।
ठवणकुलाण य ठवणं, पविसइ गीयत्थसंघाडो ॥ १५८२ ॥

'उत्सर्गे' चैत्यवन्दनं विधायागतानामैर्यापथिकीकायोत्सर्गे कृते यद्वा "उस्सग्ग" त्ति आवश्यके कृते सर्वेऽपि साधवो गीतार्थैरामन्त्रणीयाः—आर्याः ! आगच्छत, क्षमाश्रमणाः स्थापनां प्रवर्त्तयिष्यन्ति । इत्थमुक्ते सर्वेऽप्यागम्य गुरुपदकमलमभिवन्द्य रचिताञ्जलयस्तिष्ठन्ति । तत 20 आचार्यैः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः प्रष्टव्याः—कथयत कानि कुलानि प्रवेष्टव्यानि ? कानि वा न ? इति। ततस्तैरपि क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैर्विधिवत् कथनीयम् । यद्याचार्याः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान् न पृच्छन्ति, ते वा पृष्टाः सन्तो न कथयन्ति, ततस्तेषु प्रविशतां ये संयमा-ऽऽत्मविराधनादयो दोषास्तान् 'एकतरे' सूरयः क्षेत्रप्रत्युपेक्षका वा प्राप्नुवन्ति । ततः कथिते सति यान्यभिगृहीतमिथ्यात्व-मामाका-ऽचियत्तानि तानि सर्वथैव स्थाप्यानि, यथा—नैतेषु केनापि प्रवेष्टव्यम् । यानि तु दानश्राद्धादीनि 25 स्थापनाकुलानि तेषामपि स्थापनं कर्त्तव्यम् । कथम् ? इत्याह—प्रविशति एक एव गीतार्थसङ्घाटको गुर्वादिवैयावृत्त्यकरस्तेषु ॥ १५८२ ॥ इदमेव भावयति—

गच्छम्मि एस कप्पो, वासावासे तहेव उडुबद्धे ।
गाम-नगर-निगमेसुं, अइसेसी ठावए सड्ढी ॥ १५८३ ॥

वर्षावासे तथैव ऋतुबद्धे ग्राम-नकर-निगमेषु स्थितानां गच्छे एष कल्पः । कः ? इत्याह— 30 अतिशेषाणि—अतिशायीनि स्निग्ध-मधुरद्रव्याणि प्राप्यन्ते येषु तानि कुलान्यतिशेषीणि "सड्ढि" त्ति दानश्रद्धावन्ति एवंविधानि कुलानि स्थापयेत् । एकं गीतार्थसङ्घाटकं मुक्त्वा शेषसङ्घाटकान् न तत्र प्रवेशं कारयेत् ॥ १५८३ ॥ आह—

किं कारणं चमढणा, दव्वखओ उग्गमो वि य न सुज्झे ।
गच्छम्मि नियय कज्जं, आयरिय-गिलाण-पाहुणए ॥ १५८४ ॥

'किं कारणं' को हेतुः येन स्थापनाकुलेष्वेक एव सङ्घाटकः प्रविशति ? । सूरिराह—"चमढण" त्ति अन्यैरन्यैश्च सङ्घाटकैः प्रविशद्भिस्तानि कुलान्युद्वेगं प्राप्यन्ते । ततश्च द्रव्याणां—स्निग्ध-5 मधुराणां क्षयो भवति, उद्गमोऽपि च न शुध्यति । गच्छे च 'नियतं' निश्चितं प्रायोग्यद्रव्यैः कार्यं भवति । किमर्थम् ? इत्याह—आचार्य-ग्लान-प्राघूर्णकानां हेतोरिति **निर्युक्तिगाथासमासार्थः** ॥ १५८४ ॥ अथ भाष्यकार एनामेव विवृणोति—

पुव्विं पि वीरसुणिया, भणिया भणिया पहावए तुरियं ।
सा चमढणाएँ सिग्गा, निच्छइ दट्ठुं पि गंतुं जे ॥ १५८५ ॥

वीरशुनिकोदाहरणम्

10 जहा काइ वीरसुणिया केणइ पारद्धिएण तित्तिराईणं गहणे छिछिक्कारिया समाणी तित्तिराईणि गिण्हइ । पच्छा सो तेहिं सावएण विणा वि काउं हंतूण छिछिक्कारेइ । सा वीरसुणिया इतो तओ पहावइ जाव न किंचि पेच्छइ । ताहे सा वेयारिया समाणी जइ सो सावयं दट्ठुं पच्छा छिछिक्कारेइ तहा वि पयं पि न इच्छए गंतुं ॥

अथ गाथाक्षरयोजना—यः शुनकद्वितीयः शस्त्राद्यपेक्षारहितो मृगयां करोति स वीर 15 उच्यते, तस्य शुनिका यथा पूर्वमदृष्टेऽपि श्वापदे 'भणिता भणिता' छीत्कृता छीत्कृता सती त्वरितमितस्ततः प्रधावति । ततः सा 'चमढणया' निरर्थकमुद्वेजनया "सिग्गा" श्रान्ता सती सन्तमपि श्वापदं दृष्ट्वा पदमपि गन्तुं "जे" इति पादपूरणे नेच्छति ॥ १५८५ ॥

एष दृष्टान्तः । अर्थोपनयस्त्वेवम्—

एवं सङ्घकुलाइं, चमढिज्जंताइँ अन्नमन्नेहिं ।
20 **नेच्छंति किंचि दाउं, संतं पि तहिं गिलाणस्स ॥ १५८६ ॥**

'एवम्' अमुनैव प्रकारेण श्राद्धकुलानि "चमढिज्जंताइं" ति उद्वेज्यमानानि 'अन्यान्यैः' क्षुल्लक-स्थविर-क्षपकादिभिः । यद्वा "अन्नमन्नेहिं" ति अन्यान्यैः—परिफल्गुप्रायैः कारणैः । यथा एकः प्राह—ग्लानस्य शीर्षं दुष्यति शर्करां प्रयच्छ; अपरः प्राह—ममोदरं दुष्यति दध्नः करम्बेण प्रयोजनम्; तदपरः प्राह—प्राघूर्णक आयातोऽस्ति घृतादिकं देहि; अन्यः 25 प्राह—अहमाचार्यस्य हेतोरायातोऽस्मि दुग्धं सशर्करं प्रतिलाभयेत्यादि । ततस्तानि ब्रुवीरन्—यूयं सर्व एव ग्लाना अतो वयं कियतां प्रयच्छामः ? को वा जानाति यूयमाचार्यादीनां हेतोर्गृह्णीथ ? आहोश्विदात्मार्थम् ? इति । एवमुद्वेज्यमानानि नेच्छन्ति 'सदपि' विद्यमानमपि घृतादिकं 'किञ्चित्' स्तोकमात्रमपि ग्लानस्य उपलक्षणत्वादाचार्य-प्राघूर्णकादेरप्यर्थाय दातुम् । ततश्च यत् ते ग्लानादयः परिताप्यन्ते तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ॥ १५८६ ॥

30 गतं चमढणाद्वारम् । अथ द्रव्यक्षयोद्गमाशुद्धिद्वारद्वयमाह—

अन्नो चमढण दोसो, दव्वखओ उग्गमो वि य न सुज्झे ।
खीणे दुल्लभदव्वे, नत्थि गिलाणस्स पाउग्गं ॥ १५८७ ॥

'अन्यः' अपरश्चमढनायां दोषः, कः ? इत्याह—द्रव्यस्य—अवयाहिम-घृतादेः कारणमन्त-

रेणापि दिने दिने गृह्यमाणस्य क्षयो भवति । ततश्च यद्यभिनवमवगाहिमादि द्रव्यं साधूनामर्थाय करोति क्रीणाति वा तत उद्गमोऽपि[1] च न शुध्यति, सदोषत्वात् तद् उत्पादितमपि न कल्पत इति भावः । ततः 'क्षीणे' व्यवच्छिन्ने दुर्लभद्रव्ये प्रयोजने उत्पन्नेऽपि नास्ति ग्लानस्य प्रायोग्यम् । ततः परिताप-महादुःखादिका ग्लानारोपणा द्रष्टव्या, भद्रक-प्रान्तकृताश्च दोषा भवन्ति ॥१५८७॥

तानेवाह—   5

दव्वक्खएण पंतो, इत्थि घाइज्ज कीस ते दिन्नं ।
भद्दो हट्ठपहट्ठो, करेज्ज अन्नं पि साहूणं ॥ १५८८ ॥

इह कस्यापि प्रान्तस्य भार्या श्राद्धिका, ततस्तयाऽन्यान्यसाधूनां[2] याचमानानां प्रायोग्यद्रव्यं सर्वमपि प्रदत्तम् । ततस्तस्याः पतिर्भोजनार्थमुपविष्टः सन् ब्रूते—कूरं मे परिवेषय । सा प्राह—साधूनां प्रदत्तः । स प्रतिब्रूयात्—पूपलिकास्तर्हि परिवेषय । सा प्राह—ता अपि प्रदत्ताः । एवं 10 सूप-दुग्ध-दधिप्रभृतीन्यपि साधूनां वितीर्णानीति । इत्थं द्रव्यक्षयेण स प्रान्तः कुपितः सन्[3] 'अरेरे कुलपांसने ! किं ते मुण्डास्तवोपपतयो भवन्ति येनैवं मदीयं गृहसर्वस्वं दत्त्वा तान् पोषयसि ?' इत्यभिधाय स्वां स्त्रियं 'घातयेत्' कुट्टयेत्, 'कस्मात्' किमर्थं त्वया तेभ्यः सर्वमपि दत्तम् ? इति कृत्वा । अत्र **पाठान्तरम्**—"दव्वक्खएण लुद्धो" त्ति 'लुब्धः' लोभाभिभूतः, शेषं प्राग्वत् । यस्तु भद्रको गृहपतिः स श्राद्धिकया सर्वस्मिन्नपि दत्ते तथैव च कथिते हृष्टप्रहृष्टो भवति । हृष्टो 15 नाम–मनसि परितोषवान्, प्रहृष्टस्तु–प्रहसितवदनः समुद्धूतरोमहर्षो[4] हर्षाश्रूणि विमुञ्चमान इति । ततश्च कुर्याद् 'अन्यदपि' अवगाहिमादिकं साधूनामर्थाय, कारयेदित्यर्थः । एतद्दोषपरिहरणार्थमेकं गीतार्थसङ्घाटकं मुक्त्वा शेषाः स्थापनाकुलानि न निर्विशेयुः । प्राघूर्णके चायाते सति प्राघुण्यं विधेयम्, तच्च स्वभावानुमतैरेव भक्त-पानैः ॥ १५८८ ॥ तथा चात्र दृष्टान्तमाह—

जड्डे महिसे चारी, आसे गोणे य जे य जावसिया ।   20 चतुर्धा प्राघूर्णक-साधवः
एएसिं पडिवक्खे, चत्तारि उ संजया होंति ॥ १५८९ ॥

'जड्डः' हस्ती, महिषाश्वौ प्रतीतौ, 'गोणः' बलीवर्दः, एतेषां ये 'यावसिकाः' यवसः–तत्प्रायोग्यमुद्ग-माषादिरूप आहारस्तेन तद्वहनेन चरन्तीति यावसिकास्ते अनुकूलां चारीमानयन्ति । एतेषां जड्डादीनां 'प्रतिपक्षे' प्रतिरूपः पक्षः प्रतिपक्षः–सदृशपक्ष इत्यर्थः, तत्र चत्वारः प्राघूर्णकसंयता भवन्ति । तद्यथा—जड्डसमानो महिषसमानोऽश्वसमानो गोसमानश्चेति ॥ १५८९ ॥ 25

अथामीषामेव व्याख्यानमाह—

जड्डो जं वा तं वा, सुकुमालं महिसओ महुरमासो ।
गोणो सुगंधिदव्वं, इच्छइ एमेव साहू वि ॥ १५९० ॥

'जड्डः' हस्ती, सः 'यद्वा तद्वा' कर्कश-कटुकादिकमप्याहारयति । यस्तु महिषः 'सुकुमारं' वंशकरीलादिकमभिलषति । अश्वः 'मधुरं' मुद्ग-माषादिकमभिकाङ्क्षति । 'गौः' बलीवर्दः सः 'सुग- 30 न्धिद्रव्यम्' अर्जुनक-ग्रन्थिपर्णादिकमिच्छति । एवमेव साधवश्चत्वारः चतुर्विधं भक्तमिच्छन्ति—

---

१ च तस्य द्रव्यस्य न भा० ॥ **२ °नां रिक्तारिक्तप्रयोजनेषु याव°** भा० ॥ **३ सन् स्वां स्त्रियं** त० डे० कां० ॥ **४ °हर्ष इति । तत°** त० डे० कां० ॥

तत्थ पढमो अब्भुसमाणो पाहुणगसाहू भणइ—मम जं दोसीणं वा उण्हगं वा कंजियं वा लब्भइ तं चेव आणेहि, नवरं उदरपूरं । एवं भणिए किं दोसीणं चेव आणेयव्वं ? न, विसेसेण सोहणं तस्स आणेयव्वं । बिइओ पाहुणयसाहू भणइ—परं मे नेहरहिया वि पूवलिया सुकुमाला होउ । तइओ भणइ—महुरं नवरिं मे होउ । चउत्थो भणइ—अन्नं वा पाणं वा निप्पडिगंधं 5 मे आणेह । एवं ताणं भणंताणं जं जोग्गं तं सड्ढयकुलेहिंतो विसेसियं आणिज्जइ । तं च ठविएसु चेव सड्ढयकुलेसु लब्भइ नाठविएसु । पाहुणे य कीरमाणे महंतो निज्जरालाभो साहुकारो य पाविज्जइ । अतो कायव्वं तं जहाविसहं साहूहिं ति ॥ १५९० ॥

आह यद्येवं तर्हि श्राद्धकुलेषु मा कोऽपि प्रवेशं कार्षीत् ? यदा प्राघूर्णकादिकार्यं समुत्पन्नं भविष्यति तदा प्रवेशं करिष्यामः, ततश्च बहुतरमुत्कृष्टं च लप्स्यामहे । सूरिराह—(ग्रन्था- 10 ग्रम्–७५००)

एवं च पुणो ठविए, अप्पविसंते इमे भवे दोसा ।
वीसरण संजयाणं, विसुक्कगोणीइ आरामे ॥ १५९१ ॥

स्थापनाकुलेषु सान्तरमवश्यं गमनम्

एवं च तावत् चमढनायां दोषा अभिहिताः । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । यदि पुनः स्थापनाकुलानि सर्वथैव स्थाप्यन्ते ततः "ठविए" त्ति सर्वथैव स्थापितेषु तेष्वप्रविशतां साधूनामेते 15 दोषा भवेयुः । तद्यथा—विस्सरणं संयतानां भवति, भिक्षा दातव्येति नियमाभावात् ।

अत्र च **विशुष्कया गवा आरामेण** च दृष्टान्तः—

गोदृष्टान्तः

जहा—एगस्स बोद्दभिज्जाइयस्स गोणी धेणू । सा य पओस-पच्चूसे सुकुलवं सुकुलवं दुद्धस्स पयच्छइ । तस्स य दसहिं दिवसेहिं संखडी भविस्सइ । ताहे सो चिंतेइ—एसा गावी ताव बहुयं खीरं देइ, तया य दुल्लहं खीरं भविस्सइ, मम य तया अवस्सं कज्जं, तो इयाणिं न दुहामि, 20 तया चेव एक्कसराए दुहिस्सामि, वरं मे दस कुल्या होंतया । पत्ते य संखडिदिवसे महंतं कुंडयं गहाय गोणीदुहणट्ठयाए ढुक्को जाव विसुक्का, चुलुओ वि नत्थि दुद्धस्स । एवं संजया वि अणल्लियंता तेसिं सड्ढाणं पम्हुट्ठा न चेव जाणंति—किं संजया अत्थि ? नवा ? । ते वि संजया जम्मि दिवसे कज्जं तम्मि गया जाव न संति ताणि दव्वाणि । तम्हा दोण्ह वा तिण्ह वा दिवसाणं अवस्सं गंतव्वं ॥

आरामदृष्टान्तः

25 अहवा **आरामदिट्ठंतो,** जहा—एगो आरामिओ । सो चिंतेइ—मम आरामे पुप्फाणं आढयं दिणे दिणे उट्ठेइ, इंदमहादिवसे अ बहू जणो पुप्फाण कायओ भविस्सइ तो मा दिणे दिणे पुप्फाइं उच्चेमि, तद्दिवसं वरं बहूणि पुप्फाणि होंताणि त्ति । पत्ते य इंदमहादिवसे सो पच्छियाओ घेत्तुं गओ जाव सो आरामो उप्फुल्लो, एगमवि पुप्फं नत्थि । एवं ते जद्दिवसं कज्जमुप्पन्नं तद्दिवसं पविट्ठा ठवणाकुलेसु । ताहे सड्ढा भणंति—तुब्भे इहं चिय अच्छंता न मुणह वेलं, 30 अम्हं एइ वच्च वेला । अप्पविसंतेसु य न कोइ दंसणं पडिवज्जइ, न वा अणुव्वए, भिक्खप्पदाणधम्मं वा नत्थि ॥

यतश्चैवमतः प्रवेष्टव्यं स्थापनाकुलेषु गीतार्थसङ्घाटकेन ॥ १५९१ ॥

स च कीदृग्दोषैर्विरहितः ? इत्यत आह—

अलसं घसिरं सुविरं, खमगं कोह-माण-माय-लोहिल्लं ।
कोऊहल पडिबद्धं, वेयावच्चं न कारिज्जा ॥ १५९२ ॥

स्थापना-कुलेषु प्रवेशा-नर्हास्तेषां तत्र गमने प्रेषणे वा प्रायश्चित्तं दोषाश्च

'अलसं' निरुद्यमम्, 'घसितारं' बहुभक्षिणम्, 'स्वप्तारं' स्वपनशीलम्, "शीलाद्यर्थस्येरः" (सिद्ध० ८-२-१४५) इति प्राकृतलक्षणबलादुभयत्रापि तृन्प्रत्ययस्येरादेशः, क्षपकं प्रती-5 तम्, "कोह-माण-माय-लोहिल्लं" ति क्रोधवन्तं मानवन्तं मायावन्तं लोभवन्तम्, सर्वत्रापि[2] भूम्नि मतुप्रत्ययः, यथा गोमानिति, "कोऊहल" त्ति मत्वर्थीयप्रत्ययलोपात् कुतूहलिनम्, 'प्रतिबद्धं' सूत्रार्थग्रहणसक्तम् । एतान् वैयावृत्त्यमाचार्यो न कारयेदिति समासार्थः ॥ १५९२ ॥

अथैनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतः प्रायश्चित्तमाह—

तिसु लहुओ तिसु लहुया, गुरुओ गुरुया य लहुय लहुगो य । 10
पेसग-करिंतगाणं, आणाइ विराहणा चेव ॥ १५९३ ॥

अलसादीन् य आचार्यः स्ववैयावृत्त्यार्थं प्रेषयति—व्यापारयतीत्यर्थः, यश्चैभिर्दोषैर्दुष्टः स्वयं वैयावृत्त्यं करोति, तयोः प्रेषक-कुर्वतोः प्रायश्चित्तम् । तद्यथा—'त्रिषु' अलस-बह्वाशि-निद्रालुषु लघुको मासः । 'त्रिषु' क्षपक-कोपना-ऽभिमानिषु चत्वारो लघवः । मायावति गुरुको मासः । लोभवति चत्वारो गुरुकाः । कौतूहलवति चत्वारो लघुकाः । सूत्रार्थप्रतिबद्धे लघुमासः । आज्ञा-15 दयश्च दोषा विराधना चात्म-संयमविषया ॥१५९३॥ तत्रालस-स्वपनशीलयोर्नियोजने दोषानाह—

ता अच्छइ जा फिडिओ, सइकालो अलस-सोविरे दोसा ।
गुरुमाई तेण विणा, विराहणुस्सक्क-ठवणादी ॥ १५९४ ॥

अलसः निद्रालुश्च

अलसः स्वपनशीलश्च तावदुपविष्टः शयानो वा आस्ते यावत् सन्—विद्यमानः कालः सत्कालो भिक्षायाः 'स्फिटितः' अतिक्रान्तो भवति ।[3] यद्वा तावलस-निद्रालू चिन्तयेताम्—20 'समापतितं तावदिदमस्माकमवश्यकरणीयं कर्म, अत एतदपि निर्वाहितं भवतु' इति कृत्वा अप्रासे एव भिक्षाकाले पर्यटेताम्,[4] ततो यद्वा तद्वा भक्त-पानं लभेते, न प्रायोग्यम्, 'तेन' प्रायो-ग्येण विना या 'गुर्वादीनाम्' आचार्य-बाल-वृद्ध-ग्लानादीनां विराधना तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्[5] । यद्वाऽतिक्रान्तायां वेलायामायान्तं वैयावृत्त्यकरं मत्वा प्रायोग्यस्योत्ष्वष्कणं[6] श्राद्धकाणि कुर्युः, उत्सूरे तद् विदध्युरिति भावः । यद्वा तानि तदुपस्कृतं प्रायोग्यभक्तं स्थापयेयुः ततः स्थापना-25 दोषः । आदिशब्दात् 'साधूनामसंविभक्तं भक्तं कथं स्वमुखे प्रक्षिप्यते ?' इति बुद्ध्या तेषामभु-ञ्जानानामन्तरायमित्यादयो दोषाः ॥ १५९४ ॥

अप्पत्ते वि अलंभो, हाणी ओसक्कणा व अइमद्दे ।
अणहिंडंतो व चिरं, न लहइ जं किंचि वाऽऽणेइ ॥ १५९५ ॥

---

१ °षो नियोक्तव्यः ?—अलसं भा० । "केरिसो पुण तेसु सड्ढकुलेसु निजुज्जइ ? तत्थ सव्वेव ताव एवंविधो नियोक्तव्यः" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ २ °पि अतिशायने मतुप्रत्ययः, यथा रूपवती कन्येति, भा० ॥ ३ अथवा ता° भा० ॥ ४ तद्वा च पर्यटन्तौ यद्वा तद्वा भक्तपानं लभते त० डे० कां० ॥ ५ °म् । अतिक्रान्तायां तु वेला° भा० ॥ ६ °ष्वष्कण-मावाद्वा° भा० ॥

अथ 'यदेतत् कर्मास्माकं मध्ये समापतितं तद् निर्वाहितं भवतु' इति कृत्वा अप्राप्ते काले भिक्षामटति तदा 'अलाभः' न किमपि प्राप्यते इति भावः । ततश्चाचार्यादीनां 'हानिः' असंस्तरणं भवति । यस्तु 'अतिभद्रकः' अतीवधर्मश्रद्धावान् गृहपतिः सः 'अवष्वष्कणं' विवक्षितकालादर्वाग् भक्तनिष्पादनं कुर्यात् । यद्वा असावलसत्वाद् निद्रालुत्वाद्वा चिरमहिण्डमानः सन् 5 न किमपि लभते, 'यत्किञ्चिद्वा' पर्युषितं वल्ल-चणकादिकं वा आनयति, तेन भुक्तेनाऽपथ्यतया गुर्वादीनां ग्लानत्वं भवति, ततः परिताप-महादुःखादिका ग्लानारोपणा ॥ १५९५ ॥

अथ "घसिर" त्ति पदं भावयति—

प्रसिता

गिण्हामि अप्पणो ता, पज्जत्तं तो गुरूण घिच्छामि ।
घेत्तुं च तेसि घिच्छं, सीयल-ओसक्क-ओमाई ॥ १५९६ ॥

10 यो महोदरः स वैयावृत्त्ये नियुक्तो भिक्षामटन् चिन्तयति—गृह्णामि तावदात्मनो योग्यं पर्याप्तं ततो गुरूणां हेतोर्ग्रहीष्यामि । यद्वा तेषां गुरूणां योग्यं गृहीत्वा तत आत्मनोऽर्थाय ग्रहीष्ये । इत्थं विचिन्त्य यदि प्रथमं गुरूणां योग्यं गृहीत्वा पश्चादात्मार्थं गृह्णाति ततो यावता कालेनात्मनः पर्याप्तं पूर्यते तावता तत् पूर्वं गृहीतं शीतलं स्यात्, तच्च गुरूणामकारकम्, ततः सैव ग्लानारोपणा । अथवा स्थापनाकुलेषु प्रथमतः प्रवेशो तत्राद्यापि वेलाया अप्राप्तत्वादवष्वष्क-15 णादयो दोषाः । अथ प्रथममात्महेतोर्गृह्णाति ततो यावता तत् पर्याप्तं भवति तावता स्थापनाकुलेषु वेलातिक्रमो भवेत् । अथ वेलातिक्रमभयाद् देशकाल एव तेषु प्रविशति तत आत्मनोऽवमं भवेत्, उदरपूरणं न भवेदिति भावः । ततश्चावमाहारतया तस्यैवानागाढा-ऽऽगाढपरितापादयो दोषाः ॥ १५९६ ॥ अथ क्षपक-क्रोधवतोर्दोषानाह—

क्षपकः क्रोधी च

परिताविज्जइ खमओ, अह गिण्हइ अप्पणो इयरहाणी ।
20 **अविदिन्ने कोहिल्लो, रूसइ किं वा तुमं देसि ॥ १५९७ ॥**

यदि क्षपको गुरूणां हेतोः प्रायोग्यं गृह्णाति नात्मनस्ततः स एव परिताप्यते, अथात्मनो गृह्णाति तत इतरेषां—आचार्याणां हानिः—परितापना । यस्तु क्रोधवान् सः 'अवितीर्णे' अदत्ते सति रुष्यति । रुष्टश्चागारिणं भणति—यदि भवान् न ददाति तर्हि मा दात् किं भवदीयं गृहं दृष्ट्वाऽस्माभिः प्रव्रज्या प्रतिपन्ना ? इति, किं वा त्वं ददासि येन 'एवमहं ददामि' इति 25 गर्वितो भवसि ? इत्यादिभिर्दुर्वचनैः श्राद्धं विपरिणमयति ॥ १५९७ ॥ मानि-मायिनोर्दोषानाह—

मानी मायी च

ऊणाणुट्ठमदिन्ने, थद्धो न य गच्छए पुणो जं च ।
माई भद्दगभोई, पंतेण व अप्पणो छाए ॥ १५९८ ॥

यः स्तब्धः सः 'ऊने' तुच्छे दत्ते "अणुट्ठ" त्ति अभ्युत्थाने वा अकृते "अदिन्न" त्ति सर्वथैव वा अदत्ते सति 'पुनः' भूयस्तदीयं गृहं न गच्छति, भणति च—श्रावकाणामितरेषां च 30 को विशेषः ? यदि द्वितयेऽपि साधूनामभ्युत्थानादिविनयप्रक्रियामन्तरेण भिक्षां प्रयच्छन्ति ततो नाहममुष्य गृहं भूयः प्रविशामीति । ततः "जं च" त्ति तद्गृहे प्रवेशं विना प्रायोग्यस्यालाभे यत् किञ्चिदाचार्यादीनां परितापनादिकं भवति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । यस्तु मायी सः

१ इत्यर्थः । त° भा° ॥

'भद्रकभोजी' प्रायोग्यमुपाश्रयाद् बहिर्भुक्त्वा प्रान्तमानयतीति भावः, यद्वा 'प्रान्तेन' वल्ल-चणकादिना आत्मनो योग्यं स्निग्ध-मधुरद्रव्यं छादयति, छादयित्वा च गुरूणां दर्शयति ॥ १५९८ ॥

लुब्धस्य दोषानाह—

ओभासइ खीराई, दिज्जंते वा न वारई लुद्धो ।
जेऽणेगविसणदोसा, एगस्स वि ते उ लुद्धस्स ॥ १५९९ ॥ 5 लोभी

यो लुब्धः स स्थापनाकुलेषु क्षीरादीन्यवभाषते । यद्वा श्रद्धातिरेकतस्तैर्दीयमानानि स्निग्ध-मधुराणि न वारयति । ततश्च येऽनेकेषु सङ्घाटकेषु स्थापनाकुलं प्रविशत्सु चमढणादयो दोषा वर्णितास्ते सर्वेऽप्येकस्यापि लुब्धस्य प्रविशतो द्रष्टव्याः ॥ १५९९ ॥

कुतूहलिनः प्रतिबद्धस्य च दोषानाह—

नडमाई पिच्छंतो, ता अच्छइ जाव फिट्टई वेला । 10
सुत्तत्थे पडिबद्धो, ओसक्क-ऽहिसक्कमाईया ॥ १६०० ॥ कुतूहली प्रतिबद्धश्च

यः कुतूहली स नटादीन् प्रेक्षमाणस्तावदास्ते यावद् वेला स्फिटति । यस्तु सूत्रेऽर्थे वा 'प्रतिबद्धः' आसक्तः स गुरूणां धर्मकथादिव्यग्रतया यदैवान्तरं लभते तदैवाप्राप्तकालेऽपि भिक्षार्थमवतरति, वेलातिक्रमं वा कृत्वा कालवेलादाववतरति, ततोऽवष्वष्कणा-ऽभिष्वष्कणादयो दोषाः ॥ १६०० ॥ यतश्चैवमतः किं कर्त्तव्यम्? इत्याह— 15

एयद्दोसविमुक्कं, कडजोगिं नायसीलमायारं । वैयावृत्त्य-करस्य गुणाः
गुरुभत्तिमं विणीयं, वेयावच्चं तु कारिज्जा ॥ १६०१ ॥

एभिः—अनन्तरोक्तैर्दोषैर्विमुक्तं—वर्जितम्, किंविशिष्टम्? इत्याह—'कृतयोगिनं' गीतार्थं 'ज्ञातशीला-ऽऽचारं' ज्ञातं—सम्यगवगतं शीलं—प्रियधर्मतादिरूपमाचारश्च—चक्रवालसामाचारीरूपो यस्य स तथा तम्, तथा गुरवः—आचार्यास्तेषु भक्तिमन्तम्—आन्तरप्रतिबन्धोपेतम्, 'विनीतम्' 20 अभ्युत्थानादिबाह्यविनयवन्तम्, एवंविधं शिष्यं वैयावृत्त्यमाचार्यः कारयेत् ॥ १६०१ ॥

आह किमर्थं वैयावृत्त्यकरस्येयन्तो गुणा मृग्यन्ते? उच्यते—

साहंति य पियधम्मा, एसणदोसे अभिग्गहविसेसे ।
एवं तु विहिग्गहणे, दव्वं वड्ढंति गीयत्था ॥ १६०२ ॥

प्रियधर्माण उपलक्षणत्वादपरैरप्यनन्तरोक्तगुणैर्युक्ता वैयावृत्त्यकराः "साहंति" त्ति कथयन्ति 25 'एषणादोषान्' म्रक्षित-निक्षिप्तादीन् । यथा—इत्थं म्रक्षितदोषो भवति, इत्थं तु निक्षिप्त इत्यादि । एतैश्च दोषैर्दुष्टं साधूनां न दीयते । 'अभिग्रहविशेषाँश्च' जिनकल्पिक-स्थविरकल्पिकसम्बन्धिनः कथयन्ति । 'एवम्' उक्तेन विधिना स्थापनाकुलेषु ग्रहणे श्रद्धां वर्धयन्तो गीतार्थाः 'द्रव्यमपि' घृतादिकं वर्धयन्ति ॥ १६०२ ॥ इदमेव भावयति— वैयावृत्त्य-करेण श्राद्धेभ्य एषणादि-दोषाणा-मभिगृही-तैषणादीनां च ज्ञापना

एसणदोसे व कए, अकए वा जइगुणे विकत्थिता । 30
कहयंति असढभावा, एसणदोसे गुणे चेव ॥ १६०३ ॥

'एषणादोषे' म्रक्षितादौ कृते वा अकृते वा 'यतिगुणान्' क्षान्ति-मार्दवादीन् 'विकत्थमानाः' विविधं श्लाघमानाः 'अशठभावाः' कैतववर्जिताः न भक्षणोपायनिमित्तमिति भावः एषणा दोषान्

कथयन्ति । तथा गुणाः--साधूनां प्रासुकैषणीयभक्त-पानप्रदानप्रभवाः पापकर्मनिर्जरादयस्तांश्च गीतार्थाः कथयन्ति । यथा--

समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ? गोयमा ! एगंतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से 5 केइ पावकम्मे कज्जइ त्ति । (भगवती श० ८ उ० ६ पत्र ३७३-१) ॥ १६०३ ॥

अथैत्थं न कथयेयुः ततः के दोषाः ? इत्याह--

बालाई परिचत्ता, अकहिंतेऽणेसणाइगहणं वा ।
न य कहपबंधदोसा, अह य गुणा साहिया होंति ॥ १६०४ ॥

तेषु श्राद्धकुलेषु जिनकल्पिका भिक्षार्थमायाताः, तेषां परमान्नादिकं लेपकृतमुपनीतम्, तैश्च 10 भगवद्भिः प्रतिषिद्धम्, ततस्तानि श्राद्धकानि चिन्तयेयुः--एत एव प्रधानाः साधवः, इतरे तु स्निग्ध-मधुरद्रव्यग्राहिणः सर्वेऽपि नामधारकमात्राः साध्वाभासा एवेति । ततः श्रद्धाभङ्गभाञ्जि तानि भूयः प्रायोग्यद्रव्यं नोपढौकयेयुः । एवमभिग्रहविशेषान् अकथयद्भिर्गीतार्थैर्बालादयः परित्यक्ता भवन्ति । अथैषणादोषान् शुद्धभक्त-पानदानस्य च गुणान् न कथयेयुः ततस्तानि श्राद्धकान्यनेषणां कुर्युः । तत्र यदि प्रतिषिध्यते तदाऽपि बालादयः परित्यक्ताः, तेषां प्रायोग्याभावे 15 संस्तरणाभावात् । अथ न प्रतिषिध्यते ततोऽनेषणादिग्रहणं भवेत्, आदिशब्द एषणादोषाणामेव स्वगतानेकभेदसूचकः । आह गोचरप्रविष्टानां साधूनां कथाप्रबन्धः कर्तुं न कल्पते, अमी च साधव इत्थमेषणादोषादीनां कथां प्रबध्नन्तः कथं न दोषभाजो भवन्ति ? इत्युच्यते--'न च' नैवात्र कथाप्रबन्धदोषा भवन्ति, यदि हि भक्त-पानलोलुपतया कथां प्रबध्नीयुस्ततो भवेयुर्दोषाः, तच्च नास्ति, एषणाशुद्धिहेतोरेव तेषामित्थं कथनात् । अथ च प्रत्युतेत्थं कथयद्भिस्तैर्गीतार्थैः 20 'गुणाः' बाल-वृद्धाद्युपष्टम्भ-गुरुभक्तिप्रभृतयः साधिता भवन्ति ॥ १६०४ ॥

(ग्रन्थाग्रम्--७६२० । मलयगिरिकृतग्रन्थाग्रम्--४६०० । उभयग्रन्थाग्रम्--१२२२० ।)

कथं पुनस्ते कथयन्ति ? इत्याह--

ठाणं गमणाऽऽगमणं, वावारं पिंडसोहिमुल्लोगं ।
जाणंताण वि तुज्झं, बहुवक्खेवाण कहयामो ॥ १६०५ ॥

25 'स्थानं' नाम आत्म-प्रवचन-संयमोपघातवर्जितो भूभागः । यत्र स्थितस्य गवा-ऽश्व-महिषादेराहननादि न भवति स आत्मोपघातवर्जितः । यत्र तु निर्द्धमनाद्यशुचिस्थानव्यतिरिक्ते प्रदेशे स्थितस्य लोकः प्रवचनस्यावर्णं न ब्रूयात् स प्रवचनोपघातवर्जितः । यत्र पुनः पृथिव्यादिकायानां विराधना न भवति स संयमोपघातवर्जितः । ईदृशे स्थाने साधुना दायकेन वा स्थित्वा भिक्षा ग्राह्या देया वेति ज्ञापयन्ति । 'गमनं' नाम दायकेन भिक्षादानार्थं गृहमध्ये प्रविशता षट्कायानामुपमर्दनम- 30 कुर्वता गन्तव्यम् । एवम् 'आगमनमपि' भिक्षां गृहीत्वा साधुसम्मुखमागच्छता दायकेनोपयुक्तेनागन्तव्यम् । व्यापारः--कर्तन-कण्डन-पेषणादिकः, तं च सम्यग् ज्ञापयन्ति--ईदृशे व्यापारे भिक्षा ग्रहीतुं कल्पते, ईदृशे तु नेति । "पिंडसोहिमुल्लोगं" ति पिण्डशुद्धेः 'उल्लोकं' लेशोद्देशं

१-३-६ तत् भा० ॥ २-४-७ °वर्जितम् भा० ॥ ५ °ब्यादीनां का° भा० ॥

कथयन्ति, 'इत्थमाधाकर्मादयो दोषा उपजायन्ते, इत्थमेभिर्दोषैरदुष्टः पिण्डः साधूनां दीयमानः शुद्धो बहुफलश्च भवति' इत्येवं पिण्डनिर्युक्तिं लेशतो ज्ञापयन्तीति भावः । तथा यद्यपि यूय-मिदं साधुधर्मस्वरूपमग्रेऽपि जानीथ तथापि युष्माकं बहुव्याक्षेपाणामविस्मरणार्थं कथयाम इति ॥ १६०५ ॥ अपि च—

केसिंचि अभिग्गहिया, अणभिग्गहिएसणा उ केसिंचि । 5
मा हु अवण्णं काहिह, सव्वे वि हु ते जिणाणाए ॥ १६०६ ॥

केषाञ्चित् साधूनामभिगृहीता एषणा, यथा जिनकल्पिकानाम् । केषाञ्चित् त्वनभिगृहीता, यथा गच्छवासिनाम्, सप्तस्वपि पिण्डैषणासु तेषां भक्त-पानस्य ग्रहणात् । एवं चापरापरां भक्त-पानग्रहणसामाचारीं दृष्ट्वा यूयं मा अवज्ञां करिष्यथ । कुतः ? इत्याह—'सर्वेऽपि ते' भग-वन्तो जिनकल्पिकाः स्थविरकल्पिकाश्च जिनाज्ञायां वर्त्तन्ते, स्वस्वकल्पस्थितिपरिपालनात्, 10 अतो न केऽप्यवज्ञातुमर्हन्तीति भावः ॥ १६०६ ॥ किञ्च—

संविग्गभावियाणं, लुद्धगदिट्ठंतभावियाणं च ।
मुत्तूण खेत्त-काले, भावं च कहिंति सुद्धुंछं ॥ १६०७ ॥

येषां श्राद्धानां पुरत एषणादोषाः कथ्यन्ते ते[2] द्विधा—संविग्नभाविता लुब्धकदृष्टान्तभावि-ताश्च । संविग्नैः—उद्यतविहारिभिर्भाविताः संविग्नभाविताः । ये तु पार्श्वस्थादिभिर्लुब्धकदृष्टान्तेन 15 भावितास्ते लुब्धकदृष्टान्तभाविताः । कथम् ? इति चेद् उच्यते—ते पार्श्वस्थाः श्राद्धानित्थं प्रज्ञापयन्ति—यथा कस्यापि हरिणस्य पृष्ठतो लुब्धको धावति, तस्य च हरिणस्य पलायनं श्रेयः, लुब्धकस्यापि तत्पृष्ठतोऽनुधावनं श्रेयः; एवं साधोरप्यनेषणीयग्रहणतः[3] पलायितुमेव युज्यते, श्रावकस्यापि तेन तेनोपायेन साधोरेषणीयमनेषणीयं[4] वा दातुमेव युज्यते इति । इत्थं द्विविधा-नामपि श्राद्धानां पुरतः शुद्धं—द्वाचत्वारिंशद्दोषरहितं यदुञ्छमितोऽञ्छं स्तोकस्तोकग्रहणात् 'शुद्धो- 20 ञ्छम्' उत्सर्गपदमित्यर्थः तत् कथयन्ति । किं सर्वदैव ? न इत्याह—'मुक्त्वा क्षेत्र-कालौ भावं च' इति क्षेत्रं—कर्कशक्षेत्रमध्वानं वा कालं—दुर्भिक्षादिकं 'भावं' ग्लानत्वादिकं प्रतीत्य ते श्राद्धाः किञ्चिदपवादमपि ग्राह्यन्ते ॥ १६०७ ॥ अपि च इदमपि ते श्राद्धा ज्ञापनीयाः—

संथरणम्मि असुद्धं, दोण्ह वि गिण्हंत-दितयाणऽहियं ।
आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥ १६०८ ॥ 25

संस्तरणं नाम—प्रासुकमेषणीयं चाशनादि पर्याप्तं प्राप्यते न च किमपि ग्लानत्वं विद्यते तत्र 'अशुद्धम्' अप्रासुकमनेषणीयं च गृह्णतो ददतश्च द्वयोरपि 'अहितम्' अपथ्यम्, गृह्णतः संयमबाधाविधायित्वाद् ददतस्तु भवान्तरे स्वल्पायुर्निबन्धनकर्मोपार्जनात् । 'तदेव' अशुद्धम् 'असंस्तरणे' अनिर्वाहे दीयमानं गृह्यमाणं च 'हितं' पथ्यं भवति । आह कथं तदेव कल्प्यं तदेव चाकल्प्यं भवितुमर्हति ? इति उच्यते—आतुरः—रोगी तस्य दृष्टान्तेनेदं मन्तव्यम् । 30

१ °थः । इदं च यूयं सकलमपि जानीथ भा० ॥ २ "ते दुविहा—संविग्गभाविया वा लिंगत्थ-भाविया वा । लुद्धगदिट्ठंतो लिंगत्थेहिं" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ ३ °ण्यकल्पनीयग्र° भा० ॥ ४ साधोः कल्पनीयमकल्पनीयं वा भा० ॥

यथा हि रोगिणः कामप्यवस्थामाश्रित्यानौषधादिकमपथ्यं भवति, काञ्चित् पुनः समाश्रित्य तदेव पथ्यम्, एवमिहापि भावनीयम् ॥ १६०८ ॥

तदेवं भावितं "साहंति य पियधम्मा, एसणदोसे अभिग्गहविसेसे" (गा० १६०२) इति । अथ यदुक्तम् "एवं तु विहिग्गहणे" (गा०१६०२) त्ति तत्र विधिग्रहणं भावयति—

विधि-ग्रहणम्

5 **संचइयमसंचइयं, नाऊण असंचयं तु गिण्हंति ।**
संचइयं पुण कज्जे, निब्बंधे चेव संतरियं ॥ १६०९ ॥

प्रायोग्यद्रव्यं द्विधा—सञ्चयिकमसञ्चयिकं च । 'सञ्चयिकं' घृत-गुड-मोदकादि, 'असञ्चयिकं' तु दुग्ध-दधि-शालि-सूपादि । तत्र यदसञ्चयिकं तत् स्थापनाकुलेषु प्रभूतं ज्ञात्वा गृह्णन्ति । सञ्चयिकं पुनर्ग्लान-प्राघूर्णकादौ महति कार्ये उत्पन्ने गृह्णन्ति । अथ श्राद्धानां महान् निर्बन्धो 10 भवति ततोऽग्लाना अपि गृह्णन्ति, परं 'सान्तरितं' न दिने दिने इति भावः । एष सञ्चयिकग्रहणस्यापवाद उक्तः ॥ १६०९ ॥ अथापवादपदस्याप्यपवादमाह—

अहवण सद्धा-विभवे, कालं भावं च बाल-वुड्ढाई ।
नाउ निरंतरगहणं, अछिन्नभावे य ठायंति ॥ १६१० ॥

"अहवण" त्ति अखण्डमव्ययं प्रकारान्तरद्योतनार्थम् । श्रावकाणां श्रद्धां च-दानरुचिं तीव्रां 15 परिज्ञाय विभवं च विपुलं तदीयगृहेष्ववगम्य 'कालं' दुर्भिक्षादिकं 'भावं च' ग्लानत्वादिकं ज्ञात्वा बाल-वृद्धादयो वा आप्यायिता भवन्त्विति ज्ञात्वा निरन्तरग्रहणमपि कुर्वन्ति, सञ्चयिकमपि दिने दिने गृह्णन्तीति भावः । यावच्च दायकस्य दानभावो न व्यवच्छिद्यते तावदच्छिन्ने भावे 'तिष्ठन्ति' दीयमानं प्रतिषेधयन्तीत्यर्थः, यथा तेषां भूयोऽपि श्रद्धा जायते ॥ १६१० ॥

अथ स्थापनाकुलेषु भक्त-पानग्रहणे सामाचारीमभिधित्सुराह—

स्थापना-कुलेभ्यो भक्तादि-ग्रहणे सामाचारी

20 **दव्वप्पमाण गणणा, खारिय फोडिय तहेव अद्धा य ।**
संविग्ग एगठाणे, अणेगसाहूसु पन्नरस ॥ १६११ ॥

---

१ यथा हि रोगिणः कामप्यवस्थामाश्रित्य पथ्यमपथ्यं भवति, काञ्चित् पुनः समाश्रित्य अपथ्यमपि पथ्यम्; एवमिहापि भावनीयम् । गाभाव (?) विषादिकमौषधलवमात्रमप्युपयुज्यमानमपथ्यतया महतीं चित्तविप्लुतिप्रभृतिकां दुःखासिकां जनयति, तदेव सान्निपातिकादिरोगावेगविह्वलीभूतस्य पुरुषस्य रसभिषगुपदेशेनोपयुज्यमानं पथ्यरूपतया परिणमति महतीं च चेतनापाटवप्रभृतिकां सुखासिकां सम्पादयति । उक्तं च—"सरुजस्यौषधं पथ्यं, नीरुजस्य किमौषधैः ? ।" एवं संस्तरणे सत्यशुद्धमशनादिकं विषादिवदपथ्यतया दायक-ग्राहकयोरुभयोरपि महतीमिह परत्र च दुःखपरम्परामुपजनयति, तदेवासंस्तरणे दीयमानमादीयमानं वा परमामृतवत् परिणमति, ततश्च क्रमेणाजरामरत्वलक्षणां महतीं सुखासिकामुत्पादयतीति ॥ १६०८ ॥ भा० । "आतुरदिट्ठंतेणं यथा—'व्याधितस्यौषधं पथ्यं, नीरुजस्य किमौषधैः ? ।' जधा वा खीरं एगस्स अपत्थं एगस्स पत्थं उत्तणयो कातव्वो । अण्णं च कहिंति—अज्ज आयरियाण अभत्तट्ठो, अज्ज आयंबिलं निव्वीइयं, तद्दिवसं परिहरंति" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ २ °कादिकमविनाशि द्रव्यम्, 'अस° भा० ॥ ३ °पादिकं विनाशि । तत्र भा० ॥ ४ एव ठवणा, अणे° ता० ॥

द्रव्यं–शाल्यादि तस्य प्रमाणं ज्ञातव्यम्, कियदत्र गृहे रसवत्यां शालि-मुद्गादिकं दिने दिने प्रविशति ? । 'गणना' नाम कियन्ति घृतपलान्यत्र प्रविशन्ति ? यद्वा कियन्ति मानुषाण्यत्र जेमयन्ति ? । "खारिय" त्ति क्षारः–लवणं तेन संस्कृतानि 'क्षारितानि' लवणकरीरादीनि व्यञ्जनानि तानि कियन्त्यत्र पच्यन्ते ? इति । "फोडिय" त्ति 'स्फोटितानि' मरिच-जीरकादिकटुभाण्डधूपितानि शालनकानि एतेषामपि तथैव प्रमाणं ज्ञातव्यम् । 'अद्धा' कालः स ज्ञातव्यः, 5 किमत्र प्रहरे वेला ? उत सार्द्धप्रहरे ? आहोश्वित् प्रहरद्वये ? इति । एतद् द्रव्यप्रमाणादिकं विज्ञाय 'संविग्नः' मोक्षाभिलाषी "एगठाणे" त्ति एकः सङ्घाटकस्तत्र प्रविशति । यदि पुनरनेके साधवः स्थापनाकुलेषु प्रविशन्ति ततः 'पञ्चदश' आधाकर्मादयो अनिसृष्टान्ता उद्गमदोषा भवन्ति, अध्यवपूरकस्य मिश्रजात एवान्तर्भावात् । एष **सङ्ग्रहगाथा**समासार्थः ॥ १६११ ॥

अस्या एव भाष्यकृद् व्याख्यानमाह— 10

असणाइदव्वमाणे, दसपरिमिय एगभत्तमुव्वरइ ।
सो एगदिणं कप्पइ, निच्चं तु अज्झोयरो इहरा ॥ १६१२ ॥

अशनम्–ओदन-मुद्गादि, आदिग्रहणात् पानक-खादिम-स्वादिमपरिग्रहः, एतेषां द्रव्याणां परिमितानामपरिमितानां वा मानं–प्रमाणं ज्ञातव्यम् । यत्र परिमितमशनादि द्रव्यं प्रविशति तत्र दशानां मानुषाणां हेतोरुपस्क्रियमाणे एकस्य–अपरस्य योग्यं भक्तं–भक्तार्थमुद्वरति, स च भक्तार्थ 15 एकस्य साधोः परिपूर्णाहारमात्रारूप एकं दिनं ग्रहीतुं कल्पते । 'इतरथा' यदि द्वितीयादिषु दिवसेषु गृह्णन्ति तदा "निच्चं तु" त्ति स साधुभिः प्रतिदिवसगृह्यमाणो भक्तार्थो नित्यजेमनमेव तैः श्राद्धैर्गण्यते, ततश्च तदर्थमध्यवपूरकः प्रक्षिप्येत ॥ १६१२ ॥

एवं तावत् परिमितमाश्रित्योक्तम् । अथापरिमितमधिकृत्याह—

अपरिमिए आरेण वि, दसण्हमुव्वरइ एगभत्तट्ठो । 20
वंजण-समिइम-पिट्ठे-वेसणमाईसु य तहेव ॥ १६१३ ॥

यत्र पुनरपरिमितं राध्यते तत्र दशानां मानुषाणाम् 'अर्वागपि' नवाष्टादिसङ्ख्याकानामपि हेतो राद्धे एकस्य योग्यो भक्तार्थ उद्वरति, स च दिने दिने कल्पत इति । आह च **चूर्णिकृत्**—

अपरिमिए पुण भत्ते दसण्ह आरेण वि एगस्स भत्तट्ठो दिणे दिणे कप्पइ चेव ।

तथा व्यञ्जनानि–तीमन-वटिका-भर्जिकादीनि, "समितिम" त्ति समिता–कणिक्का तया निष्प- 25 न्नाः समितिमाः–मण्डकाः पूपलिका वा, पिष्टम्–उण्डेरकादि सक्तुप्रभृति वा, वेसणं–मरिच-जीरक-हिङ्गुप्रभृतिकं कटुभाण्डम्, आदिग्रहणाद् लवण-शुण्ठ्यादिपरिग्रहः । एतेषामपि परिमाणं तथैव द्रष्टव्यं यथाऽशनादीनाम् ॥ १६१३ ॥ एतावता "द्रव्यप्रमाणं गणना-क्षारित-स्फोटितानि" (गा० १६११) इति गाथादलं भावितम् । अथ "अद्धा य" (गा० १६११) त्ति पदं व्याचष्टे—

सतिकालद्धं नाउं, कुले कुले ताहि तत्थ पविसंति । 30
ओसक्कणाइदोसा, अलंभे बालाइहाणी वा ॥ १६१४ ॥

१ °कानि कियन्मात्राण्यत्र संस्क्रियन्ते ? । "अद्ध" त्ति 'अद्धा' भा० ॥ २ °च्चं चिय ओयरो ता० ॥

सत्काकाङ्क्षा–भिक्षाया: सम्बन्धी यो यत्र देशकालस्तमोऽङ्गा तं ज्ञात्वा कुले कुले तस्मिन् देश-कालके तत्र प्रविशन्ति । अथ देशकालेऽतिक्रान्तेऽप्राप्ते वा प्रविशन्ति ततोऽवष्वष्कणादयो दोषाः । अथावष्वष्कणादिकं तानि श्राद्धकान्यशुद्धदानदोषश्रवणव्युत्पन्नमतीनि न कुर्युः ततः प्रायोग्य-द्रव्यस्यालाभे बालादीनां हानिर्भवेदिति ॥ १६१४ ॥ [1]एवं यत्र क्षेत्रे एक एव गच्छो भवेत् 5 तत्र स्थापनाकुलप्रवेशो सामाचारी भणिता । अथानेकगच्छविषयां तामेवाभिधित्सुराह—

एगो व होज्ज गच्छो, दोण्णि व तिण्णि व ठवणा असंविग्गे ।
सोही गिलाणमाई, असई य दवाई एमेव ॥ १६१५ ॥

विवक्षितक्षेत्रे एको वा गच्छो भवेद् द्वौ वा त्रयो वा, तत्रैकं गच्छमाश्रित्य विधिरुक्तः । अथ द्व्यादीन् गच्छानधिकृत्य विधिरभिधीयते—"ठवणा असंविग्गे" त्ति येषु असंविग्नाः प्रवि-10 शन्ति तेषां श्राद्धकुलानां स्थापना कर्त्तव्या, न तेषु प्रवेष्टव्यम् । अथ प्रविशन्ति ततः पश्चात्कृतो-द्गमदोषानापद्यन्ते, "सोहि" त्ति तद्दोषनिष्पन्ना 'शोधिः' प्रायश्चित्तम् । यद्वा "सोहि" त्ति पदं "गिलाणमाई" इत्युत्तरपदेन सह योज्यते, ततोऽयमर्थः—ग्लान-प्राघूर्णकादीनामर्थायासंविग्न-भावितेष्वपि कुलेषु 'शोधिः' एषणाशुद्धिः तया शुद्धं भक्तं गृह्यते न कश्चिद् दोषः । "असई इ दवाइ एमेव" त्ति अन्यत्र 'असति' अविद्यमाने द्रवादिकमपि 'एवमेव' असंविग्नभावित-15 कुलेषु ग्रहीतव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः ॥ १६१५ ॥ अथैनामेव विवरीषुराह—

संविग्गमणुन्नाए, अइंति अहवा कुले विरिंचंति ।
असमाउंछं व सहू, एमेव य संजईवग्गे ॥ १६१६ ॥

इह येस्तत् क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं तेषु पूर्वस्थितेषु येऽन्ये साधवः समायान्ति ते साम्भोगिका असाम्भोगिका वा स्युः । तत्रासाम्भोगिकेषु संविग्नेषु विधिरुच्यते—संविग्नैर्वास्तव्यसाधुभिः 'अनु-20 ज्ञाते' 'यूयं स्थापनाकुलेषु प्रविशत, वयमज्ञातोञ्छं गवेषयिष्यामः' इत्येवमनुज्ञायां प्रदत्तायां ये आगन्तुकाः संविग्नास्ते स्थापनाकुलेषु "अइंति" त्ति प्रविशन्ति । वास्तव्यास्तु स्थापनाकुलवर्जेषु गुरु-बाल-वृद्धादीनामात्मनश्च हेतोर्भक्त-पानमुत्पादयन्ति । अथ वास्तव्या असहिष्णवस्ततो यावन्तो गच्छास्तावद्भिर्भागैः स्थापनाकुलानि विरिञ्चन्ति—आर्याः ! एतावत्सु कुलेषु भवद्भिः प्रवेष्टव्यम्, एतावत्सु पुनरस्माभिरिति । अथवा यद्यागन्तुकाः "सहू" इति 'सहिष्णवः' समर्थशरीरास्ततो-25 ऽज्ञातोञ्छं गवेषयन्तः पर्यटन्ति । एवमेव च संयतीवर्गेऽपि द्रष्टव्यम्, ता अपि द्व्यादिगच्छ-सद्भावे एवंविधमेव विधिं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १६१६ ॥

एवं तु असंभोइआण संभोइआण ते चेव ।
जाणित्ता निब्बंधं, वत्थव्वेयं स उ पमाणं ॥ १६१७ ॥

---

१ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः मो० ले० प्रक्षिप्त एव, अयं च प्रक्षिप्तपाठ एव, अनन्तरगाथाटीकाया-मेतदर्थनिरूपणात् ॥ २ गाथेयं चूर्णिकृता विशेषचूर्णिकृता च पुरातनगाथात्वेन निर्दिष्टा ॥ ३ अलाभे द्रवा° ॥ ४ इह ये द्व्यादयो गच्छाः [ते] परस्परं साम्भोगिकाः भा० ॥ ५ °सा-यामिति भावः ये भा० ॥ ६ °स्माभिरित्येवं विभुञ्जतीति (विभजन्तीति) भावः । अथ° भा० । "अधवा भजावं ठवेंति—एवतिएहिं कुलेहिं तुब्भे पविसेज्जाध, एवतिएहिं अम्हे पविसिस्सामो, एवं 'विरिंचंति' विभजन्तीत्यर्थः" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥

एवं 'तुः' पुनरर्थे एष पुनर्विधिरन्यसाम्भोगिकानामुक्तः, ये तु साम्भोगिकाः—परस्परमेक-सामाचारीकास्तेषामागन्तुकानामर्थाय त एव वास्तव्याः स्थापनाकुलेभ्यो भक्त-पानमानीय प्रयच्छन्ति । अथ श्राद्धाः प्राघूर्णकमद्रका अतीव निर्बन्धं कुर्युः, यथा—प्राघूर्णकसङ्घाटकोऽप्य-स्मद्गृहे स्थापनीयः, ततो निर्बन्धं ज्ञात्वा वास्तव्यसङ्घाटिकेन आगन्तुकसङ्घाटिकं गृहीत्वा तत्र गन्तव्यम् । यदि च तत्र प्रचुरं प्रायोग्यं प्राप्यते तत आगन्तुकसङ्घाटिकेन गवेषणा न कर्तव्या— 5 किमित्येतावत् प्रचुरं दीयते ? किन्तु 'स तु' स एव वास्तव्यसङ्घाटिकस्तत्र प्रमाणम्, यावन्मात्रं ग्रहीतव्यं यद्वा कल्पनीयं तदेतत् सर्वमपि स एव जानातीति भावः ॥ १६१७ ॥

एष एकस्यां वसतौ स्थितानां विधिरुक्तः । अथ पृथग्वसतिव्यवस्थितानामाह—

असइ वसहीऍ वीसुं, रायणिए वसहि भोयणाऽऽगम्म ।
असहू अपरिणया वा, ताहे वीसुंऽसहू वियरे ॥ १६१८ ॥ 10

विस्तीर्णाया वसतेः 'असति' अभावे 'विष्वक्' पृथग् अन्यस्यां वसतौ स्थितानामागन्तुको वास्तव्यो वा यः 'रत्नाधिकः' आचार्यस्तस्य वसतावागम्यावमरत्नाधिकेन भोजनं कर्तव्यम् । अथै-कस्मिन् गच्छे द्वयोर्वा गच्छयोः 'असहिष्णवः' ग्लाना भवेयुः अपरिणता वा शैक्षाः परस्परं मिलिताः सन्तोऽसङ्खडं कुर्युः तदा "वीसुं" ति अपरिणतान् 'विष्वक्' पृथग् भोजयन्ति । "सहू-वियरे" त्ति अकारप्रश्लेषाद् असहिष्णूनां प्रथमालिकां 'वितरन्ति' प्रयच्छन्ति । ततोऽपरिणतान् 15 वसतौ स्थापयित्वा कृतप्रथमालिकान् असहिष्णून् गृहीत्वा सर्वेऽपि रत्नाधिकवसतौ गत्वा मण्डल्यां भुञ्जते । अथवोत्तरार्द्धमन्यथा व्याख्यायते—"असहू" इति यद्यवमरत्नाधिक आचार्यः स्वयमसहिष्णुर्न शक्नोति रत्नाधिकाचार्यसन्निधौ गन्तुं न वा तावतीं वेलां प्रतिपालयितुं शक्तः 'अपरिणता वा' अगीतार्थास्तस्य शिष्यास्तेषां नास्ति कोऽपि सामाचार्या उपदेष्टा आलोचनाया वा प्रतीच्छकः ततो विष्वग्वसतौ द्वावप्याचार्यौ समुद्दिशतः । "सहू वियरे" त्ति 'वा' अथवा यदि 20 रत्नाधिकः सहिष्णुस्ततः 'इतरस्य' अवमरत्नाधिकस्योपाश्रयं गत्वा समुद्दिशति ॥ १६१८ ॥

एवं तावद् द्वयोर्गच्छयोर्विधिरुक्तः । अथ त्रयो गच्छा भवेयुस्ततः को विधिः ? इत्याह—

तिण्हं एकेण समं, भत्तट्ठं अप्पणो अवड्ढं तु ।
पच्छा इयरेण समं, आगमण विरेगु सो चेव ॥ १६१९ ॥

यद्येक आचार्यो वास्तव्यो भवति द्वौ चागन्तुकौ तत इत्थं त्रयाणामाचार्याणां सम्भवे द्वयो- 25 रागन्तुकयोर्मध्याद् यो रत्नाधिकस्तस्य सम्बन्धी यो वैयावृत्त्यकरस्तेनैकेन समं वास्तव्याचार्यवैया-वृत्त्यकरः पर्यटन् प्राघूर्णकाचार्यस्य हेतोः 'भक्तार्थं' परिपूर्णाहारमात्रारूपम् 'आत्मनश्च' आत्मीया-चार्यार्थम् 'अपार्द्धम्' अर्द्धभुक्तमात्रं श्राद्धकुलेभ्यो गृह्णाति । पश्चाद् 'इतरेण' आगन्तुकावमरत्ना-धिकाचार्यसम्बन्धिना वैयावृत्त्यकृता समं पर्यटन् तथैव तस्यापि भक्तार्थमात्मनश्चार्द्धभुक्तमात्रं गृह्णाति । "आगमण विरेगो सो चेव" त्ति यदि त्रिचतुःप्रभृतीनामाचार्याणामागमनं भवति 30 ततः स एव 'विरेकः' विभजनम् । किमुक्तं भवति ?—तदीयैरपि वैयावृत्त्यकरैः समं यथाक्रमं पर्यटता वास्तव्यसाधुनाऽऽत्मीयाचार्यार्थं तथा त्र्यादिभिर्भागैर्भक्तार्थं विभज्य भक्तं ग्रहीतव्यं यथा सर्वान्तिमवैयावृत्त्यकरेण समं पर्यटतामनुगुरूणां भक्तार्थं परिपूर्यतीति ॥ १६१९ ॥

अथ "गिलाणमाई असति" (गा० १६१५) त्ति पदं विवृणोति—

अतरंतस्स उ जोगासईएँ इयरेहिँ भाविए विसिउं ।
अक्षमहाणसुवक्खड, जं वा सन्नी सयं भुंजे ॥ १६२० ॥

"अतरंतो" ग्लानः तस्य उपलक्षणत्वादाचार्यस्यापि यद् योग्यं–प्रायोग्यं तस्य असति–अलाभे १ इतरे नाम–असंविग्नास्तैर्भावितेषु श्राद्धकुलेषु प्रविश्य यस्मिन् महानसे ते असंविग्ना अध्यवपूरकादिदोषदुष्टां भिक्षां गृह्णते तद् वर्जयित्वा यदन्यस्मिन् महानसे केवलं गृहार्थमेवोपस्कृतं ततो ग्लानाद्यर्थं गृह्यते, यद् वा भक्तं पृथगुपस्कृतं "सन्नी" स गृहस्वामी श्रावकः स्वयं भुङ्क्ते ततो वा गृह्यते, अन्यदीयाद्वा कुतोऽपि गृहाद् यत् प्रहेणकादिकमायातं तद् गृह्यते ॥ १६२० ॥

अथ "दवाइ एमेव" (गा० १६१५) त्ति पदं व्याख्यानयति—

10 **असतीए व दवस्स व, परिसित्तिय-कंजि-गुलदवाईणि ।**
अत्तट्ठियाइँ गिण्हइ, सव्वालंभे विमिस्साइं ॥ १६२१ ॥

यदि ग्लानस्य गच्छस्य वा योग्यं द्रवं–पानकं संविग्नभावितेषु कुलेषु न लभ्यते तदा द्रवस्य 'असति' अभावेऽसंविग्नभावितेष्वपि कुलेषु "परिसित्तिय" त्ति येनोष्णोदकेन दधिभाजनानि निर्लेप्यन्ते तत् परिषिक्तपानकम्, काञ्जिकम्–आरनालम्, गुलद्रवं नाम–यस्यां कवल्लिकायां गुड 15 उत्काल्यते तस्यां यत् तप्तमतप्तं वा पानीयं तद् गुडोपलिप्तं द्रवं गुडद्रवम्, आदिग्रहणात् चिञ्चापानकादिपरिग्रहः । एतानि पानकानि यदि तैः श्राद्धकैः 'आत्मार्थितानि' प्रथममेवात्मार्थं कृतानि तदा ग्लानाद्यर्थं गृह्णाति । "सव्वालंभे" त्ति यदि सर्वथैव ग्लानस्य वा गच्छस्य वा योग्यमेषणीयं पानकं न लभ्यते तदा "विमीसाइं" ति 'विमिश्राणि' असंविग्नानां श्रावकाणां चार्थायाचित्तीकृतानि तान्यपि द्वितीयपदे गृह्णन्ते ॥१६२१॥ अथ "असईइ दवादि" (गा० १६१५) 20 इत्यत्र योऽयमादिशब्दस्तस्य सफलतामुपदर्शयन्नाह—

पाणट्ठा व पविट्ठो, विसुद्धमाहार छंदिओ गिण्हे ।
अद्धाणाइ असंथरि, जइउं एमेव जदसुद्धं ॥ १६२२ ॥

पानकार्थं वा प्रविष्टो यदि 'विशुद्धेन' एषणीयेनाहारेण गृहपतिना छन्द्यते–निमन्त्र्यते ततश्छन्दितः सन् तमपि गृह्णाति । तथा 'अद्धाणाइ' त्ति अध्वनिर्गतानां साधूनां हेतोः आदिशब्दा- 25 दवमौदर्या-ऽशिवादिषु वा असंस्तरणेऽसंविग्नभावितकुलेषु 'एवमेव' ग्लानोक्तविधिना शुद्धान्वेषणे 'यतित्वा' यत्नं कृत्वा ततो यद् 'अशुद्धम्' अनेषणीयं तदप्यागमोक्तनीत्या गृह्णन्ति ॥ १६२२॥

उक्तं स्थविरकल्पिकानधिकृत्य विहारद्वारम् । अथामूनेवाङ्गीकृत्य सामाचारीद्वारमभिधित्सुः प्रागुक्तमेव (गा० १३७८ गा० १३८२-८३-८४ च) द्वारगाथाचतुष्टयमाह—

थविर-कल्पिकानां सामाचार्यः

इच्छा मिच्छा तहक्कारे, आवस्सि निसीहिया य आपुच्छा ।
30 **पडिपुच्छ छंदण निमंतणा य उवसंपया चेव ॥ १६२३ ॥**
सुय संघयणुवसग्गे, आतंके वेयणा कति जणा य ।
थंडिल्ल वसहि किच्चिर, उच्चारे चेव पासवणे ॥ १६२४ ॥

---

१ °रणे सति 'एवमेव' ग्लानोक्तविधिना यतित्वा प्रथमं शुद्धं ततो यद् भा० ॥

ओवासे तणफलए, सारक्खणया य संठवणया य ।
पाहुडि अग्गी दीवे, ओहाण वसे कइ जणा य ॥ १६२५ ॥
भिक्खायरिया पाणग, लेवालेवे तहा अलेवे य ।
आयंबिल पडिमाओ, गच्छम्मि उ मासकप्पो उ ॥ १६२६ ॥

आसामर्थः प्राग्वद् द्रष्टव्यः ॥ १६२३ ॥ १६२४ ॥ १६२५ ॥ १६२६ ॥ यस्तु विशेष- 5
स्तमुपदिदर्शयिषुराह—

ओहेण दसविहं पि य, सामायारिं न ते परिहवंति ।
पवयणमाय जहन्ने, सव्वसुयं चेव उक्कोसे ॥ १६२७ ॥

'ओघेन' सामान्यतो दशविधामपि सामाचारीं न 'ते' स्थविरकल्पिकाः परिहापयन्ति । आचार्यादिपुरुषविशेषापेक्षया तु या यस्येच्छाकारादिका युज्यते या च तथाकारादिका न युज्यते सा 10 तथा वक्तव्या । श्रुतद्वारमङ्गीकृत्य जघन्यतो गच्छवासिनामष्टौ प्रवचनमातरः श्रुतम् । उत्कर्षतः सर्वमेव श्रुतम्, चतुर्दशपूर्वाणीति हृदयम् ॥ १६२७ ॥

सव्वेसु वि संघयणेसु होंति धिइदुब्बला व बलिया वा ।
आतंका उवसग्गा, भइया विसहंति व न व त्ति ॥ १६२८ ॥

स्थविरकल्पिकाः 'सर्वेष्वपि' षट्स्वपि संहननेषु भवन्ति, धृत्याऽपि—मानसावष्टम्भलक्षणया 15 दुर्बला वा भवेयुर्बलिनो वा । 'आतङ्काः' रोगाः 'उपसर्गाः' दिव्यादयो यदि समुदीर्यन्ते तदा तान् विषहन्ते वा न वेति 'भक्ताः' विकल्पिताः, यदि ज्ञानादिपुष्टालम्बनं भवति तदा चिकित्सादिविधानान्न सहन्ते, इतरथा तु सम्यगदीनमनसः सहन्त इति भावः ॥ १६२८ ॥

दुविहं पि वेयणं ते, निक्कारणओ सहंति भइया वा ।
अममत्त अपरिकम्मा, वसही वि पमज्जणं मोत्तुं ॥ १६२९ ॥ 20

'द्विविधामपि' आभ्युपगमिकीमौपक्रमिकीं च वेदनां 'निष्कारणतः' कारणमन्तरेण सहन्ते 'भाज्या वा' असहिष्णुत्वे-तीर्थाव्यवच्छेदादिकारणवशान्न सहन्तेऽपीति भावः । तथा वसतिरपि तेषाम् 'अममत्वा' ममेयमित्यभिष्वङ्गरहिता, 'अपरिकर्मा' उपलेपनादिपरिकर्मवर्जिता, किं सर्वथैव ? न इत्याह—प्रमार्जनामेकां मुक्त्वा । कारणे तु सममत्वा सपरिकर्माऽपि भवति । तत्रापरिणतचारित्राणां शैक्षादीनां ममेयमित्यभिष्वङ्गविधानात् सममत्वा, सपरिकर्मा त्वपरिकर्माया 25 वसतेरलाभे द्रष्टव्या ॥ १६२९ ॥ अथ कति जनाः स्थण्डिलं चेति द्वारद्वयस्य विशेषमाह—

तिगमाईया गच्छा, सहस्स बत्तीसई उसभसेणे ।
थंडिल्लं पि य पढमं, वयंति सेसे वि आगाढे ॥ १६३० ॥

'त्रिकादयः' त्रि-चतुःप्रभृतिपुरुषपरिमाणा गच्छा भवेयुः । किमुक्तं भवति ?—एकस्मिन् गच्छे जघन्यतस्त्रयो जना भवन्ति, गच्छस्य साधुसमुदायरूपत्वात्, तस्य च त्रयाणामधस्ताद- 30 भावादिति । तत ऊर्ध्वं ये चतुः-पञ्चप्रभृतिपुरुषसङ्ख्याका गच्छास्ते मध्यमपरिमाणतः प्रतिपत्तव्यास्तावद् यावदुत्कृष्टं परिमाणं न प्राप्नोति । किं पुनस्तत् ? इति चेद् अत आह—"सहस्स

१ 'भाज्याः' विकल्पनीयाः । यदि भा० ॥ २ °त्वादिकारणवशतो न सह° भा० त० डे० ॥

बत्तीसई उसभसेणे'' त्ति द्वात्रिंशत् सहस्राण्येकस्मिन् गच्छे उत्कृष्टं साधूनां परिमाणम्, यथा श्रीऋषभस्वामिप्रथमगणधरस्य भगवत ऋषभसेनस्येति । तथा स्थण्डिलमपि 'प्रथमम्' अनापातमसंलोकमेते गच्छवासिनो व्रजन्ति । 'आगाढे तु' आवासव्याघातादौ कारणे 'शेषाण्यपि' अनापातमसंलोकप्रभृतीनि स्थण्डिलानि गच्छन्ति ॥ १६३० ॥ 'कियच्चिरम् ?' इति द्वारं विशेषयन्नाह—

5 कियच्चिर कालं वसिहिह, न ठंति निक्कारणम्मि इइ पुट्ठा ।
अन्नं वा मग्गंती, ठविंति साहारणमलंभे ॥ १६३१ ॥

कियच्चिरं कालं यूयमस्यां वसतौ वत्स्यथ ? इति पृष्टाः सन्तो निष्कारणे न तिष्ठन्ति, किन्तु क्षेत्रान्तरं गच्छन्ति । अथ बहिरशिवादीनि कारणानि ततस्तत्रैव क्षेत्रेऽन्यां वसतिं मार्गयन्ति । अथ मृग्यमाणाऽप्यन्या न लभ्यते ततः साधारणं वचनं स्थापयन्ति, यथा—निर्व्याघाते तावद् 10 वयं मासं यावदवतिष्ठामहे व्याघाते तु हीनाधिकम् ॥ १६३१ ॥

अथ लाघवार्थं शेषद्वाराणि तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशन्नाह—

एमेव सेसएसु वि, केवइया वसिहिह त्ति जा नेयं ।
निक्कारण पडिसेहो, कारण जयणं तु कुव्वंति ॥ १६३२ ॥

'एवमेव' कियच्चिरद्वारवत् 'शेषेष्वपि' उच्चार-प्रश्रवणादिषु द्वारेषु कियन्तो वत्स्यथेति द्वारं 15 यावज्ज्ञेयम् । किम् ? इत्याह—एतेष्वपि निष्कारणे प्रतिषेधः, न वसन्तीति भावः, कारणे तु यतनां कुर्वन्ति । किमुक्तं भवति ?—यदि तिष्ठतामुच्चार-प्रश्रवणयोः परिष्ठापनमकाले फलिहकाभ्यन्तरतो वा नानुजानन्ति ततस्तत्र न तिष्ठन्ति । अथाशिवादिभिः कारणैस्तिष्ठन्ति तत उच्चारं प्रश्रवणं वा मात्रकेषु व्युत्सृज्य बहिः परिष्ठापयन्ति । एवमवकाशादिष्वपि द्रष्टव्यम् । नवरमवकाशे यत्र प्रदेशे उपवेशन-भाजनधावनादि नानुज्ञातं तत्र नोपविशन्ति, कमढकादिषु च भाज- 20 नानि धावन्ति । तृणफलकान्यपि यानि नानुज्ञातानि तानि न परिभुञ्जते । संरक्षणता नाम यत्र तिष्ठतामगारिणो भणन्ति 'गवादिभिर्भज्यमानां वसतिमन्यद्वा समीपवर्त्ति गृहं संरक्षत' तत्राप्यशिवादिभिः कारणैस्तिष्ठन्तो भणन्ति—यदि वयं तदानीं द्रक्ष्यामस्ततो रक्षिष्याम इति । संस्थापनता नाम वसतेः संस्कारकरणं तस्यामपि नियुक्ता भणन्ति—वयमकुशलाः संस्थापनाकर्मणि कर्त्तव्ये । सप्राभृतिकायामपि वसतौ कारणतः स्थिता देशतः सर्वतो वा क्रियमाणायां प्राभृति- 25 कायां स्वकीयमुपकरणं प्रयत्नेन संरक्षन्ति, यावत् प्राभृतिका क्रियते तावदेकस्मिन् पार्श्वे तिष्ठन्ति । सदीपायां साग्निकायां वा वसतौ कारणे स्थिता आवश्यकं बहिः कुर्वन्ति । अवधानं नाम यदि गृहस्थाः क्षेत्रादिषु गच्छन्तो भणन्ति—'अस्माकमपि गृहेऽुपयोगो दातव्यः, मा शुनक-स्तेनकादयः प्रविश्योपद्रवं कार्षुः' इति, तत्रापि कारणे स्थिताः स्वयमेवावधानं ददति, अनुपस्थापितशैक्षैर्वा दापयन्ति । यत्र च 'कति जना वत्स्यथ ?' इति पृष्टे सति कारणतस्तिष्ठद्भिः परिमाणनि- 30 यमः कृतो यथा 'एतावद्भिः स्थातव्यं नाधिकैः' ततो यद्यन्ये प्राघूर्णकाः समागच्छन्ति तदा तेषामवस्थापनाय भूयोऽप्यनुज्ञापनीयः सागारिकः, यद्यनुजानाति ततः सुन्दरमेव, अथ नानुजा-

१ °सत्यादिकं किमपि कारणं व्याघातो वा प्रथमे स्थण्डिले कोऽपि भवेत् ततः 'शेषा° भा० ॥ २ °यमनुपस्थापितशैक्षैर्वा अवधानं ददति दापयन्ति वा । यत्र भा० ॥

नाति ततोऽन्यस्यां वसतौ स्थापनीयास्ते प्राघूर्णका इति ॥ १६३२ ॥ भिक्षाचर्यादीनामवशिष्यमाणद्वाराणां विशेषमाह—

नियताऽनियता भिक्खायरिया पाणऽव लेवऽलेवाडं ।
अंबिलमणंबिलं वा, पडिमा सव्वा वि अविरुद्धा ॥ १६३३ ॥

भिक्षाचर्या 'नियता' कदाचिदाभिग्रहिकी 'अनियता' कदाचिदनाभिग्रहिकी, असंसृष्टा-संसृष्टाद्यन्यतमैषणाभिग्रहवती तद्वर्जिता वेति भावः । पानकं च लेपकृतं वा भवेद् अलेपकृतं वा । द्राक्षा-चिञ्चापानकादि तक्र-तीमनादिकं च लेपकृतम्, सौवीरादिकं वल्ल-चणकादिकं चालेपकृतम् । आचाम्लमनाचाम्लं वा द्वयमपि कुर्वन्ति । 'प्रतिमाश्च' मासिक्यादिका भद्रादिका वा सर्वा अप्यमीषामविरुद्धा इति ॥ १६३३ ॥

उक्तं सामाचारीद्वारम् । अथ स्थितिद्वारमभिधित्सुर्द्वारगाथाद्वयमाह—

खित्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए ।
कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिग्गहा य ॥ १६३४ ॥
पव्वावण मुंडावण, मणसाऽऽवन्ने उ नत्थि पच्छित्तं ।
कारण पडिकम्मम्मि उ, भत्तं पंथो य भयणाए ॥ १६३५ ॥

क्षेत्रे १ काले २ चारित्रे ३ तीर्थे ४ पर्याये ५ आगमे ६ वेदे ७ कल्पे ८ लिङ्गे ९ लेश्यायां १० ध्याने ११ गणनायां १२ एतेषु स्थितिर्वक्तव्या, अभिग्रहाश्चामीषामभिधातव्याः १३ ॥ १६३४ ॥ एवं प्रव्राजना १४ मुण्डापना १५ मनसाऽऽपन्ने त्वपराधे नास्ति प्रायश्चित्तं १६ कारणं १७ प्रतिकर्मणि च स्थितिः १८ भक्तं पन्थाश्च भजनया १९ इति गाथाद्वयसमुदायार्थः ॥ १६३५ ॥ अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं विभणिषुराह—

पन्नरसकम्मभूमिसु, खेत्तऽद्धोसप्पिणीइ तिसु होज्जा ।
तिसु दोसु य उस्सप्पे, चउरो पलिभाग साहरणे ॥ १६३६ ॥

क्षेत्रद्वारे जन्मतः सद्भावतश्च स्थविरकल्पिकाः 'पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु' भरतैरावत-विदेहपञ्चकलक्षणासु भवन्ति । संहरणतः पञ्चदशानां कर्मभूमीनां त्रिंशतामकर्मभूमीनामन्यतरस्यां भूमौ भवेयुः । 'अद्धा' कालस्तमङ्गीकृत्यावसर्पिण्यां जन्मतः सद्भावतश्च 'त्रिषु' तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमारकेषु भवेयुः । "तिसु दोसु य उस्सप्पे" त्ति उत्सर्पिण्यां जन्मतः 'त्रिषु' द्वितीय-तृतीय-चतुर्थेष्वरकेषु सद्भावतस्तु 'द्वयोः' तृतीय-चतुर्थारकयोर्भवन्ति । नोअवसर्पिण्युत्सर्पिणीकाले जन्मतः सद्भावतश्च दुःषमसुषमाप्रतिभागे भवन्ति, संहरणतस्तु चत्वारोऽपि प्रतिभागा अमीषां विषयतया प्रतिपत्तव्याः, तद्यथा—सुषमसुषमाप्रतिभागः सुषमाप्रतिभागः सुषमदुःषमाप्रतिभागः दुःषमसुषमाप्रतिभागश्चेति ॥ १६३६ ॥

पढम-बिइएसु पडिवज्जमाण इयरे उ सव्वचरणेसु ।
नियमा तित्थे जम्मऽट्ठ जहन्ने कोडि उक्कोसे ॥ १६३७ ॥
पव्वज्जाएँ मुहुत्तो, जहन्नमुक्कोसिया उ देसूणा ।

१ °ष्टादिभिरेषणाभिरप्रतिनियतेति भावः भा० ॥ २ °ज्जमाणा उ इतरे ता० ॥

आगमकरणे भइया, ठियकप्पे अट्ठिए वा वि ॥ १६३८ ॥

प्रतिपद्यमानका अमी प्रथमे वा—सामायिकाख्ये द्वितीये वा—छेदोपस्थापनीयाख्ये चारित्रे भवेयुः । 'इतरे नाम' पूर्वप्रतिपन्नास्ते सर्वेष्वपि चरणेषु भवन्ति, सामायिकादिषु यथाख्यातपर्यन्तेष्विति भावः । तथा नियमादमी तीर्थे भवन्ति नातीर्थे । पर्यायो द्विधा—गृहिपर्यायः प्रव्रज्यापर्या-
5 यश्च । तत्र गृहिपर्यायो जघन्यतो जन्मत आरभ्याष्टौ वर्षाणि, उत्कर्षतः पूर्वकोटी । प्रव्रज्या-पर्यायो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, तदनन्तरं मरणात् प्रतिपाताद्वा, उत्कर्षतस्तु देशोना पूर्वकोटी । आगमः—अपूर्वश्रुताध्ययनं तस्य करणे 'भाज्याः' अमी कुर्वन्ति वा न वा तमिति भावः । कल्प-द्वारे—स्थितकल्पे वा अस्थितकल्पे वा भवेयुः । वेदद्वारं सुज्ञानत्वाद् भाष्यकृता न भावितम् । इत्थं तु द्रष्टव्यम्—वेदः स्त्री-पुं-नपुंसकभेदात् त्रिविधोऽप्यमीषां प्रतिपत्तिकाले भवेत्, पूर्व-
10 प्रतिपन्नकानां त्ववेदकत्वमपि भवतीति ॥ १६३७ ॥ १६३८ ॥

भइया उ दव्वलिंगे, पडिवत्ती सुद्धलेस-धम्मेहिं ।
पुव्वपडिवन्नगा पुण, लेसा झाणे अ अन्नयरे ॥ १६३९ ॥

प्रतिपद्यमानकाः पूर्वप्रतिपन्नकाश्च द्रव्यलिङ्गे 'भक्ताः' विकल्पिताः, कदाचित् तद् न भवत्य-पीति भावः । भावलिङ्गं तु नियमात् सर्वदैव भवति । तथा प्रतिपत्तिः शुद्धलेश्या-धर्मध्यानयो-
15 र्भवेत् । किमुक्तं भवति ?—प्रथमतः प्रतिपद्यमानकाः शुद्धास्वेव तिसृषु लेश्यासु आज्ञाविच-यादौ च धर्मध्याने वर्त्तमानाः प्रतिपत्तव्याः । पूर्वप्रतिपन्नकाः पुनः षण्णां लेश्यानामन्यतरस्यां लेश्यायामार्त्तादीनां च चतुर्णां ध्यानानामन्यतरस्मिन् ध्याने भवेयुः ॥ १६३९ ॥

लेश्या-ध्यानयोर्विशेषः

अथ लेश्या-ध्यानयोः कः प्रतिविशेषः ? उच्यते—लिश्यते—श्लिष्यते कर्मणा सह यया जीवः सा लेश्या—कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यजनितो जीवस्य शुभाशुभरूपः परिणामविशेषः । उक्तञ्च—

20 कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः ।
स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्त्तते ॥

स च चलो वा स्यादचलो वा । ध्यानं पुनर्निश्चल एवाशुभः शुभो वा आत्मनः परिणामः । तथा चाह—

झाणेण होइ लेसा, झाणंतरओ व होइ अन्नयरी ।
25 **अज्झवसाओ उ दढो, झाणं असुभो सुभो वा वि ॥ १६४० ॥**

भावलेश्या

लेश्या द्विविधा—द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यलेश्यामुपरिष्टाद् वक्ष्यति । भावलेश्या त्वनन्त-रोक्त एव शुभाशुभरूपो जीवपरिणामः । सा चैवंविधा शुभाशुभपरिणामरूपा कृष्णादीनामन्यतमा

---

१ "गिहत्थपरियागो जहन्नेणं अट्ठ सायरेगाइं वासाइं, उक्कोसेणं सायरेगा पुव्वकोडी" इति विशेषचूर्णौ ॥
२ °त्, किमुक्तं भवति ?—पूर्व° त० डे० ॥ ३ 'भाज्याः' विकल्पनीयाः, कदा° भा० ॥
४ °वति । लेश्याद्वारे ध्यानद्वारे च चिन्त्यमाने प्रतिपत्तिः भा० ॥ ५ अत एवाह भा० ॥
६ लेश्या द्विविधा—द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यलेश्यामुपरिष्टाद् वक्ष्यति । भावलेश्या त्वनन्तरोक्त एवात्मनो मानसिकः परिणामः, स च मानसध्यानादनन्य इति कृत्वाऽभि-धीयते । 'ध्यानेन' आर्त्तादिना करणभूतेन 'लेश्या' कृष्णादिका भवति, यदा यादृशं प्रश-

"लेस" त्ति भावलेश्या ध्यानेन वा भवति ध्यानान्तरतो वा । ध्यानान्तरं नाम–अदृढाध्यवसायरूपा चिन्ता, यद्वा ध्यानस्य ध्यानस्य चान्तरिका ध्यानान्तरमुच्यते । ध्यानं पुनः 'दृढः' निश्चलोऽध्यवसायोऽशुभो वा शुभो वा मन्तव्यम् । स च निश्चलोऽध्यवसायो मानसो वाचिकः कायिकश्चेति त्रिधा द्रष्टव्यः । दृढश्चाध्यवसायोऽन्तर्मुहूर्तमात्रमेव कालं यावद् द्रष्टव्यः, परतो निरन्तरं दृढाध्यवसायस्य कर्तुमशक्यत्वात् । यश्चादृढोऽध्यवसायः स सर्वोऽपि चिन्तेत्यमिधीयते 5 ॥ १६४० ॥ आह यद्येवं तर्हि चिन्ता-ध्यानयोरन्यत्वमापन्नम् ? उच्यते—नायमेकान्तः किन्तु स्यादेकत्वं स्यादन्यत्वम् । कथं पुनः ? इति उच्यते—

ध्यानान्तरिका ध्यानम् चिन्ता

झाणं नियमा चिंता, चिंता भइया उ तीसु ठाणेसु ।
झाणे तदंतरम्मि उ, तव्विवरीया व जा काइ ॥ १६४१ ॥

चिन्ताया ध्यानस्य च विशेषः

यद् मनःस्थैर्यरूपं ध्यानं तद् नियमात् चिन्ता । चिन्ता तु 'भक्ता' विकल्पिता त्रिषु स्थानेषु । 10 तथाहि—कदाचिद् 'ध्याने' ध्यानविषया चिन्ता भवति यदा दृढाध्यवसायेन चिन्तयति । "तदंतरम्मि उ" त्ति तस्य–ध्यानस्यान्तरं तदन्तरं तस्मिन् वा चिन्ता भवेत्, ध्यानान्तरिकायामित्यर्थः । 'तद्विपरीता वा' या काचिद् ध्याने ध्यानान्तरिकायां वा नावतरति किन्तु विप्रकीर्णा

स्तमप्रशस्तं वा ध्यानं भवति तदा तादृगेव प्रशस्ता अप्रशस्ता वा लेश्याऽपीति भावः । "झाणंतरतो व" त्ति ध्यानान्तरम्–अदृढाध्यवसायरूपं चित्तं यद्वा ध्यानस्य ध्यानस्य चान्तरिका ध्यानान्तरमुच्यते, तत्र वा वर्त्तमानस्य षण्णां लेश्यानामन्यतरा लेश्या भवति । अथ ध्यानमिति कोऽर्थः ? इत्याह—अध्यवसायः 'दृढः' निश्चलोऽशुभो वा शुभो वा ध्यानमिति मन्तव्यम् । दृढश्चाध्यवसायोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रमेव कालं यावद् द्रष्टव्यः, परतो निरन्तरं दृढाध्यवसायस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् । यश्चादृढोऽध्यवसायः स सर्वोऽपि चिन्तेत्यभिधीयते न तु ध्यानम् ॥ १६४० ॥ आह यद्येवं तर्हि चिन्ता-ध्यानयोरन्यत्वमुपपन्नम् ? उच्यते—नायमेकान्तः किन्तु स्यादेकत्वं स्यादन्यत्वम् । कथं पुनः ? इति उच्यते भा० ।

कृष्णादीनामन्यतरा लेश्या ध्यानेन वा भवेद् ध्यानान्तरतो वा । ध्यानान्तरं नाम अदृढाध्यवसायरूपा चिन्ता, यद्वा ध्यानस्य ध्यानस्य चान्तरिका ध्यानान्तरमुच्यते । ध्यानं पुनः 'दृढः' निश्चलोऽध्यवसायोऽशुभो वा शुभो वा मन्तव्यम् । दृढश्चाध्यवसायोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रमेव कालं यावद् द्रष्टव्यः, परतो निरन्तरं दृढाध्यवसायस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् ॥ १६४० ॥ आह यद्येवं तर्हि चिन्ता-ध्यानयोरन्यत्वमापन्नम् ? उच्यते—नायमेकान्तः किन्तु स्यादेकत्वं स्यादन्यत्वम् । कथं पुनः ? इति उच्यते त० डे० कां० ।

"लेश्या-ध्यानयोः कः प्रतिविशेषः ? उच्यते—लेश्या द्विविधा—द्रव्यलेश्या भावलेश्या च । तत्र द्रव्यलेश्यामुपरिष्टाद् वक्ष्यति । भावलेश्या मनोयोगोपयोगः । तस्या ध्यानादनन्यत्वज्ञापनार्थमिदमुच्यते—झाणेण० गाथा । यस्माद् मानसध्यानादनन्यो मनोयोगः अतः सिद्धं ध्यानेनैव लेश्या भवति । 'झाणंतरओ व' त्ति ध्यानादन्यद् ध्यानान्तरम्–अध्यानम्, अदृढाध्यवसाय इत्यर्थः । अथवा ध्यानस्य चान्तरिकायां वर्त्तमानस्य षण्णामन्यतमा लेश्या प्रलेतव्या । ध्यानस्य पुनर्लक्षणं दृढोऽध्यवसायः आमुहूर्त्तात्, परतो निरन्तरं दृढोऽध्यवसायो न शक्यते कर्त्तुम् । अतः सत्यपि मनोयोगे चिन्तेत्युच्यते, न तु ध्यानम् ॥ आह एवं तर्हि चिन्ता-ध्यानयोरन्यत्वमुपपन्नम् ? उच्यते—नायमेकान्तः, स्यादेकत्वम् स्यादन्यत्वम् । कथं पुनः ? उच्यते" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥

१ 'भाज्या' विकल्पनीया त्रिषु भा० ॥ २ °द् मनश्चेष्टा साऽपि चिन्ता । किमुक्तं भवति ?—या ध्याने भा० ॥

चित्तचेष्टा साऽपि चिन्ता प्रतिपत्तव्या । अतो यदा दृढाध्यवसायेन चिन्तयति तदा चिन्ता-ध्यानयोरेकत्वम्, अन्यदा पुनरन्यत्वम् ॥ १६४१ ॥ अथ ध्यानस्यैव भेदानाह—

ध्यानस्य भेदाः

कायादि तिहिक्किक्कं, चित्तं तिव्वं मउयं च मज्झं च ।
जह सीहस्स गतीओ, मंदा य पुता दुया चेव ॥ १६४२ ॥

5 तत् पुनर्दृढाध्यवसायात्मकं चित्तं त्रिधा—कायिकं वाचिकं मानसिकं च । कायिकं नाम यत् कायव्यापारेण व्याक्षेपान्तरं परिहरन्नुपयुक्तो भङ्गकचारणिकां करोति, कूर्मवद्वा संलीनाङ्गोपाङ्गस्तिष्ठति । वाचिकं तु 'मयेदृशी निरवद्या भाषा भाषितव्या, नेदृशी सावद्या' इति विमर्शपुरस्सरं यद् भाषते, यद्वा विकथादिव्युदासेन श्रुतपरावर्त्तनादिकमुपयुक्तः करोति तद् वाचिकम् । मानसं त्वेकस्मिन् वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता । पुनरेकैकं त्रिविधम्—तीव्रं मृदुकं च मध्यं च । तत्र तीव्रम्—10 उत्कटम्, मृदुकं च–मन्दम्, मध्यं च–नातितीव्रं नातिमृदुकमित्यर्थः । यथा सिंहस्य गतयस्तिस्रो भवन्ति । तद्यथा—मन्दा च प्लुता च द्रुता चैव । तत्र मन्दा–विलम्बिता, प्लुता–नातिमन्दा नातित्वरिता, द्रुता च–अतिशीघ्रवेगा ॥ १६४२ ॥

स्याद् बुद्धिः केयं पुनर्ध्यानान्तरिका ? इति उच्यते—

ध्यानान्तरिका

अन्नतरझाणऽतीतो, बिइयं झाणं तु सो असंपत्तो ।
15 **झाणंतरम्मि वट्टइ, विपहे व विकुंचियमईओ ॥ १६४३ ॥**

अन्यतरस्माद्–द्रव्याद्यन्यतरवस्तुविषयाद् ध्यानादतीतः–अतिक्रान्तो यः कश्चिद्यावदपि द्वितीयं ध्यानं न सम्प्राप्नोति स द्वितीयं ध्यानमसम्प्राप्तः सन् यद् ध्यानान्तरे वर्त्तते सा ध्यानान्तरिका भवतीति शेषः । इयमत्र भावना—द्रव्यादीनामन्यतमं ध्यातवतो यदा चित्तमुत्पद्यते 'सम्प्रति शेषाणां ध्यातव्यानां कतरद् ध्यायामि ?' इत्येवंविधो विमर्शो ध्यानान्तरिकेत्युच्यते । दृष्टा-20 न्तोऽत्र "विपहे व विकुंचियमतीउ" त्ति द्विपथं–मार्गद्वयस्थानम्, ततो यथा कश्चिदेकेन पथा गच्छन् पुरस्ताद् 'द्विपथे' मार्गद्वये दृष्टे सति 'विकुञ्चितमतिकः' 'अनयोर्मार्गयोः कतरेण व्रजामि ?' इति विमर्शाकुलबुद्धिः सन्नपान्तराले वर्त्तते, एवमेषोऽपि ध्यानान्तरे इति ॥ १६४३ ॥

अथ शुभाशुभध्यानज्ञापनार्थमिदमाह—

द्रव्यलेश्या

वण्ण-रस-गंध-फासा, इट्ठाऽणिट्ठा विभासिया सुत्ते ।
25 **अहिकिच्च दव्वलेसा, ताहि उ साहिज्जई भावो ॥ १६४४ ॥**

'सूत्रे' प्रज्ञापनादौ कृष्णादीनां लेश्यानां यद् वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शा इष्टा अनिष्टाश्च 'विभाषिताः' विविधम्–अनेकैरुपमानैर्वर्णिताः । तत्र वर्णवर्णना यथा—

---

१ झाणंतरं असं° ता० ॥ २ द्रव्य-क्षेत्रादीनामन्यतरस्य वस्तुनो यद् ध्यानम्–एकाग्रचिन्तनलक्षणं तस्मादतीतः–अतिक्रान्तः समापितप्रस्तुतध्यान इति भावः स द्वितीयं ध्यानमसम्प्राप्तः सन् ध्यानान्तरिकायां वर्तते । इय° भा० ॥ ३ केनचिदेकेन पथा गच्छता पुरस्ताद् ग्रामद्वयस्य द्वौ पन्थानौ दृष्टौ ततः स विकुञ्चितमतिरुपजायते, विकुञ्चिता–विमर्शेन मुकुलिता मतिरस्येति विकुञ्चितमतिः, 'अनयोर्मार्गयोः कतरेण व्रजामि ?' इत्येवं दोलायमानमतिरित्यर्थः ॥ १६४३ ॥ भा० ॥

कण्हलेसा णं भंते ! केरिसिया वण्णेणं पन्नत्ता ? से जहानामए जीमूते इ वा अंजणे इ वा कज्जले इ वा गवले इ वा गवलवलए इ वा जंबूफले इ वा अद्दारिट्ठए इ वा परपुट्ठे इ वा भमरे इ वा भमरावली इ वा गयकलभे इ वा किण्हकेसरे इ वा आगासथिग्गले इ वा किण्हासोए इ वा किण्हकणवीरे इ वा किण्हबंधुजीवए इ वा भवे एयारूवे ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, कण्हलेसा णं इत्तो अणिट्ठतरिया चेव वण्णेणं पन्नत्ता समणाउसो ! (प्रज्ञापनोपाङ्गे पदम् १७ 5 उद्देशः ४ पत्र ३६०-२) इत्यादि ।

रसवर्णना यथा—

कण्हलेसा णं भंते ! केरिसिया आसाएणं पन्नत्ता ? से जहानामए निंबे इ वा निंबरए इ वा निंबछल्ली इ वा निंबफाणिए इ वा कुडए इ वा कुडगफलए इ वा (प्रज्ञापनोपाङ्गे पदम् १७ उद्देशः ४ पत्र ३६४-१) इत्यादि । 10

गन्धवर्णना यथा—

जह गोमडस्स गंधो, सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स ।
इत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥ (उत्त० अ० ३४ गा० १६)
जह सुरभिकुसुमगंधो, सुगंधवासाण पिस्समाणाणं ।
इत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥ (उत्त० अ० ३४ गा० १७) 15

स्पर्शवर्णना यथा—

जह करगयस्स फासो, गोजिब्भाए व सागपत्ताणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥ (उत्त० अ० ३४ गा० १८)
जह बूरस्स व फासो, नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं ।
इत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥ (उत्त० अ० ३४ गा० १९) 20

तदेतत् सर्वमपि द्रव्यलेश्या अधिकृत्य प्रतिपत्तव्यम् । द्रव्यलेश्या नाम–जीवस्य शुभाशुभपरिणामरूपायां भावलेश्यायां परिणममानस्योपष्टम्भजनकानि कृष्णादीनि पुद्गलद्रव्याणि । 'ताभिश्च' द्रव्यलेश्याभिः 'भावः' शुभाशुभाध्यवसायरूपः साध्यते ॥ १६४४ ॥ इदमेव भावयति—

पत्तेयं पत्तेयं, वण्णाइगुणा जहोदिया सुत्ते ।
तारिसओ च्चिय भावो, लेस्साकाले वि लेस्सीणं ॥ १६४५ ॥ 25

'प्रत्येकं प्रत्येकं' कृष्णादीनां मध्यादेकैकस्या द्रव्यलेश्याया वर्णादयो गुणाः 'यथा' यादृशाः शुभा अशुभाश्च 'उदिताः' अभिहिताः 'सूत्रे' प्रज्ञापनादौ तादृश एव शुभोऽशुभो वा 'भावः' परिणामो लेश्यिनामपि लेश्याकाले भवति । लेश्या विद्यते येषां ते लेश्यिनः, शिखादेराकृतिगणत्वाद् इन्प्रत्ययः, लेश्यावन्त इत्यर्थः, तेषामिति ॥ १६४५ ॥

अथैताभिर्भावलेश्याभिरुपचितस्य कर्मणः कथमुदयो भवति ? इत्याह— 30

जं चिणइ उ कम्मं, जं लेसं परिणयस्स तस्सुदओ ।
असुभो सुभो व गीतो, अपत्थ-पत्थऽन्न उदओ वा ॥ १६४६ ॥

१ °कं' प्रके° मो० ले० विना ॥

"जं लेसं" ति सप्तम्यर्थे द्वितीया, ततोऽयमर्थः—'यस्यां' कृष्णादीनामन्यतमस्यां लेश्यायां परिणतस्य जीवस्य यद् अशुभं शुभं वा 'कर्म' ज्ञानावरणादि चीयते, कर्मकर्त्तर्ययं प्रयोगः, चयं–बन्धमुपगच्छतीत्यर्थः, 'तस्य' एवमशुभरूपतया शुभरूपतया वा बद्धस्य कर्मण उदयावलिकां प्राप्तस्याशुभः शुभो वा यथानुरूप एवोदयः 'गीतः' संशब्दितस्तीर्थकरैः । दृष्टान्तमाह—
5 'अपथ्य-पथ्यान्न उदय इव' यथा अपथ्यान्नं भुक्तवतो ज्वरादिरोगद्वारेणापथ्य एवोदयो भवति, पथ्यान्नं तु भुक्तवतः सुखासिकादिद्वारेण पथ्यः । एवं कर्मणोऽपि प्रशस्ता-ऽप्रशस्तलेश्यापरिणामबद्धस्य विपाकः शुभाशुभो भवतीति ॥ १६४६ ॥

उक्तं सप्रपञ्चं ध्यान-लेश्याद्वारद्वयम् । अथ गणनाद्वारमाह—

पडिवज्जमाण भइया, एगो व सहस्ससो व उक्कोसा ।
10 **कोडिसहस्सपुहत्तं, जहन्न-उक्कोसपडिवन्ना ॥ १६४७ ॥**

स्थविरकल्पस्य प्रतिपद्यमानकाः 'भाज्याः' विवक्षितकाले भवेयुर्वा न वा । यदि भवेयुस्तत एको द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षतो यावत् सहस्रपृथक्त्वम् । पूर्वप्रतिपन्ना जघन्यतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वम्, उत्कर्षतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वम् । नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदे विशेषाधिकत्वम् ॥ १६४७ ॥ गतं गणनाद्वारम् । अथाभिग्रहद्वारं व्याख्यायते—ते च चतुर्द्धा, तद्यथा—
15 द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतस्तावदाह—

द्रव्याभिग्रहः

लेवडमलेवडं वा, अमुगं दव्वं च अज्ज घिच्छामि ।
अमुगेण व दव्वेणं, अह दव्वाभिग्गहो नाम ॥ १६४८ ॥

'लेपकृतं' जगारिप्रभृतिकम् 'अलेपकृतं वा' तद्विपरीतं वल्ल-चणकादि 'अमुकं वा' निर्दिष्टनामकं मण्डकादिद्रव्यमहं ग्रहीष्यामि, 'अमुकेन वा' दर्वी-कुन्तादिना दीयमानमहं ग्रहीष्ये,
20 'अथ' अयं 'द्रव्याभिग्रहो नाम' भिक्षाग्रहणादिविषयः प्रतिज्ञाविशेष इति ॥ १६४८ ॥

क्षेत्राभिग्रहमाह—

क्षेत्राभिग्रहः

अट्ठ उ गोयरभूमी, एलुगविक्खंभमित्तगहणं च ।
सग्गाम परग्गामे, एवइय घरा य खित्तम्मि ॥ १६४९ ॥

अष्टौ गोचरभूमयो भवन्ति । ताश्चैताः—ऋज्वी १ गत्वाप्रत्यागतिका २ गोमूत्रिका ३
25 पतङ्गवीथिका ४ पेडा ५ अर्द्धपेडा ६ अभ्यन्तरशम्बूका ७ बहिःशम्बूका ८ च । तत्र यस्यामेकां दिशमभिगृह्योपाश्रयाद् निर्गतः प्राञ्जलेनैव पथा समश्रेणिव्यवस्थितगृहपङ्क्तौ भिक्षां परिभ्रमन् तावद् याति यावत् पङ्क्तौ चरमगृहम्, ततो भिक्षामगृह्णन्नेवापर्याप्तेऽपि प्राञ्जलयैव गत्वा प्रतिनिवर्त्तते सा ऋज्वी १ । यत्र पुनरेकस्यां गृहपङ्क्तौ परिपाट्या भिक्षमाणः क्षेत्रपर्यन्तं गत्वा प्रत्यागच्छन् पुनर्द्वितीयस्यां गृहपङ्क्तौ भिक्षामटति सा गत्वाप्रत्यागतिका, 'गत्वा प्रत्यागतिर्यस्यां
30 सा गत्वाप्रत्यागतिका' इति व्युत्पत्तेः २ । यस्यां तु वामगृहाद् दक्षिणगृहे दक्षिणगृहाच्च वामगृहे भिक्षां पर्यटति सा गोः—बलीवर्दस्य मूत्रणं गोमूत्रिका, उपचारात् तदाकारा गोचरभूमिरपि गोमूत्रिका ३ । यस्यां तु त्रिचतुरादीनि गृहाणि विमुच्याग्रतः पर्यटति सा पतङ्गवीथिका, पतङ्गः—

१ सा गोमूत्राकारत्वाद् गोचर° त० डे० कां० ॥

शलभस्तस्येव या वीथिका—पर्यटनमार्गः सा पतङ्गवीथिका, पतङ्गो हि गच्छन्नुत्लुत्योत्लुत्यानियतया गत्या गच्छति एवं गोचरभूमिरपि या पतङ्गोड्डयनाकारा सा पतङ्गवीथिकेति भावः ४ । यस्यां तु साधुः क्षेत्रं पेटावत् चतुरस्रं विभज्य मध्यवर्तीनि च गृहाणि मुक्त्वा चतसृष्वपि दिक्षु समश्रेण्या भिक्षामटति सा पेटा ५ । अर्द्धपेटाऽप्येवमेव, नवरमर्द्धपेटासदृशसंस्थानयोर्दिग्द्वयसम्बद्धयोर्गृहश्रेण्योरत्र पर्यटति ६ । तथा शम्बूकः—शङ्खः तद्वद् या वीथिः सा शम्बूका । सा द्वेधा— 5 अभ्यन्तरशम्बूका बहिःशम्बूका च । यस्यां क्षेत्रमध्यभागात् शङ्खवद् वृत्तया परिभ्रमणभङ्ग्या भिक्षां गृह्णन् क्षेत्रबहिर्भागमागच्छति सा अभ्यन्तरशम्बूका ७ । यस्यां तु क्षेत्रबहिर्भागात् तथैव भिक्षामटन् मध्यभागमायाति सा बहिःशम्बूका ८ ।

आह च **स्वोपज्ञपञ्चवस्तुकटीकायां श्रीहरिभद्रसूरिः**—

अब्भिंतरसंबुक्का बाहिसंबुक्का य संखनाहिखेत्तोवमा । एगीए अंतो आढवइ बाहिरतो 10 संनियट्टइ, इयरीए विवज्जओ त्ति (गा० २९९) ।

तथा "एलुगविक्खंभमित्तगहणं च" त्ति एलुकः—उदुम्बरस्तस्य विष्कम्भः—आक्रमणं तन्मात्रेण मया ग्रहणं कर्त्तव्यमिति कस्याप्यभिग्रहो भवति, यथा भगवतः श्रीमन्महावीरस्वामिनः । तथा स्वग्रामे वा परग्रामे वा एतावन्ति गृहाणि मया प्रवेष्टव्यानीत्येषः 'क्षेत्रे' क्षेत्रविषयोऽभिग्रहः ॥ १६४९ ॥ कालाभिग्रहमाह— 15

काले अभिग्गहो पुण, आई मज्झे तहेव अवसाणे ।
अप्पत्ते सइ काले, आई बिइओ अ चरिमम्मि ॥ १६५० ॥ कालाभिग्रहः

'काले' कालविषयोऽभिग्रहः पुनरयम्—आदौ मध्ये तथैवावसाने भिक्षावेलायाः । एतदेव व्याचष्टे—अप्राप्ते भिक्षाकाले यत् पर्यटति सः 'आदौ' इति आद्यभिक्षाकालविषयः प्रथमोऽभिग्रहः । यत्तु 'सति' प्राप्ते भिक्षाकाले चरति स द्वितीयो मध्यभिक्षाकालविषयोऽभिग्रहः । यत् 20 पुनः 'चरिमे' अतिक्रान्ते भिक्षाकाले पर्यटति सोऽवसानविषयोऽभिग्रहः ॥ १६५० ॥

कालत्रयेऽपि गुण-दोषानाह—

दिंतग-पडिच्छगाणं, हविज्ज सुहुमं पि मा हु अचियत्तं ।
इअ अप्पत्ते अइए, पवत्तणं मा ततो मज्झे ॥ १६५१ ॥

'ददत्-प्रतीच्छकयोः' इति भिक्षादातुरगारिणो भिक्षाप्रतीच्छकस्य च वनीपकादेर्मा भूत् 25 सूक्ष्ममपि 'अचियत्तम्' अप्रीतिकं 'इति' अस्माद्धेतोरप्राप्तेऽतीते च भिक्षाकालेऽटनं [न] श्रेय इति गम्यते । "पवत्तणं मा ततो मज्झे" त्ति अप्राप्तेऽतीते वा पर्यटतः प्रवर्त्तनं पुरःकर्म-पश्चात्कर्मादेर्मा भूत् 'ततः' एतेन हेतुना 'मध्ये' प्राप्ते भिक्षाकाले पर्यटति ॥१६५१॥ अथ भावाभिग्रहमाह—

उक्खित्तमाइचरगा, भावजुया खलु अभिग्गहा होंति ।
गायंतो व रुदंतो, जं देइ निसन्नमादी वा ॥ १६५२ ॥ 30 भावाभिग्रहः

१ °श्चुरभिग्रहविशेषाद् ग्रामादिक्षेत्रं पेटा° भा० ॥ २ तद्वत् शङ्खभूमिवद् या भा० ॥ ३ "संखनाहिखित्तोवमा" इति पञ्चवस्तुकटीकायाम् ॥ ४ °इति प्रथ° मो० ले० विना ॥ ५ यस्तु त० डे० कां० ॥ ६ 'सति' विद्यमाने प्राप्ते भा० ॥ ७ °ध्यविष° त० डे० कां० ॥

उत्क्षिप्तं—पाकपिठराद् पूर्वमेव दायकेनोद्धृतं तद् ये चरन्ति—गवेषयन्ति ते उत्क्षिप्तचरकाः, आदिशब्दाद् निक्षिप्तचरकाः सङ्ख्यादत्तिका दृष्टलाभिकाः पृष्टलाभिका इत्यादयो गृह्यन्ते । त एते गुण-गुणिनोः कथञ्चिदभेदाद् भावयुताः खल्वभिग्रहा भवन्ति, भावाभिग्रहा इति भावः । यद्वा गायन् यदि दास्यति तदा मया ग्रहीतव्यम्, एवं रुदन् वा निषण्णादिर्वा, आदिग्रहणादुत्थितः
5 सम्प्रस्थितश्च यद् ददाति तद्विषयो योऽभिग्रहः स सर्वोऽपि भावाभिग्रह उच्यते ॥ १६५२ ॥ तथा—

ओसक्कण अहिसक्कण, परम्मुहाऽलंकिएयरो वा वि ।
भावन्नयरेण जुओ, अह भावाभिग्गहो नाम ॥ १६५३ ॥

'अवष्वष्कन्' अपसरणं कुर्वन् 'अभिष्वष्कन्' सम्मुखमागच्छन् 'पराङ्मुखः' प्रतीतः, अलङ्कृतः कटक-केयूरादिभिः, 'इतरो वा' अनलङ्कृतः पुरुषो यदि दास्यति तदा मया ग्राह्यमिति ।
10 एतेषां भावानामन्यतरेण भावेन युतः 'अथ' अयं भावाभिग्रहो नामेति । एते च द्रव्यादयश्चतुर्विधा अप्यभिग्रहास्तीर्थकरैरपि यथायोगमाचीर्णत्वाद् मोह-मदापनयनप्रत्यलत्वाच्च गच्छवासिनां तथाविधसहिष्णुपुरुषविशेषापेक्षया महत्याः कर्मनिर्जरायाः निबन्धनं प्रतिपत्तव्या इति ॥ १६५३ ॥

अथ प्रव्राजना-मुण्डापनाद्वारे भावयति—

सच्चित्तदवियकप्पं, छव्विहमवि आयरंति थेरा उ ।
15 कारणओ असहू वा, उवएसं दिंति अन्नत्थ ॥ १६५४ ॥

प्रव्राजना-मुण्डापनाभ्यामुपलक्षणत्वात् षड्विधोऽपि सचित्तद्रव्यकल्पो गृहीतः । तद्यथा— प्रव्राजना १ मुण्डापना २ शिक्षापना ३ उपस्थापना ४ सम्भुञ्जना ५ संवासना ६ चेति । तमेवंविधं षड्विधमपि सचित्तद्रव्यकल्पमाचरन्ति 'स्थविराः' गच्छवासिनः । "[2]कारणओ" त्ति तथाविधैरनाभाव्यतादिभिः कारणैः 'असहिष्णवो वा' स्वयं वस्त्र-पात्रादिभिर्ज्ञानादिभिश्च शिष्याणां
20 सङ्ग्रहोपग्रहौ कर्तुमसमर्था उपदेशम् 'अन्यत्र' गच्छान्तरे 'ददति' प्रयच्छन्ति, अमुकत्र गच्छे संविग्नगीतार्था आचार्याः सन्ति तेषां समीपे भवता दीक्षा प्रतिपत्तव्येति ॥ १६५४ ॥

अथ "मनसाऽऽपन्ने नास्ति प्रायश्चित्तम्" (गा० १६३५) इति पदं व्याख्यानयति—

जीवो पमायबहुलो, पडिवक्खे दुक्करं ठवेउं जे ।
केत्तियमित्तं वोज्झिति, पच्छित्तं दुग्गयरिणी वा ॥ १६५५ ॥

25 अयं 'जीवः' प्राणी 'प्रमादबहुलः[3]' अनादिभवाभ्यस्तप्रमादभावनाभावितः, ततः 'प्रतिपक्षे' अप्रमादे स्थापयितुं दुष्करं भवति, दुःखेन अप्रमादभावनायां स्थाप्यत इत्यर्थः । "जे" इति निपातः पादपूरणे । [4]अतो 'दुर्गतऋणिक इव' दरिद्राधमर्ण इव अतिप्रभूतं ऋणं अतिचपलचित्तसम्भवापराधवशादयं प्रमादबहुलो जीवः पदे पदे समापद्यमानं कियन्मात्रं प्रायश्चित्तं 'वक्ष्यति'

१ एते सर्वेऽपि भाव° भा० ॥ २ 'कारणतः' तथा° भा० ॥ ३ °लः' स्वभावत एवाना° भा० ॥ ४ यतश्चैवमतः कियन्मात्रमसौ प्रायश्चित्तं वक्ष्यति 'दुर्गतऋणिक इव' दरिद्रधारणिक इव ? । यथा हि निर्द्रव्यत्वादसौ कियन्मात्रमिव ऋणं निर्वाहयितुमीशः ? तथाऽयमपि जीवः प्रमादबहुलतया पदे पदे समापद्यमानं कियदिव प्रायश्चित्तं निर्वाहयितुमीष्टे ? इति मनसाऽऽपन्नस्याप्यपराधस्य नास्ति प्रायश्चित्तं स्थविरकल्पिकानाम् ॥ १६५५ ॥ भा० ॥

वोढुं शक्ष्यति ? इति मनसाऽऽपन्नेऽप्यपराधे नास्ति तपःप्रायश्चित्तं स्थविरकल्पिकानाम्, आलोचना-प्रतिक्रमणप्रायश्चित्ते तु तत्रापि भवत इति मन्तव्यम् ॥ १६५५ ॥

अथ "कारणे पडिकम्मम्मि य" (गा० १६३५) त्ति पदं व्याख्यायते—कारणम्–अशिवाऽवमौदर्यादिकं तत्रोत्पन्ने द्वितीयपदमप्यासेवन्ते । तथा निष्कारणे निष्प्रतिकर्मशरीराः । कारणे तु ग्लानमाचार्यं वादिनं धर्मकथिकं च प्रतीत्य पादधावन-मुखमार्जन-शरीरसम्बाधनादिकरणात् 5 सप्रतिकर्माण इति । "भत्तं पंथो य भयणाए" त्ति भक्तं पन्थाश्च भजनया । किमुक्तं भवति ?—उत्सर्गतस्तावत् तृतीयपौरुष्यां भिक्षाटनं विहारं च कुर्वन्ति, अपवादतस्तु तदानीं भिक्षाया अलाभे काले वाऽपूर्यमाणे शेषास्वपि पौरुषीष्विति । गतं स्थितिद्वारम् । अथोपसंहरन्नाह—

गच्छम्मि उ एस विही, नायव्वो होइ आणुपुव्वीए ।
जं एत्थं नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ १६५६ ॥ 10

'गच्छे' गच्छवासिनां 'एषः' अनन्तरोक्तो विधिर्ज्ञातव्यः 'आनुपूर्व्या' परिपाट्या । यत् पुनरत्र 'नानात्वं' विशेषस्तदहं वक्ष्ये समासेन ॥ १६५६ ॥ एतदेव सविशेषमाह—

सामायारी पुणरवि, तेसि इमा होइ गच्छवासीणं ।
पडिसेहो व जिणाणं, जं जुज्जइ वा तगं वोच्छं ॥ १६५७ ॥

गच्छवासिना सामाचारी

सामाचारी पुनरपि तेषां गच्छवासिनां मासकल्पेन विहरताम् 'एषा' वक्ष्यमाणा भवति । 15 'जिनानां' जिनकल्पिकानामस्या एव सामाचार्याः प्रतिषेधो वा वक्तव्यः । 'यद् वा' प्रत्युपेक्षणादिकं तेषामपि युज्यते तकमपि वक्ष्ये ॥ १६५७ ॥ प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयन् द्वारगाथाद्वयमाह—

पडिलेहण निक्खमणे, पाहुडिया भिक्ख कप्पकरणे य ।
गच्छ सतिए अ कप्पे, अंबिल भरिए य ऊसित्ते ॥ १६५८ ॥
परिहरणा अणुजाणे, पुरकम्मे खलु तहेव गेलन्ने । 20
गच्छपडिबद्धऽहालंदि उवरि दोसा य अववादे ॥ १६५९ ॥

प्रथमतः प्रत्युपेक्षणा वक्तव्या । ततो 'निष्क्रमणं' कति वारा उपाश्रयाद् निर्गन्तव्यमिति, प्राभृतिका सूक्ष्म-बादरभेदाद् द्विविधा, 'भिक्षा' गोचरचर्या, 'कल्पकरणं च' भाजनस्य धावनविधिलक्षणमित्येतानि वक्तव्यानि । "गच्छ सइए" त्ति शतिकाः–शतसङ्ख्यपुरुषपरिमाणा ये गच्छास्तेषु प्रभूतेन पानकेन प्रयोजनं भवेत्, तत्र "कप्पे अंबिल" त्ति 'कल्प्यं' कल्पनीयम् 25 'अम्लं च' सौवीरं ग्रहीतव्यम्, अनेन सम्बन्धेन सौवीरिणीसप्तकमभिधानीयम् । "भरिए य" त्ति तस्याः सौवीरिण्याः सप्तविधं भरणं वाच्यम् । "ऊसित्ति" त्ति उत्सेचनमुत्सिक्तं–सौवीरस्योच्छिन्ननमित्यर्थः तत्स्वरूपं च निरूपणीयम् ॥ १६५८ ॥

"परिहरण" त्ति नोदकः प्रश्नयिष्यति—यदि साम्प्रतं शतिकेष्वपि गच्छेष्वित्थमाधाकर्मादयो दोषा उद्भवन्ति ततः पूर्वं सार्हत्केषु गच्छेषु साधवः कथमाधाकर्मादीनां परिहरणं कृत- 30 वन्तः ? इति । अत्राऽऽचार्यः प्रतिवक्ष्यति—'अनुयानं' रथयात्रा उपलक्षणत्वात् स्नात्रादेरपि परि-

१ °क्षा' प्रतीता, °क° भा० ॥ २ °धातव्यम् । "भरिए य" त्ति एकैकस्याः सौ° भा० ॥ ३ °त्यर्थः, तदात्मार्थं साधवो वा करोतीति निरू° भा० ॥ ४ °हत्किकेषु भा० ॥

ग्रहः, ततो यथा सम्प्रति रथयात्रादौ समवसरणे सहस्रसङ्ख्याका अपि साधवो मिलिताः सन्तः आधाकर्मादिकं परिहरन्ति तथा पूर्वमपि परिहृतवन्त इत्यनेन सम्बन्धेनानुयानविषयो विधिर्वक्तव्यः। ततः पुरःकर्म्मस्वरूपं निरूपयितव्यम्। 'खलुः' वाक्यालङ्कारे। तथैव ग्लान्यविषयो विधिः प्रतिपादनीयः। गच्छप्रतिबद्धानां यथालन्दिकानां सामाचारी दर्शनीया। ततः 'उपरि' 5 मासकल्पादूर्द्धं तिष्ठतां स्थविरकल्पिकानां दोषा अभिधातव्याः। ततः 'अपवादः' द्वितीयपदमुपदर्शनीयमिति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः॥ १६५९॥

अथ विस्तरार्थं प्रतिपदं प्रचिकटयिषुः "यथोद्देशं निर्देशः" इति वचनप्रामाण्यात् प्रथमतः प्रत्युपेक्षणाद्वारमभिधातुकाम इमां प्रतिद्वारगाथामाह—

प्रतिलेखनाद्वारम्

पडिलेहणा उ काले, अपडिलेह दोस छसु वि काएसु।
10 पडिगहनिक्खेवणया, पडिलेहणिया सपडिवक्खा॥ १६६०॥

प्रतिलेखना 'तुः' एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च काल एव कर्त्तव्या नाकाले। "अपडिलेह" त्ति अप्रतिलेखने प्रायश्चित्तम्। "दोस" त्ति दोषाः—आरभडाद्यास्तैर्दुष्टां प्रत्युपेक्षणां कुर्वतः प्रायश्चित्तम्। "छसु वि काएसु" त्ति षट्सु जीवनिकायेषु स्वयं प्रतिष्ठित उपधिर्वा प्रतिष्ठित इति। प्रतिग्रहस्य निक्षेपणं वर्षासु विधेयम्। प्रतिलेखना 'सप्रतिपक्षा' सापवादा भवतीति। एतानि 15 द्वाराणि वक्तव्यानीति समासार्थः॥ १६६०॥ व्यासार्थं तु प्रतिद्वारमभिधित्सुराह—

प्रतिलेखनायाः कालः

सूरुग्गए जिणाणं पडिलेहणियाएँ आढवणकालो।
थेराणऽणुग्गयम्मी, ओवहिणा सो तुलेयव्वो॥ १६६१॥

सूर्ये उद्गते सति 'जिनानां' जिनकल्पिकानाम् "एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणम्" इति वचनादपरेषामपि गच्छनिर्गतानां प्रतिलेखनाया आरम्भणकालो मन्तव्यः। 'स्थविराणां' स्थविरक- 20 ल्पिकानामनुद्गते सूर्ये प्रत्युपेक्षणायाः प्रारम्भकालः। स चोपधिना तोलयितव्यः॥

प्राभातिकप्रतिलेखनाकालविषयका आदेशाः

कथम्? इति चेद् उच्यते—इह प्राभातिकप्रतिलेखनायां[1] भूयांस आदेशाः सन्ति, अतस्तत्प्रतिपादकः[2] पञ्चवस्तुकवृत्त्युक्तो वृद्धसम्प्रदायो लिख्यते—

को पडिलेहणाकालो? एगो भणइ—जया[3] वायसा वासंति तया पडिलेहिज्जउ, तो पट्ट-

---

१ "अत्रादेशाः—अन्ये ब्रुवते—जया वेलया वायसा आगच्छंति स प्रतिलेख निकायाः प्रारम्भकालः। अन्ये—हस्तलेखाप्रदर्शनमिति। द्वावप्येतौ अनादेशौ। तहा आवश्यकः कर्त्तव्यः यथा दशभिः स्थानैः प्रतिलेखितैरादित्य उद्गच्छति, स प्रारम्भकालः प्रतिलेखनिकायाः। कतरे पुनर्दश? पञ्च अहाजाताइं, तिन्नि उक्कस्सया कप्पा, तेसिं एक्को सोत्तिओ दो ओण्णिया, संथारओ उत्तरपट्टो। दंडओ वा एक्कारसमो।" इति विशेषचूर्णौ। बृहद्भाष्ये त्वेवमादेशाः—

"काए वेलाए पुण, पडिलेहणियाएँ आढवणकालो?। केयी भणंति जाधे, कागा खलु परडिता होंति॥
अरुणोदयम्मि केयी, कररेहा जाव दीसितुं केयिं। एते तु अणादेसा, के पुण काले? इमं सुणसु॥
सूरुग्गते जिणाणं, पडिलेहणियाएँ आढवणकालो। थेराणऽणुग्गयम्मी, ओवधिणा सो तुलेतव्वो॥
अधजात तिण्णि कप्पा, संथारग पट्ट उत्तरो चेव। दंडग एक्कारसमो, पेहिते जध सूरो उट्ठेति॥"

२ °को वृत्त्यु° भा०॥ ३ °या कुक्कुडो वासइ तया पडिलेहिज्जउ। अन्नो भा०॥

विता अज्झाइज्जउ । अन्नो भणइ—अरुणे उट्ठिए । अवरो भणइ—जाहे पगासं जायं । अन्नो पुण—जाहे पडिस्सए परोप्परं पव्वइयगा दीसंति । अन्ने भणंति—जाहे हत्थरेहाओ दीसंति । आयरिया भणंति—एए सव्वे वि अणाएसा, अपसिद्धान्तत्वात्, जओ अंधयारे पडिस्सए हत्थरेहाओ उट्ठिए वि सूरे न दीसंति, वायसाइआएसेसु य अंधकारं ति पडिलेहणा न सुज्झइ, तम्हा इमो पडिलेहणाकालो—आवस्सए कए तिहिं थुईहिं दिन्नियाहिं जहा पडिलेहणाकालो 5 भवइ तहा आवस्सयं कायव्वं, इमेहि य दसहि पडिलेहिएहिं जहा सूरो उट्ठेइ—

मुहपुत्ती रयहरणं, दुन्नि निसिज्जा य चोलपट्टो य ।
संथारुत्तरपट्टो, तिन्नि य कप्पा मुणेयव्वा ॥ (२५५-५६-५७ गाथान्तः)
जीवदयट्ठं पेहा, एसो कालो इमीइ ता नेओ ।
आवस्सगथुइअंते, दसपेहा उट्ठए सूरो ॥ (पञ्चव० गा० २५८) 10

चूर्णिकृत् पुनराह—यथाऽऽवश्यके कृते एकद्वित्रिश्लोकस्तुतित्रये गृहीते एकादशभिः प्रतिलेखितैरादित्य उत्तिष्ठते स प्रारम्भकालः प्रतिलेखनिकायाः । कतरे पुनरेकादश ? पंच अहाजातानि, तिन्नि कप्पा, तेसिं एगो उन्निओ दो सुत्तिया, संथारपट्टओ उत्तरपट्टओ दंडओ एगारसमो त्ति ॥ ॥ १६६१ ॥

गतं "प्रतिलेखना [तु] काले" इति द्वारम् । अथ प्रत्युपेक्षणादोषद्वारं विवृणोति— 15

सदोष-प्रत्युपेक्षणायां प्रायश्चित्तम्

लहुगा लहुगो पणगं, उक्कोसादुवहिअपडिलेहाए ।
दोसेहि उ पेहंते, लहुओ भिन्नो य पणगं च ॥ १६६२ ॥

उत्कृष्टाद्युपधीनामप्रत्युपेक्षणे प्रायश्चित्तं लघुका लघुकः पञ्चकं चेति । उत्कृष्टमुपधिं न प्रत्युपेक्षते चत्वारो लघुकाः, मध्यमं न प्रत्युपेक्षते मासलघु, जघन्यं न प्रत्युपेक्षते पञ्चकम् । अथ आरभडा-सम्मर्दा-मोसलीप्रभृतिभिर्दोषैर्दुष्टं प्रत्युपेक्षते तत उत्कृष्टे मासलघु, मध्यमे भिन्नमासः, 20 जघन्ये रात्रिन्दिवपञ्चकम् ॥ १६६२ ॥

अथ "षट्सु कायेषु" (गा० १६६०) इति पदं व्याचष्टे—

काएसु अप्पणा वा, उवही व पइट्ठिओऽत्थ चउभंगो ।
मीस सचित्त अणंतर-परंपरपइट्ठिए चेव ॥ १६६३ ॥

प्रत्युपेक्षमाणः षट्सु कायेष्वात्मना प्रतिष्ठित उपधिर्वा तेषु प्रतिष्ठित इत्यत्र चतुर्भङ्गी । 25 तद्यथा—स्वयं कायेषु प्रतिष्ठितो नोपधिः १ उपधिः प्रतिष्ठितो न स्वयं २ स्वयमपि प्रतिष्ठित उपधिरपि प्रतिष्ठितः ३ स्वयमप्यप्रतिष्ठित उपधिरप्यप्रतिष्ठितः ४ इति । एते च षट् काया मिश्रा वा भवेयुः सचित्ता वा । एतेषु साधुरुपधिर्वा अनन्तरं वा परम्परं वा प्रतिष्ठितो भवेत् । अत्र च प्रायश्चित्तं "छक्काय चउसु लहुगा" (गा० ४६१ गा० ८७९ वा) इत्यादिगाथानुसारेणावगन्तव्यम् । यस्तु द्वाभ्यामप्यप्रतिष्ठितः स शुद्ध इति ॥ १६६३ ॥ 30

अथ दोषद्वारस्य वक्तव्यताशेषं प्रतिग्रहनिक्षेपणपदं च व्याख्यानयति—

आयरिए य परिन्ना, गिलाण सरिसखमए य चउगुरुगा ।

---

१ कुक्कुडगाइआए° भा० ॥ २ °इ । तं जहा—मुह° भा० ॥

उडु अबरऽबंध लहुओ, बंधण धरणे य वासासु ॥ १६६४ ॥

"आयरिए" त्ति षष्ठी-सप्तम्योरर्थे प्रत्ययभेदादाचार्यस्य "परित्त" त्ति मत्वर्थीयप्रत्ययलोपात् 'परित्तावतः' कुलभक्तप्रत्याख्यानस्य "गिलाण सरिसखमए य" त्ति ग्लानस्य ग्लानसदृशस्य सः क्षपकः—विकृष्टतपस्वी तस्य, एतेषां चतुर्णामुपधिं यदि न प्रत्युपेक्षते तदा चत्वारो गुरवः । 5 चशब्दात् प्राघूर्णक-स्थविर-शैक्षाणामग्लानोपमस्य च क्षपकस्योपधिमप्रत्युपेक्षमाणानां चतुर्लघवः । "उडु" इत्यादि पश्चार्द्धम् । यदा सर्वाण्यपि वस्त्राणि प्रत्युपेक्षितानि भवन्ति तदा यान्यतिरिक्तानि भाजनानि तानि प्रत्युपेक्ष्यन्ते । प्रतिग्रहं मात्रकं च यदि तदानीमेव प्रत्युपेक्षते तदा मासलघु, असामाचारीनिष्पन्नमिति भावः । अतः सूत्रपौरुषीं कृत्वा चतुर्भागावशेषायां पौरुष्यां प्रत्युपेक्ष्य द्वे अपि ऋतुबद्धे काले धारणीये न निक्षेप्तव्ये । अथ ऋतुबद्धे प्रतिग्रहं मात्रकं वा 10 न धारयत्युपकरणं वा दवरकेण न बध्नाति तदा मासलघु, अग्नि-स्तेन-दण्डिकक्षोभादयश्च ओघनिर्युक्तिप्रतिपादिता दोषाः । वर्षासु पुनरुपधिं न बध्नाति प्रतिग्रहं मात्रकं च प्रत्युपेक्ष्य निक्षिपति । अथोपधिं बध्नाति भाजने वा धारयति तदा मासलघु ।

विशेषचूर्णिकृता त्वस्या एकगाथायाः स्थाने गाथाद्वयं लिखितम् । यथा—

गुरु पच्चक्खायाऽसहु, गिलाण सरिसखमए य चउगुरुगा ।
15 पाहुणय थेर बाले, बुड्ढे खमए अ चउलहुगा ॥
चउभागवसेसाए, पडिग्गहं पच्चुवेक्ख न धरेइ ।
उडुबद्धे मासलहुं, वासासु धरिंति मासलहुं ॥

प्रतिलेखनायामपवादाः

इदं च भावितार्थमेव ॥ १६६४ ॥ अथ "प्रतिलेखनिका सप्रतिपक्षा" (गा० १६६०) इति पदं भावयति—

20 असिवे ओमोयरिए, सागार भए व राय गेलन्ने ।
जो जम्मि जया जुज्जइ, पडिवक्खो तं तहा जोए ॥ १६६५ ॥

'प्रतिपक्षो नाम' द्वितीयपदम्, तच्चेदम्—'अशिवे' अशिवगृहीतः सन्न शक्नोति प्रत्युपेक्षितुम्, अवमौदर्ये तु प्रत्यूष एव भिक्षां हिण्डितुं प्रारब्धवन्तः अतो नास्ति प्रत्युपेक्षणायाः कालः, सागारिको वा प्रेक्षमाणो मा तं सारमुपधिं द्राक्षीदिति कृत्वा, 'भये वा' बोधिक-स्तेनादिसम्ब-25 न्धिनि सारोपकरणहरणभयान्न प्रत्युपेक्षन्ते, राजा वा प्रत्यनीकस्तद्भयादहर्निशमध्वनि वहन्तो न प्रत्युपेक्षेरन्, ग्लानत्वे वा वर्त्तमान एकाकी तिष्ठन् न प्रत्युपेक्षते । एतैः कारणैर्न वा प्रत्युपेक्षेत, अनागतेऽतीते वा काले प्रत्युपेक्षेत, त्वरमाणो वा आरभडादिभिर्दोषैर्दुष्टां प्रत्युपेक्षणां कुर्वीत, असमर्थो वा गुर्वादीनामप्युपधिं न प्रत्युपेक्षेत; एवं यः 'यत्र' अशिवादौ 'यदा' यस्मिन्नवसरे 'प्रतिपक्षः' अप्रत्युपेक्षणा-ऽकालप्रत्युपेक्षणादिको युज्यते तं तथा तत्र योजयेदिति ॥ १६६५ ॥

30 अथ षट्सु कायेषु प्रत्युपेक्षमाणस्य प्रायश्चित्तं भवतीत्यर्थात् तत्र प्रत्युपेक्षणा न कर्त्तव्येति यदुक्तं तदपवदति—

१ दृश्यतां "रयताण भाण भरणा०" इत्यादि १७५-७६-७७ गाथात्रिकमोघनिर्युक्तौ भाष्यकृत्सत्कम् । पत्र ११८-११९ ॥

तस-बीयरक्खणट्ठा, काएसु वि होज्ज कारणे पेहा ।
नदिहरणपुत्तनायं, तणू य थूरे य पुत्तम्मि ॥ १६६६ ॥
जइ से हवेज्ज सत्ती, उत्तारिज्जा तओ दुवग्गे वि ।
थूरो पुण तणुअतरं, अवलंबंतो वि बोलेइ ॥ १६६७ ॥

त्रसाश्च—द्वीन्द्रियादयः बीजानि च—शाल्यादीनि तेषामस्थिरसंहनिनां रक्षार्थं 'कायेष्वपि' पृथिव्यादिषु दृढसंहननिषु कारणतः प्रत्युपेक्षणा भवति, न च प्रायश्चित्तम् । आह तेषु प्रतिष्ठितः प्रत्युपेक्षणं कुर्वन् सङ्घट्टनादिबाधाविधानात् कथं न दोषभाग् भवति ? इति उच्यते—

नदीहरणोपलक्षितं पुत्रज्ञातमत्र भवति । कथम् ? इत्याह—"तणू य थूरे य पुत्तम्मि" त्ति यथा कश्चित् पुरुषः, तस्य द्वौ पुत्रौ, तयोरेकः तनुकः—कृशशरीरः, द्वितीयस्तु स्थूलः—अतीवपीवरगात्रः । स चान्यदा ताभ्यां सहितः कञ्चिद् ग्रामं गच्छन्नपान्तराले एकामपार-गम्भीरां नदीमवतीर्णवान् । स च नदीष्णतया सुखेनैव स्वयं तां तरीतुं शक्तः, परं पुत्रावद्यापि तरण-(ग्रन्थाग्रम्—५०० । सर्वग्रन्थाग्रम्—१२७९० ।)कलाग्रामकोविदाविति कृत्वा तनुके स्थूले च पुत्रे उभयेऽपि तारयितुं प्राप्ते सति स किं करोति ? इत्याह—

यदि "से" तस्य पितुः 'शक्तिः' सामर्थ्यं भवेत् ततः "दुवग्गे वि" त्ति द्वेऽपीवचनत्वाद् द्वावपि पुत्रावुत्तारयेत्, नैकमप्युपेक्षेत । अथ नास्ति तस्य तथाविधं सामर्थ्यं ततो यस्तयोः कृशशरीरस्तं तारयति, लघुभूतशरीरतया तस्य सुखेनैव तारणीयत्वात् । यस्तु 'स्थूरः' शरीरजङ्घः सः 'तनुकतरं' स्तोकमात्रमप्यवलम्बमानो निजशरीरभारिकतयैवात्मानं तं च नद्यां बोलयति, अतस्तमुपेक्षेत । एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः—पितृस्थानीयः साधुः, पुत्रद्वयस्थानीयाः स्थिरा-ऽस्थिरसंहनिनः पृथिवीकायादयः, ततः साधुना प्रथमतो निर्विशेषं षडपि कायाः स्थिरसंहनिनोऽस्थिरसंहनिनश्च रक्षणीयाः । अथान्यतरेषां विराधनामन्तरेणाध्वगमनादिषु प्रत्युपेक्षणादीनां प्रवृत्तिरेव न घटामञ्चति ततः स्थिरसंहनिनां पृथिव्यादीनां विराधनामभ्युपेत्याप्यस्थिरसंहनिनस्त्रसादयो रक्षणीया इति ॥ १६६६ ॥ १६६७ ॥ अस्यैवार्थस्य समर्थनाय द्वितीयं दृष्टान्तमाह—

अङ्गारगर्त-पतितपुत्र-ज्ञातम्

अंगारखड्डपडियं, दट्ठूण सुयं सुयं बिइयमन्नं ।
पवलित्ते नीणिंतो, किं पुत्ते नो कुणइ पायं ॥ १६६८ ॥

यथा नाम कश्चित् पुरुषस्तस्य पुत्रद्वयम्, अन्यदा च रात्रौ तद्गृहे प्रदीपनकं लग्नम्, तद्भयादेकः पुत्रः पलायमानः सहसैवाङ्गारभृतायां गर्तायां निपतितः, स च गृहपतिर्द्वितीयं पुत्रमादाय गृहाद् निर्गतो यावत् पश्यति पुरतः स्वपुत्रमङ्गारगर्त्तायां पतितम्, ततश्च तं सुतं तथाभूतं दृष्ट्वा द्वितीयमन्यं सुतं "पवलित्ते नीणिंतो" त्ति पञ्चम्यर्थे सप्तमी प्रदीप्ताद् गृहान्निष्काशयन् निजसहजपारिणामिकमत्या विचार्य परिच्छेदकुशलः सन् किमङ्गारगर्त्तायां निपतितपूर्वे पुत्रे पादं न करोति ? अपि तु करोत्येव, कृत्वा च तदुपरि पादं सुखेनैव तां लङ्घयतीति भावः ॥ १६६८ ॥ अथ तदुपरि पादं न दद्यात् 'स्वपुत्रं कथं पादेनाक्रामामि ?' इति कृत्वा ततः को दोषः स्याद् ? इत्याह—

---

१ °त्र वक्तव्यम् । क° भा° ॥

तं वा अणक्कमंतो, चयइ सुयं तं च अप्पगं चेव ।
नित्थिण्णो हु कदाई, तं पि हु तारिज्ज जो पडिओ ॥ १६६९ ॥

वाशब्दः पातनायाम्, सा च कृतैव । 'तं' गर्त्तानिपतितं पुत्रं पादेनानाक्रामन् स पिता त्यजति सुतं 'तं च' स्वहस्तगृहीतमात्मानं च, उभयोरप्यङ्गारगर्त्तापातेन विनाशसद्भावात् । अपि 5 च स स्वयं निस्तीर्णः सन् कदाचित् तमपि पुत्रं तारयेद् यः पूर्वं गर्त्तायां निपतित इति । एष द्वितीयो दृष्टान्तः । उपनययोजना तु प्रागुक्तोपनयानुसारेण कर्त्तव्येति ॥ १६६९ ॥

गतं प्रत्युपेक्षणाद्वारम् । अथ निष्क्रमणद्वारमाह—

निष्क्रमण-द्वारम्

निरवेक्खो तइयाए, गच्छे निक्कारणम्मि तह चेव ।
बहुवक्खेवदसविहे, साविक्खे निग्गमो भइओ ॥ १६७० ॥

10 'निरपेक्षः' जिनकल्पिक-प्रतिमाप्रतिपन्नकादिर्गच्छसत्कापेक्षारहितः स तृतीयस्यामेव पौरुष्यामुपाश्रयाद् निर्गच्छति । 'गच्छे' गच्छवासिनोऽपि साधवो निष्कारणे तथैव निर्गच्छन्ति, तृतीयस्यां पौरुष्यामित्यर्थः । परं गच्छे यद् आचार्योपाध्यायादिविषयभेदाद् दशविधं वैयावृत्त्यं तेन यो बहुविधो व्याक्षेपस्तेन सापेक्षे गच्छवासिनि निर्गमो भजनीयः, कदाचित् तृतीयस्यां कदाचित् प्रथम-द्वितीय-चतुर्थीषु वा पौरुषीष्विति ॥ १६७० ॥

15 अथैनामेव **निर्युक्तिगाथां** व्याख्याति—

गहिए भिक्खे भोत्तुं, सोहिय आवास आलयमुवेइ ।
जहिँ निग्गओ तहिँ चिय, एमेव य खेत्तसंकमणे ॥ १६७१ ॥

निरपेक्षो भगवान् तृतीयपौरुष्यामुपाश्रयान्निर्गत्य भिक्षामटित्वा गृहीते सति भैक्षे अनापाते असंलोके च स्थाने भुक्त्वा 'आवश्यकं च' संज्ञा-कायिकीलक्षणं शोधयित्वा यस्यामेव पौरुष्यां 20 निर्गतस्तस्यामेव भूयः 'आलयम्' उपाश्रयमुपैति, तृतीयस्यामित्यर्थः । एवमेव च क्षेत्रसङ्क्रमणेऽपि द्रष्टव्यम्, क्षेत्रात् क्षेत्रान्तरगमनमपि तृतीयस्यां करोतीति भावः । स्थविरकल्पिका अपि निष्कारणे तृतीयस्यामेव निर्गत्य भिक्षामटित्वा प्रतिश्रये समुद्दिश्य संज्ञाभूमिं गत्वा तस्यामेव प्रत्यागच्छन्ति । क्षेत्रसङ्क्रमणमप्येवमेव । कारणतस्तु न कोऽपि प्रतिनियमः ॥ १६७१ ॥ तथा चाह—

अतरंत-बाल-वुड्ढे, तवस्सि-आएसमाइकज्जेसु ।
25 **बहुसो वि होज्ज विसणं, कुलाइकज्जेसु य विभासा ॥ १६७२ ॥**
उच्चार-विहारादी, संभम-भय-चेइवंदणाईया ।
आयपरोभयहेउं, विणिग्गमा वण्णिया गच्छे ॥ १६७३ ॥

अतरन्तः—ग्लानस्तस्य तथा बाल-वृद्धयोः तपस्विनः—क्षपकस्य आदेशस्य—प्राघूर्णकस्य आदिशब्दादाचार्योपाध्याय-शैक्षका-ऽलब्धिमत्प्रभृतीनां यानि कार्याणि—तत्प्रायोग्यभक्त-पानौषधादि-30 ग्रहणरूपाणि तेषु 'बहुशोऽपि' बहूनपि वारान् गृहपतिगृहेषु प्रवेशनं गच्छसाधूनां भवति । तथा कुलादिकार्येषु, आदिग्रहणाद् गण-सङ्घपरिग्रहः । कुलं—नागेन्द्र-चन्द्रादि, गणः—कुलस-

१ "निरवेक्खो तइयाए" त्ति पदं भावयति—भा० ॥ २ तथा कुलं-नागेन्द्र-चन्द्रादि, आदिशब्दाद् गणः-कुल° त० डे० कां० ॥

मुदायः, गणसमुदायः सङ्घः चतुर्वर्णरूपो वा, तत्कार्येषु च विभाषा कर्त्तव्या । सा[1] चेयम्—
कुले गणे सङ्घे वा आभाव्या-ऽनाभाव्यविषयः कोऽपि व्यवहारः समुपस्थितः तस्य यथावत्
परिच्छेदनं कर्त्तव्यम्, प्रत्यनीको वा कोऽपि साधूनामुपस्थितः तस्य शिक्षणं विधेयम्, चैत्य-
द्रव्यं वा कश्चिद् निःशङ्कं मुष्णाति स शासितव्यो वर्त्तत इत्यादि ॥ १६७२ ॥ तथा[2]—

उच्चारः-पुरीषं तस्य उपलक्षणत्वात् प्रश्रवण-खेलादेश्च व्युत्सर्जनार्थं बहिर्गन्तव्यम् । 5
विहारो नाम—वसतावस्वाध्यायिके समुत्पन्ने सति स्वाध्यायनिमित्तमन्यत्र गमनम्, आदिग्रहणात्
पूर्वगृहीतपीठफलक-शय्या-संस्तारकप्रत्यर्पणप्रभृतिपरिग्रहः । सम्भ्रमो नाम—उदका-ऽग्नि-हस्त्या-
द्यागमनसमुत्थ आकस्मिकः संत्रासः, भयं तु—सामान्येन दुष्टस्तेनाद्युपद्रवप्रभवम्, चैत्यानि—
जिनबिम्बानि तेषां वन्दनम्, आदिशब्दादपूर्वबहुश्रुताचार्यवन्दनादिपरिग्रहः । एवमादीनि
यान्यात्मनः परेषामुभयस्य वा हेतोः कार्याणि तन्निमित्तं गच्छे बहुशोऽपि प्रतिश्रयाद् विनि- 10
र्गमाः 'वर्णिताः' प्रतिपादिता इति ॥ १६७३ ॥

गतं निष्क्रमणद्वारम् । अथ प्राभृतिकाद्वारं बिभावयिषुराह—

प्राभृतिका-द्वारम्

पाहुडिया वि य[3] दुविहा, बायर सुहुमा य होइ नायव्वा ।
एक्केका वि य एत्तो, पंचविहा होइ नायव्वा ॥ १६७४ ॥

'प्राभृतिका' वसतेश्छादन-लेपनादिरूपा, सा द्विविधा—बादरा सूक्ष्मा च भवति ज्ञातव्या । 15
एकैकाऽपि चेत ऊर्ध्वं पञ्चविधा भवति ज्ञातव्या ॥ १६७४ ॥

तत्र बादरां पञ्चविधामपि तावदाह—

बादर-प्राभृतिका

विद्धंसण छायण लेवणे य, भूमीकम्मे पडुच्च पाहुडिया ।
ओसक्कण अहिसक्कण, देसे सव्वे य नायव्वा ॥ १६७५ ॥

'विध्वंसनं' वसतेर्भञ्जनम् । 'छादनं' दर्भादिभिराच्छादनम् । 'लेपनं' कुड्यानां कर्दमेन गोमयेन 20
च लेपप्रदानम् । 'भूमिकर्म' सम-विषमाया भूमेः परिकर्मणम् । "पडुच्च" त्ति 'प्रतीत्यकरणं' त्रिशालं
गृहं कर्तुकामः साधून्[4] प्रतीत्य चतुःशालं करोति, आत्मीयं वा गृहं साधूनां दत्त्वा आत्मार्थमपरं
कारयतीत्यादि । एषा पञ्चविधाऽपि बादरप्राभृतिका प्रत्येकं द्विधा—अवष्वष्कणतोऽभिष्वष्क-
णतश्च । अवष्वष्कणं नाम—विवक्षितविध्वंसनादिकालस्य ह्रासकरणम्, अर्वाक्करणमित्यर्थः ।
अभिष्वष्कणं—तस्यैव विवक्षितकालस्य संवर्द्धनम्, परतः करणमित्यर्थः । पुनरेकैके विध्वंसना- 25
दयो द्विधा देशतः सर्वतश्च ज्ञातव्याः ॥ १६७५ ॥ तत्र देशतः सर्वतो वा विध्वंसनमभिष्व-
ष्कणतो भाव्यते—केनचिद् गृहपतिना चिन्तितम्—यथेदं गृहं ज्येष्ठमासे भंक्त्वा ततोऽभिनवं
करिष्याम इति । इतश्च ज्येष्ठमासे तत्र गृहे साधवो मासकल्पेन स्थिताः, ततोऽसौ चिन्तयति—

अच्छंतु ताव समणा, गएसु भंतूण पच्छ काहामो ।

---

१ सा चैषा—कु° त० डे० कां० ॥ २ तथा—उच्चार-विहाराद्यर्थं बहिर्गमनं भवति, उच्चारः-पुरीषम् उपलक्षणत्वात् प्रश्रवण-खेलादिकमपि गृह्यते, तस्य परिष्ठापनं विधेयम् । विहारो भा० ॥ ३ इ ता० ॥ ४ साधुनिमित्तं चतुःशालं करोति, स्वार्थं वा पूर्वं कारितं गृहं साधूनां भा० ॥

ओभासिए व संते, न एंति जा मंतुणं कुणिमो ॥ १६७६ ॥

इदानीं तावद् 'आसतां' तिष्ठन्तु श्रमणाः, गतेषु तेषु 'पश्चाद्' आषाढमासे भंक्त्वा करिष्याम इति, एतदभिष्वष्कणम् । अथावष्वष्कणमाह—"ओभासिए व" इत्यादि । क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैरवभाषिते प्रदत्ते चोपाश्रये सति स गृहपतिश्चिन्तयति—ज्येष्ठमासे तावदत्र साधवः स्थास्यन्ति, अतो 5 यावत् ते नागच्छन्ति तावद् वैशाखे मासे भंक्त्वा कुर्म इति, एतदवष्वष्कणम् ॥ १६७६ ॥

भावितं विध्वंसनपदम् । अथ च्छादनादीन्यतिदिशन्नाह—

एसेव कमो नियमा, छज्जे लेवे य भूमिकम्मे य ।
तेसाल चाउसालं, पडुच्चकरणं जईनिस्सा ॥ १६७७ ॥

एष एवाभिष्वष्कणतोऽवष्वष्कणतश्च क्रमो नियमाद् मन्तव्यः । क? इत्याह—'छज्जे' 10 छादने 'लेवे' लिम्पने भूमिकर्मणि च । तिष्ठन्तु तावदिदानीं श्रमणाः, पश्चाद् गतेषु सत्सु गृहं छादयिष्यामो लेप्स्यामो भूमिं वा परिकर्मयिष्याम इति, एतदभिष्वष्कणम् । एतान्येव च्छादनादीनि यदनागतमेव करोति तदाऽवष्वष्कणम् । अथ प्रतीत्यकरणं भाव्यते—"तेसाल" इत्यादि । त्रिशालं गृहं कर्तुकामो यतीनां निश्रया तान् प्रतीत्येति भावः चतुःशालं यत् करोति तत् प्रतीत्यकरणमुच्यते ॥ १६७७ ॥ अथवा—

15 **पुव्वघरं दाऊण व, जईण अन्नं करिंति सड्डाए ।**
काउमणा वा अन्नं, ण्हाणाइसु कालमोसक्के ॥ १६७८ ॥

'पूर्वगृहं' स्वार्थं पूर्वं कृतं यद् गृहं तद् यतीनां दत्त्वा स्वार्थम् 'अन्यद्' अभिनवं यदगारिणः कुर्वन्ति तद् वा प्रतीत्यकरणम् । अथवा केऽपि श्राद्धाः स्वार्थमन्यद् गृहं ज्येष्ठमासे कर्तुमनसः परं तत्र वैशाखमासि स्नानादिकं जैनचैत्येषु भविता ततस्ते चिन्तयन्ति—अनागतमेव गृहं 20 कुर्मो येन तत्र साधवो वैशाखमासि स्नानादिषु समायातास्तिष्ठन्ति । एवं साधून् प्रतीत्य कालमवष्वष्कयेयुः एतदवष्वष्कणतः प्रतीत्यकरणमुक्तम् ॥ १६७८ ॥ अथाभिष्वष्कणतस्तदेवाह—

एमेव य ण्हाणाइसु, सीयलकज्जट्ठ कोइ उस्सक्के ।
मंगलबुद्धी सो पुण, मएसु तहियं वसिउकामो ॥ १६७९ ॥

'एवमेव' अवष्वष्कणवत् कोऽपि श्राद्धः शीतकाले गृहं कर्तुकामश्चिन्तयति—'वैशाखमासि 25 स्नानं रथयात्रा वेह भविष्यति, तत्र च साधवः समागमिष्यन्ति तच्च तदानीमेव कृतं नवगृहं शीतलं भवति, शीतले च तस्मिन् साधवः सुखमासिष्यन्ते, अतः स्नानादिप्रत्यासन्न एव समये करिष्यामि' इति साधून् प्रतीत्य स्नानादिषु शीतलकार्यार्थं यत् कोऽप्युत्ष्वष्कते एतदभिष्वष्कणतः प्रतीत्यकरणम् । स पुनरवष्वष्कणमभिष्वष्कणं वा मङ्गलबुद्ध्या करोति, यथा—पूर्वं साधवो मदीयं नवगृहं यदि परिभुञ्जते ततः पवित्रं भवतीति । गतेषु च तेषु तत्र नवगृहे स्वयमेव 30 वस्तुकाम इति ॥ १६७९ ॥ अथात्रैव प्रायश्चित्तमाह—

सव्वम्मि उ चउलहुया, देसम्मी बायराएँ लहुओ उ ।
सव्वम्मि मासियं खलु, देसे भिन्नो य सुहुमाए ॥ १६८० ॥

---

१ स्था वाशब्दः प्रकारान्तरतायाम् स्था° त० डे० ॥

बादरायां प्राभृतिकायामनन्तरोक्तायामेव सर्वतः करिष्यमाणायां कृतायां वा तिष्ठति चत्वारो लघवः । देशतः करिष्यमाणायां कृतायां वा तिष्ठतो मासलघु । सूक्ष्मायां प्राभृतिकायां वक्ष्यमाणायां सर्वतो विधास्यमानायां विहितायां वा तिष्ठति मासलघु । देशतस्तस्यामेव भिन्नमासः ॥ १६८० ॥ सा पुनः सूक्ष्मप्राभृतिका पञ्चविधा । तामेवाह—

संमज्जण आवरिसण, उवलेवण सुहुम दीवए चेव । 5 सूक्ष्मप्राभृतिका
ओसक्कण अहिसक्कण, देसे सव्वे य नायव्वा ॥ १६८१ ॥

'सम्मार्जनं' बहुकरिकया प्रमार्जनम्, 'आवर्षणम्' उदकेन च्छटकप्रदानम्, 'उपलेपनं' छगणमृत्तिकया भूमिकाया लेपनम्, "सुहुमे" त्ति 'सूक्ष्माणि' समयभाषया पुष्पाण्युच्यन्ते,

तथा च [१]दशवैकालिकनिर्युक्तौ पुष्पाणामेकार्थिकानि—

पुप्फा य कुसुमा चेव, [२]फुल्ला य कुसुमा वि य । 10
सुमणा चेव सुहुमा य, सुहुमकाइया वि य ॥

ततश्च पुष्पाणां प्रकररचनेत्यर्थः । "दीवए चेव" त्ति दीपकप्रज्वालनम् । एतानि पूर्वमात्मार्थं क्रियमाणान्येव विद्यन्ते । नवरं साधून् प्रतीत्य देशतः सर्वतो वा यदवष्वष्कणमभिष्वष्कणं वा क्रियते सा सूक्ष्मप्राभृतिका ज्ञातव्या ॥ १६८१ ॥

अथास्या एवावष्वष्कणा-ऽभिष्वष्कणे भावयति— 15

जाव न मंडलिवेला, ताव पमज्जामो होइ ओसक्का ।
उट्ठेंतु ताव पढिउं, उस्सक्कण एव सव्वत्थ ॥ १६८२ ॥

यावत् 'मण्डलीवेला' स्वाध्यायमण्डलीकालो नोपढौकते तावत् प्रमार्जयाम इत्येवं विचिन्त्यानागतमेव यदि प्रमार्जयन्ति तदाऽवष्वष्कणं भवति । अथ साधवः स्वाध्यायं कुर्वाणास्तदानीं मण्डल्यामुपविष्टाः सन्ति ततश्चिन्तयन्ति—उत्तिष्ठन्तु तावदमी पठित्वा ततः पश्चात् प्रमार्जयिष्याम इति विचिन्त्य तथैव यदि कुर्वते तदा उत्ष्वष्कणं भवति । एवमवष्वष्कणमभिष्वष्कणं च 'सर्वत्र' आवर्षणोपलेपनादावपि भावनीयम् ॥ १६८२ ॥ सा पुनः सूक्ष्मप्राभृतिका द्विविधा— 20

छिन्नमछिन्ना काले, पुणो य नियया य अनियया चेव ।
निद्दिट्ठाऽनिद्दिट्ठा, पाहुडिया अट्ठ भंगा उ ॥ १६८३ ॥

'काले' कालतश्छिन्ना [३]अच्छिन्ना वा, छिन्नकालिका अच्छिन्नकालिका चेत्यर्थः । यस्यामुपलेपनादिकं छिन्ने—प्रतिनियते मासादौ काले क्रियते सा छिन्नकालिका । या तु यदा तदा वा क्रियते सा अच्छिन्नकालिका । पुनरेकैका द्विधा—नियता अनियता चैव । नियता नाम—या पूर्वाह्णादावेव वेलायामवश्यमेव वा क्रियते । तद्विपरीता अनियता । पुनरेकैका द्विविधा—निर्दिष्टा अनिर्दिष्टा च । तत्र यः प्राभृतिकाकारकः स निर्दिष्टः—इन्द्रदत्तादिनाम्नोपलक्षितः 25

---

१ दशवैकालिकनिर्युक्तौ पुष्पैकार्थिकगाथा इत्थंरूपा वर्त्तते—

पुप्फाणि य कुसुमाणि य, फुल्लाणि तहेव होंति पसवाणि ।
सुमणाणि य सुहुमाणि य, पुप्फाण य होंति एगट्ठा ॥ ३६ ॥

२ "फुल्ला य पसवा वि य" इति पाठः स्यात् ॥ ३ °न्ना अभिन्न° भा० विना ॥

तेन क्रियमाणा प्राभृतिका अपि निर्दिष्टा। तद्विपरीता अनिर्दिष्टा। अत्र च त्रिभिः पदैरष्टौ भङ्गा भवन्ति, तद्यथा—छिन्नकालिका नियता निर्दिष्टा १ छिन्नकालिका नियता अनिर्दिष्टा २ इत्यादि ॥ १६८३ ॥ अथ च्छिन्नकालिकां व्याख्यानयति—

मासे पक्खे दसरायए य पणए अ एगदिवसे य।
वाघाइमपाहुडिया, होइ पवाया निवाया य ॥ १६८४ ॥ 5

या प्राभृतिका 'मासे' मासस्यान्ते 'पक्षे' पक्षस्यान्ते 'दशरात्रे' दशानामहोरात्राणां पर्यन्ते 'पञ्चके' पञ्चरात्रिन्दिवान्ते 'एकदिवसे' एकान्तरिते दिने चशब्दाद् निरन्तरं दिने दिने इत्यर्थः, एवं प्रतिनियते काले या क्रियते सा छिन्नकालिका। या तु न ज्ञायते कस्मिन् दिवसे विधीयते सा अच्छिन्नकालिकेति। व्याघातिमप्राभृतिका नाम—या सूत्रार्थपौरुषीवेलायां क्रियते। भवति 10 प्रवाता निवाता चेति। प्रवाता नाम—या ग्रीष्मकाले अपराह्णे उपलेपनादिकरणेन घर्मं नाशयति। या तु शीतकाले पूर्वाह्णे उपलेपनकरणेन रात्रौ व्यपगतस्नेहा जायते सा निवाता भण्यते ॥ १६८४॥

अथ कस्यां प्राभृतिकायां वस्तुं कल्पते? कस्यां वा न? इति अत आह—

पुव्वण्हे अवरण्हे, सूरम्मि अणुग्गए व अत्थमिए।
मज्झंतिए व वसही, सेसं कालं पडिकुट्ठा ॥ १६८५ ॥

15 पूर्वाह्णे अनुद्गते सूर्ये, अपराह्णे तु अस्तमिते, 'मध्यान्ते वा' मध्याह्नवेलायाम् अर्थपौरुष्या उत्थितेषु इत्यर्थः, एतेषु कालेषु यस्यां प्राभृतिका क्रियते सा वसतिरनुज्ञाता, सूत्रार्थव्याघाताभावात्। "सेसं कालं" ति सप्तम्यर्थे द्वितीया, 'शेषे' उद्गतसूर्यादौ काले यस्यां प्राभृतिका विधीयते सा प्रतिकुष्टा, न कल्पते तस्यां वस्तुम्, सूत्रार्थव्याघातसम्भवात् ॥ १६८५ ॥

अथ निर्दिष्टा-ऽनिर्दिष्टप्राभृतिके भावयति—

20 **पुरिसज्जाओ अमुगो, पाहुडियाकारओ उ निद्दिट्ठो।**
सेसा उ अनिद्दिट्ठा, पाहुडिया होइ नायव्वा ॥ १६८६ ॥

अमुकः 'पुरुषजातः' पुरुषप्रकारः प्राभृतिकाकारक इन्द्रदत्तादिनाम्ना यस्यां निर्दिष्टः सा निर्दिष्टा। शेषा तु सर्वाऽप्यनिर्दिष्टा प्राभृतिका भवति ज्ञातव्या ॥ १६८६ ॥

अथ पूर्वोक्तभङ्गाष्टकविषयं विधिमाह—

25 **काऊण मासकप्पं, वयंति जा कीरई उ मासस्स।**
सा खलु निव्वाघाया, तंवेलारेण निंताणं ॥ १६८७ ॥

इह प्रथमे भङ्गे या मासस्यान्ते क्रियत इति कृत्वा च्छिन्नकालिका, तत्राप्यपराह्ण एव विधीयमानत्वाद् नियता, अमुकपुरुषकर्तृकत्वेन च निर्दिष्टा। तस्यां कृतायां प्रथमतः प्रविष्टास्ततो मासकल्पं कृत्वा यदि व्रजन्ति। कथम्? इत्याह—"तंवेलारेण निंताणं" ति तस्याः—प्राभृति-30 काकरणवेलाया अर्वाग् निर्गच्छतां सा प्राभृतिका निर्व्याघाता मन्तव्या, सूत्रार्थव्याघाताभावात्, कल्पते तस्यां वस्तुमिति भावः। शेषा द्वितीयादयो भङ्गाः क्वापि कथञ्चित् सव्याघाता इति कृत्वा तेषु न कल्पते ॥ १६८७ ॥ अथ प्रवाता निवातेति च पदद्वयं भावयति—

अवरण्हे गिम्ह करणे, पवाय सा जेण नासयइ घम्मं।

पुव्वण्हे जा सिसिरे, निव्वाय निवाय सा रत्तिं ॥ १६८८ ॥

ग्रीष्मे अपराह्णे यदुपलेपनस्य करणं सा प्रवाता । कुतः ? इत्याह—येन सा रात्रौ 'नाशयति' व्यपनयति 'घर्मं' ग्रीष्मर्तुसम्भवं तापम् । या तु 'शिशिरे' शीतकाले पूर्वाह्णे उपलेपनकरणेन दिवसस्य चतुर्भिः प्रहरैः 'निवाता' शुष्का इत्यर्थः सा रात्रौ निवाता भवति । एतयोः कारणतोऽवस्थातुं कल्पत इति ॥ १६८८ ॥ अथ निर्व्याघातिमां भङ्ग्यन्तरेणाह— 5

पुव्वण्हे अपट्ठविए, अवरण्हे उट्ठिएसु य पसत्था ।
मज्झण्ह निग्गएसु य, मंडलिसुत-पेहऽवाघाया ॥ १६८९ ॥

या पूर्वाह्णे अप्रस्थापिते सति स्वाध्याये अपराह्णे पुनः समुद्दिश्योत्थितेषु सत्सु साधुषु मध्याह्ने तु भिक्षापर्यटनार्थं निर्गतेषु या प्राभृतिका क्रियते सा प्रशस्ता । कुतः ? इत्याह—"मंडलि-सुय-पेह" त्ति येन श्रुतमण्डल्या उपकरणप्रेक्षणायाश्च "वाघाय" त्ति अकारप्रश्लेषाद् 'अव्या- 10 घाता' न व्याघातविधायिनी, अत एषा प्रशस्ता ॥ १६८९ ॥ प्ररूपिता बादरा सूक्ष्मा च पञ्चविधा प्राभृतिका, एवंविधया सहितायां वसतौ न स्थातव्यम् । अथ नास्ति तथाविधा अप्राभृतिका वसतिः ततः कारणतः सप्राभृतिकायामपि तिष्ठतां यतनामाह—

तं वेल सारविंती, पाहुडियाकारगं च पुच्छंति ।
मोत्तूण चरिम भंगं, जयंति एमेव सेसेसु ॥ १६९० ॥ 15

यस्यां वेलायां प्राभृतिका क्रियते तां वेलामुपकरणं 'सारयन्ति' सङ्गोपयन्ति, अभिव्याप्तौ चात्र द्वितीया, तां वेलामभिव्याप्येत्यर्थः । प्राभृतिकाकारकं च पुरुषं पृच्छन्ति—कस्यां वेलायां भवान् सम्मार्जनादि करिष्यति ? इति । एवं 'चरमम्' अष्टमं भङ्गं मुक्त्वा 'शेषेषु' सप्तस्वपि भङ्गेषु 'यतन्ते' यतनां कुर्वन्ति ॥ १६९० ॥

चरमे वि होइ जयणा, वसंति आउत्तउवहिणो निच्चं । 20
दक्खे य वसहिपाले, ठविंति थेरा पुणित्थीसु ॥ १६९१ ॥

'चरमेऽपि' अष्टमे भङ्गे 'अच्छिन्नकालिका अनियता अनिर्दिष्टा च' इत्येवंलक्षणे आगाढे कारणे तिष्ठतां भवति यतना । कथम् ? इत्याह—नित्यमायुक्तोपधयो वसन्ति, उपधावायुक्ताः—सावधाना आयुक्तोपधयः, राजदन्तादेराकृतिगणत्वाद् व्यत्यासेन पूर्वापरनिपातः, मा गोमयादिना कोऽप्युपधिं गुण्डयेत् प्राभृतिकाकरणव्याजेनापहरेद्वेति सम्यगुपधिविषयमवधानं ददतीत्यर्थः । 25 दक्षाँश्च वसतिपालान् स्थापयन्ति । यदि च ते प्राभृतिकाकारिणः पुरुषा न स्त्रियस्ततस्तरुणा वसतिपालाः स्थापयितव्याः । "थेरा पुणित्थीसु" त्ति यदि स्त्रियस्ततो ये स्थविराः परिपाकप्राप्तब्रह्मचर्यास्ते वसतौ स्थापनीया इति ॥ १६९१ ॥

गतं प्राभृतिकाद्वारम् । अथ भिक्षाद्वारमभिधित्सुराह—

जिणकप्पिअभिग्गहिएसणाए पंचण्हमन्नतरियाए । 30 भिक्षाद्वारम्
गच्छे पुण सव्वाहिं, सावेक्खो जेण गच्छो उ ॥ १६९२ ॥

---

१ "मंडलिसुत-पेह वाघाए त्ति, सुत्तमंडलीए अत्थमंडलीए समुद्दिसणमंडलीए पडिलेहणियाकाले य जा कीरति सा वाघाता ॥ एतासु जतणं भणति—तं वेल० गाथा" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥

जिनकल्पिका अभिगृहीतया 'पञ्चानाम्' उद्धृतादीनामन्यतरया एकया एषणया भक्तम् एकया पानकं गृह्णन्ति । 'गच्छे' गच्छवासिनः पुनः 'सर्वाभिरपि' असंसृष्टादिभिरेषणाभिर्भक्त-पानं गृह्णन्ति । कुतः ? इत्याह—'सापेक्षः' बाल-वृद्धाद्यपेक्षायुक्तः 'येन' कारणेन 'गच्छः' गच्छवासिसाधुसमूह इति ॥ १६९२ ॥ आह किमिति गच्छवासिनः सर्वाभिरप्येषणाभिर्गृह्णन्ति ? 5 किं तेषां निर्जरया न कार्यम् ? उच्यते—

बाले वुड्ढे सेहे, अगीयत्थे नाण-दंसणप्पेही ।
दुब्बलसंघयणम्मि य, गच्छि पइण्णेसणा भणिया ॥ १६९३ ॥

षष्ठी-सप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदाद् बालस्य वृद्धस्य शैक्षस्यागीतार्थस्य 'ज्ञान-दर्शनप्रेक्षिणः' ज्ञानार्थिनो दर्शनप्रभावकशास्त्रार्थिनश्चेत्यर्थः 'दुर्बलसंहननस्य च' असमर्थशरीरस्यानुग्रहार्थं गच्छे 10 'प्रकीर्णा' अप्रतिनियता एषणा भणिता भगवद्भिरिति ॥ १६९३ ॥

अथैतान्येव पदानि गाथाद्वयेन भावयति—

तिक्खछुहाए पीडा, उड्डाह निवारणम्मि निकिवया ।
इय जुवल-सिक्खगेसुं, पओस भेओ य एकतरे ॥ १६९४ ॥
सुचिरेण वि गीयत्थो, न होहिई न वि सुयस्स आभागी ।
15 **पग्गहिएसणचारी, किमहीउ धरेउ वा अबलो ॥ १६९५ ॥**

अभिगृहीतयैवैषणया भक्त-पानग्रहणे प्रतिज्ञाते तया चालब्धे स्तोके वा लब्धे सति बाल-वृद्ध-शैक्षकाणां तीक्ष्णया-दुरभिसहया क्षुधा उपलक्षणत्वात् तृषा च महती पीडा भवति । उड्डाहो वा भवेद्, स हि बालादिरित्थं लोकपुरतो ब्रूयात्—एते साधवो मां क्षुधा तृषा वा मारयन्तीति । तथा 'निवारणे' विवक्षितामेकामेषणां विमुच्य अन्यासां प्रतिषेधे विधीयमाने सति बालादयश्चिन्त-20 येयुः—अहो ! निष्कृपताऽमीषाम्; ततः प्रद्वेषं गच्छेयुः । 'भेदो वा एकतरे' जीवितस्य चारित्रस्य वा विनाशोऽमीषां भवेदिति बाल-वृद्धयुगले शैक्षके वा नियम्यमाणे दोषा मन्तव्याः ॥१६९४॥

तथा अगीतार्थः सुचिरेणापि कालेन गीतार्थो न भविष्यति, नापि 'श्रुतस्य' आचारादेः उपलक्षणत्वाद् दर्शनप्रभावकशास्त्राणां वा आभागी । कीदृशः ? इत्याह—'प्रगृहीतैषणाचारी' प्रगृहीता—अभिग्रहवती या एषणा तच्चारी—तत्पर्यटनशीलः, तथाविधभक्त-पानोपष्टम्भाभावादिति 25 भावः । यो वा 'अबलः' दुर्बलसंहननः स प्रणीताहाराद्युपष्टम्भाभावे किं सूत्रमर्थं वा अधीतां धारयतां वा ? । अत एतेषामनुग्रहार्थं गच्छे प्रकीर्णैषणा दृष्टा ॥ १६९५ ॥

अथास्या एव विधिमभिधित्सुर्द्वारगाथामाह—

भिक्षाया विधिः

पमाणे काले आवस्सए य संघाडगे य उवगरणे ।
मत्तग काउस्सग्गो, जस्स य जोगो सपडिवक्खो ॥ १६९६ ॥

30 प्रमाणं नाम—कति वारान् पिण्डपातार्थं गृहपतिकुलेषु प्रवेष्टव्यम् ? इति । "कालि" त्ति कस्यां वेलायां भिक्षार्थं निर्गन्तव्यम् ? । "आवस्सग" त्ति 'आवश्यकं' संज्ञा-कायिकीलक्षणं तस्य शोधनं

१ च 'पीडा' परितापलक्षणा भवति । उड्डाहो वा भवेत्, ते हि बालादयो नियम्यमाणा इत्थं भणेयुः—एते भा० ॥

कृत्वा निर्गन्तव्यम् । "संघाडगे" त्ति सङ्घाटकेन—साधुयुग्मेन निर्गन्तव्यं नैकाकिना । "उवग-रणि" त्ति सर्वोपकरणमादाय भिक्षायामवतरणीयम् । "मत्तगि" त्ति मात्रकं ग्रहीतव्यम् । "काउ-स्सग्गो" त्ति उपयोगनिमित्तं कायोत्सर्गः कर्त्तव्यः । "जस्स य जोगो" त्ति 'यस्य च' सचित्तस्या-चित्तस्य वा 'योगः' सम्बन्धो भविष्यति लाभ इत्यर्थः तदप्यहं ग्रहीष्यामीति भणित्वा निर्गन्त-व्यम् । "सपडिवक्खो" त्ति एष प्रमाणादिको द्वारकलापः 'सप्रतिपक्षः' सापवादो वक्तव्य इति 5 द्वारगाथासमासार्थः ॥ १६९६ ॥ अथ विस्तरार्थमभिधित्सुः प्रमाणद्वारं भावयति—

प्रमाण-द्वारम्

दोन्नि अणुन्नायाओ, तइया आवज्ज मासियं लहुयं ।
गुरुगो उ चउत्थीए, चाउम्मासो पुरेकम्मे ॥ १६९७ ॥

चतुर्थभक्तिकस्य द्वौ वारौ गोचरचर्यामटितुमनुज्ञातौ । अथ तृतीयं वारमटति तत आपद्यते मासिकं लघुकम् । अथ चतुर्थं वारं पर्यटति तदा गुरुको मासः । क्लीत्वं सर्वत्र प्राकृतत्वात् । 10 अथ तृतीयादीन् वारान् भिक्षार्थं प्रविशति ततो गृहिणः पुरःकर्म कुर्वन्ति तत्र चत्वारो मासा लघव इति । ऐषा **निर्युक्तिगाथा** ॥ १६९७ ॥ अथैनामेव भाष्यकृद् विवृणोति—

सइमेव उ निग्गमणं, चउत्थभत्तिस्स दोन्नि वि अलद्धे ।
सव्वे गोयरकाला, विगिट्ठ छट्ठऽट्ठमे बि-तिहिं ॥ १६९८ ॥

'सकृदेव' एकवारमेव नित्यभक्तिकस्य भक्ताय वा पानाय वा निर्गमनं कल्पते । चतुर्थभ- 15 क्तिकस्याप्युत्सर्गतः सकृदेव भिक्षामटितुं कल्पते । अथ तदानीं पर्यटताऽपि तेन परिपूर्णो भक्तार्थो न लब्धः ततोऽलब्धे सति तस्य द्वावपि गोचरकालावनुज्ञातौ ।

◁ उक्तञ्च **दशाश्रुतस्कन्धे**—कप्पइ चउत्थभत्तियस्स एगं गोयरकालं गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा । से य नो संथरिज्जा एवं से कप्पइ दुच्चं पि गाहावइकुलं (अध्य० ८ पत्र ६०) इत्यादि । ▷　　　　20

यस्तु 'विकृष्टभक्तिकः' दशम-द्वादशमादिक्षपकस्तस्य सर्वेऽपि गोचरकालाः कल्पन्ते । "छट्ठऽट्ठमे बि-तिहिं" ति षष्ठभक्तिकस्य द्वयोर्गोचरकालयोरष्टमभक्तिकस्य तु त्रिषु गोचरकालेषु भिक्षामटितुं कल्पत इति ॥ १६९८ ॥

स्यान्मतिः किमर्थं षष्ठादिभक्तिकानां द्व्यादिगोचरकालानामनुज्ञा ? उच्यते—

संखुण्णा जेणंता, दुगाइ छट्ठादिणं तु तो कालो ।　　　　25
भुत्तणुभुत्ते अ बलं, जायइ न य सीयलं होइ ॥ १६९९ ॥

'संक्षुण्णानि' सङ्कुचितानि 'येन' कारणेन षष्ठादितपसा 'अन्त्राणि' प्रतीतानि, ततः षष्ठादि-भक्तिकानां 'द्विकादिकः' गोचरद्वयादिकः कालोऽनुज्ञातः । अपि च प्रथममेकवारं भुक्तस्ततो द्वितीयादिकं वारमनुभुक्तो भुक्तानुभुक्तस्तस्य द्व्यादीन् वारान् भुक्तवत इत्यर्थः 'बलं' भूयोऽपि षष्ठादिकरणे सामर्थ्यमुपजायते । न चेत्थं तद् भक्तं शीतलं भवति, सद्यो गृहीतत्वात् । यदि 30 होकमेव वारं पर्यटता यद् गृहीतं तन्मध्यात् किञ्चित् समुद्दिश्य द्वितीयादिवारसमुद्देशनार्थं शेषं

१ एषा पुरातना गाथा भा० । "दोण्णि० गाथा पुरातना" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ २ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव विद्यते ॥ ३ °कमेकवारं भा० विना ॥

स्थापयेत् तदा तद् भवत्येव शीतलम् । तच्च तस्य तपःक्षामदेहस्याकारकमिति कृत्वा द्व्यादयो गोचरकाला अनुज्ञाता इति ॥१६९९॥ अत्र परः प्राह—यद्यसौ षष्ठादिभक्तिको यावन्ति भक्तानि च्छिनत्ति तावन्त्येकेनैव दिवसेन पूरयति ततः को नाम गुणस्तस्य भक्तच्छेदनेन ? उच्यते—

बहुदेवसिया भत्ता, एगदिणेणं तु जइ वि भुंजेज्जा ।
5 **तह वि य चाग-तितिक्खा-एगग्ग-पभावणाईया ॥ १७०० ॥**

बहुदैवसिकानि भक्तानि यद्यप्यसावेकदिनेनैव तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् षष्ठादिभक्तिको भुञ्जीत तथापि भक्तच्छेदने त्याग-तितिक्षैकाग्र्य-प्रभावनादयो गुणा भवन्ति । त्यागो नाम—द्व्यादीन् दिवसान् यावत् सर्वथैव भक्तार्थपरिहारः, तितिक्षा—क्षुधापरीषहस्याधिसहनम्, ऐकाग्र्यं तु सूत्रार्थ-परावर्त्तनादौ चित्तस्यानन्योपयुक्तता, प्रभावना नाम—अहो ! अमीषां शासनं विजयते यत्रेदृशास्त-10 पस्विन इति, आदिशब्दादन्येषामपि तपःकर्मणि श्रद्धाजननम्, गृहिणां वा तद्दर्शनात् प्रव्रज्या-प्रतिपत्तिरिति । अतः षष्ठादिभक्तिकस्य द्व्यादिगोचरकालानुज्ञानम् । नित्यभक्तिकस्तु यदि द्वितीयं वारं भिक्षार्थमवतरति मासलघु, तृतीयवारं मासगुरु, चतुर्थं चतुर्लघु, पञ्चमं चतुर्गुरु, षष्ठं षड्लघु, सप्तमं षड्गुरु, अष्टमं छेदः, नवमं मूलम्, दशममनवस्थाप्यम्, एकादशं वारं पाराञ्चिकम् ॥ १७०० ॥ चतुर्थभक्तिकादीनामतिदेशमाह—

15 **जह एस एत्थ वुड्ढी, ओअरमाणस्स दसहि सपदं च ।**
सेसेसु वि जं जुज्जइ, तत्थ विवड्ढी उ सोहीए ॥ १७०१ ॥

यथा द्वितीयादिवारं भिक्षामवतरतः 'एषा' लघुमासादारभ्य प्रायश्चित्तस्य वृद्धिर्भणिता 'दश-भिश्च' दशसङ्ख्याकैः स्थानैः 'स्वपदं' पाराञ्चिकं नित्यभक्तिकस्योक्तम्, तथा 'शेषेष्वपि' चतुर्थ-भक्तिकादिषु 'यत्' तृतीयवारादिकं प्रायश्चित्तस्थानं युज्यते 'तत्र' तदारभ्य 'शोधेः' प्रायश्चित्तस्य 20 विवृद्धिः कर्त्तव्या । तद्यथा—चतुर्थभक्तिकस्तृतीयं वारं भिक्षामवतरति मासलघु, चतुर्थं मास-गुरु, पञ्चमं चतुर्लघु, षष्ठं चतुर्गुरु, सप्तमं षड्लघु, अष्टमं षड्गुरु, नवमं छेदः, दशमं मूलम्, एकादशमनवस्थाप्यम्, द्वादशं वारं पर्यटतः पाराञ्चिकम् । एवं षष्ठभक्तिकस्यापि द्वादशं वारम-वतरतः पाराञ्चिकम् । यदाह चूर्णिकृत्—

छट्ठभत्तियस्स वि बारसहिं पावइ सपयं ति ।

25 अष्टमभक्तिकस्य तु चतुर्थवारादारभ्य त्रयोदशं वारं यावत् पर्यटतो लघुमासादिकं पाराञ्चि-कान्तमिति ॥ १७०१ ॥

कालद्वा-रम्

गतं प्रमाणद्वारम् । अथ कालद्वारम्—कस्मिन् काले भिक्षार्थं निर्गन्तव्यम् ? उच्यते—यः क्षपको बालो वृद्धो वा पर्युषितेन प्रथमालिकां कर्तुकामः स सूत्रपौरुषीं कृत्वा निर्गच्छति । अथ तावतीं वेलां न प्रतिपालयितुं क्षमः ततोऽर्द्धपौरुष्यां निर्गच्छति । यद्यतिप्रभाते पर्यटति तदा 30 मासलघु, भद्रक-प्रान्तकृताश्च दोषा भवन्ति । तत्र साधुरतिप्रभात एव कस्यापि गृहं गत्वा भिक्षां याचितवान्, स च गृहपतिर्भद्रकः सुप्तामविरतिकामुत्थापयेत् ततस्तस्यामुत्थितायामधिकरणं प्रवर्त्तितं भवेत् । यस्तु प्रान्तो भवति स ब्रूयात्—किमुन्मत्तो वर्त्तसे यदेवमतिप्रभाते पर्यटसि ? सुखरात्रिकं वा प्रष्टुं समायासीः ? इति । यद्वा कोऽपि ग्रामान्तरं प्रस्थितः प्रथममेव तं साधुं दृष्ट्वा

अपशकुनं मन्यमानः प्रद्वेषं यायात्, प्रद्विष्टश्चाहननादि कुर्यात् । अथैतद्दोषभयादतिक्रान्तायां वेलायामटति तदाऽपि मासलघु, "अकाले चरसी भिक्खू" (दश० अ० ५ उ० २ गा० ५) इत्यादिगाथोक्ताश्च दोषाः । एवमुष्णस्यापि भक्तस्याप्राप्ते अतिक्रान्ते वा एत एव दोषा मन्तव्याः ॥

गतं कालद्वारम् । अथावश्यकद्वारम्—यद्यावश्यकम[वि]शोध्य निर्गच्छति तदा मासलघु, आज्ञादयश्च दोषा विराधना च प्रवचनादीनाम् । तद्यथा—भिक्षामटतः संज्ञा समागच्छेत् ततो 5 यद्युद्ग्राहितपात्रकः पानकं वा विना व्युत्सृजति तदा प्रवचनविराधना—अहो ! अशुचयोऽमी । अथैतद्दोषभयान्न व्युत्सृजति तत आत्मविराधना । अथ प्रतिश्रयमागत्य पानकं गृहीत्वा संज्ञाभूमौ व्रजति ततो देश-काले स्फिटिते सति भिक्षामलभमान एषणां प्रेरयेत्, ततः संयमविराधना । यत एवमत आवश्यकं शोधयित्वा निर्गन्तव्यम् ॥

आवश्यक-द्वारम्

गतमावश्यकद्वारम् । अथ सङ्घाटकद्वारं भाष्यकृदेव व्याख्यानयति— 10

एगाणियस्स दोसा, साणे इत्थी तहेव पडिणीए ।
भिक्खविसोहि महव्वय, तम्हा सबिइज्जए गमणं ॥ १७०२ ॥

सङ्घाटक-द्वारम्

यद्येकाकी पर्यटति तदा मासलघु । एते च दोषाः—स एकाकी यदि भिक्षां शोधयति तदा पृष्ठतः श्वानः समागत्य तं दशेत् । अथ श्वानमवलोकते तत एषणां न रक्षति । तमेकाकिनं दृष्ट्वा काचित् प्रोषितभर्तृका विधवा वा स्त्री बहिः प्रचारमलभमाना द्वारं पिधाय तं गृह्णीयात् । 15 प्रत्यनीको वा तमेकाकिनं दृष्ट्वा प्रान्तापनादि[1] कुर्यात् । 'भिक्षाविशोधिः' इति एकाकी यदि त्रिषु गृहेषु भिक्षां दीयमानां गृह्णाति तत एषणायामशुद्धिर्भवति । अथैकत्रैव गृहे गृह्णाति तत इतरयोर्दायकयोः प्रद्वेषो भवेत् । द्वयोस्तु निर्गतयोरेक एकत्र भिक्षामाददान एवोपयोगं ददाति, द्वितीयस्तु शेषगृहद्वयादानीयमानं भिक्षाद्वयमपि सम्यगुपयुङ्क्ते । महाव्रतानि वा एकाकी विराधयेत् । तथाहि—एकाकी निःशङ्कत्वादप्कायमप्यापिबेत् १ कुण्टल-विण्टलादि वा प्रयुञ्जीत 20 २ हिरण्यादिकं वा विक्षिप्तं गुरुकर्मतया स्तेनयेत् ३ अविरतिकां वा रूपवतीं दृष्ट्वा समुदीर्णमोहतया प्रतिसेवेत ४ भैक्षेण वा समं पतितं सुवर्णादि गृह्णीयाद् ५ इति । यत एते दोषास्तस्मात् सद्वितीयेन गमनं कर्त्तव्यम्, सङ्घाटकेनेत्यर्थः ॥ १७०२ ॥

स पुनरेकाकी कैः कारणैःसङ्घाटिकं न गृह्णाति ? इति उच्यते—

गारविए काहीए, माइल्ले अलस लुद्ध निद्धम्मे । 25
दुल्लह अत्ताहिट्ठिय, अमणुन्ने या असंघाडो ॥ १७०३ ॥

'गौरविको नाम' 'लब्धिसम्पन्नोऽहम्' इत्येवं गर्वोपेतः । अत्र चेयं भावना—सङ्घाटके यो रत्नाधिकः सोऽलब्धिमान् अवमरत्नाधिकस्तु लब्धिसम्पन्नः ततोऽसावग्रणीभूय भिक्षामुत्पादयति, प्रतिश्रयमागतयोश्च तयो रत्नाधिको मण्डलीस्थविरेण भण्यते—'ज्येष्ठार्य ! मुञ्च प्रतिग्रहम्' ततोऽवमरत्नाधिकः स्वलब्धिगर्वितश्चिन्तयेत्—'मया स्वलब्धिसामर्थ्येनेदं भक्त-पानमुत्पादितम्, 30 इदानीमस्य रत्नाधिकः प्रभुरभूद् येनास्य पार्श्वे प्रतिग्रहो याच्यते' इति कषायितः सन्नेकाकित्वं प्रतिपद्यते । "काहीए" त्ति कथाभिश्चरतीति 'काथिकः' कथाकथनैकनिष्ठः, स गोचरं प्रविष्टः

---

[1] °दि पिट्टनं कु° भा० ॥

कथाः कथयन् द्वितीयेन साधुना गुर्वादिभिर्वा वार्यमाणोऽपि नोपरमते तत एकाकी भवति। 'मायावान्' भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा शेषमानयन्नेकाकी जायते। 'अलसः' चिरगोचरचर्याभ्रमणभग्नः सन्नेकाकी पर्यटति। 'लुब्धस्तु' दधि-दुग्धादिका विकृतीरवभाष्यमाणः पृथगेवाटति। 'निर्द्धर्मा पुमः' अनेषणीयं जिघृक्षुरेकत्वं प्रतिपद्यते। "दुल्लह" त्ति दुर्लभभैक्षे काले एकत्वमुपसम्पद्यते।
5 "अत्ताहिट्ठिय" त्ति आत्मार्थिकः–आत्मलब्धिकः सः 'स्वलब्धिसामर्थ्येनैवोत्पादितमहं गृह्णामि' इत्येकाकी भवति। 'अमनोज्ञो नाम' सर्वेषामप्यनिष्टः कलहकारकत्वाद् असावप्येकाकी पर्यटतीति। एतैः कारणैः 'असङ्घाटः' सङ्घाटको न भवति ॥ १७०३ ॥

अथैतेषामेकाकित्वप्रत्ययं प्रायश्चित्तमाह—

लहुया य दोसु गुरुओ, अ तइअए चउगुरू य पंचमए।
10 **सेसाण मासलहुओ, जं वा आवज्जई जत्थ ॥ १७०४ ॥**

'द्वयोः' गौरविक-काथिकयोश्चत्वारो लघवः। 'तृतीयकस्य' मायावतो गुरुको मासः। 'पञ्चमस्य' लुब्धस्य चत्वारो गुरवः। 'शेषाणाम्' अलस-निर्धर्मादीनां मासलघु। 'यद् वा' संयमविराधनादिकं यत्रापद्यते तन्निष्पन्नं तत्र प्रायश्चित्तम् ॥ १७०४ ॥

उपकरणद्वारम्

गतं सङ्घाटकद्वारम्। अथोपकरणद्वारम्—सर्वमप्युपकरणमादाय भिक्षायामटितव्यम्। यदि
15 सर्वोपकरणं न गृह्णाति तदा मासलघु, उपधिनिष्पन्नं वा। तथा तेषां भिक्षामटितुं गतानां स प्रतिश्रयस्थापित उपधिरग्निकायेन दह्येत, दण्डिकक्षोभो मालवस्तेनक्षोभो वा तेषां भिक्षामटतां सहसा समापतित इति कृत्वा तत एव ते पलायिताः, ततो यदुपधिं विना तृणग्रहणादि कुर्युः तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तमिति ॥

मात्रकद्वारम्

गतमुपकरणद्वारम्। अथ मात्रकद्वारं व्याख्यायते—मात्रकमगृहीत्वा निर्गच्छति मासलघु।
20 आचार्यादीनां प्रायोग्यं मात्रकं विना कुत्र गृह्णातु ?। यदि न गृह्णाति तदा यत् ते अनागाढमागाढं वा परिताप्यन्ते तन्निष्पन्नम्। अथ ते अन्त-प्रान्तं समुद्दिशेयुः ततो ग्लान्यादयो दोषाः। दुर्लभद्रव्यस्य वा घृतादेस्तद्दिवसं लाभो जातः, यदि मात्रकं नास्तीति कृत्वा तन्न गृह्णाति तदा मासलघु। संसक्तभक्त-पानं वा मात्रकं विना क्व शोधयतु ?। यदि मात्रकमभविष्यत् ततस्तत्र शोधयित्वा परिष्ठापयेत् प्रतिग्रहे प्रक्षिपेद्वा। यत एवमतः कर्त्तव्यं मात्रकग्रहणम् ॥

कायोत्सर्गद्वारम्

25 गतं मात्रकद्वारम्। अथ कायोत्सर्गद्वारम्—कायोत्सर्गमकृत्वा व्रजति मासलघु। दोषाश्चात्र—कश्चिद् योगप्रतिपन्नस्तस्य तद्दिवसमाचाम्लम्, स चोपयोगकायोत्सर्गमकृत्वा गतो दध्नः करम्बं गृहीत्वा समायातः, पश्चादपरैः साधुभिस्तस्याचाम्लं स्मारितम्, ततः स यदि तं समुद्दिशति तदा योगविराधना, अथ परिष्ठापयति ततः संयमविराधना, ततः कायोत्सर्गं कृत्वा निर्गच्छेत्। तत्र च कायोत्सर्गे चिन्तयेत्—यथा अद्य किं मे आचाम्लम् ? उत निर्विकृतिकम् ? उताहो अभक्तार्थम् ?
30 आहोश्विदेकाशनकम् ? इति। इत्थमुपयोगं दत्त्वा प्रत्याख्यानानुगुणमेवाहारं गृह्णाति ॥

यस्य योगद्वारम्

गतं कायोत्सर्गद्वारम्। अथ यस्य च योग इति द्वारम्—यस्य–वस्त्र-पात्र-शैक्षादेर्योगः–सम्बन्धो

---

१ इति विशेषचूर्णितो लिखितम्। इत्थ° भा० ॥

भविष्यति तदपि ग्रहीष्यामीति यदि न भणति तदाऽपि मासलघु । वस्त्र-पात्रादिकं च ग्रहीतुं न कल्पते ॥

सप्रति-पक्ष-द्वारम्

अथ सप्रतिपक्ष इति द्वारम्—एष द्वारकलापः सप्रतिपक्षः—सापवादो मन्तव्यः । तद्यथा—आचार्याद्यर्थं बहूनपि वारान् प्रविशेत् ।

प्रथम-द्वितीयपरीषहपीडितो यद्यप्यतिप्रभातं तदाऽपि निर्गच्छेत्, यत्र च मानुषाणि विबु-5 द्धानि तत्र गत्वा धर्मलाभयेत्, ग्लान-प्राघूर्णकादीनां हेतोररतिक्रान्तेऽपि निर्गच्छेत् ।

अनाभोगतो ग्लानादिषु वा कार्येषु व्यापृतः सन्नावश्यकमप्य[वि]शोध्य निर्गच्छेत् । निर्गतश्च संज्ञया बाध्यमानो यदि प्रतिश्रयः प्रत्यासन्नस्ततो निवर्त्तते । अथ दूरे ततो यदि कालो न पूर्यते तदा तयोरेकः पात्रकाणि धारयति इतरः संज्ञां व्युत्सृजति । अथ सागारिकास्तत्र पश्यन्ति ततः समनोज्ञानां प्रतिश्रयं गत्वा व्युत्सृजति । तदभावे अमनोज्ञानां संविग्नानाम् । तेषामलाभे पार्श्व-10 स्थादीनाम् । तेषामप्यभावे साम्भोगिकाणाम् । तदसत्त्वे सिद्धपुत्रकाणाम् । तेषामप्राप्तौ श्रावकाणां वैद्यस्य वा गृहे । एतेषामभावे राजमार्गे गृहद्वयमध्यभागे वा गृहस्थसत्के वा अवग्रहे कायिकीवर्जं व्युत्सृजति । ततो यद्यसौ गृहपतिस्तां संज्ञां त्याजयति तदा राजकुले व्यवहारो लभ्यते । यथा—

> त्रयः[१] शल्या महाराज !, अस्मिन् देहे प्रतिष्ठिताः ।
> वायु-मूत्र-पुरीषाणां, प्राप्तं वेगं न धारयेत् ॥ 15

तथा सङ्घाटकं विनाऽपि निर्गच्छेत् । कथम् ? इति चेद् उच्यते—यदि दुर्भिक्षे चिरमप्य-टित्वा पर्याप्तं लभ्यते ततो द्वावेव पर्यटतां न पुनरेकाकी । अथ द्वयोरप्येकैव भिक्षा लभ्यते न च कालः पूर्यते तत एकोऽपि पर्यटेत् । यदि सर्वेऽपि समगूढत्वादात्मलब्धिका भवन्ति तदा प्रतिषेद्धव्याः । अथ कोऽपि प्रियधर्मा मातृस्थानविरहित आत्मलब्धिकत्वं प्रतिपद्यते ततः सोऽनु-ज्ञातव्यः । यः पुनरमनोज्ञः स अन्यान्यैः साधुभिः समं संयोज्य प्रेष्यते । यदि सर्वेऽपि 20 नेच्छन्ति ततः परित्यजनीयोऽसौ । अथ स एवैकः कलहकरणलक्षणस्तस्य दोषः अपरे निर्लो-भत्वादयो बहवो गुणा एषणाशुद्धौ चातीव दृढता ततो न परित्यक्तव्य इति । यत्र श्वान-गवा-दयो दुष्टा भवन्ति तद्गृहं यद्यनाभोगतः प्रविष्टस्ततः कुड्य-कटनिश्रया तिष्ठति, दण्डकेन वा तान् वारयति । यदि काचिदविरतिका तमुपसर्गयेत् ततो धर्मकथा कर्त्तव्या । तथा यद्युपशाम्यति ततः सुन्दरम्, नो चेदभिधातव्यम्—एतानि व्रतानि गुरुसमीपे स्थापयित्वा समागच्छामीति । 25 यदि प्रत्यनीकगृहमनाभोगतः प्रविष्टस्ततो महता शब्देन तथा बोलं करोति यथा भूयाँल्लोको मिलति । त्रयाणां गृहाणां मध्ये स्थितः सदुपयोगं कृत्वा भिक्षां गृह्णीयात् । पञ्चानामपि महाव्र-तानामतिक्रमं महता प्रयत्नेन परिहरेत् ।

सर्वोपकरणमपि स्तेन-प्रत्यनीकाद्युपद्रवभयाद् वृद्धत्वादधुनोत्थितग्लानत्वाद्वा न गृह्णीयात् । इयत् पुनरवश्यमेव ग्रहीतव्यम्—पात्रभाण्डकं चोलपट्टको रजोहरणं मुखवस्त्रिका चेति । 30

मात्रकमप्यनाभोगादिना न गृह्णीयात् ।

---

१ "तिण्णि सल्ला महाराय !, अस्सिं देहे पइट्ठिया । वाउ-मुत्त-पुरिसाणं, पत्तं वेगं न धारए ॥ ६२२ ॥" इति ओघनिर्युक्तिश्लोकसमोऽयं श्लोकः ॥ २ °टकेन वि° भा० ॥

कायोत्सर्गादीन्यपि स्नानादिकार्येषु त्वरमाणो न कुर्यादिति ॥

उक्तं सप्रतिपक्षद्वारम् । तदुक्तौ च गतं भिक्षाद्वारम् । अथ कल्पकरणद्वारमभिधित्सुराह—

कल्पकरणद्वारम्

भाणस्स कप्पकरणे, अलेवडे नत्थि किंचि कायव्वं ।
तम्हा लेवकडस्स उ, कायव्वा मग्गणा होइ ॥ १७०५ ॥

5 भाजनस्य कल्पकरणे चिन्त्यमाने यदलेपकृतं द्रव्यं तद् यत्र प्रक्षिप्तं तस्य भाजनस्य न किञ्चित् कर्त्तव्यम्, कल्पो न विधेय इत्यर्थः । लेपकृतभाजनस्य त्ववश्यं कल्पो दातव्य इत्यतो लेपकृतस्य मार्गणा कर्त्तव्या, कीदृशं लेपकृतम्? अलेपकृतं वा? इति चिन्तनीयमित्यर्थः ॥ १७०५ ॥

तत्रालेपकृतानि तावदाह—

अलेपकृतानि

कंजुसिण-चाउलोदे, संसट्ठाऽऽयाम-कट्ठमूलरसे ।
10 **कंजियकढिए लोणे, कुट्टा पिज्जा य नित्तुप्पा ॥ १७०६ ॥**
कंजिय-उदगविलेवी, ओदण कुम्मास सत्तुए पिट्ठे ।
मंडग समिउस्सिन्ने, कंजियपत्ते अलेवकडे ॥ १७०७ ॥

काञ्जिकम्—आरनालम्, उष्णोदकम्—उद्वृत्तत्रिदण्डम्, "चाउलोदगं" तन्दुलधावनम्, संसृष्टं नाम—गोरससंसृष्टे भाजने प्रक्षिप्तं सद् यदुदकं गोरसरसेन परिणामितम्, 'आयामम्' अवश्रावणम्,
15 "कट्ठमूलरसे" त्ति काष्ठमूलं—चणक-चवलादिकं द्विदलं तदीयेन रसेन यत् परिणामितं तत् काष्ठमूलरसं नाम पानकम्, तथा यत् काञ्जिकक्वथितम्, "लोणि" त्ति सलवणम्, या च "कुट्टा" चिञ्चनिका, 'पेया च' प्रतीता 'निस्तुप्पा' अचोप्पडा अवघारिता वा ॥ १७०६ ॥ तथा—

विलेपिका द्विविधा—एका काञ्जिकविलेपिका, द्वितीया उदकविलेपिका । 'ओदनः' तन्दुलादि भक्तम्, 'कुल्माषाः' उडदा राजमाषा वा, 'सक्तवः' अष्टयवक्षोदरूपाः, 'पिष्टं'
20 मुद्गादिचूर्णम्, 'मण्डकाः' कणिक्कामयाः, 'समितं' अट्टकः, 'उत्स्विन्नम्' उण्डेरकादि, 'काञ्जिकपत्रं' काञ्जिकेन बाप्पितं अरणिकादिशाकम् । एतानि काञ्जिकादीन्यलेपकृतानि मन्तव्यानि ॥ १७०७ ॥ अथ लेपकृतानि निरूपयति—

लेपकृतानि

विगई विगइअवयवा, अविगइपिंडरसएहिँ जं मीसं ।
गुल-दहि-तेल्लावयवे, विगडम्मि य सेसएसुं च ॥ १७०८ ॥

25 दधि-दुग्ध-घृतादिका या विकृतयो ये च विकृतीनामवयवाः—मन्थुप्रभृतयस्तैर्यद् मिश्रं यच्चाविकृतिरूपैः पिण्डरसैः—खर्जूरादिभिर्मिश्रं एतत् सर्वमपि लेपकृतमिति प्रक्रमः । अत्र च गुड-दधि-तैलानां येऽवयवाः यश्च 'विकटे' मद्येऽवयवः 'शेषेषु च' घृतादिषु येऽवयवास्ते केचिद् विकृतयः केचिच्चाविकृतयः प्रतिपत्तव्याः ॥१७०८॥ अथैनामेव निर्युक्तिगाथां विवृणोति—

---

१ कंजिय उण्होदग चाउलोदए संस° ता० । चूर्णिकृता विशेषचूर्णिकृता चायमेव पाठ आदृतोऽस्ति ॥ २ °कटस्य' मद्यस्यावयवः "सेसएसुं च" त्ति 'शेषेषु' घृतादिषु च येऽव° भा० ॥ ३ अथ विकृतीनामेव सावयव-निरवयवत्वज्ञापनार्थं ते वा अवयवाः के विकृतयः? के वा न विकृतयः? इत्याशङ्कापनोदार्थं च गाथात्रयमाह—दहि° भा० । "तेषां च के विकृतयः? के वा न? इति ज्ञापनार्थमिदमुच्यते—दधि" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥

दहिअवयवो उ मंथू, विगई तक्कं न होइ विगई उ ।
खीरं तु निरावयवं, नवणीओगाहिमा चेव ॥ १७०९ ॥
घयघट्टो पुण विगई, वीसंदण मो य केइ इच्छंति ।
तेल्ल-गुलाण अविगई, सूमालिय-खंडमाईणि ॥ १७१० ॥
महुणो मयणमविगई, खोलो मज्जस्स पोग्गले पिउडं । 5
रसओ पुण तदवयवो, सो पुण नियमा भवे विगई ॥ १७११ ॥

दध्नः सम्बन्धी यो मन्थु इति नाम्ना प्रसिद्धोऽवयवः स विकृतिः । यत्तु तक्रं तद् दध्यवयवरूपमपि विकृतिर्न भवति । 'क्षीरं तु' दुग्धं पुनः 'निरवयवम्' अवयवरहितम्, नवनीतं—म्रक्षणम् अवगाहिमं—पक्वान्नम् एते अपि निरवयवे, एतद्विषयाणामवयवानां पृथगव्यवह्रियमाणत्वादिति ॥ १७०९ ॥ 10

'घृतघट्टः पुनः' घृतस्य सम्बन्धी यः किट्टो महियाङुकमित्यर्थः स विकृतिर्व्यवह्रियते । विस्पन्दनं नाम—अर्द्धनिर्दग्धघृतमध्यक्षिप्ततन्दुलनिष्पन्नम् । उक्तञ्च **पञ्चवस्तुकटीकायाम्**—

वीसंदणं अद्धनिदड्ढघयमज्झछूढतंदुलनिप्फन्नं (गा० ३७९) ति ।

"मो" इति पादपूरणे । चशब्दोऽपिशब्दार्थे । विस्पन्दनमपि केचिद् विकृतिमिच्छन्ति न पुनर्वयम् । यदाह **चूर्णिकृत्**— 15

अम्हाणं[1] पुण वीसंदणं अविगइ त्ति ।

तैल-गुलयोर्यथाक्रमं यानि सुकुमारिका-खण्डादीनि तानि 'अविकृतिः' विकृतिर्न भवतीत्यर्थः । सुकुमारिका—तैलकिट्टविशेषः, खण्डः—प्रतीतः, आदिशब्दात् शर्करा-मत्स्यण्डिकादिपरिग्रहः ॥ १७१० ॥

'मधुनः' माक्षिकादिभेदभिन्नस्यावयवो[2] यद् मदनं तदविकृतिः । मद्यस्य यः 'खोलः' किट्टविशेषः सोऽपि न विकृतिः । पुद्गलस्य यत् 'पिटकम्' उज्झम् अस्थि वा तदप्यविकृतिः । 'रसकः[3] पुनः' [वसा मेदश्च] यस्तस्य—पुद्गलस्यावयवः स पुनर्नियमाद् भवेद् विकृतिः ॥ १७११ ॥ 20

अथ पिण्डरसपदं व्याख्यानयति—

अंबंबाड-कविट्ठे, मुद्दीया माउलिंग कयले य ।
खज्जूर-नालिएरे, कोले चिंचा य बोधव्वा ॥ १७१२ ॥ 25

आम्रं आम्रातकं कपित्थं 'मुद्रिका' द्राक्षा 'मातुलिङ्गं' बीजपूरकं "कयलं" कदलीफलं 'खर्जूरं नालिकेरम्' उभयमपि सुप्रसिद्धं 'कोलः' बदरचूर्णं 'चिञ्चा' अम्लिका चशब्दादन्यान्यप्येवंविधानि[4] पिण्डरसद्रव्याणि बोद्धव्यानि। एतानि च विकृतयो न भवन्ति॥१७१२॥ यत आह—

खज्जूर-मुद्दिया-दाडिमाण पीलुच्छु-चिंचमाईणं ।
पिंडरस न विगईओ, नियमा पुण होंति लेवाडा ॥ १७१३ ॥ 30

१ "अम्हं विस्संदणं निव्वीतियं" इति पाठोऽस्मत्समीपस्थचूर्णिप्रतिषु दृश्यते ॥ २ °**यवरूपं य**° भा० ॥ ३ "रसओ वसा मेदो य विगई" इति **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च ॥ ४ °**धाः पिण्डरसा ज्ञातव्याः । एते चाविकृतयः परं लेपकृतद्रव्याणि मन्तव्याः ॥ १७१२ ॥** भा० ॥

खर्जूर-मुद्रिका-दाडिमानां पीलु-इक्षु-चिञ्चादीनां च सम्बन्धिनौ यौ पिण्डरसौ तौ 'अविकृती' विकृती न भवतः, नियमात् पुनर्लेपकृतौ भवत इति ॥ १७१३ ॥

उक्तानि लेपकृतानि । लेपकृतैः संसृष्टस्य भाजनस्य कल्पः करणीयः । यदि पुनस्तस्य भाजनस्य लेपः स्फटितो भवति ततः कल्पत्रये कृतेऽपि लेपकृतमेव तद् मन्तव्यम् । अतस्त-
5 द्दोषपरिहारार्थमाह—

कुट्टिमतलसंकासो, भिसिणीपुक्खलपलाससरिसो वा ।
सामास धुवण सुक्खावणा य सुहमेरिसे होंति ॥ १७१४ ॥

यथा कुट्टिमतलं निम्नोन्नतप्रदेशरहितं सर्वतः सममेव भवति एवं पात्रकस्य लेपोऽपि कुट्टिमतलसङ्काशः सर्वतः सम एव कर्त्तव्यः । तथा बिसिनी—पद्मिनी तस्या यत् पुष्कलं—विस्तीर्णं
10 पलाशं—पत्रं तत्र पतितं जलं यथा नावतिष्ठते एवं यत्र सूक्ष्मसिक्थाद्यवयवा लग्ना अपि न स्थितिं कुर्वन्ति स बिसिनीपुष्कलपलाशसदृशः । ईदृशे लेपे पात्रकस्य समास-धावन-शोषणाः सुखमेव कर्त्तुं शक्यन्ते । सम् इति—सम्यक् प्रवचनोक्तेन विधिना आङ् इति—मर्यादया पात्रकलेपमवधीकृत्य यद् असनं—सिक्थाद्यवयवानामपनयनं स समासः, संलेखनकल्प इत्यर्थः । धावनं—कल्पत्रयप्रदानम् । शोषणं—उद्वापनम् । अपरश्चायं गुण ईदृशे पात्रे भवति—

15 एगो साहू रुक्खमूले समुद्दिसइ । तेण साहुणा दिसालोगो कओ, न पुण उवरिमारूढो धिज्जाइओ दिट्ठो । तेण सो साहू दरजिमिओ दिट्ठो । ताहे सो ओअरित्ता गाममइगओ । तक्खणेण सिट्ठं गामिल्लयाणं । तेण पुण साहुणा सो ओअरंतो दिट्ठो । ताहे सो भगवं दवदवस्स आउत्तो समुद्दिसिउं तहा संलिहइ जहा नज्जइ धोयं पिव पत्तं । पच्छा सो भगवं मुहपोत्तियाए मुहं पिहेऊण पढंतो अच्छइ । ते आगया पिच्छंति साहुं उवसंतं । कओ एह ? कत्तो भिक्खं
20 गहियं ? । तओ भणइ—न ताव हिण्डामि, किं वेला जाया ? । ते अन्नमन्नस्स मुहं पलोइंति । ताहे धिज्जाइओ भणइ—मए दिट्ठो, पलोएह से भायणं ति । पिच्छामो भायणं । तेणं दाइयं । ताहे ते दट्ठूण भणंति—तुमं सि पावो मरुगो त्ति ॥ ॥ १७१४ ॥

अमुमेवार्थं भाष्यकृदाह—

आउत्तो सो भगवं, चोक्खं सुइयं च तं कयं पत्तं ।
25 **निस्सील-निव्वयाणं, पत्तस्स य दायणा भणिया ॥ १७१५ ॥**
ओभाविओ उ मरुओ, पभो साहू जसं च कित्तिं च ।
पच्छाइआ य दोसा, वण्णो य पभाविओ तहियं ॥ १७१६ ॥

स भगवान् तं धिग्जातीयं वृक्षादवतरन्तं दृष्ट्वा 'आयुक्तः' प्रवचनमालिन्यरक्षणाय प्रयत्नपरो बभूव । तेतस्तेन संलेखनाकल्पकरणेन चोक्षं शुचिकं च कृतं तत् पात्रकम् । ततश्च निःशील-
30 निर्व्रतानां च तेषां ग्रामेयकाणां पात्रकस्य 'दर्शना' 'निरीक्षध्वमिदं यदि भवतामेतद्दर्शने कौतुक-

१ इति । एतैः पिण्डरसद्रव्यैर्यद् मिश्रं तदपि लेपकृतमेव ॥ १७१३ ॥ भा० ॥ २ ततश्च तेन चोक्षं संलेखनाकल्पकरणेन शुचिकं च कल्पप्रदानेन कृतं तत् पात्रकम् । ततश्च 'निःशील-निर्व्रतानां' ब्रह्मचर्या-ऽहिंसादिबहिष्कृतानां धिग्जातीयानां पात्रकस्य भा० ॥

मस्ति' इत्येवंलक्षणा भणिता ॥ १७१५ ॥

पात्रे च दर्शिते तैः 'मत्सकः' विजातीयोऽपभ्राजितः । यथा—धिग् भवन्तमस्तोमोद्घोषण-कारिणं गुणिषु मत्सरिणमिति । साधुश्च प्राप्तः 'यशश्च' मिथ्यादृष्टिमानमर्दनपराक्रमसमुत्थं 'कीर्तिं च' शुचिसमाचाररूपसुकृतमभवाम् । प्रच्छादिताश्च दोषाः पानकेन विना तुम्बकेषु वा भोजनकरणसमुत्थाः । वर्णश्च प्रभावितः प्रवचनस्य तत्रावसरे तेन भगवता । एष गुणः शोभन-5 लेपलिप्तस्य पात्रस्येति ॥ १७१६ ॥

अथ येषु द्रव्येषु कल्पकरणमवश्यं कर्त्तव्यं तानि दर्शयति—

लेवाड विगइ गोरस, कढिए पिंडरस जहण्ण उक्भजी ।
एएसिं कायव्वं, अकरणे गुरुगा य आणाई ॥ १७१७ ॥

एतानि द्रव्याणि लेपकृतानि । तद्यथा—'विकृतयः' दधि-दुग्धादिकाः, 'गोरसं' तक्रादि, 10 'क्वथितं' तीममादि, 'पिण्डरसाः' खर्जूरादयो यावज्जघन्यतः "उक्भजि" त्ति कोद्रवजाउलकम् । 'एतेषां' लेपकृतानां कल्पकरणं कर्त्तव्यम् । यदि न करोति तदा चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च संयमादिविषया ॥ १७१७ ॥ तामेव भावयति—

संचयपसंगदोसा, निसिभत्तं लेवकुच्छणमगंधं ।
दव्वविणासुड्डादी, अवण्ण संसज्जणाऽऽहारे ॥ १७१८ ॥ 15

लेपकृतपात्रकस्य कल्पेऽक्रियमाणे यः सञ्चयः—सूक्ष्मसिक्थाद्यवयवपरिवासनरूपस्तस्य प्रस-ङ्गेन दोषा एते भवेयुः—[4]निशिभक्तं प्रतिसेवितं भवति । लेपस्य च कोथनं—पूतिभवनम् । ततश्च 'अगन्धं' नञः कुत्सार्थत्वादतीवदुर्गन्धि भाजनं भवति । तादृशे च भाजने गृहीतस्य द्रव्यस्य—ओदनादेर्विनाशो भवति । तस्मिन् भुञ्जानस्य च विरसगन्धाघ्राणत उड्डादीनि भवन्ति । उड्डं—वमनम्, आदिशब्दादरोचक-मान्द्यादिपरिग्रहः । 'अवर्णश्च' प्रवचनस्योड्डाहो [5]भवति । 20 तथाहि—लोको भिक्षां ददानो दुर्गन्धि भाजनं दृष्ट्वा गर्हते—ईदृशा एवैते अशुचयः पापोपहता इति । "संसज्जणाऽऽहारे" त्ति दुर्गन्धिनाऽऽहारे पनक-कुन्थुप्रभृतयः प्राणिनः संसजेयुः ॥ १७१८ ॥

यत एवमतः—

लेवकडे कायव्वं, पच्चयणे तिण्णि वार गंतव्वं ।
एवं अप्पा य परो, य पवयणं होंति चत्ताइं ॥ १७१९ ॥ 25

१ 'श्च' प्रत्यनीकमान° भा० ॥ २ च' 'अहो! अयं महात्मा शुचिसमाचारः' इत्येवं सकलसत्त्वविलयमभवाम् । प्रच्छादिताश्च दोषास्तुम्बकेषु भोज° भा० ॥ ३ °काः, गोरसेन क्वथितं—राजं यत् पेयादिद्रव्यम्, यद्वा गोरसमेव—तक्रादिकं यत् क्वथितम्, ते च 'पिण्ड-रसाः' मुद्रिकाद्यो यावज्जघन्यतः "उक्मेज" त्ति 'उक्मेया' कोद्रवजाउलकं वास्तुल-प्रभृतिशाकमर्जिका वा । 'एतेषां' भा० । "लेवगडविगइ० गाहा ॥ लेवाडा विगईओ गोरसो य कढियओ, पिंडरसो मुद्दियाई, जहन्नओ लेवाडो 'उक्भजी' त्तियओ सुरपूवियमेगट्ठं । एएसिं लेवाडाणं कप्पो कायव्वो । न करेइ ::, आणाई विराहणा" इति विशेषचूर्णिः ॥ ४ निसि—रात्रौ भक्तं भा० ॥ ५ भवेत् भा० ॥

लेपकृतभाजने कर्त्तव्यं कल्पकरणम् । अत्र परः–प्रेरकस्तस्य वचने त्रीन् वारान् कल्पप्रायो-ग्यपानकग्रहणार्थं गृहपतिगृहे गन्तव्यमिति । सूरिराह—एवंक्रियमाणे आत्मा च परश्च प्रव-चनं च भवन्ति परित्यक्तानीति[1] निर्युक्तिगाथासमासार्थः ॥१७१९॥ अथैनामेव विवरीषुराह—

गोउल विरूवसंखडि, अलंभें साधारणं च सव्वेसिं ।
5 **गहियं संती य तहिं, तक्कुच्छुरसादि लग्गट्ठा ॥ १७२० ॥**

गच्छे साधवः सुबहवो भवेयुः, तैश्च भिक्षां हिण्डमानैर्गोकुले दुग्ध-दध्यादीनि प्राचुर्येण लब्धानि, 'विरूपायां वा' अनेकभक्ष्य-भोज्यप्रकारायां[2] सङ्खड्यामुत्कृष्टमशनादिद्रव्यं लभ्येत[3], तैश्च साधुभिः 'अलाभे' अन्यत्र तथाविधस्य दुर्लभद्रव्यस्यासम्प्राप्तौ सर्वेषां साधारणमुपष्टम्भका-रकमिदमिति मत्वा सर्वाण्यपि भक्तभाजनानि भृत्वा पानकप्रतिग्रहेष्वपि गृहीतम् । ततः प्रति-10 श्रयमागता यावत् पानकेन विना न शक्यते समुद्देष्टुम्, आहारस्य गलके विलगनात्, ततः किं कर्त्तव्यम् ? इत्याह—सन्ति च तत्र तक्रेक्षुरसादीनि, आदिशब्दाद् दुग्धादीनि च, तान्य-पान्तराले आपिबेत् । किमर्थम् ? इत्याह—"लग्गट्ठ" त्ति लगनं लग्नम्, भावे क्तप्रत्ययः, आहारस्य गलके विलगनमुत्तूहणं वा[4] तदर्थम्, तद् मा भूदित्यर्थः ॥ १७२० ॥ आह यद्येवं तर्हि पानकाभावे समुद्देशनानन्तरं कथं भाजनानि कल्पयितव्यानि ? इत्युच्यते—

15 **मंडलितक्की खमए, गुरुभाणेणं व आणयंति दवं ।**
अपरीभोगऽतिरित्ते, लहुओऽणाजीविभाणे य ॥ १७२१ ॥

यः क्षपकः "मण्डलितक्की" मण्डल्युपजीवकस्तस्य भाजनेन गुरूणां भाजनेन वा 'द्रवं' पानक-मानयन्ति । अथापरिभोग्येषु भाजनेषु 'अतिरिक्ते वा' नन्दीभाजने मण्डल्यनुपजीविक्षपक-भाजने वा द्रवमानयन्ति तदा लघुको मासः ॥ १७२१ ॥

20 अथ "परवचने त्रीन् वारान् गन्तव्यम्" (गा० १७१९)इति पदं व्याख्यानयति[5]—

भणइ जइ एस दोसो, तो आइमकप्पमाण संलिहिउं ।
अन्नेसि तगं दाउं, तो गच्छइ बिइय-तइयाणं ॥ १७२२ ॥

'भणति'[6] परः प्रेरयति—यद्येषः 'दोषः' प्रायश्चित्तापत्तिलक्षणस्ततोऽहं विधिं भणामि—प्रतिग्रहं संलिख्य तत एकाकी गृहपतिगृहे प्रविश्य 'आदिमकल्पमानं' यावता[7] सर्वसाधुभिरादिमः कल्पः 25 क्रियते तावन्मात्रं द्रवं गृहीत्वाऽन्येषां साधूनां 'तत्' पानकं दत्त्वा ततः स्वयं प्रथमकल्पं करोतु । कृत्वा च ततो गच्छति द्वितीय-तृतीययोः कल्पयोः । इदमुक्तं भवति—द्वितीयकल्पकरणार्थं

---

१ °ति गाथा° भा० ॥ २ °कप्रका° भा० ॥ ३ लभ्यते त० डे० ॥ ४ वेत्यर्थः, त° भा० ॥ ५ °ख्याति भा० मो० ले० ॥ ६ "भणति० गाथा ॥ 'परो' त्ति चोदगो सो भणति—जति एस पच्छि-त्तदोसो तो अधं विधिं भणामि—पडिग्गहं संलिहित्ता एगागी प्रथमकल्पकरणार्थं पविसित्ता तत्तियमेत्तं दवं गेण्हतु जेण पढमकप्पं काउं बितियं वारा बितियकल्पार्थं पविसित्ता तत्तियमेत्तं दवं गहाय आगंतु हत्थकप्पं काउं बितियकप्पं च दाउं ततियं वारं पविसित्ता जत्तिएणं ततियकप्पो कीरति तं घेत्तुं आगंतुं ततियकप्पं दाउं पच्छा जत्तिएण सेसाणि लेवाडाणि भायणाणि धोव्वंति सण्णाभूमिपाणगं च भवति तत्तियमेत्तं घेत्तुं एउ ।" इति चूर्णिः विशेषचूर्णिश्च ॥ ७ °ता एकेनादिमः-प्रथमः कल्पः क्रि° भा० ॥

द्वितीयं वारं तत्र गृहे प्रविश्य तावन्मात्रं द्रवं गृहीत्वा प्राग्वदन्यसाधूनां दत्त्वा द्वितीयकल्पं करोतु, ततः तृतीयं वारं भूयः प्रविश्य तावन्मात्रं गृहीत्वा तथैव तृतीयं कल्पं कृत्वा यावन्मात्रेण शेषभाजनानि धाव्यन्ते संज्ञाभूमीपानकं च भवति तावन्मात्रं गृहीत्वा समायातु ॥१७२२॥

आचार्यः प्राह—एवंकुर्वता आत्मा च परश्च प्रवचनं च परित्यक्तानि भवन्ति । तत्रात्मा कथं त्यक्तो भवति ? इत्युच्यते— 5

संदंसणेण बहुसो, संलाव-ऽणुराग-केलि आउभया ।
देंती णु कंजियं णुं, जइस्स इट्ठो त्ति य भणंति ॥ १७२३ ॥

तस्यैकाकिनो भूयो भूयस्तद्गृहं प्रविशतो याऽसौ काञ्जिकदात्री अविरतिका तस्याः सम्बन्धिना बहुशः सन्दर्शनेन संलापा-ऽनुराग-केलिप्रभृतय आत्मोभयसमुत्था दोषा भवेयुः । संलापः—सङ्कथा, अनुरागः—परस्परमात्यन्तिकी प्रीतिः, केलिः—परिहासः । तथा यद्येष प्रव्रजितकः पुनः पुनरेति 10 याति च तत् किमस्य 'ददती' पानकदायिका इष्टा ? उत काञ्जिकम् ? इत्येवमगारिणस्तमुद्दिश्य भणन्ति । नुशब्द उभयत्रापि वितर्के ॥१७२३॥ प्रवचनं यथा परित्यक्तं भवति तथा दर्शयति—

आयपरोभयदोसा, चउत्थ-तेणट्ठसंकणा णीए ।
दोच्चं णु चारिओ णुं, करेइ आयट्ठ गहणाई ॥ १७२४ ॥

'आत्मपरोभयदोषाः' आत्मनः—स्वस्मात् परस्याः—काञ्जिकदायिकायास्तदुभयस्माच्च एते दोषा 15 भवेयुः । तद्यथा—चतुर्थे—चतुर्थाश्रवद्वारविषया स्तैन्यार्थविषया च शङ्का तस्याः सत्कैर्निजकैः क्रियते । यथा—'नुः' इति वितर्के, किमेष प्रव्रजितकः कस्याप्युद्भ्रामकस्य मैथुनदौत्यं करोति यदेवमायाति याति च ? यद्वा चारिको भूत्वा चौराणां हेरिकतां कर्तुमित्थमायाति ? यद्वा आत्मार्थमेवायमित्थं करोति ? स्वयमेव मैथुनार्थी हर्तुकामो वेत्यर्थः । इत्थं शङ्कमानास्ते तस्य साधोर्ग्रहणा-ऽऽकर्षणादीनि कुर्युः । ततः प्रवचनं परित्यक्तं भवति ॥ १७२४ ॥ 20

परः कथं परित्यक्तो भवति ? इत्युच्यते—

गिण्हंति सिज्झियाओ, छिद्दं जाउग सवत्तिणीओ अ ।
सुत्तत्थे परिहाणी, निग्गमणे सोहिवुड्ढी य ॥ १७२५ ॥

गृह्णन्ति 'छिद्रं' दूषणं काञ्जिकदायिकायाः, काः ? इत्याह—'सिज्झिकाः' सहवासिन्यः, प्रातिवेश्मिकस्त्रिय इत्यर्थः, "जाउग" त्ति 'यातरः' ज्येष्ठ-देवरजायाः 'सपत्न्यः' प्रतीताः, यथा— 25 यदेष संयतो भूयो भूयः समायाति तद् नूनमस्या अयमुद्भ्रामक इति । ततो यदा तया सहासङ्खडमुपजायते तदा तत् प्राग्विकल्पितं दूषणं साक्षात् तत्पतेः पुरत उद्गिरन्ति । तथा सूत्रार्थविषया परिहाणिः पुनः पुनर्गच्छतो भवति । "निग्गमणे सोहिवुड्ढी य" त्ति त्रीन् चतुरो वा वारान् निर्गमने शोधिवृद्धिश्च तथैव द्रष्टव्या यथा भिक्षाद्वारे प्रागुक्तम् (गाथा १६९७) । यत एते दोषा अतो नैकाकिना भूयो भूयो गन्तव्यम् ॥ १७२५ ॥ कथं पुनस्तर्हि गन्तव्यम् ? इत्याह— 30

संघाडएण एगो, खमए विइयपय वुड्ढमाइण्णे ।
पुव्वुद्धि(द्दि)एण करणं, तस्स व असई य उस्सिचे ॥ १७२६ ॥

१ °त्वा प्रतिश्रयमागम्य द्विती° भा० ॥ २ तथा तृ° भा० ॥

सङ्घाटकेन भावितकुलेषु प्रविश्य पानकं ग्रहीतव्यम् । द्वितीयपदे एकोऽपि (ग्रन्थाग्रम्—१००० । सर्वग्रन्थाग्रम्—१२२२० ।) यः क्षपको वृद्धो वा अशङ्कनीयः स आकीर्णेषु भावितकुलेषु पानकं गृह्णाति । तच्च पानकं यत् पूर्वमेव सौवीरिण्या उद्धृतं—पृथक् स्थापितं तेन कल्पकरणं कर्त्तव्यम् । 'तस्य वा' पूर्वोद्धृतस्य 'असति' अभावे उत्सेचनमुत्सिक्तं तदपि कारापणीयम् ।
5 एषा पुरातनगाथा[1] ॥ १७२६ ॥ अथैनामेव भाष्यकृद् विवृणोति—

भावितकुलेसु धोवित्तु भायणे आणयंति सेसट्ठा ।
तव्विहकुलाण असई, अपरीभोगादिसु जयंति ॥ १७२७ ॥

भावितकुलानि नाम—येषु पूर्वोक्ताः शङ्कादयो दोषा न स्युस्तेषु गत्वा गृहस्थभाजने[2] मण्डल्युपजीविक्षपकभाजने गुरुभाजने वा द्रवं गृहीत्वा स्वकीयभाजनानि धौत्वा शेषाणां भाजनानां
10 धावनार्थं संज्ञाभूमिगतानामाचमनार्थं चापरमपि पानकमानयन्ति । तद्विधानां भावितकुलानाम् 'असति' अभावे अपरिभोग्यादिषु यतन्ते, अपरिभोग्यानि नाम[3]—अल्पापार्यमाणभाजनानि तेषु, आदिग्रहणाद् मण्डल्यनुपजीविनः क्षपकस्य भाजनेषु मन्दीभाजने वा, द्रवं गृहीत्वा संसृष्टभाजनानां कल्पं कुर्वन्ति । तच्च पानकं पूर्वोत्सिक्तमेव गृह्णन्ति ॥ १७२७ ॥

ननु यदि सौवीरिणीमुद्वृत्य दीयमानं गृह्णन्ति ततः को दोषः स्यात् ? उच्यते—

15 **ओअत्तंतम्मि वहो, पाणाणं तेण पुव्वउस्सित्तं ।**
असती वुस्सिंचणिए, जं पेक्खइ वा असंसत्तं ॥ १७२८ ॥

"ओयत्तंतम्मि" त्ति प्राकृतत्वात् पुंस्त्वनिर्देशः, सौवीरिण्याम् 'उद्वर्त्यमानायाम्' उत्पाट्यमानायां ये तत्र सौवीरगन्धेन कंसारिकादयः प्राणजातीया आयाताः सन्ति तेषां[4] बाधा भवति, तेन कारणेन पूर्वोत्सिक्तं ग्रहीतव्यम् । अथ नास्ति पूर्वोत्सिक्तं ततस्तस्यासति उत्सिञ्चनिकया उत्सि-
20 ञ्चाप्य यतनया गृह्णन्ति । अथ नास्त्युत्सिञ्चनिका ततो यत् पार्श्वे[5] प्राणिभिरसंसक्तं प्रेक्षन्ते तेनोद्वर्त्य गृहिभाजनं प्रातिहारिकं याचित्वा तत्र द्रवं गृहीत्वा भाजनानि कल्पयन्ति ॥ १७२८ ॥ आह च—

गिहिसंति भाण पेहिय, कयकप्पा सेसगं दवं घेत्तुं ।
धोअण-पियणस्सट्ठा, अह थोवं गिण्हए अन्नं ॥ १७२९ ॥

गृहिसत्कं भाजनं प्रत्युपेक्ष्य यदि निर्जीवं भवति तदा तत्र द्रवं गृहीत्वा 'कृतकल्पाः'
25 स्वकीयभाजनानि कल्पयित्वा शेषं द्रवमन्येषां भाजनानां धावनार्थं भुक्तोत्तरकालं च पानार्थम् उपलक्षणत्वात् संज्ञाभूमिगमनार्थं च गृहीत्वा समायान्ति । अथ तत्र स्तोकमेव द्रवं लब्धं ततो यावता पर्याप्तं भवति तावदन्यदपरेषु गृहेषु गृह्णन्ति ॥ १७२९ ॥

---

१ चूर्णौ विशेषचूर्णौ च नेयं पुरातनगाथात्वेन निर्दिष्टा ॥ २ °तकुलेषु गत्वा गृहस्थभाजने द्रवं गृहीत्वा स्वकी° भा० । "भावितकु° गाथा ॥ भावितकुला णाम–संविग्गभाविया सावगा अधाभद्दगा वा, जेसिं वा लोगावादो णत्थि, तेसु संघाडगो गंतुं गिहत्थभायणेसु दवं घेत्तुं कप्पं करेति भायणस्स । 'सेसट्ठ' त्ति सेसभायणाणं कप्पकरणं धोवणट्ठाए सण्णाभूमिपाणगट्ठाए य अण्णं पि दवं गेण्हति ।" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥ ३ °म–यानि अल्पापार्यमाणानि ता° भा० ॥ ४ °षां वधो भ° भा० मो० ले० ॥ ५ पार्श्वेन प्रा° भा० ॥

≺ अथ "एगो खमए बिइयपय वुड्डमाइन्ने" (गा० १७२६) त्ति पदं व्याख्यानयति— ≻[1]

जा भुंजइ ता वेला, फिट्टइ तो खमग थेरओ वाऽऽणे ।
तरुणो व नायसीलो, नीयल्लग-भावियादीसु ॥ १७३० ॥

"जा भुंजइ" त्ति प्राकृतत्वादेकवचनेन निर्देशः, यावद् वा साधवो भुञ्जते तावत् पानकस्य वेला "फिट्टति" व्यतिक्रामति ततः[2] 'क्षपकः' उपवासिकः 'स्थविरो वा' वृद्धोऽशङ्कनीय[3] इति 5 कृत्वा कल्पकरणार्थमेकाक्यपि "आणे" त्ति पानकमानयेत् । तरुणो वा यः 'ज्ञातशीलः' दृढ-धर्मा निर्विकारश्च स एकाक्यपि निजकानां[4]-मातृ-पितृपक्षीयस्वजनानां कुलेषु भावितकुलेषु वा आदिशब्दादन्येष्वपि तथाविधकुलेषु प्रविश्य पानकं गृह्णीयात् ॥ १७३० ॥

अथात्रैव कल्पकरणद्वारे विध्यन्तरं बिभणिषुर्द्वारगाथामाह—[5]

बिइयपय मोय गुरुगा, ठाण निसीयण तुयट्ट धरणं वा । 10
गोब्बरपुंछण ठवणा, धोवण छट्टे य दव्वाइं ॥ १७३१ ॥

'द्वितीयपदे' अपवादाख्ये साधवो व्रजिकां गता भवेयुः, तत्र च पानकं न लब्धमिति कृत्वा यदि पात्रं 'मोकेन' प्रश्रवणेनाऽऽचमन्ति ततश्चत्वारो गुरवः । शिष्यः प्राह—यदि मोकेनाऽऽ-चमने दोषास्ततो रात्रौ स्थानं निषदनं त्वग्वर्त्तनं वा कुर्वन् संसृष्टपात्रकस्य धारणं करोतु । सूरि-राह—एवंकुर्वतः संयमा-ऽऽत्मविराधना भवति, ततो गोबरेण–गोमयेन पात्रकस्य प्रोञ्छनं– 15 घर्षणं कृत्वा स्थापनं कर्त्तव्यम् । ततो द्वितीयदिवसे यदि द्रवं ग्रहीतव्यं तदा 'धावनं' कल्पत्रय-प्रदानं कर्त्तव्यम् । अथ भक्तं ग्रहीतव्यं ततो न कल्पत्रयं दातव्यम् । "छट्टे य दव्वाइं" ति शिष्यः प्राह—यद्यधौते पात्रे भक्तं गृह्यते ततो ननु तत्र यान्यवयवद्रव्याणि पर्युषितानि सन्ति तैः षष्ठ-व्रतमतिचरितं स्यादिति[6] **निर्युक्तिगाथा**सङ्क्षेपार्थः ॥ १७३१ ॥ विस्तरार्थं तु बिभणिपुराह—

वइगा अद्धाणे वा, दव असईए विलंबि सूरे वा । 20
जइ मोएणं धोवइ, सेहऽन्नह भिक्ख गंधाई ॥ १७३२ ॥

व्रजिका–गोकुलं तस्यां कारणे गतानामध्वनि वा वहमानानां 'द्रवस्य' पानकस्य 'असति' अप्राप्तौ 'विलम्बिनि वा' अस्तङ्गतप्राये सूर्ये यदि पानकं नास्ति ततः कथं कल्पः करणीयः ? । अत्र नोदकः स्वच्छन्दमत्या प्रतिवचनमाह—मोकेन तदानीं पात्रमाचमनीयम् । आचार्यः[7] प्राह—एवं ते स्वच्छन्दमरूपणां कुर्वतो यथाच्छन्दत्वात् चत्वारो गुरवः प्रायश्चित्तम् । यश्च 25 मोकेन पात्रकमाचामति तस्यापि चतुर्गुरवः । कुतः ? इत्याह—यदि मोकेन धावति तदा शैक्षा-णाम् अन्यथाभावः–विपरिणमनं भवेत् , विपरिणताश्च प्रतिगमनादीनि कुर्युः । द्वितीये च दिवसे भिक्षार्थं पात्रके प्रसारिते सति कायिक्याः कुथितो गन्धः समायाति ततो लोकः प्रवच-नावर्णवादं कुर्यात्—अहो ! अमीभिरस्थिकापालिका अपि निर्जिता यदेवं पात्रकं प्रश्रवणेनाच-

१ ≺ ≻ एतच्चिह्नान्तर्गतमवतरणं भा० पुस्तके एव वर्त्तते ॥ २ °तो यः 'क्ष° भा० ॥ ३ °द्धो भुक्तोत्थितोऽश° भा० ॥ ४ °काः–मातृ पितृपक्षप्रतिबद्धाः सम्बन्धिनस्तेषां कुले° भा० ॥ ५ "बिइयपद० गाहा **पुरातना**" इति **विशेषचूर्णौ** ॥ ६ °ति द्वारगाथा° भा० ॥ ७ °चार्य आह त० डे० ॥

मन्तीति । आदिग्रहणेन श्रावकाणां विपरिणामो भवतीत्यादिपरिग्रहः ॥ १७३२ ॥

अथ भूयः परः प्राह—

भणइ जइ एस दोसो, तो[1] ठाण निसियण तुअट्ट धरणं वा ।
भण्णइ तं तु न जुज्जइ, दु दोस पादे अ हाणी य ॥ १७३३ ॥

5 भणति परः—यदि 'एषः' शैक्षविपरिणामादिको दोष उपजायते ततो मा मोकेनाऽऽचामतु परं गृहीतेनैव पात्रकेण सकलामपि रात्रिं "ठाण" त्ति ऊर्द्धस्थितस्तिष्ठतु, तथा यदि न शक्नोति स्थातुं ततः "निसियण" त्ति निषण्णः पात्रकं धारयतु, तथापि यदि न शक्नोति ततस्त्वग्वर्त्तनं कुर्वाणः–तिर्यग्निपन्नः सन् धारयतु । सूरिराह—भण्यते अत्रोत्तरम्—हे नोदक ! तत् तु न युज्यते यद् भवता प्रोक्तम् । कुतः ? इत्याह—"दु दोस" त्ति द्वौ दोषावत्र भवतः, तद्यथा—10 आत्मविराधना संयमविराधना च । तत्रोर्द्धस्थितस्योपविष्टस्य वा निद्रया प्रेरितस्य भूमौ निपततः शिरो-हस्त-पादाद्युपघाते आत्मविराधना; पतितः सन् षण्णां कायानामन्यतमं विराधयेदिति संयमविराधना । "पादे अ हाणि" त्ति तद् वा पात्रं पतितं सद् भज्येत ततो या पात्रकेण विना परिहाणिस्तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ॥ १७३३ ॥ यत एते दोषा अतोऽयं विधिः—

निद्धमनिद्धं निद्धं, गोब्बरपुट्ठं ठविंति पेहित्ता ।
15 **जइ य दवं घेत्तव्वं, बिइयदिणे धोइउं गिण्हे ॥ १७३४ ॥**

लेपकृतं स्निग्धं वा भवेदस्निग्धं वा भवेत् । यदि स्निग्धं ततो गोबरेण–गोमयेन "पुट्ठं" प्रोञ्छितं सुघृष्टं पात्रकं कृत्वा निरवयवीभूतं सत् प्रत्युपेक्ष्य रात्रौ स्थापयन्ति, न धारयन्तीति भावः । अथास्निग्धं ततः संलेखनकल्पेन सुसंलीढं कृत्वा स्थाप्यते न पुनः करीषेण घृष्यते । यदि च द्वितीये दिवसे द्रवं ग्रहीतव्यं ततः 'धावित्वा' त्रिः कल्पयित्वा गृह्यते, अथ भक्तं ततोऽधौतेऽपि 20 गृह्यते न कश्चिद् दोषः ॥ १७३४ ॥ अत्र परः प्राह—

जइ ओदणो अधोए, घिप्पइ तो अवयवेहिँ निसिभत्तं ।
तिन्नि य न होंति कप्पा, ता धोवसु जाव निग्गंधं ॥ १७३५ ॥
तम्हा गुब्बरपुट्ठं, संलीढं चेव धोविउं हिंडे ।
इहरा भे निसिभत्तं, ओअविअं चेव गुरुमादी ॥ १७३६ ॥

25 यद्यधौते पात्रे द्वितीयेऽहनि ओदनो गृह्यते ततो ननु तत्र सूक्ष्मा अवयवाः सन्ति येषां गन्धस्तृतीयेऽप्यहनि लक्ष्यते, तैश्चावयवैस्तथास्थितैः सद्भिर्यदपरं भक्तं तत्र गृह्यते तद् भुञ्जानानां निशिभक्तं भवति । यच्च युष्माभिर्लेपकृतस्य त्रयः कल्पाः शुद्धिकारणतया निर्दिष्टास्तदप्यस्माकं मनसि न रुचिपथमियर्त्ति, कल्पत्रये दत्तेऽपि तदीयगन्धस्याघ्रायमाणत्वात् । ततोऽहमित्थं प्ररूपयामि—"ता धोवसु जाव निग्गंधं" ति 'तावद् धाव' तावत् प्रक्षालय यावद् निर्गन्धी-30 भवति; न च बहुभिरपि कल्पैर्निर्गन्धीभवति तस्माद् यद् लेपकृतं स्निग्धं तद् गोबरेण—छगणेन प्रोञ्छितं कृत्वा अस्निग्धं तु सुसंलीढं कृत्वा द्वितीये दिवसे 'धावित्वा' कल्पयित्वा भिक्षां हिण्डेत; 'इतरथा' कल्पकरणमन्तरेण "भे" भवतां निशिभक्तमापद्यते, अकृतकल्पे च भाजने

१ तो ठिय निसि° ता० विना ॥

गृहीतमपरमपि भक्तम् "ओअवियं" उच्छिष्टं भवति, तच्च 'गुर्वादीनाम्' आचार्योपाध्यायप्रभृतीनां दीयमानं महतीमाशातनामुपजनयति ॥ १७३५ ॥ १७३६ ॥ इत्थं परेणोक्ते सति सूरिराह—

भण्णइ न अण्णगंधा, हणंति छट्ठं जहेव उग्गारा ।
तिन्नि य कप्पा नियमा, जइ वि य गंधो जहा लोए ॥ १७३७ ॥

भण्यतेऽत्र प्रतिवचनम्—अन्नस्य–भक्तस्य गन्धाः 'षष्ठं' रात्रिविरमणव्रतं न घ्नन्ति, यथैवो- 5
द्गारा रात्रौ समागच्छन्तोऽपि न षष्ठव्रतमुपघ्नन्ति । तथा पात्रके यद्यपि गन्धः समागच्छति तथापि नियमात् त्रय एव कल्पा दातव्या नाधिका न वा हीनाः, तथा भगवद्भिरुक्तत्वात् । यथा लोकेऽपि प्रतिनियता भाजनशोधनाय मृत्तिकालेपा भवन्ति ॥ १७३७ ॥ तथाहि—

वारिखलाणं बारस, मट्टीया छ च्च वाणपत्थाणं ।
मा एत्तिए भणाही, पडिमा भणिया पवयणम्मि ॥ १७३८ ॥ 10

वारिखलाः–परिव्राजकास्तेषां द्वादश मृत्तिकालेपा भाजनशोधनका भवन्ति । षट् च मृत्तिकालेपाः 'वानप्रस्थानां' तापसानां शौचसाधकाः सञ्जायन्ते । एवं लोकेऽपि स्वस्वसमयप्रतिपादितानि प्रतिनियतान्येव शौचानि दृष्टानि, अतो हे नोदक ! एतावतः कल्पान् 'मा भण' मा ब्रूहि, तावद् धौतव्यं यावद् निर्गन्धीभवतीत्यप्रतिनियतानित्यर्थः । तथा 'प्रतिमा' इति मोकप्रतिमा साऽपि प्रवचने भणिता, तस्यां हि मोकमपि पीत्वा साधुः शुचिरेव भवति ॥ १७३८ ॥ 15

एतदेव भावयति—

पिह सोयाइं लोए, अम्हं पि अलेवगं अगंधं च ।
मोएण वि आयमणं, दिट्ठं तह मोयपडिमाए ॥ १७३९ ॥

यथा लोके 'पृथग्' विभिन्नानि शौचानि दृष्टानि तथाऽस्माकमपि त्रिभिः कल्पैः प्रदत्तैरलेपकमगन्धं च पात्रकं भवतीति । एवं शौचविधिर्भगवद्भिर्दृष्ट इति । तथा मोकेनाप्याचमनं 20
मोकप्रतिमायां दृष्टमेव ॥ १७३९ ॥ परः प्राह—

जइ निल्लेवमगंधं, पंडिकुट्ठं तं कहं नु जिणकप्पे ।
तेसिं चेव अवयवा, रुक्खासि जिणा न कुव्वंति ॥ १७४० ॥

यदि निर्लेपमगन्धं च शौचं दृष्टं ततः कथं 'नुः' इति वितर्के 'तद्' निर्लेपनं जिनकल्पे प्रतिपन्ने सति 'प्रतिकुष्टं' प्रतिषिद्धम् ?, "तेसिं चेव अवयव" त्ति अनिर्लेपिते 'तेषां' जिनक- 25
ल्पिकानां सन्त्येव सूक्ष्माः पुरीषादेरवयवाः यैरमीषां शुचित्वं न भवति । सूरिराह—रूक्षाशिनः 'जिनाः' जिनकल्पिका भगवन्तस्ततोऽभिन्नवर्चस्कतया न सन्ति सूक्ष्मा अप्यवयवा अमीषाम्, तदभावाच्च दूरापास्तप्रसरस्तेषां पुरीषगन्ध इति हेतोर्न कुर्वन्ति निर्लेपनम् ॥ १७४० ॥

आह यद्यभिन्नवर्चस्कतया जिनकल्पिकाः शौचं न कुर्वन्ति तर्हि ये स्थविरकल्पिका अप्यभिन्नोच्चारास्तेषामपि संज्ञामुत्सृज्य किंकारणमवश्यं शौचकरणमुक्तम् ? उच्यते— 30

थंडिल्लाण अनियमा, अभाविए इत्थि जुयलमुड्डुयरे ।
सज्झाए पडिणीए, न ते जिणे जं अणुप्पेहे ॥ १७४१ ॥

---

१ पडिसिद्धं तं ता० ॥

स्थविरकल्पिकाः प्रथमस्थण्डिलाभावे द्वितीयतृतीयचतुर्थान्यपि स्थण्डिलानि गच्छन्ति । तत्र च यदि न निर्लेपयन्ति तत आपातसंलोकसमुत्था अवर्णवादादयो दोषा भवेयुरिति स्थण्डिलानामनियमादवश्यन्तया शौचं कुर्वन्ति । अभावितो नाम—अपरिणतजिनवचनस्तस्य निर्लेपनाभावे मा भूद् विपरिणाम इति । "इड्ढि" त्ति 'ऋद्धिमान्' राजादीनामन्यतमः प्रव्रजितः स प्रायेण 5 शौचकरणभावित इति तदर्थम् । तथा 'युगलं' बाल-वृद्धद्वयं तत् प्रायेण भिन्नवर्चस्कं भवति । 'उड्डुयरो नाम' यः समुद्दिशन् संज्ञां वा व्युत्सृजन् चपलतया हस्तादीन्यपि लेपयति । "सज्झाये" त्ति अनिर्लेपिते स्थविरकल्पिकानां स्वाध्यायो न वर्त्तते वाचा कर्त्तुम् । "पडिणीए" त्ति प्रथमस्थण्डिलाभावे द्वितीयादिस्थण्डिलगतस्य शौचकरणमदृष्ट्वा प्रत्यनीक उड्डाहं कुर्यात् । "न ते जिणे" त्ति जिनकल्पिके न 'एते' स्थण्डिलानियमादयो दोषा भवन्ति, "जं अणुप्पेहे" त्ति 10 यच्चासौ स्वाध्यायं मनसैवानुप्रेक्षते न वाचा परिवर्त्तयति तेन न निर्लेपयति । स्थविरकल्पिकानां तु मनसा स्वाध्यायकरणे प्रभूतेनापि कालेन न सूत्रार्थौ परिजितौ भवत इति ॥ १७४१ ॥

एमेव अप्पलेवं, सामासेउं जिणा न धोवंति ।
तं पि य न निरावयवं, अहाठिईए उ सुज्झंति ॥ १७४२ ॥

एवमेव 'अल्पलेपम्' अल्पशब्दस्याभाववाचकत्वादलेपकृतं भाजनं 'समस्य' सम्यक् संलिख्य 15 जिनकल्पिकाः 'न धावन्ति' न कल्पं प्रयच्छन्ति । तच्च भाजनं यद्यपि न निरवयवं सञ्जायते तथापि 'यथास्थित्यैव' यथास्वकल्पानुपालनादेव शुध्यन्ति, स्थितिरियं तेषां यदेवमेव शुचयो भवन्तीति ॥ १७४२ ॥ यदप्युक्तं भवता प्राक् "अकृतकल्पे भाजने गृहीतं भक्तमुच्छिष्टं भवति" (गा० १७३६) तदपि परिफल्गिवति दर्शयति—

मन्नंतो संसट्ठं, जं इच्छसि धोवणं दिणे बिइए ।
20 **इत्थ वि सुणसु अपंडिय !, जहा तयं निच्छए तुच्छं ॥ १७४३ ॥**

संसृष्टं मन्यमानो यद् द्वितीये दिने 'धावनं' कल्पकरणमिच्छसि अत्राप्यर्थे 'शृणु' निशमय हे अपण्डित ! यथा 'तकत्' त्वदीयं वचनं 'निश्चये' परमार्थतः 'तुच्छम्' असारम् ॥ १७४३ ॥

तदेवाह—

सव्वं पि य संसट्ठं, नत्थि असंसट्ठिएल्लयं किंचि ।
25 **सव्वं पि य लेवकडं, पाणगजाए कहं सोही ॥ १७४४ ॥**

यदि गन्धमात्रेणैव त्वदुक्तया नीत्या भक्तमुच्छिष्टं भवति ततः सर्वमप्यत्र जगति 'संसृष्टम्' उच्छिष्टमेव विद्यते नास्ति किञ्चिदप्यसंसृष्टम् । एवं 'सर्वमपि' भक्तं पानकं च लेपकृतमुच्छिष्टं भवति अतः पानकजातेन कथं शुद्धिर्भविष्यति ? ॥ १७४४ ॥ एतदेव भावयति—

खीरं वच्छुच्छिट्ठं, उदगं पि य मच्छ-कच्छभुच्छिट्ठं ।
30 **चंदो राहुच्छिट्ठो, पुप्फाणि य महुअरगणेहिं ॥ १७४५ ॥**
रंधंतीओ बोट्टिंति वंजणे खल-गुले य तकारी ।

---

१ 'निरवयवं' सर्वथैव व्यपगतनिःशेषावयवं तथा° भा० ॥ २ °न्ति, कल्पस्तेषामयं यदे° भा० ॥

संसट्ठमुहा य दवं, पियंति जइणो कहं सुज्झे ॥ १७४६ ॥

क्षीरं 'वत्सोच्छिष्टं' वत्सेन स्वमातुः स्तन्यमापिबता संसृष्टम् । तथा उदकमपि मत्स्य-कच्छपोच्छिष्टम् । चन्द्रो राहूच्छिष्टः । पुष्पाणि च मधुकरगणैरुच्छिष्टानि ॥ १७४५ ॥

तथा अविरतिका राध्नुवन्त्यः 'व्यञ्जनानि' शालनकानि बोट्टयन्ति 'किं निष्पन्नानि ? न वा ?' इति परिज्ञानार्थम् । खल-गुलावपि 'तत्कारिणः' तस्य-खलादेः कारिणश्चाक्रिकादयो 5 बोट्टयन्ति । 'संसृष्टमुखाश्च' उच्छिष्टेन मुखेन यतयो यद् द्रवमापिबन्ति तदपि संसृष्टम् । तेन च संसृष्टेन यस्य भाजनस्य कल्पः क्रियते[1] तत् कथं शुध्यति ? इति । यत एवमतो न गन्धमात्रेणैव भक्तमुच्छिष्टं भवतीति स्थितम् ॥ १७४६ ॥

अथ कल्पकरणे वितथसामाचारीनिष्पन्नं प्रायश्चित्तमाह—

एक्किक्कम्मि उ ठाणे, वितह करिंतस्स मासियं लहुअं । 10
तिगमासिय तिगपणगा, य होंति कप्पं कुणइ जत्थ ॥ १७४७ ॥

एकैकस्मिन् स्थाने वितथां सामाचारीं कुर्वाणस्य मासिकं लघुकम् । तद्यथा—असंलीढे पात्रके प्रथमं कल्पं करोति १ संलिह्य वा प्रथमं कल्पं कृत्वा तं नापिबति २ द्वितीयं कल्पं पात्रकेऽप्रक्षिप्य बहिर्निर्गच्छति ३ एतेषु त्रिष्वपि स्थानेषु मासलघु । तथा त्रीणि मासिकानि त्रीणि पञ्चकानि च भवन्ति यत्र कल्पं करोति । तद्यथा—न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति १ न 15 प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति २ प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ३ एतेषु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं तपःकालविशेषितं मासलघु । चतुर्थभङ्गे प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति च, नवरं दुःप्रत्युपेक्षितं दुःप्रमार्जितं करोति १ दुष्प्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितं २ सुप्रत्युपेक्षितं दुष्प्रमार्जितं करोति ३ एतेषु त्रिषु तपःकालविशेषितानि पञ्च रात्रिन्दिवानि । सुप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितमिति चतुर्थो भङ्गः शुद्ध इति ॥१७४७॥

गतं कल्पकरणद्वारम् । अथ "गच्छसइए अ कप्पे अंबिलभरिए अ ऊसित्ते" (गा० 20 १६५८) त्ति द्वारमभिधित्सुः प्रथमतः सम्बन्धमाह—

भुत्ते भुंजंतम्मि य, जम्हा नियमा दवस्स उवओगो ।
समहियतरो पयत्तो, कायव्वो पाणए तम्हा ॥ १७४८ ॥

'भुक्ते' भोजनानन्तरं पानार्थं संज्ञाभूमिगमनार्थं च भुञ्जानानां च उत्तूढलम्बरक्षणार्थं यस्माद् नियमाद् 'द्रवस्य' पानकस्योपयोगो भवति 'तस्माद्' भक्तग्रहणप्रयत्नात् समधिकतरः प्रयत्नः 25 पानकग्रहणे कर्त्तव्य इति, अतस्तद्ग्रहणविधिरुच्यते ॥ १७४८ ॥

इह शतिकेषु सहस्रेषु वा गच्छेषु प्रभूतेन पानकेन कार्यं भवति, तच्च कल्पनीयमेव ग्रहीतव्यम्, अतस्तद्विधिप्रतिबद्धद्वारसङ्ग्राहिकामिमां गाथामाह—

पाणगजाइणियाए, आहाकम्मस्स होइ उप्पत्ती ।
पूती य मीसजाए, कडे य भरिए य ऊसित्ते ॥ १७४९ ॥ 30

---

१ °ते तदपि संसृष्टम् । एवं सर्वमप्युच्छिष्टमेव, अतः कथं यतयः शुध्येयुः ? इति । यत भा० ॥

पानकस्य याच्ञायामाधाकर्मण उत्पत्तिर्भवति सा वक्तव्या[1]। ततः "पूइ" त्ति पूतिका "मीस" त्ति स्वगृहयतिमिश्रा स्वगृहपाषण्डिमिश्रा स्वगृहयावदर्थिकमिश्रा च "कडे य" त्ति आधाकृता क्रीतकृता आत्मार्थकृता च अम्लिनी वक्तव्या। "भरिए य" त्ति भरणं भरितमम्लिनीनामभिधातव्यम्। "ऊसित्ति" त्ति उत्सेचनमुत्सिक्तं तद् वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः ॥ १७४९ ॥

5 अथ विस्तरार्थमाह—

अन्नन्न दवोभासण, संदेसा पुन्न बेइ घरसामी।
कल्लं ठवेहि अन्नं, महल्ल सोवीरिणिं गेहे ॥ १७५० ॥

कोऽपि भद्रको गृहपतिरन्यान्यान् सङ्घाटकान् द्रवस्यावभाषणं कुर्वाणान् दृष्ट्वा तेषां च[2] मध्ये केषाञ्चित् सङ्घाटकानां 'सन्देशं' मुत्कलनं—'गृहीतमग्रेतनैः सङ्घाटकैः पानकम्, नास्तीदानीं

10 भवद्योग्यम्' इति[3] क्रियमाणं निरीक्ष्य "पुण्णे"ति पुण्यार्थं[4] गृहस्वामिनीं ब्रवीति—धर्मप्रिये! मा कञ्चनापि साधुं जङ्गमं निधिमिव गृहाङ्गणमायातं प्रतिषेधयेः, किं भवत्या दानधर्मकथायामयं श्लोको नाकर्णितः?, यथा—

दातुरुन्नतचित्तस्य, गुणयुक्तस्य चार्थिनः।
दुर्लभः खलु संयोगः, सुबीज-क्षेत्रयोरिव ॥

15 ततः सा ब्रूयात्—नास्त्येतावतां साधूनां योग्यं काञ्जिकम्। ततोऽसौ गृहपतिर्ब्रूयात्—कल्ये स्थापयान्यां महतीं 'सौवीरिणीम्' अम्लिनीं गेहे येन सर्वेषामपि योग्यं पानकं पूर्यते ॥ १७५० ॥ एतच्चाकर्ण्य वक्तव्यम्—

मा काहिसि पडिसिद्धो, जइ बूया कुणसु दाणमन्नेसिं।
ते उद्दिट्ठविवज्जी, न यावि निच्चं अहिवडंति ॥ १७५१ ॥

20 न कल्पते एवं विधीयमानं ग्रहीतुमतो मा कार्षीः। यद्येवं प्रतिषिद्धः स गृहस्वामी ब्रूयात्—'प्रिये! कुर्यास्त्वं तावदपरां सौवीरिणीम्, यद्येष न ग्रहीष्यति ततोऽन्येषां साधूनां पानकदानं करिष्यते' ततो वक्तव्यम्—तेऽपि साधवः 'उद्दिष्टविवर्जिनः' साधर्मिकमुद्दिश्य कृतं वर्जयितुं शीलं येषां ते तथा, नापि च नित्यं पानकार्थमभिपतन्ति, अनियतभिक्षाटनशीलत्वादेषाम् ॥ १७५१ ॥ इत्थमुक्ते यद्यसौ गृहस्वामी ब्रूयात्—

25 **अम्ह वि होहिइ कज्जं, घिच्छंति बहू य अन्नपासंडा।**
पत्तेयं पडिसेहो, साहारे होइ जयणा उ ॥ १७५२ ॥

असाकमपि भविष्यति कार्यं काञ्जिकेन, ग्रहीष्यन्ति च बहवोऽन्येऽपि युष्मद्व्यतिरिक्ताः पाषण्डिन इति। तत्र साधारणे यतना कर्तव्या, यथा—अस्माकं तावन्न कल्पते। "पत्तेयं पडिसेहो" त्ति अथ गृहपतिर्भणति—अन्येऽपि निर्ग्रन्थाः पानकार्थमायास्यन्ति तेभ्यो दास्यते।

---

१ °व्या इति। ततः पूतिकं मिश्रजातं 'कृतं च' आधाकृत-क्रीतकृता-ऽऽत्मार्थकृतभेदभिन्नं वक्तव्यम्। "भरि° भा० ॥ २ च कांश्चित् "संदेस" त्ति सन्देशो विसर्जनं मुत्कलनमिति पर्यायवचनत्वाद् 'गृही° भा० ॥ ३ °ति विसर्ज्यमानान् निरी° भा० ॥ ४ °ण्यार्थं-सुकृतोपार्जननिमित्तं गृह° भा० ॥

इत्थं प्रत्येकं निर्ग्रन्थानेवाश्रित्याभिधीयमाने प्रतिषेधः कार्यः 'न कल्पते साधूनामित्थं विधीयमानम्' ॥ १७५२ ॥ एवं प्रतिषिद्धेऽपि कोऽपि सप्त सौवीरिणीः स्थापयेत्, ताश्चैताः—

सप्त सौवीरिण्यः तद्भेदाश्च

आहाकम्मिय१ सघर२पासंडमीसए३ जाव४ कीय५पूई६अत्तकडे७ ।
एक्केक्कम्मि य सत्त उ, कए य काराविए चेव ॥ १७५३ ॥

'आधाकर्मिका' साधूनामेवार्थाय कारिता १ 'स्वगृहयतिमिश्रा' गृहस्य साधूनां चार्थाय 5 निर्मापिता २ 'स्वगृहपाषण्डमिश्रा' गृहस्य पाषण्डिनां चार्थाय कारिता ३ 'यावदर्थिकमिश्रा तु' यावन्तः केचनागारिणः पाषण्डिनश्चागमिष्यन्ति तान् स्वगृहं चोद्दिश्य कृता ४ 'क्रीतकृता' साध्वर्थं मूल्येन गृहीता ५ 'पूतिकर्मिका' आधाकर्मिकसुधादिना पूरितच्छिद्रा ६ 'आत्मार्थकृता' स्वगृहार्थमेव स्थापिता ७ । एतासां सप्तानां सौवीरिणीनामेकैकस्यां सप्त सप्त भरणानि भवन्ति । सप्त च सप्तभिस्ताडिता एकोनपञ्चाशद् भवति । एषा च प्रत्येकं कृते कारापिते च 10 सम्भवति । ततो द्वाभ्यां गुण्यते जाता भेदानामष्टानवतिरिति ॥ १७५३ ॥

अथ सप्त भरणानि दर्शयति—

कम्म घरे पासंडे, जावंतिय कीय-पूइ-अत्तकडे ।
भरणं सत्तविकप्पं, एक्केक्कीए उ रसिणीए ॥ १७५४ ॥

आधाकर्मिकं १ स्वगृहयतिमिश्रं २ स्वगृहपाषण्डिमिश्रं ३ यावदर्थिकमिश्रं ४ क्रीतकृतं ५ 15 पूतिकर्म्मिकम् ६ आत्मार्थकृतं चेति ७ 'सप्तविकल्पं' सप्तप्रकारं भरणमेकैकस्यां 'रसिन्यां' सौवीरिण्यां भवति ॥ १७५४ ॥ अथ किं सप्तैवाम्लिन्यो भवन्ति नाधिकाः ? इत्युच्यते—

सत्त त्ति नवरि नेम्मं, उग्गमदोसा हवंति अन्ने वि ।
संजोगा कायव्वा, सत्तहि भरणेहिँ रसिणीणं ॥ १७५५ ॥

सप्तेति यदुक्तं तद् 'नवरं' केवलं "नेम्मं" चिह्नम्—उपलक्षणं द्रष्टव्यम्, तेन 'उद्गमदोषाः' 20 औद्देशिकादयः 'अन्येऽपि' यथासम्भवमत्र मन्तव्याः यैः प्रक्षिप्तैरभ्यधिका अप्यम्लिन्यो भवन्ति । अत्र च 'संयोगाः' भङ्गकाः कर्त्तव्याः सप्तभिर्भरणैः सप्तानामेव रसिनीनाम् । तद्यथा—आधाकर्मिका सौवीरिणी भरणमपि तस्यामाधाकर्मिकम् १ आधाकर्मिका सौवीरिणी भरणं स्वगृहयतिमिश्रम् २ एवं सौवीरिणी सैव भरणं तु पाषण्डिमिश्रं ३ यावदर्थिकमिश्रं ४ क्रीतकृतं ५ पूतिकर्मिकम् ६ आत्मार्थकृतम् ७ । एवं स्वगृहयतिमिश्रादिष्वपि सौवीरिणीषु प्रत्येकं सप्त सप्त 25 भरणानि योजनीयानि ॥ १७५५ ॥ ततश्च कियन्तो भङ्गका उत्तिष्ठन्ते ? इत्याह—

जावइया रसिणीओ, तावइया चेव होंति भरणा वि ।
अउणापन्नं भेया, सयग्गसो यावि णेयव्वा ॥ १७५६ ॥

'यावत्यः' यावत्सङ्ख्याका रसिन्यः 'तावन्त्येव' तावत्सङ्ख्याकान्येव भवन्ति भरणानि । ततश्च यदा सप्ताम्लिन्यः सप्त च भरणानि गृह्यन्ते तदा एकोनपञ्चाशद् 'भेदाः' भङ्गका भवन्ति । 30 अथान्यानप्युद्गमदोषान् प्रक्षिप्य बहुतराः सौवीरिण्यो बहुतराणि च भरणानि विवक्ष्यन्ते ततः

---

१ अत्र विशेषचूर्णिकृता "स्यान्मतिः—जहा अंबिलीओ सत्तण्ह वि परेण अत्थि किमेवं भरणं पि न ? इत्युच्यते" इत्यवतीर्य "समणे घर पासंडे०" इति गाथा १७६४ व्याख्याताऽस्ति ॥

'शताग्रशः' शतसङ्ख्यापरिच्छिन्ना अपि भेदा मन्तव्याः ॥ १७५६ ॥

अथाधाकर्मिकभरणं भावयति—

मूलभरणं तु बीया, तहिँ छम्मासा न कप्पए जाव ।
तिन्नि दिणा कड्ढियए, चाउलउदए तहाऽऽयामे ॥ १७५७ ॥

5 'मूलभरणं नाम' प्राशुकायामम्लिन्यां राजिकादीनि बीजानि संयतार्थं यत् प्रक्षिप्यन्ते तच्चाधाकर्म्मिकम् । अतस्तत्र यदन्यत् प्राशुकमपि क्षिप्यते तत् षण्मासान् यावन्न कल्पते परतस्तु कल्पते । अथ तस्या रसिन्याः सकाशात् तदाधाकर्मिकमाकर्षितं ततस्तस्मिन्नाकर्षिते 'चाउलोदगं' तन्दुलधावनं तथा 'आयामम्' अवस्रावणं यत् तत्र क्षिप्यते तत् त्रीन् दिनान् न कल्पते पूतिकर्मत्वात्, तत ऊर्द्ध्वं कल्पते ॥ १७५७ ॥ अथ स्वगृहमिश्रादिभरणान्यतिदिशन्नाह—

10 **एमेव सघर-पासंडमीस जाव कीय-पूइ-अत्तकडे ।**
कय कीयकडे ठविए, तहेव वत्थाइणं गहणं ॥ १७५८ ॥

'एवमेव' आधाकर्मिकभरणवत् स्वगृहमिश्रं पाषण्डमिश्रं यावदर्थिकमिश्रं क्रीतकृतं पूतिकर्म आत्मार्थकृतं च भरणं मन्तव्यम् । वस्त्रादिविषयमप्यतिदेशमाह—"कय" इत्यादि पश्चार्द्धम् । 'कृते' संयतार्थं निष्पादिते 'क्रीतकृते' मूल्येन गृहीते 'स्थापिते' साध्वर्थं निक्षिप्ते 'तथैव' पान-15 कवद् वस्त्रादीनां ग्रहणं भावनीयम् । एतच्च पश्चार्द्धमुत्तरत्र भावयिष्यते ॥ १७५८ ॥

अथानन्तरोक्तभङ्गकेषु प्रायश्चित्तमाह—

जेण असुद्धा रसिणी, भरणं वुभयं व तत्थ जाऽऽरुवणा ।
सुद्धुभय लहूसित्ते, कम्ममजीवे वि मुणिभरणे ॥ १७५९ ॥

पूर्वोक्तभङ्गकेषु यत्र 'येन' आधाकर्मादिना दोषेणाशुद्धा रसिनी भरणं वा 'उभयं वा' 20 सौवीरिणी-भरणयुगं[2] यत्र येन दोषेण दूषितं तत्र तद्दोषनिष्पन्ना या काचित् प्रत्येकं संयोगतो वा आरोपणा[3] सा वक्ष्यमाणनीत्या वक्तव्या । तथा यत्र रसिनी भरणं चोभयमपि शुद्धं परं संयतार्थं

१ काढीए, चाउलउदए रसवईए ता० ॥ २ °युगलं यत्र भा० ॥

३ आरोपणा सा सर्वाऽपि वक्तव्या । तत्र—आधाकर्मणि स्वगृहमिश्रे पाषण्डमिश्रे च चतुर्गुरु, उपकरणपूतिकर्मणि मासलघु, आहारपूतिकर्मणि मासगुरु, यावदर्थिकमिश्रे क्रीतकृते च चतुर्लघु । तथा "सुद्धुभय लहूसित्ते" त्ति यत्र रसिन्यपि शुद्धा [भरणमपि च शुद्धं] परं संयतार्थं पानकमुत्सिक्तं तत्र लघुमासः । "कम्ममजीवे वि मुणिभरणे" त्ति यदजीवमपि-प्राशुकमपि मुनीनां हेतोर्भरणं क्रियते तदाधाकर्मैव मन्तव्यम् । एवं तावत् तस्य गृहपतेराधाकर्मादिदोषेषु स्वयंकरणमाश्रित्य विधिरुक्तः, अथापरेणाधाकर्मादिदोषान् कारापयत इत्थमेव भङ्गकरचनादिकः सर्वोऽपि विधिः प्रतिपत्तव्य इति ॥ १७५९ ॥ अथासामेवाम्लिनीनां मध्ये का विशोधिकोटिः? का वा अविशोधिकोटिः ? इत्यादिचिन्तां चिकीर्षुराह—संजयकडे० गाथा भा० पुस्तके पाठः ।

"जेण असुद्धा रसिणी भरणं वुभयं व तत्थ जाऽऽरुवणा तमुवयुज्जिउं जाणेज्जासि । 'सुद्धुभय लहुस्सित्ते' त्ति जत्थ रसणी सुद्धा भरणं पि सुद्धं संजतट्ठाए उस्सिसितं तत्थ ० । 'कम्ममजीवे वि मुणिभरणे' त्ति फासुगेण वि भरणेणं संजतट्ठाए छूढेणं आधाकम्मियं भरणं विसोधिकोडी पुण, एवं ताव कते गिहिणा । अप्पणा कारविते वि

पानकमुत्सिक्तं तत्र लघुमासः । "कम्ममजीवे वि मुणिभरणे" त्ति यदजीवमपि–प्राशुकमपि मुनीनां हेतोर्भरणं क्रियते तदप्याधाकर्म मन्तव्यं परं विशोधिकोटिः ॥ १७५९ ॥

अथाधाकर्मादिभेदेष्वारोपणामाह—

तिन्नेव य चउगुरुगा, दो लहुगा गुरुग अंतिमो सुद्धो ।
एमेव य भरणे वी, एक्केकीए उ रसिणीए ॥ १७६० ॥ 5

आधाकर्मणि स्वगृहमिश्रे पाषण्डमिश्रे च प्रत्येकं चतुर्गुरुकमिति त्रयश्चतुर्गुरवो भवन्ति । 'द्वयोः' यावदर्थिक-क्रीतकृतयोश्चतुर्लघवः । भक्तपानपूतिके गुरुमासः । उपकरणपूतिके लघुमास इत्यनुक्तमपि दृश्यम् । 'अन्तिमः' आत्मार्थकृतलक्षणो भेदः शुद्धः । एवमेकैकस्यां रसिन्यामुक्तम् । भरणेऽप्येकैकस्मिन्नेवमेव मन्तव्यम् ॥ १७६० ॥ अथासामेवाम्लिनीनां मध्ये का विशोधिकोटिः ? का वा अविशोधिकोटिः ? इत्यादिचिन्तां चिकीर्षुराह— 10

संजयकडे य देसे, अप्फासुग फासुगे य भरिए अ ।
अत्तकडे वि य ठविए, लहुगो आणाइणो चेव ॥ १७६१ ॥

संयतानेव केवलानाश्रित्य कृतं 'संयतकृतम्' आधाकर्म । "देसि" त्ति 'देशतः' एकदेशेन संयतादीनाश्रित्य कृतं देशकृतम्, स्वगृहमिश्रादिकमित्यर्थः । अप्राशुकेन प्राशुकेन वा संयतार्थं यद् भरणं तदप्याधाकर्म । "अत्तकडे वि य ठविए" त्ति आत्मार्थकृतायामम्लिन्यां यदात्मार्थं 15 भरणं तदपि यदि श्रमणार्थमुत्सिच्य बहिः स्थापयति तदा स्थापनादोष इति कृत्वा न ग्रहीतव्यम् । यदि गृह्णाति तदा लघुको मास आज्ञादयश्च दोषाः । एषा **निर्युक्तिगाथा** ॥ १७६१ ॥

अथैनामेव व्याख्यानयति—

देसकडा मज्झपदा, आदिपदं अंतिमं च पत्तेयं ।
उग्गमकोडी व भवे, विसोहिकोडी व जो देसो ॥ १७६२ ॥ 20

यानि 'मध्यपदानि' स्वगृहमिश्र-पाषण्डमिश्र-यावदर्थिकमिश्र-क्रीतकृत-पूतिकर्मलक्षणानि तानि देशकृतान्युच्यन्ते, देशतः स्वगृहार्थं देशतस्तु साध्वाद्यर्थममीषां क्रियमाणत्वात् । यत् पुनः 'आदिपदम्' आधाकर्म 'अन्तिमपदं च' आत्मार्थकृतं तद् द्वितयमपि 'प्रत्येकं' एकपक्षविषयम्, केवलमेव साधुपक्षं स्वगृहपक्षं चोद्दिश्य प्रवृत्तत्वात् । अत्र च यः 'देशः' देशकृतः स्वगृहमिश्रादिको दोषः स उद्गमकोटिर्वा भवेत्, अविशोधिकोटिरित्यर्थः, विशोधिकोटिर्वा । तत्र 25 स्वगृहमिश्रं पाषण्डमिश्रं च नियमादविशोधिकोटी, पूतिकर्म यावदर्थिकमिश्रं क्रीतकृतं चेति

एवं चेव ॥ इदाणिं एतेसिं अंबिलीणं का उग्गमकोडी ? का विसोधिकोडी ? एतं भण्णति—संजतकते य देसे० गाधा ॥" इति **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च ।

भा० पुस्तके **चूर्णौ** च "तिन्नेव य चउगुरुगा०" इत्येषा १७६० तमी गाथा "समणे घर पासंडे०" १७६४ गाथानन्तरं व्याख्याताऽस्ति । दृश्यतां पत्र ५२० टिप्पणी १ । **विशेषचूर्णौ** पुनरियं गाथा "जं जीवजुयं भरणं०" १७६३ गाथानन्तरं व्याख्याता दृश्यते ॥

१ एतट्टीकापाठान्तरं दृश्यतां पत्र ५२० टिप्पणी १ मध्ये ॥ २ **एषा पुरातना गाथा** भा० कां० । "संजयकडे य० गाहा **पुरातना**" इति **विशेषचूर्णिकृतः** ॥

त्रीणि विशोधिकोटयः, आधाकर्मिकं पुनरेकान्तेनाविशोधिकोटिः, आत्मार्थकृतं तु निरवद्य-मेवेति ॥ १७६२ ॥

जं जीवजुयं भरणं, तदफासुं फासुयं तु तदभावा ।
तं पि य हु होइ कम्मं, न केवलं जीवघाएण ॥ १७६३ ॥

5 यद् 'जीवयुतं' राजिकादिबीजसहितं भरणं तदप्राशुकम् । 'तदभावात्' राजिकादिबीजाभावाद् यद् भरणं तत् प्राशुकम् । तदपि च निर्जीवं भरणं 'हु' निश्चितं संयतार्थं क्रियमाणमाधाकर्म भवति, न केवलं 'जीवघातेन' राजिकादिबीजजन्तूपघातेन निष्पन्नमिति ॥ १७६३ ॥

अथोत्सिक्तपदं भावयति—

उत्सिक्त-पदस्यार्थः

समणे घर पासंडे, जावंतिय अत्तणो य मुत्तूणं ।
10 **छट्ठो नत्थि विकप्पो, उस्सिंचणमो जयट्ठाए ॥ १७६४ ॥**

काञ्जिकस्य सौवीरिणीतो यद् निष्काशनं तद् उत्सिक्तम् । तच्च पञ्चधा—श्रमणार्थं साधूनामर्थायेत्यर्थः १ स्वगृहयतिमिश्रं २ पाषण्डिमिश्रं ३ यावदर्थिकमिश्रं ४ आत्मार्थकृतम् ५ । एतान् पञ्च भेदान् मुक्त्वा अपरः षष्ठो विकल्पो नास्ति यदर्थमुत्सेचनं भवेत् । अत्र चात्मार्थं यद् गृहिभिरुत्सिक्तं तदेव ग्रहीतुं कल्पते न शेषाणीति ॥ १७६४ ॥[1]

15 उक्त आहारविषयो विधिः । अथोपधिविषयं तमेवाह—

तत पाइयं वियं पि य, वत्थं एक्केक्कगस्स अट्ठाए ।
पाउब्भिन्नं निक्कोरियं च जं जत्थ वा कमइ ॥ १७६५ ॥

वस्त्रमेकैकस्यार्थाय ततं पायितं विततं च वक्तव्यम् । तद्यथा—संयतार्थं ततं संयतार्थं पायितं संयतार्थमेव च विततं १ संयतार्थं ततं संयतार्थं पायितमात्मार्थं विततं २ संयतार्थं ततमात्मार्थं 20 पायितं संयतार्थं विततं ३ संयतार्थं ततमात्मार्थं पायितं आत्मार्थमेव विततम् ४, एवमात्मार्थ-ततेनापि चत्वारो भङ्गा लभ्यन्ते, जाता अष्टौ भङ्गाः । अत्र चाष्टमो भङ्गः शुद्धः, त्रयाणामप्यात्मार्थं कृतत्वात् । एवं स्वगृहमिश्र-पाषण्डमिश्र-यावदर्थिकमिश्रेष्वपि द्रष्टव्यम्, सर्वत्रापि चाष्टमो भङ्गः शुद्धः, शेषास्तु सर्वेऽप्यशुद्धा इति । पात्रमप्युद्भिन्नं निष्कीर्णं चैवमेव वक्तव्यम् । तद्यथा—संयतार्थमुद्भिन्नं संयतार्थं चोत्कीर्णं १ संयतार्थमुद्भिन्नमात्मार्थमुत्कीर्णं २ आत्मार्थमु-25 द्भिन्नं संयतार्थमुत्कीर्णं ३ आत्मार्थमुद्भिन्नम् आत्मार्थमेव चोत्कीर्णम् ४ । अत्र चतुर्थो भङ्गः

---

१ एतदनन्तरं भा० पुस्तके—अथ "जेण असुद्धा रसिणी भरणं शुभयं च तत्थ आऽऽरुवण" (गा० १७५९) त्ति यदतिदेशेन प्रायश्चित्तमुक्तं तदेव व्यक्तीकुर्वन्नाह—इत्यवतरणं विधाय "तिसेव य चउगुरुगा०" इति १७६० गाथा तद्वृत्तिश्च वर्तते । वृत्तिश्चैवम्—

त्रयश्चतुर्गुरवः त्रिषु आद्यस्थानेषु मन्तव्याः, तद्यथा—आधाकर्मणि स्वगृहमिश्रे पाषण्डमिश्रे च । 'द्वयोः' यावदर्थिक-क्रीतकृतयोश्चतुर्लघवः । भक्तपानपूतिकर्मणि गुरुको मासः । उपकरणपूतिकर्मणि तु लघुको मास इत्यनुक्तमपि द्रष्टव्यम् । 'अन्तिमः' आत्मार्थकृतलक्षणो भेदः 'शुद्धः' निरवद्यः । एतच्च सौवीरिणीरधिकृत्योक्तम् । एवमेव च एकैकस्यां रसिन्यां यानि सप्त सप्त आधाकर्मिकादीनि भरणानि तेष्वप्येतदेव प्रायश्चित्तं मन्तव्यम् ॥ उक्त आहारविषयो विधिः । अथोपधिविषयं तमेवाह—तत पाइयं० गाथा ॥

शुद्धः, शेषास्त्रयोऽप्यशुद्धाः । 'यद् वा' क्रीतकृत-स्थापितादिकं यत्र वस्त्रे पात्रे वा 'क्रमते' अवतरति तत् तत्र सम्यगुपयुज्य योजनीयम् । अत्र च तननं विततनं चाविशोधिकोटिः पायनं विशोधिकोटिरित्याचार्यस्य मतम् । परस्तु ब्रवीति—पायनमविशोधिकोटिः, कन्दादिजीवोपघातनिष्पन्नत्वात्; तननं विततनं च विशोधिकोटिः, जीवोपघातस्यादृश्यमानत्वादिति । अत्र सूरिराह—नास्माकं जीवोपघातेनैवाधाकर्म किन्तु श्रमणार्थं वस्त्रादेर्यत् पर्यायान्तरनयनं तदप्याधाकर्म मन्तव्यम् ॥ १७६५ ॥ अपि च— 5

अत्तट्ठियतंतूहिं, समणट्ठ ततो अ पाइय वुतो अ ।
किं सो न होइ कम्मं, फासुण विपज्जिओ जो उ ॥ १७६६ ॥
जइ पजणं तु कम्मं, इतरमकम्मं स कप्पऊ धोओ ।
अह धोओ वि न कप्पइ, तणणं विणणं च तो कम्मं ॥ १७६७ ॥ 10

आत्मार्थिताः—स्वार्थं निष्पादिता ये तन्तवस्तैः श्रमणार्थं यः पटः ततः पायितो व्यूतश्च सः 'प्राशुकेनापि' स्वार्थमचित्तीकृतेन खलिकाद्रव्यसम्भारेण पायितः सन् किमाधाकर्म न भवति? त्वदुक्तनीत्या भवतीति भावः ॥ १७६६ ॥

ततो यदि जीवोपघातनिष्पन्नत्वात् पायनमाधाकर्म 'इतरत्' तननं विततनं च 'अकर्म' न आधाकर्मेति तर्हि स पटो धौतः सन् कल्पतां भवतः, अपनीतपायनिकालेपत्वात् । अथ 15 ब्रवीथाः 'धौतोऽप्यसौ न कल्पते' ततस्तननं विततनं चार्थादाधाकर्म संवृत्तमिति सिद्धं नः समीहितम् ॥ १७६७ ॥ गतं "गच्छसइए अ कप्पे अंबिलभरिए अ ऊसित्ते" (गा० १६५८) इति द्वारम् । अथ "परिहरणा अणुजाणे" (गा० १६५९) त्ति द्वारं व्याख्यानयति—

चोअग जिणकालम्मि, किह परिहरणा जहेव अणुजाणे ।
अइगमणम्मि य पुच्छा, निक्कारण कारणे लहुगा ॥ १७६८ ॥ 20

नोदकः प्रश्नयति—यदि शतिकेष्वपि गच्छेषु साम्प्रतमित्थमाधाकर्मादयो दोषा जायन्ते तर्हि जिनः—तीर्थकरस्तस्य काले साहस्रेषु गच्छेषु साधवः कथमाधाकर्मादीनां परिहरणं कृतवन्तः? इति । सूरिराह—यथैव 'अनुयाने' रथयात्रायां साम्प्रतमपि परिहरन्ति तथा पूर्वमपि परिहृतवन्तः । "अतिगमणम्मि य पुच्छ" त्ति शिष्यः पृच्छति—किमनुयाने 'अतिगमनं' प्रवेशनं कर्त्तव्यम्? उत न? इति । आचार्यः प्राह—"निक्कारण कारणे लहुग" त्ति निष्कारणे 25 यदि गच्छति तदा चत्वारो लघवः, कारणे यदि न गच्छति तदाऽपि चत्वारो लघवः ॥१७६८॥

अथैतदेव भावयति—

---

१ "उम्मिसं उग्गमकोडी, निक्कोरितं विसोहिकोडी" इत्यपि चूर्णौ विशेषचूर्णौ च वर्तते ॥

२ यदि संयतार्थं जीवोपघातनिष्पन्नत्वात् पायनमविशोधिकोटिरिष्यते तर्हि आत्मार्थिताः—स्वार्थं निष्पादिता ये तन्तवस्तैः श्रमणार्थं यः पटः ततः पायितो व्यूतश्च, कथं पायितः? इत्याह—'प्राशुकेन' निर्जीवेन खलिकाद्रव्यसम्भारेण पायितः, स किं आधाकर्म न भवति? भवत्येवेति भावः ॥ १७६६ ॥ तथा यदि पायनमेव तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद् आधाकर्म 'इतरत्'

ण्हाणा-ऽणुजाणमाइसु, जतंति जह संपयं समोसरिया ।
सतसो सहस्ससो वा, तह जिणकाले विसोहिंसु ॥ १७६९ ॥

'स्नानं' इह वर्षान्तः प्रतिनियतदिवसभावी भगवत्प्रतिमायाः स्नात्रपर्वविशेषः, अनुयानं–रथयात्रा[1], आदिशब्दात्[2] कुल-गण-सङ्घकार्यपरिग्रहः, तेषु स्नाना-ऽनुयानादिषु सङ्घमीलकेषु साम्प्रतमपि 5 'शतशः' शतसङ्ख्याः 'सहस्रशः' सहस्रसङ्ख्याः साधवः समवसृताः सन्तो यथा 'यतन्ते' आधाकर्मादिदोषै[3]शोधनायां प्रयत्नं कुर्वते तथा जिनकालेऽपि ते भगवन्तः 'शोधितवन्तः' एषणाशुद्धिं कृतवन्त इत्यर्थः ॥ १७६९ ॥ [4]भूयोऽपि परः प्राह—ननु च 'सर इव सागरः, खद्योत इव प्रद्योतनः, मृग इव मृगेन्द्रः' इत्यादिवदैदंयुगीनसमवसरणसत्कमेषणाशुद्ध्युपमानं तीर्थकरकालभाविनीमेषणाशुद्धिमुपमातुमभिधीयमानं हीनत्वान्न समीचीनम्, [5]अत आह—

10 **पच्चक्खेण परोक्खं, साहिज्जइ नेव एस हीणुवमा ।**
जं पुरिसजुगे तइए, वोच्छिन्नो सिद्धिमग्गो उ ॥ १७७० ॥

[6]इह 'प्रत्यक्षेण' उपमानवस्तुना 'परोक्षम्' उपमेयं वस्तु साक्षादनुपलभ्यमानमपि साध्यते इति शास्त्रे लोके [7]च स्थितिः । तथाहि—खुर-ककुद-लाङ्गूल-सास्नाद्यवयवोपलक्षितमध्यक्षवीक्षितं गवादि वस्तु दृष्टान्ततयोपदर्श्य गवयादिकं परोक्षमपि प्रतीतिपथमारोप्यते । एवमत्रापि प्रत्यक्ष-15 वीक्ष्यमाणेन साम्प्रतकालीनसमवसरणसत्कैनैषणाशोधनेन परोक्षमपि तीर्थकरकालभाविसमवसरणसाधूनामेषणाशोधनं साध्यते [8]इति "नेव एस हीणुवम" त्ति न चेयं सर इव सागर इत्यादिवद् हीनोपमा, तीर्थकरकालेऽपि हि सहस्रसङ्ख्या एव साधव एकत्र क्षेत्रे समवसरन्ति स्म, एतावन्तश्च ते साम्प्रतमपि स्नाना-ऽनुयानादौ पर्वणि समवसरन्त उपलभ्यन्ते शोधयन्तश्चैषणाम्, ततोऽनुमीयते तीर्थकरकालेऽप्येवमेव दोषान् शोधितवन्त इति । अपि च श्रीमन्महावीर-

१ °त्रा, तदादिषु कार्येषु साम्प्रत° त० डे० कां० ॥ २ °त् कल्याणकप्रभृतिपर्वपरिग्रहः भा० ॥ ३ °षपरिहरणे प्र° भा० ॥ ४ आह हीनत्वादयुक्तेयमुपमा, तथाहि—यथा 'चन्द्रमुखी दारिकेयम्' इत्यादौ चन्द्रादिकमुपमानं कलङ्कादिदूषिततया हीनत्वादयुज्यमानमवगम्यते, एवमैदंयु° भा० ॥ ५ अत्रोच्यते भा० ॥

६ प्रत्यक्षं–चक्षुषा वीक्ष्यमाणं यद् वस्तु तेन 'परोक्षं' साक्षादनुपलभ्यमानमपि 'साध्यते' समर्थ्यते प्रतीतिपथमुपनीयते इति यावत् । तथाहि—यथा खुर-ककुद-लाङ्गूलाद्यवयवोपलक्षितं प्रत्यक्षदृष्टं गवादि वस्तु दृष्टान्ततयोपदर्श्य गवयादिकं परोक्षमपि साध्यते । एवमत्रापि प्रत्यक्षवीक्ष्यमाणेन साम्प्रतकालीनसमवसरणसत्केनैषणाशोधनेन परोक्षमपि तीर्थकरकालभाविसमवसरणसाधूनामेषणाशोधनं प्रतीतिपथमारोप्यते इति नैवेयं हीनोपमा, सहस्रसङ्ख्यानां साधूनामैदंयुगीनेऽपि समवसरणे सम्भवात् । अपि च श्रीमन्महावीरस्वामी वर्त्तमानतीर्थस्य प्रवर्त्तकः प्रथमं पुरुषयुगमभवत्, ततस्तदन्तेवासी श्रीसुधर्मस्वामी द्वितीयम्, तद्विनेयः श्रीजम्बूस्वामी तृतीयम्, एतानि त्रीणि पुरुषयुगानि यावदनगाराणां निर्वाणपदवीगमनमभवत्, तृतीये च पुरुषयुगे निर्वृत्ते सति सिद्धिमार्गो व्यवच्छिन्नः, तत ऊर्ध्वं नानुवृत्त इति भावः । इह च सिद्धिमार्गः क्षपकश्रेणि-केवलोत्पत्तिप्रभृतिकः परिगृह्यते, न पुनर्ज्ञान° भा० ॥ ७ च व्यवस्थितिः, ततोऽत्रापि प्रत्यक्ष° त० डे० कां० ॥ ८ इति नैवेयं हीनोपमा । अपि च श्रीमन्महा° कां० ॥

स्वामी १ श्रीसुधर्मस्वामी २ जम्बूस्वामी ३ चेति त्रीणि पुरुषयुगानि यावदनगाराणां निर्वाणपदवीगमनमभवत् । तृतीये च पुरुषयुगे निर्वृते सति 'सिद्धिमार्गः' क्षपकश्रेणि-केवलोत्पत्त्यादिरूपो[1] व्यवच्छिन्नः, न पुनर्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपः शास्त्रपरिभाषितः, तस्येदानीमप्यनुवर्त्तमानत्वात् । ततश्च यदि तेषां साधूनामुद्गमादिदोषशोधनं नाभविष्यत् ततस्ते सिद्धिमार्गमपि नासादयिष्यन् । अतो निश्चीयते—तेऽपि भगवन्त इत्थमेवैषणाशुद्धिं कृतवन्त इति ॥१७७०॥ 5

अथानुयानविषयो विधिरुच्यते—

अनुयान-गमने विधिः

आणाइणो य दोसा, विराहणा होइ संजमा-ऽऽयाए ।
एवं ता वच्चंते, दोसा पत्ते अणेगविहा ॥ १७७१ ॥

निष्कारणे अनुयानं गच्छत आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च संयमा-ऽऽत्मनोर्भवति । एवं तावद् व्रजतो मार्गे दोषाः । तत्र प्राप्तानां पुनरनेकविधा दोषाः ॥ १७७१ ॥ 10

तत्र संयमा-ऽऽत्मविराधनां भावयति—

महिमाउस्सुयभूए, रीयादी न विसोहए ।
तत्थ आया य काया य, न सुत्तं नेव पेहणा ॥ १७७२ ॥

महिमा नाम—भगवत्प्रतिमायाः पुष्पारोपणादिपूजात्मकः सातिशय उत्सवस्तस्या दर्शनार्थमुत्सुकभूत ईर्यादिसमितीर्न विशोधयति, आदिशब्दादेषणादिपरिग्रहः । 'तत्र च' ईर्यादीनामशोधने 15 आत्मा च कायाश्च विराध्यन्ते । आत्मविराधना कण्टक-स्थाण्वाद्युपघातेन, संयमविराधना षण्णां कायानामुपमर्दादिना । तथा त्वरमाणत्वादेव न सूत्रं गुणयति, उपलक्षणत्वादर्थं च नानुप्रेक्षते, नैव प्रतिलेखनां वस्त्र-पात्रादेः करोति, अकालेऽविधिना वा करोति ॥ १७७२ ॥ एवमेते मार्गे गच्छतां दोषा अभिहिताः । अथ तत्र प्राप्तानां ये दोषास्तानभिधित्सुर्द्वारगाथामाह—

चेइय आहाकम्मं, उग्गमदोसा य सेह इत्थीओ । 20
नाडग संफासण तंतु खुड्ड निद्धम्मकज्जा य ॥ १७७३ ॥

चैत्यानां स्वरूपं प्रथमतो वक्तव्यम्, तत आधाकर्म, तत उद्गमदोषाः, ततः शैक्षाणां पार्श्वस्थेषु गमनम्, ततः स्त्रीदर्शनसमुत्था दोषाः, ततो नाटकावलोकनप्रभवाः, ततः संस्पर्शनसमुत्थाः, तदनन्तरं तन्तवः—कोलिकजालं तद्विषयाः, तदनु "खुड्ड" त्ति पार्श्वस्थादिक्षुल्लकदर्शनसमुत्थाः, ततो निर्धर्मणां—लिङ्गिनां यानि कार्याणि तदुत्थिताश्च दोषा वक्तव्या इति[2] द्वारगाथा- 25 समासार्थः ॥ १७७३ ॥ अथैनामेव विवरीषुः प्रथमतश्चैत्यस्वरूपं व्याख्यानयति[3]—

चैत्यद्वारम्

साहम्मियाण अट्ठा, चउव्विहे लिंगओ जह कुडुंबी ।
मंगल-सासय-भत्तीइ जं कयं तत्थ आदेसो ॥ १७७४ ॥

चैत्यानि चतुर्विधानि[4], तद्यथा—साधर्मिकचैत्यानि मङ्गलचैत्यानि शाश्वतचैत्यानि भक्तिचैत्यानि चेति । तत्र साधर्मिकाणामर्थाय यत् कृतं तत् साधर्मिकचैत्यम् । साधर्मिकश्चात्र द्विधा— 30

१ °पो गृह्यते, न पुन° मो० ले० ॥ २ तदनन्तरं निर्धर्मकार्यप्रभवाश्च दोषा भा० ॥ ३ °ख्यानयति कां० ॥ ४ चैत्यं चतुर्विधम्, तद्यथा—साधर्मिकचैत्यं मङ्गलचैत्यं शाश्वतचैत्यं भक्तिचैत्यं चेति भा० कां० ॥

लिङ्गतः प्रवचनतश्च । तत्रेह लिङ्गतो गृह्यते, स च यथा कुटुम्बी, कुटुम्बी नाम—प्रभूतपरिचारकलोकपरिवृतो रजोहरण-मुखपोतिकादिलिङ्गधारी वारत्तकप्रतिच्छन्दः । तथा मथुरापुर्यां गृहेषु कृतेषु मङ्गलनिमित्तं यद् निवेश्यते तद् मङ्गलचैत्यम् । सुरलोकादौ नित्यस्थायि शाश्वतचैत्यम् । यत्तु भक्त्या मनुष्यैः पूजा-वन्दनाद्यर्थं कृतं कारितमित्यर्थः तद् भक्तिचैत्यम् । 'तेन च' भक्ति-
5 चैत्येन 'आदेशः' अधिकारः, अनुयानादिमहोत्सवस्य तत्रैव सम्भवादिति । एषा निर्युक्तिगाथा ॥ १७७४ ॥ अथैनामेव विभावयिषुः साधर्मिकचैत्यं तावदाह—

साधर्मिक-चैत्यम्

वारत्तगस्स पुत्तो, पडिमं कासी य चेइयहरम्मि ।
तत्थ य थली अहेसी, साहम्मियचेइयं तं तु ॥ १७७५ ॥

इहाऽऽवश्यके योगसङ्ग्रहेषु "वारत्तपुरे अभयसेण वारत्ते" (नि० गा० १३०३ पत्र ७०९)
10 इत्यत्र प्रदेशे प्रतिपादितचरितो यो वारत्तक इति नाम्ना महर्षिः, तस्य पुत्रः स्वपितरि भक्तिभरापूरिततया चैत्यगृहं कारयित्वा तत्र रजोहरण-मुखवस्त्रिका-प्रतिग्रहधारिणीं पितुः प्रतिमामस्थापयत्, तत्र च 'स्थली' सत्रशाला तेन प्रवर्त्तिता आसीत्, तदेतत् साधर्मिकचैत्यम् । अस्य च साधर्मिकचैत्यस्यार्थाय कृतमस्माकं कल्पते ॥ १७७५ ॥ अथ मङ्गलचैत्यमाह—

मङ्गल-चैत्यम्

अरहंतपइट्ठाए, महुरानयरीएँ मंगलाइं तु ।
15 **गेहेसु चच्चरेसु य, छन्नउईगामअद्धेसु ॥ १७७६ ॥**

मथुरानगर्यां गृहे कृते मङ्गलनिमित्तमुत्तरङ्गेषु प्रथममर्हत्प्रतिमाः प्रतिष्ठाप्यन्ते, अन्यथा तद् गृहं पतति, तानि मङ्गलचैत्यानि । तानि च तस्यां नगर्यां गेहेषु चत्वरेषु च भवन्ति । न केवलं तस्यामेव किन्तु तत्पुरीप्रतिबद्धा ये षण्णवतिसङ्ख्याका ग्रामार्द्धास्तेष्वपि भवन्ति । इहोत्तरापथानां ग्रामस्य ग्रामार्द्ध इति संज्ञा । आह च चूर्णिकृत्—

20 गामद्धेसु त्ति देसभणिती, छन्नउईगामेसु त्ति भणियं होइ, उत्तरावहाणं एसा भणिइ त्ति ॥ १७७६ ॥ शाश्वतचैत्य-भक्तिचैत्यानि दर्शयति—

शाश्वत-चैत्यं भक्तिचैत्यं च

निइयाइं सुरलोए, भत्तिकयाइं तु भरहमाईहिं ।
निस्सा-ऽनिस्सकयाइं, जहिँ आएसो चयसु निस्सं ॥ १७७७ ॥

'नित्यानि' शाश्वतचैत्यानि 'सुरलोके' भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकदेवानां भवन-
25 नगर-विमानेषु, उपलक्षणत्वाद् मेरुशिखर-वैताढ्यादिकूट-नन्दीश्वर-रुचकवरादिष्वपि भवन्तीति । तथा भक्त्या भरतादिभिर्यानि कारितानि अर्भूतण्यर्थत्वाद् भक्तिकृतानि । अत्र च "जहिँ आएसो" त्ति येन भक्तिचैत्येन 'आदेशः' प्रकृतम् तद् द्विधा—निश्राकृतमनिश्राकृतं च । निश्राकृतं नाम—गच्छप्रतिबद्धम्, अनिश्राकृतं—तद्विपरीतम् सङ्घसाधारणमित्यर्थः । "चयसु निस्सं" ति यद् निश्राकृतं तद् 'त्यज' परिहर । अनिश्राकृतं तु कल्पते ॥ १७७७ ॥
30 गतं चैत्यद्वारम् । अथाधाकर्मद्वारमाह—

---

१ °त्यः, तत् साधर्मिकचैत्यम् । तथा भा० ॥ २ एषा पुरातना गाथा भा० कां० ॥ ३ मो० ले० विनाऽन्यत्र—°स्यार्थाय त० डे० कां० । °स्य वारत्तकतुल्यस्य लिङ्गसाधर्मिकस्यार्थाय भा० ॥

जीवं उद्दिस्स कडं, कम्मं सो वि य जया उ साहम्मी ।
सो वि य तइए भंगे, लिंगादीणं न सेसेसु ॥ १७७८ ॥

जीवमुद्दिश्य यत् षट्कायविराधनया कृतं सोऽपि च यदि जीवः 'साधर्मिकः' समानधर्मा भवति 'सोऽपि च' साधर्मिकः 'लिङ्गादीनां' 'लिङ्गतः साधर्मिको न प्रवचनतः' इत्यादीनां चतुर्णां भङ्गानां 'तृतीये भङ्गे' 'लिङ्गतः प्रवचनतोऽपि' इत्येवंलक्षणे यदि वर्त्तते न शेषेषु तदेतदाधाकर्म 5 मन्तव्यम् ॥ १७७८ ॥ अथ तीर्थंकरप्रतिमार्थं यन्निर्वर्त्तितं तत् किं साधूनां कल्पते न वा ? इत्याशङ्कानिरासार्थमाह—

संवट्टमेह-पुप्फा, सत्थनिमित्तं कया जइ जईणं ।
न हु लब्भा पडिसिद्धुं, किं पुण पडिमट्ठमारद्धं ॥ १७७९ ॥

शास्ता—तीर्थंकरस्तस्य निमित्तं यानि देवैः संवर्त्तकमेघ-पुष्पाणि समवसरणभूमौ कृतानि 10 तानि यतीनां यदि प्रतिषेद्धुं न लभ्यानि, तेषां तत्रावस्थातुं यदि कल्पते इति भावः, तर्हि किं पुनः 'प्रतिमार्थम्' अजीवानां प्रतिमानां हेतोरारब्धम् [1], तत् सुतरां न प्रतिषेधमर्हतीत्यभिप्रायः ॥ १७७९ ॥ आह यदि तीर्थंकरार्थं संवर्त्तकमेघ-पुष्पाणि कृतानि तर्हि तस्य भगवतस्तानि प्रतिसेवमानस्य कथं न दोषो भवति ? इति उच्यते—

तित्थयरनाम-गोयस्स खयट्ठा अवि य दाणि साभव्वा । 15
धम्मं कहेइ सत्था, पूयं वा सेवई तं तु ॥ १७८० ॥

तीर्थंकरनाम-गोत्रस्य कर्मणः क्षयार्थं 'शास्ता' भगवान् धर्मं कथयति, 'पूजां च' महिमां तामनन्तरोक्तां संवर्त्तकवातप्रभृतिकामासेवते । भगवता हि तीर्थंकरनाम-गोत्रं कर्मावश्यवेदनीयम्, विपाकोदयावलिकायामवतीर्णत्वात् । तस्य च वेदनेऽयमेवोपायः—यदग्लान्या धर्मदेशनाकरणं सदेव-मनुजा-ऽसुरलोकविरचितायाश्च पूजाया उपजीवनम् । 20

तं च कहं वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाईहिं । (आव० नि० गा० १८३-७४३)

तथा—

उदए जस्स सुरा-ऽसुर-नरवइनिवहेहिँ पूइओ लोए ।

तं तित्थयरं नामं, तस्स विवागो उ केवलिणो ॥ (बृहत्कर्मवि० गा० १४९)

इति वचनप्रामाण्यात् । 'अपि च' इत्यभ्युच्चये । "दाणि" त्ति निपातो वाक्यालङ्कारे । "साभव्व" 25 त्ति स्वो भावः स्वभावः, यथा—"आपो द्रवाश्चलो वायुः" इत्यादि, तस्य भावः स्वाभाव्यं तस्मात् । तस्य हि भगवतः स्वभावोऽयं यत् तथाधर्मकथाविधानं पूजायाश्चासेवनम् ॥ १७८० ॥

इदमेव स्पष्टतरमाह—

खीणकसाओ अरिहा, कयकिच्चो अवि य जीयमणुयत्ती ।
पडिसेवंतो वि अओ, अदोसवं होइ तं पूयं ॥ १७८१ ॥ 30

क्षीणाः—प्रलयमुपगताः कषायाः—क्रोधादयो यस्य स क्षीणकषायः, एवंविधोऽर्हन् तां पूजां

---

१ °वतिष्ठमानानां न प्रतिषेधः कर्तुं शक्यते इति भावः, भा० ॥ २ इति । तथा अपि भा० ॥

प्रतिसेवमानोऽपि न दोषवान् । इयमत्र भावना—यो हि रागादिमान् पूजामुपजीवन् स्वात्मन्युत्कर्षं मन्यते स दोषभाग् भवति, भगवतस्तु क्षीणकषायस्य पूजामुपजीवतोऽपि नास्ति स्वात्मन्युत्कर्षगन्धोऽपि, अतो दूरापास्तप्रसरा तस्य सदोषतेति । तथा ◁ कृतानि—समापितानि कृत्यानि येन सः ▷ 'कृतकृत्यः' केवलज्ञानलाभान्निष्ठितार्थः । ततः कृतकृत्यत्वादेवासौ पूजामासेवते न च
5 दोषमापद्यते । अपि च जीतम्—'उपजीवनीया सुरा-ऽसुरविरचिता पूजा' इत्येवंलक्षणं कल्पमनुवर्त्तयितुं शीलमस्यासौ जीतानुवर्ती, गाथायां मकारोऽलाक्षणिकः ॥ १७८१ ॥ आह भवत्वेवं परं तीर्थकरस्य तत्प्रतिमाया वा निमित्तं यत् कृतं तत् केन कारणेन यतीनां कल्पते? उच्यते—

साहम्मिओ न सत्था, तस्स कयं तेण कप्पइ जईणं ।
जं पुण पडिमाण कयं, तस्स कहा का अजीवत्ता ॥ १७८२ ॥

10 'शास्ता' तीर्थकरः स साधर्मिको लिङ्गतः प्रवचनतोऽपि न भवति । तथाहि—लिङ्गतः साधर्मिकः स उच्यते यो रजोहरणादिलिङ्गधारी भवति, तच्च लिङ्गमस्य भगवतो नास्ति तथाकल्पत्वात्, अतो न लिङ्गतः साधर्मिकः । प्रवचनतोऽपि साधर्मिकः सोऽभिधीयते यश्चतुर्वर्णसङ्घाभ्यन्तरवर्ती भवति, ◁ "पँवयणसंघेगयरे" इति वचनात्; ▷ भगवाँश्च तत्प्रवर्त्तकतया न तदभ्यन्तरवर्ती किन्तु चतुर्वर्णस्यापि सङ्घस्याधिपतिः, ततो न प्रवचनतोऽपि साधर्मिक इति ।
15 अतः 'तस्य' तीर्थकरस्यार्थाय कृतं यतीनां कल्पते । यत् पुनः प्रतिमानामर्थाय कृतं तस्य 'का कथा?' का वार्त्ता? सुतरां तत् कल्पते । कुतः? इत्याह—अजीवत्वात्, जीवमुद्दिश्य हि यत् कृतं तदाधाकर्म भवति, "जीवं उद्दिस्स कडं" (गा० १७७८) इति प्रागेवोक्तत्वात्, तच्च जीवत्वमेव प्रतिमानां नास्तीति ॥ १७८२ ॥ अथ वसतिविषयमाधाकर्म दर्शयति—

ठाइमठाई ओसरण मंडवा संजयट्ठ देसे वा ।
पेढी भूमीकम्मे, निसेवतो अणुमई दोसा ॥ १७८३ ॥

"ओसरणे" समवसरणे बहवः संयताः समागमिष्यन्तीति बुद्ध्या श्रावका धर्मश्रद्धया बहून् मण्डपान् कुर्युः । ते च द्विधा—स्थायिनोऽस्थायिनश्च । ये समवसरणपर्वणि व्यतीते सति नोत्कील्यन्ते ते स्थायिनः, ये पुनरुत्कील्यन्ते तेऽस्थायिनः । पुनरेकैके द्विविधाः—संयतार्थकृता देशकृता वा । ये आधाकर्मिकास्ते संयतार्थकृताः, ये तु साधूनामात्मनश्चार्थाय कृतास्ते देश-
25 कृताः । एतेषु तिष्ठतां तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । तथा 'पीठिका नाम' उपवेशनादिस्थानविशेषाः, "भूमिकम्मे" त्ति 'भूमिकर्म' विषमाया भूमेः समीकरणम्, उपलक्षणं चेदम्, तेन सम्मार्जनोपलेपनादिपरिग्रहः । एतान्यपि पीठिकादीनि संयतार्थकृतानि देशकृतानि वा भवेयुः । एतानि मण्डपादीनि सदोषानि निषेवमाणस्यानुमतिदोषा भवन्ति, एतेषु क्रियमाणेषु या षण्णां जीवनिकायानां विराधना सा अनुमोदिता भवतीति भावः ॥ १७८३ ॥

30 गतमाधाकर्मद्वारम् । अथोद्गमदोष-शैक्षद्वारद्वयमाह—

ठवियग-संछोभादी, दुसोहया होंति उग्गमे दोसा ।

---

१ °वति स स्वात्मन्युत्कर्षं मन्यमानस्तत्प्रत्ययं कर्मबन्धमासादयन् दोष° भा० ॥
२ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः त० डे० कां० नास्ति ॥ ३ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः त० डे० विना न ॥

वंदिज्जंते दट्टुं, इयरे सेहा तहिं गच्छे ॥ १७८४ ॥

'बहवः संयताः समायाताः' इति कृत्वा धर्मश्रद्धावान् लोकः संयतार्थं स्थापितं—भक्त-पानादेः स्थापनां कुर्यात् 'गृहमागतानामक्षेपेणैव दास्यामः' इति कृत्वा, "संछोभ" त्ति यानि गृहाणि साधुभिरनेषणीयदानेऽशङ्कनीयानि तेषु शाल्योदन-तन्दुलधावनादिकं भक्त-पानं मोदका-ऽशोक-वर्तिप्रभृतीनि वा खाद्यकविधानानि निक्षिपेयुः 'साधूनामागतानां दातव्यानि' इति, आदिशब्दात् 5 क्रीतकृत-प्राभृतिकादिपरिग्रहः । एते उद्गमदोषास्तत्र 'दुःशोध्याः' दुष्परिहार्या भवन्ति । तथा 'इतरान्' पार्श्वस्थादीन् बहुजनेन वन्द्यमानान् पूज्यमानाँश्च दृष्ट्वा शैक्षाः 'तत्र' पार्श्वस्थादिषु गच्छेयुः ॥ १७८४ ॥ स्त्री-नाटकद्वारद्वयमाह—

इत्थी विउव्वियाओ, भुत्ता-ऽभुत्ताण दट्टु दोसा उ ।
एमेव नाडइज्जा, सविब्भमा नच्चिय-पगीया ॥ १७८५ ॥ 10

स्त्रीः 'विकुर्विताः' वस्त्र-विलेपनादिभिरलङ्कृता दृष्ट्वा भुक्ता-ऽभुक्तानां 'दोषाः' स्मृति-कौतुक-प्रभवा भवन्ति । एवमेव 'नाटकीयाः' नाट्ययोषितः 'सविभ्रमाः' सविलासा नर्त्तित-गीतयोः प्रवृत्ता विलोक्य श्रुत्वा च भुक्ता-ऽभुक्तसमुत्था दोषा विज्ञेयाः ॥ १७८५ ॥ संस्पर्शनद्वारमाह—

थी-पुरिसाण उ फासे, गुरुगा लहुगा सई य संघट्टे ।
आया-संजमदोसा, ओभावण-पच्छकम्मादी ॥ १७८६ ॥ 15

समवसरणे पुष्पारोपणादिकौतुकेन भूयांसः स्त्री-पुरुषाः समायान्ति तेषां सम्मर्दैन स्पर्शो भवति । ततः स्त्रीणां स्पर्शे चत्वारो गुरवः, पुरुषाणां स्पर्शे चत्वारो लघवः । स्मृतिश्च सङ्घट्टे भुक्तभोगिनां भवति, चशब्दादभुक्तभोगिनां कौतुकम् । आत्म-संयमविराधनादोषाश्च भवन्ति—आत्मविराधना सम्मर्दे सति हस्त-पादाद्युपघातः, संयमविराधना सम्मर्दे पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः षट् काया नावलोक्यन्ते न च परिहर्तुं शक्यन्ते । "ओभावण-पच्छकम्माइ" त्ति साधुना कोऽपि 20 शौचवादी पुरुषः स्पृष्टः स स्नायात्, तं स्नान्तं निरीक्ष्यापरः पृच्छति—किमर्थं स्नासि ? इति, स प्राह—संयतेन स्पृष्ट इति, एवं परम्परया साधूनां जुगुप्सोपजायते, यथा—अहो ! मलिना एते, एवमपभ्राजना पश्चात्कर्म च भवति, आदिशब्दाद् असङ्खडादयो दोषाः ॥ १७८६ ॥

अथ तन्तुद्वारमाह—

लूया कोलिगजालग, कोत्थलकारीय उवरि गेहे य । 25
साडिंतमसाडिंते, लहुगा गुरुगा अभत्तीए ॥ १७८७ ॥

असम्मार्ज्यमाणे चैत्ये भगवत्प्रतिमाया उपरिष्टादेतानि भवेयुः—'लूता नाम' कोलिकपुटकानि, 'कोलिकजालकानि तु' जालकाकाराः कोलिकानां लालातन्तुसन्तानाः, कोत्थल-कारी–भ्रमरी तस्याः सम्बन्धि गृहमुपरि भवेत् । यद्येतानि लूतादीनि शाटयति तदा चत्वारो लघवः । अथ न शाटयति ततो भगवतां भक्तिः कृता न भवति, तस्यां चाभक्त्यां चत्वारो 30 गुरुकाः ॥ १७८७ ॥ अथ क्षुल्लकद्वारं निर्द्धर्मकार्यद्वारं च व्याख्यानयति—

घट्टाइ इयरखुड्डे, दट्टुं ओगुंडिया तहिं गच्छे ।
उक्कुट्ठघर-धणाईववहारा चेव लिंगीणं ॥ १७८८ ॥

छिंदंतस्स अणुमई, अमिलंत अछिंदओ य उक्खिवणा ।
छिद्दाणि य पेहंती, नेव य कज्जेसु साहिज्जं ॥ १७८९ ॥

इतरे—पार्श्वस्थास्तेषां ये क्षुल्लका घृष्टाः, आदिग्रहणात् "मट्ठा तुप्पोट्ठा पंडुरपडपाउरणा" (अनुयो० पत्र २६) इत्यादि, तानित्थम्भूतान् दृष्ट्वा संविग्नक्षुल्लकाः 'अवगुण्डिताः' मलदिग्धदेहाः परि-5 भग्नाः सन्तः 'तत्र' तेषां लिङ्गिनामन्तिके गच्छेयुः । तेषां च तत्र मिलितानां परस्परमुत्कृष्टगृह-धनादिविषयाः 'व्यवहाराः' विवादा उपढौकन्ते, ते च व्यवहारच्छेदनाय तत्र संविग्नानाकारयन्ति, ततो यदि तेषां व्यवहारश्छिद्यते तदा भवति परिस्फुटस्तेषां गृह-धनादिकं ददतः साधोरनुमतिदोषः । उपलक्षणमिदम्, तेन येषां तद् गृह-धनादिकं न दीयते तेषामप्रीतिक-प्रद्वेषगमनादयो दोषाः । अथ लिङ्गिनामेतद्दोषभयात् प्रथमत एव न मिलन्ति न वा व्यवहारपरिच्छेदं 10 कुर्वन्ति ततः 'उत्क्षेपणा' उद्घाटना साधूनां भवति, सङ्घाद् बाहीकरणमित्यर्थः । 'छिद्राणि च' दूषणानि ते कषायिताः सन्तः साधूनां प्रेक्षन्ते । नैव च ते 'कार्येषु' राजद्विष्ट-ग्लानत्वादिषु 'साहाय्यं' तन्निस्तरणक्षममुपष्टम्भं कुर्वते । यत एते दोषा अतो निष्कारणे न प्रवेष्टव्यमनुयानमिति स्थितम् । कारणेषु तु समुत्पन्नेषु प्रवेष्टव्यम् । यदि न प्रविशति तदा चत्वारो लघवः ॥ १७८८ ॥ १७८९ ॥ कानि पुनस्तानि ? इत्युच्यते—

15 **चेइयपूया रायानिमंतणं सन्नि वाइ खमगं कही ।**
संकिय पत्त पभावण, पवित्ति कज्जाइँ उड्डाहो ॥ १७९० ॥

अनुयानं गच्छता चैत्यपूजा स्थिरीकृता भवति । राजा वा कश्चिदनुयानमहोत्सवकारकः **सम्प्रतिनरेन्द्रादिवत्** तस्य निमन्त्रणं भवति । 'संज्ञी' श्रावकः स जिनप्रतिमायाः प्रतिष्ठापनां चिकीर्षति । तथा वादी क्षपको धर्मकथी च तत्र प्रभावनार्थं गच्छति । शङ्कितयोश्च सूत्रार्थ-20 योस्तत्र निर्णयं करोति । पात्रं वा तत्राऽव्यवच्छित्तिकारकं प्राप्नोति । प्रभावना वा राजप्रव्रजितादिभिस्तत्रगतैर्भवति । प्रवृत्तिश्चाचार्यादीनां कुशलवार्त्तारूपा तत्र प्राप्यते । कार्याणि च कुलादिविषयाणि साधयिष्यन्ते । उड्डाहश्च तत्रगतैर्निवारयिष्यत इति । एतैः कारणैर्गन्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः ॥१७९०॥ अथ विस्तरार्थं विभणिषुश्चैत्यपूजा-राजनिमन्त्रणद्वारे विवृणोति—

सड्ढावुड्ढी रन्नो, पूयाएँ थिरत्तणं पभावणया ।
25 **पडिघातो य अणत्थे, अत्था य कया हवइ तित्थे ॥ १७९१ ॥**

कोऽपि राजा रथयात्रामहोत्सवं कारयितुमनास्तन्निमन्त्रणे गच्छद्भिस्तस्य राज्ञः श्रद्धावृद्धिः कृता भवति । चैत्यपूजायां स्थिरत्वं प्रभावना च तीर्थस्य सम्पादिता भवति । यच्च जैनप्रवचनप्रत्यनीकाः शासनावर्णवाद-महिमोपघातादिकमनर्थं कुर्वन्ति तस्य प्रतिघातः कृतो भवति । तीर्थे च 'आस्था' स्वपक्ष-परपक्षयोरादरबुद्धिरुत्पादिता भवतीति ॥ १७९१ ॥

30 अथ संज्ञिद्वारं वादिद्वारं चाह—

एमेव य सन्नीण वि, जिणाण पडिमासु पढमपट्ठवणे ।
मा परवाई विग्घं, करिज्ज वाई अओ विसइ ॥ १७९२ ॥

१ °गं धम्मकही भा० ता० ॥

संज्ञिनः—श्रावकाः केचिद् जिनानां प्रतिमासु प्रथमतः "पट्टवणे" त्ति प्रतिष्ठापनं कर्तुकामास्तेषामपि 'एवमेव' राज्ञ इव श्रद्धावृद्ध्यादिकं कृतं भवति । तथा मा परवादी प्रस्तुतोत्सवस्य विघ्नं कार्षीद् अतो वादी प्रविशति ॥ १७९२ ॥ परवादिनिग्रहे च क्रियमाणे गुणानुपदर्शयति—

नवधम्माण थिरत्तं, पभावणा सासणे य बहुमाणो ।
अभिगच्छंति य विदुसा, अविग्घ पूया य सेयाए ॥ १७९३ ॥ 5

'नवधर्मणाम्' अभिनवश्रावकाणां 'स्थिरत्वं' स्थिरीकरणम् । शासनस्य च प्रभावना भवति, यथा—अहो ! प्रतपति पारमेश्वरं प्रवचनं यत्रेदृशा वादलब्धिसम्पन्ना इति । बहुमानश्चान्येषामपि शासने भवति । तथा तं वादिनं 'अभिगच्छन्ति' अभ्यायान्ति 'विद्वांसः' सहृदयास्तद्वाग्मिताकौतुकाकृष्टचित्ताः, तेषां च सर्वविरत्यादिप्रतिपत्त्या महाँल्लाभो भवति । परवादिना च निगृहीतेन 'अविघ्नं' निःप्रत्यूहं पूजा कृता सती स्वपक्ष-परपक्षयोरिह परत्र च श्रेयसे भवति ॥१७९३॥ 10

अथ क्षपकद्वारमाह—

आयाविंति तवस्सी, ओभावणया परप्पवाईणं ।
जइ एरिसा वि महिमं, उविंति कारिंति सड्ढा य ॥ १७९४ ॥

तत्र 'तपस्विनः' षष्ठा-ऽष्टमादिक्षपका आतापयन्ति । ततश्च 'अपभावना' लाघवं 'परप्रवादिनां' परतीर्थिकानां भवति, तेषां मध्ये ईदृशानां तपस्विनामभावात् । श्राद्धाश्च चिन्तयन्ति— 15 यदि तावदीदृशा अपि भगवन्तोऽस्माभिः क्रियमाणां 'महिमां' चैत्यपूजां द्रष्टुमायान्ति, तत इत ऊर्ध्वं विशेषत एव तस्यां यत्नं विधास्याम इति प्रवर्द्धमानश्रद्धाका महिमां कुर्वन्ति कारयन्ति च ॥ १७९४ ॥ अथ कथिकद्वारमाह—

आय-परसमुत्तारो, तित्थविवड्ढी य होइ कहयंते ।
अन्नोन्नाभिगमेण य, पूया थिरया य बहुमाणो ॥ १७९५ ॥ 20

क्षीराश्रवादिलब्धिसम्पन्न आक्षेपणी-विक्षेपणी-संवेजनी-निर्वेदनीभेदात् चतुर्विधां धर्मकथां कथयन् धर्मकथीत्युच्यते । तस्मिन् धर्मं कथयति आत्मनः परस्य च संसारसागरात् समुत्तारः—निस्तरणं भवति । तीर्थविवृद्धिश्च भवति, प्रभूतलोकस्य प्रव्रज्याप्रतिपत्तेः । तथा देशनाद्वारेण पूजाफलमुपवर्ण्य 'अन्यान्याभिगमेन' अन्यान्यश्रावकबोधनेन पूजायां स्थिरता बहुमानश्च (ग्रन्थाग्रम्—१५०० । सर्वग्रन्थाग्रम्—१३७२० ।) कृतो भवति ॥ १७९५ ॥ 25

अथ शङ्कित-पात्रद्वारे व्याख्याति—

निस्संकियं च काहिइ, उभए जं संकियं सुयहरेहिं ।
अव्वोच्छित्तिकरं वा, लब्भिहि पत्तं दुपक्खाओ ॥ १७९६ ॥

'उभये' सूत्रे अर्थे च यत् तस्य शङ्कितं तत् तत्र श्रुतधरेभ्यः पार्श्वान्निःशङ्कितं करिष्यति । अव्यवच्छित्तिकारकं वा पात्रं द्विपक्षाद् लप्स्यते । द्वौ पक्षौ समाहृतौ द्विपक्षम्, गृहस्थ- 30 पक्षः संयतपक्षश्चेत्यर्थः ॥ १७९६ ॥ अथ प्रभावनाद्वारमाह—

जाइ-कुल-रूव-धण-बलसंपन्ना इड्ढिमंतनिक्खंता ।
जयणाजुत्ता य जई, समेच्च तित्थं पभाविंति ॥ १७९७ ॥

जातिः—मातृकः पक्षः, कुलं—पैतृकः पक्षः, रूपम्—आकृतिः, धनं—गणिम-धरिम-मेय-पारिच्छेद्यभेदाच्चतुर्द्धा तदतिप्रभूतं गृहस्थावस्थायामासीत्, बलं—सहस्रयोधिप्रभृतीनामिव सातिशयं शारीरं वीर्यम्, एतैर्जात्यादिभिर्गुणैः सम्पन्ना ये च 'ऋद्धिमन्निष्क्रान्ताः' राजप्रव्रजितादयो ये च 'यतनायुक्ताः' यथोक्तसंयमयोगकलिता यतयस्ते 'समेत्य' तत्रागत्य तीर्थं प्रभावयन्ति ॥१७९७॥

5 अपि च—

जो जेण गुणेणऽहिओ, जेण विणा वा न सिज्झए जं तु ।
सो तेण तम्मि कज्जे, सव्वत्थामं न हावेइ ॥ १७९८ ॥

'यः' आचार्यादिः 'येन' प्रावचनिकत्वादिना गुणेन 'अधिकः' सातिशयः 'येन वा' विद्यासिद्धादिना विना यत् प्रवचनप्रत्यनीकशिक्षणादिकं कार्यं न सिध्यति सः 'तेन' गुणेन तस्मिन् 10 कार्ये 'सर्वस्थाम' सकलमपि वीर्यं न हापयति किन्तु सर्वया शक्त्या तत्र लगित्वा प्रवचनं प्रभावयतीति भावः । उक्तञ्च—

प्रावचनी धर्मकथी, वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च ।
जिनवचनज्ञश्च कविः, प्रवचनमुद्भावयन्त्येते ॥ ॥ १७९८ ॥

प्रवृत्तिद्वारमाह—

15 **साहम्मि-वायगाणं, खेम-सिवाणं च लब्भिइ पवित्तिं ।**
गच्छिहिति जहिं ताइं, होहिंति न वा वि पुच्छइ वा ॥ १७९९ ॥

तत्रान्येषां साधर्मिकाणां चिरदेशान्तरगतानां वाचकानां वा—आचार्याणां तत्र प्राप्तः प्रवृत्तिं लप्स्यते । तथा क्षेमं—परचक्राद्युपद्रवाभावः शिवं—व्यन्तरकृतोपद्रवाभावः तयोः, उपलक्षणत्वात् सुभिक्ष-दुर्भिक्षादीनां चागामिसंवत्सरभाविनां प्रवृत्तिं तत्र नैमित्तिकसाधूनां सकाशाद् लप्स्यते । 20 यदि वा यत्र देशे स्वयं गमिष्यति तत्र तानि क्षेमादीनि भविष्यन्ति न वा ? इति साधर्मिकादीन् पृच्छति ॥ १७९९ ॥ कार्योद्ग्राहद्वारद्वयमाह—

कुलमादीकज्जाइं, साहिस्सं लिंगिणो य सासिस्सं ।
जे लोगविरुद्धाइं, करेंति लोगुत्तराइं च ॥ १८०० ॥

कुलादीनि—कुल-गण-सङ्घसत्कानि कार्याणि तत्र गतः साधयिष्यामि । लिङ्गिनश्च तत्र गतः 25 'शासिष्यामि' हितोपदेशदानादिना शिक्षयिष्यामि, ये लिङ्गिनो लोकविरुद्धानि लोकोत्तरविरुद्धानि च प्रवचनोड्डाहकारीणि कार्याणि कुर्वन्तीति ॥ १८०० ॥

आह यद्येतानि कारणानि भवन्ति ततः किं कर्त्तव्यम् ? इत्याह—

एएहिँ कारणेहिं, पुव्वं पडिलेहिऊण अइगमणं ।
अद्धाणनिग्गयादी, लग्गा सुद्धा जहा खमओ ॥ १८०१ ॥

30 'एतैः' चैत्यपूजादिभिः कारणैरनुयानं प्रवेष्टव्यमिति निश्चित्य पूर्वं प्रत्युपेक्ष्य ततोऽतिगमनं कार्यम् । अथाध्वनिर्गताः—ते अध्वानमतिलङ्घ्य सहसैव तत्र प्राप्ताः, आदिशब्दादपूर्वोत्सवादिवक्ष्यमाणकारणपरिग्रहः, एवंविधैः कारणैरप्रत्युपेक्षितेऽपि क्षेत्रे गताः सन्तो यथोक्तां यतनां कुर्वाणा अपि यदि 'लग्नाः' अशुद्धभक्तादिग्रहणदोषमापन्नास्तथापि शुद्धाः । यथा 'क्षपकः' पिण्ड-

निर्युक्तौ प्रतिपादितचरितः शुद्धं गवेषयन्नपि निगूढबाह्याकारया तथाविधश्राद्धिकया च्छलितः सन्नाधाकर्मण्यपि गृहीते शुद्धः, अशठपरिणामत्वादिति **निर्युक्तिगाथा**समासार्थः ॥ १८०१ ॥

अथैनामेव विवृणोति—

नाऊण य अइगमणं, गीए पेसिंति पेहिउं कज्जे ।
उवसय भिक्खायरिया, बाहिं उब्भामगादीया ॥ १८०२ ॥ 5
सब्भाविक इयरे वि य, जाणंती मंडवाइणो गीया ।
सेहादीण य थेरा, वंदणजुत्तिं बहिं कहए ॥ १८०३ ॥

चैत्यपूजादिके कार्ये समुत्पन्नेऽनुयानक्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुं गीतार्थान् प्रेषयन्ति । ततो ज्ञात्वा सम्यक् क्षेत्रस्वरूपमतिगमनं कर्त्तव्यम् । किं पुनस्तत्र प्रत्युपेक्ष्यम्[3] ? इत्याह—मौलग्रामे उपाश्रयः, 'बहिः' बाह्यग्रामेषु च उद्भ्रामकाख्या भिक्षाचर्या, आदिशब्दात् तस्यां गच्छतामपान्तराले विश्रा- 10 मस्थानं मौलग्रामे च भिक्षा-विचारभूमिप्रभृतिकं प्रत्युपेक्ष्यम् । तथा सद्भाविकानितरांश्च मण्डपादीन् गीतार्था जानन्ति, यथा—अमी सद्भावतः स्वार्थं मण्डपाः कृताः, अमी तु संयतार्थं परं कैतवप्रयोगेणास्मानित्थं प्रत्याययन्ति, आदिग्रहणात् पीठिकादिपरिग्रहः । इत्थं तैः प्रत्युपेक्षिते सूरयः सबाल-वृद्धगच्छसहिता अनुयानक्षेत्रं प्रविशन्ति । स्थविराश्च बहिरेव वर्त्तमानाः शैक्षादीनां 'वन्दनयुक्तिं' पार्श्वस्थादिवन्दनविधिं कथयन्ति, मा भूदन्यथा तद्वन्दने तेषां 15 विपरिणाम इति ॥ १८०२ ॥ १८०३ ॥ अथ चैत्यवन्दनविधिमाह—

निस्सकडमनिस्से वा, वि चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि ।
वेलं च चेइयाणि य, नाउं एक्किक्किया वा वि ॥ १८०४ ॥

'निश्राकृते' गच्छप्रतिबद्धे 'अनिश्राकृते वा' तद्विपरीते चैत्ये सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते । अथ प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति, भूयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो 20 वेलां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैका स्तुतिर्दातव्येति ॥ १८०४ ॥

अथ समवसरणविषयं विधिमाह—

निस्सकडे ठाइ गुरू, कइवयसहिएयरा वए वसहिं ।
जत्थ पुण अनिस्सकडं, पूरिंति तहिं समोसरणं ॥ १८०५ ॥

निश्राकृते चैत्ये 'गुरुः' आचार्यः कतिपयैः परिणतसाधुभिः सहितश्चैत्यमहिमावलोकनार्थं 25 तिष्ठति, 'इतरे' शैक्षादयस्ते 'मा पार्श्वस्थादीन् भूयसा लोकेन पूज्यमानान् दृष्ट्वा तत्र गमनं कार्षुः' इति कृत्वा गुरुभिरनुज्ञाता वसतिं व्रजेयुः । यत्र पुनः क्षेत्रे अनिश्राकृतं चैत्यं तत्राचार्याः समवसरणं पूरयन्ति, सभामापूर्य धर्मकथां कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १८०५ ॥

आह किं संविग्नैस्तत्र धर्मकथा कार्या ? आहोश्विदसंविग्नैरपि ? उच्यते—

संविग्गेहि य कहणा, इयरेहिँ अपच्चओ न ओवसमो । 30

१ "मासियपारणगट्ठा०" इत्यादि २०९–१०–११ गाथात्रिकं पत्र ७४ ॥ २ **अथैतदेव भाव्यते—नाऊण** मो० ले० विना ॥ ३ °**पेक्षणीयम् ? इति चेद् अत आह—[मौलग्रामे] उपाश्रयो भिक्षाचर्या च 'बहिः' बाह्यग्रामेषु उद्भ्रामका,** भा° भा० ॥

पव्वज्जाभिमुहा वि य, तेसु वए सेहमादी वा ॥ १८०६ ॥

'संविग्नैः' उद्यतविहारिभिः कथना धर्मस्य कर्त्तव्या । कुतः ? इत्याह—इतरे–असंविग्नास्तैर्धर्मकथायां क्रियमाणायां श्रोतॄणामप्रत्ययो भवति, नैते यथा वादिनस्तथा कारिण इति । न च तेषाम् 'उपशमः' सम्यग्दर्शनादिप्रतिपत्तिर्भवति । येऽपि च प्रव्रज्याभिमुखाः शैक्षादयो 5 वा अद्याप्यपरिणतजिनवचनास्तेऽपि तेषु व्रजेयुः—शोभनं खल्वेतेऽपि धर्मं कथयन्तीति ॥१८०६॥ आह निश्राकृते चैत्ये यदि तदानीमसंविग्ना न भवन्ति ततः को विधिः ? इत्याह—

पूरिंति समोसरणं, अन्नासइ निस्सचेइएसुं पि ।
इहरा लोगविरुद्धं, सद्धाभंगो य सड्ढाणं ॥ १८०७ ॥

'अन्येषाम्' असंविग्नानामसति निश्राकृतेष्वपि चैत्येषु समवसरणं पूरयन्ति । इतरथा 'लोक- 10 विरुद्धं' लोकापवादो भवति—अहो ! अमी मत्सरिणो यदेवमन्यदीयं चैत्यम् इति कृत्वा नात्रोपविश्य धर्मकथां कुर्वन्ति । श्रद्धाभङ्गश्च श्राद्धानां भवति, तेषामत्यर्थमभ्यर्थयमानानामपि तत्र धर्मकथाया अकरणात् ॥ १८०७ ॥ अथ भिक्षाचर्यायां यतनामाह—

पुव्वपविट्ठेहिँ समं, हिंडंती तत्थ ते पमाणं तु ।
साभाविअभिक्खाओ, विदंतऽपुव्वा य ठवियादी ॥ १८०८ ॥

15 पूर्वप्रविष्टा नाम–पूर्वं ये क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रहितास्तैः समं भिक्षां हिण्डन्ते । तत्र च भिक्षाटतां त एव प्रमाणम्, नागन्तुकैस्तत्र शुद्धा-शुद्धगवेषणा कर्त्तव्या । ते च पूर्वप्रविष्टा इदं विदन्ति—यदेताः 'स्वाभाविकभिक्षाः' स्वार्थनिष्पादिताः, एतास्तु 'अपूर्वाः' संयतार्थं स्थापित-निक्षिप्तादयः ॥ १८०८ ॥ स्त्रीसङ्कुल-नाटकदर्शनयोर्यतनामाह—

वंदेण इंति निंति व, जुव मज्झे थेर इत्थिओ तेणं ।
20 **ठंति न य नाडएसुं, अह ठंति न पेह रागादी ॥ १८०९ ॥**

स्त्रीसङ्कुले वृन्देनायान्ति निर्गच्छन्ति च । ये च युवानस्ते मध्ये क्रियन्ते । यतः स्त्रियस्तेन पार्श्वेन 'स्थविराः' वृद्धा भवन्ति, मा भूवन् भुक्ता-भुक्तसमुत्था दोषा इति । यत्र नाटकानि निरीक्ष्यन्ते तत्र न तिष्ठन्ति । अथ कारणतस्तिष्ठन्ति ततः "न पेह" त्ति नर्त्तक्यादिरूपाणि न प्रेक्षन्ते । सहसा दृष्टिगोचरागतेषु च तेषु रागादीन्न कुर्वन्ति, तेभ्यश्च द्राग् दृष्टिं निवर्त्तयन्ति 25 ॥ १८०९ ॥ तन्तुजालादिषु विधिमाह—

सीलेह मंखफलए, इयरे चोयंति तंतुमादीसु ।
अभिजोयंति सवित्तिसु, अणिच्छि फेडंतऽदीसंता ॥ १८१० ॥

'इतरे' असंविग्ना देवकुलिका इत्यर्थः तान् तन्तुजाल-लूतापुटकादिषु सत्सु ते साधवो नोदयन्ति । यथा—'शीलयत' परिकर्मयत मङ्खफलकानीव मङ्खफलकानि देवकुलानि[1] । मङ्खो 30 नाम–चित्रफलकव्यग्रहस्तः, तस्य च यदि फलकमुज्ज्वलं भवति ततो लोकः सर्वोऽपि तं पूजयति, एवं यदि यूयमपि देवकुलानि भूयो भूयः सम्मार्जनादिना सम्यगुज्ज्वालयत ततो भूयान् लोको भवतां पूजा-सत्कारं कुर्यात् । अथ ते देवकुलिकाः सवृत्तिकाः–चैत्यप्रतिबद्धगृहे-क्षेत्रादिवृत्ति-

१ °नि । किमुक्तं भवति ?—यथा नाम कश्चिन्मङ्खः चित्र° भा० ॥ २ °हट्टादिवृ° भा० ॥

भोगिनस्ततस्तान् 'अभियोजयन्ति' गाढं निर्भर्त्सयन्ति, यथा—एकं तावद् देवकुलानां वृत्तिमुपजीवथ द्वितीयमेतेषां सम्मार्जनादिसारामपि न कुरुथ । इत्थमुक्ता अपि यदि तन्तुजालादीन्यपनेतुं नेच्छन्ति ततोऽदृश्यमानाः स्वयमेव 'स्फेटयन्ति' अपनयन्तीत्यर्थः ॥ १८१० ॥

क्षुल्लकविपरिणामसम्भवे यतनामाह—

उज्जलवेसे खुड्डे, करिंति उव्वट्टणाइचोक्खे अ ।　5
न य मुंचंतऽसहाए, दिंति मणुन्ने य आहारे ॥ १८११ ॥

क्षुल्लकान् 'उज्ज्वलवेषान्' पाण्डुरपट-चोलपट्टधारिणः उद्वर्त्तन-प्रक्षालनादिना च चोक्षान्—शुचिशरीरान् कुर्वन्ति । न च ते क्षुल्लकाः 'असहायाः' एकाकिनो मुच्यन्ते । वृषभाश्च तेषां 'मनोज्ञान्' स्निग्ध-मधुरानाहारानानीय ददति, **उरभ्रदृष्टान्तेन** च प्रज्ञापयन्ति ॥ १८११ ॥

तमेवाह—　10

उरभ्र-दृष्टान्तः

आतुरचिण्णाइं एयाइं, जाइं चरइ नंदिओ ।
सुक्कत्तणेहि जावेहि, एयं दीहाउलक्खणं ॥ १८१२ ॥

जहा एगो ऊरणगो पाहुणयनिमित्तं पोसिज्जइ । सो य पीणियसरीरो हलिद्दाइकयंगराओ कयकन्नचूलओ सुहंसुहेणं अभिरमइ । कुमारगा वि य तं नाणाविहेहिं कीडाविसेसेहिं कीलाविंति । तं च एवं लालिज्जमाणं दट्ठूण वच्छगो माऊए नेहेण गोवियं दोहएण य तयणुकंपाए 15 मुक्कमवि खीरं न पिबइ रोसेणं । ताए पुच्छिओ—वच्छ ! किं न धावसि ? । तेण भणियं—अम्मो ! एस नंदियगो इट्ठेहिं जवसजोगासणेहिं अलंकारविसेसेहि य अलंकारिओ पुत्त इव परिपालिज्जइ, अहं तु मंदभग्गो सुक्काणि तणाणि कयाइ लभामि, ताणि वि न पज्जत्तगाणि, एवं पाणियं पि, न य मं कोइ लालइ । ताए भन्नइ—पुत्त ! आउरचिन्नाइं एयाइं, जहा आउरो मरिउकामो जं मग्गइ पत्थं वा अपत्थं वा तं दिज्जइ एवमेसो वि नंदियओ पोसिज्जइ, 20 जया मारिज्जिहिइ तया पिच्छिहिसि । अन्नया सो वच्छगो तं नंदियगं पाहुणएसु आगएसु वहिज्जमाणं दट्ठुं तिसिओ वि माऊए थन्नं नाभिलसइ भएणं । ताए भन्नइ—किं पुत्त ! भयभीओ सि नेहेण पण्हुयं पि मं न पियसि ? । तेण भन्नइ—कतो मे थन्नाभिलासो ? नणु सो वराओ नंदियओ अज्ज पाहुणएहिं आगएहिं मम अग्गओ विणिग्गयजीहो लोलनयणो विस्सरं रसंतो मारिओ, तब्भया कओ मे पाउमिच्छा ? । ताए भण्णइ—नणु पुत्तय ! तया 25 चेव ते कहियं "आउरचिन्नाइं एयाइं" ति, एस तेसिं विवागो अणुपत्तो त्ति ॥

अथाक्षरार्थः—आतुरः–चिकित्साया अविषयभूतो रोगी, तस्य यथा मर्तुकामस्य पथ्यमपथ्यं वा दीयते एवमयमपि नन्दिको यानि मनोज्ञाहारजातानि चरति तानि आतुरचीर्णानि, अतो वत्स ! शुष्कतृणैः 'यापय' स्वशरीरं निर्वाहय, यत एतद् दीर्घायुषो लक्षणम् । एवमेतेऽप्यसंविग्नक्षुल्लका यद् मनोज्ञाहारादिभिरुपलाल्यन्ते तद् नन्दिकपोषणवद् द्रष्टव्यम् ॥ १८१२ ॥ 30

अथ निर्द्धर्मकार्येषु यतनामाह—

न मिलंति लिंगिकज्जे, अच्छंति व मेलिया उदासीणा ।

---

१ °नादिना सर्वथैव सा° भा० ॥

बिंति य निब्बंधम्मि, करेमु तिव्वं खु मे दंडं ॥ १८१३ ॥

यत्र लिङ्गिनामाकुष्टगृह-धनादिकार्याण्युपढौकन्ते तत्र प्रथमत एव न मिलन्ति । अथ तैर्बला-मोटिकया मील्यन्ते ततो मेलिता अप्युदासीना आसते । अथ ते ब्रवीरन्—कुरुतास्मदीयस्य व्यवहारस्य परिच्छेदम् । तत एवं निर्बन्धे तैः क्रियमाणे साधवो ब्रुवते—यद्यस्माकं पार्श्वाद् 5 व्यवहारपरिच्छेदं कारयिष्यथ तत उभयेषामपि भवतां 'तीव्रं दण्डम्' आगमोक्तप्रायश्चित्त-लक्षणं 'कुर्मः' करिष्याम इति ॥ १८१३ ॥

"अद्धाणनिग्गयादी" (गा० १८०१) इति पदं व्याख्यानयति—

अद्धाणनिग्गयादी, थाणुप्पाइयमहं व सोऊण ।
गेलन्न-सत्थवसगा, महाणदी तत्तिया वा वि ॥ १८१४ ॥

10 अध्वनिर्गताः—अध्वानमतिलङ्घ्य सहसैव तत्र प्राप्ताः, आदिशब्दादन्यदप्येवंविधं कारणं गृह्यते । स्थानौत्पातिकमहो नाम—तत्रापूर्वः कोऽप्युत्सवविशेषः सहसैव श्राद्धैः कर्तुमारब्धः तं वा श्रुत्वा । यदि वा ये क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुं प्रेष्यन्ते ते तदानीं ग्लाना-ऽग्लानप्रतिचरणव्यापृता वा । अथवा सार्थवशगाः—ते तत्र सार्थमन्तरेण गंतुं न शक्यते । महानदी वा काचिदपान्तराले तामभीक्ष्णमुत्तरतां बहवो दोषाः । तावन्मात्रा एव वा ते साधवो यावतां मध्यादेकस्याप्यन्यत्र 15 प्रेषणं न संगच्छते । अत एतैः कारणैरप्रत्युपेक्षितेऽपि प्रविशतां न कश्चिद् दोषः ॥१८१४॥

अत्र यतनामाह—

समणुन्नाऽसइ अन्ने, वि पुच्छिउं दाणमाइ वज्जिंति ।
दव्वाई पेहंता, जइ लग्गंती तह वि सुद्धा ॥ १८१५ ॥

यदि 'समनोज्ञाः' साम्भोगिकाः पूर्वप्रविष्टाः सन्ति ततस्तैः सह भिक्षामटन्ति । अथ न 20 सन्ति समनोज्ञास्ततः 'अन्यानपि' अन्यसाम्भोगिकानपि पृष्ट्वा दानश्राद्धकुलानि वर्जयन्ति, तेष्वा-धाकर्मादिदोषसम्भवात् । शेषेषु कुलेषु पर्यटन्तः "दव्वादी पेहंत" त्ति द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च शुद्धमन्वेषयन्तो यद्यपि कमपि स्थापनादिकं दोषं 'लगन्ति' प्राप्नुवन्ति तथापि शुद्धाः, क्षपकवदशठपरिणामतया श्रुतज्ञानोपयोगप्रवृत्तत्वादिति ॥ १८१५ ॥

गतं 'परिहरणा अनुयाने' इति द्वारम् । अथ पुरःकर्मद्वारमाह—

25 **पुरकम्मम्मि य पुच्छा, किं कस्साऽऽरोवणा य परिहरणा ।**
एएसिं तु पयाणं, पत्तेयपरूवणं वोच्छं ॥ १८१६ ॥

पुरःकर्मणि पृच्छा कर्त्तव्या । तद्यथा—किं पुरःकर्म ? कस्य वा पुरःकर्म ? का वा पुरःक-र्मण्यारोपणा ? कथं पुरःकर्मणः परिहरणं क्रियते ? एतेषां चतुर्णामपि पदानां प्रत्येकमहं प्ररू-पणां वक्ष्ये ॥ १८१६ ॥ तत्र किमिति द्वारस्य प्ररूपणां चिकीर्षुः प्रेर्यमुत्थापयन्नाह—

30 **जइ जं पुरतो कीरइ, एवं उड्डाण-गमणमादीणि ।**
होंति पुरेकम्मं ते, एमेव य पुव्वकम्मे वि ॥ १८१७ ॥

परः प्राह—यदि साधोर्भिक्षार्थिनो गृहाङ्गणमागतस्य यत् 'पुरतः' अग्रतः क्रियते तत्

---

१ "थाणुप्पाइयं णाम अपुव्वो महो अतिहिमहो वा" इति चूर्णौ विशेषचूर्णौ च ॥

पुरःकर्मेति व्यवह्रियते, एवं 'ते' तव यानि दायकस्योत्थान-गमनादीनि कर्माणि साधोरग्रतः क्रियमाणानि तानि सर्वाण्यपि पुरःकर्म भवति । अथ पूर्वार्थवाचकः पुरःशब्द इहाधिक्रियते तत आह—एवमेव च पूर्वकर्मण्यपि द्रष्टव्यम् । किमुक्तं भवति ?—'पुरः—साधोरागमनात् पूर्वं कर्म पुरःकर्म' इत्यस्यामपि व्युत्पत्तौ यान्युत्थानादीनि पूर्वं कृतानि तानि पुरःकर्म प्राप्नुवन्ति ॥ १८१७ ॥ यदि नामैवं ततः का नो हानिः ? इति चेद् उच्यते— 5

एवं फासुमफासुं, न विजए न वि य काइ सोही ते ।
हंदि हु बहूणि पुरतो, कीरंति कयाणि पुव्वं च ॥ १८१८ ॥

'एवं' द्विधाऽपि समासे क्रियमाणे प्राशुकमप्राशुकं वा 'न विद्यते' न ज्ञायते, सर्वस्या अप्युत्थान-गमनादिचेष्टायाः पुरःकर्मत्वप्राप्तेः । अज्ञायमाने च प्राशुका-ऽप्राशुकविभागे शोधिरपि काचिन्नास्ति 'ते' तवाभिप्रायेण, तस्याश्चाभावे चारित्रस्याप्यभाव इति भावः । 'हन्दि' इत्यु- 10 पप्रदर्शने । 'हुः' इत्यामन्त्रणे । ततश्चैवम्—हे आचार्याः ! बहूनि पुरतः क्रियन्ते बहूनि च दायकेन पूर्वं कृतानि तानि सर्वाण्यपि पुरःकर्म प्राप्नुवन्ति ॥ १८१८ ॥

अत्र सूरिः प्रतिवचनमाह—

कामं खलु पुरसद्दो, पच्चक्ख-परोक्खतो दुहा होइ ।
तह वि य न पुरेकम्मं, पुरकम्मं चोदग ! इमं तु ॥ १८१९ ॥ 15

'कामम्' अनुमतं खलुशब्दोऽवधारणे अनुमतमेवास्माकं यत् पुरःशब्दः प्रत्यक्ष-परोक्षयोर्द्विधा भवति—यदा 'पुरः—अग्रतः कर्म पुरःकर्म' इति व्युत्पत्तिराश्रीयते तदा प्रत्यक्षार्थवाचकः पुरःशब्दः, यदा तु 'पुरः—पूर्वं कर्म पुरःकर्म' तदा परोक्षार्थवाचकः । एवं पुरःशब्दस्य प्रत्यक्ष-परोक्षार्थवाचकतया यद्यप्युत्थानादीनि पुरःकर्म प्राप्नुवन्ति तथापि तानि पुरःकर्म न भवति, किन्तु पुरःकर्म हे नोदक ! 'इदं' वक्ष्यमाणं भवति ॥ १८१९ ॥ तदेवाह— 20

हत्थं वा मत्तं वा, पुव्विं सीतोदएण जं धोवे ।
समणट्ठाए दाया, पुरकम्मं तं विजाणाहि ॥ १८२० ॥

हस्तं वा मात्रकं वा 'पूर्वं' भिक्षादानात् प्रथमं 'शीतोदकेन' सचित्तजलेन यद् दाता श्रमणार्थं 'धावति' प्रक्षालयति तत् पुरःकर्म विजानीहि न शेषमुत्थान-गमनादिकम्, तथासमयपरिभाषया रूढत्वात् ॥ १८२० ॥ गतं किमिति द्वारम् । अथ कस्येति द्वारस्य प्ररूपणामाह— 25

कस्स त्ति पुरेकम्मं, जइणो तं पुण पभू सयं कुज्जा ।
अहवा पभुसंदिट्ठो, सो पुण सुहि पेस बंधू वा ॥ १८२१ ॥

कस्य पुनः पुरःकर्म भवति ? इति पृच्छायां निर्वचनं 'यतेः' तत्परिहारिणः साधोः पुरःकर्म मन्तव्यम्, तदितरेषां दोषत्वेनानभ्युपगमात् । 'तत् पुनः' पुरःकर्म 'प्रभुः' गृहस्वामी स्वयमेव कुर्यात्, अथवा 'प्रभुसन्दिष्टः' प्रभुणा आदिष्टः । 'स पुनः' प्रभुसन्दिष्टस्त्रिधा, तद्यथा[3]— 30

१ °त्पत्तौ तान्येवोत्थानादीनि पुरः° भा० ॥ २ खलु अस्माकं भा० कां० ॥ ३ °था—'सुहृत् प्रेष्यो बन्धुर्वा' सुहृद् भा० ॥

'सुहृद्' मित्रम्, 'प्रेष्यः' दासी-दासादि, 'बन्धुः' माता-भगिन्यादि ॥ १८२१ ॥

अथ पुरःकर्मणः सम्भवमाह—

दमए पमाणपुरिसे, जाए पंतीएँ ताण मोत्तूणं ।
सो पुरिसो तं वऽन्नं, तं दव्वं अन्नो अन्नं वा ॥ १८२२ ॥

5 सङ्खड्यां पङ्क्तिपरिवेषणे नियुक्तः कोऽपि 'द्रमकः' कर्मकरः, एतेन प्रभुसन्दिष्टग्रहणम्; 'प्रमाणपुरुषो वा' देयद्रव्यस्वामी, अनेन च प्रभुग्रहणम्; ततश्च दाता प्रभुर्वा प्रभुसन्दिष्टो वा यस्यां पङ्क्तौ पुरःकर्म कृतवान् तां मुक्त्वा यद्यन्यां पाङ्क्तिं सङ्क्रामति तदा यदि परिणतहस्तस्ततः कल्पते । अत्र चाष्टौ भङ्गा भवन्ति—स पुरुषस्तां पङ्क्तिमन्यां वा पाङ्क्तिं तद् द्रव्यमन्यद् द्रव्यं वा इत्यनेन चत्वारो भङ्गाः सूचिताः, एवमन्यः पुरुष इत्यनेनापि चत्वारो भङ्गाः सूच्यन्ते, एवमेते 10 अष्टौ भङ्गाः ॥ १८२२ ॥ एनामेवाष्टभङ्गीं स्पष्टयति—

सो तं ताए १ अन्नाएँ बिइओ २ अन्न तीएँ ३ दो वऽन्ने ४ ।
एमेव य अन्नेण वि, भंगा खलु होंति चत्तारि ॥ १८२३ ॥

स पुरुषस्तद् द्रव्यं तस्यां पङ्क्ताविति प्रथमः १ । स पुरुषस्तद् द्रव्यमन्यस्यां पङ्क्ताविति द्वितीयः २ । स पुरुषोऽन्यद् द्रव्यं तस्यां पङ्क्ताविति तृतीयः ३ । स पुरुषोऽन्यद् द्रव्यमन्यस्यां 15 पङ्क्ताविति चतुर्थः ४, अत्र च 'द्वे अपि' द्रव्य-पङ्क्ती अन्ये इति । एवमेव चान्यपुरुषपदेनापि चत्वारो भङ्गा भवन्ति । तद्यथा—अन्यः पुरुषस्तद् द्रव्यं तस्यां पङ्क्तौ ५ अन्यः पुरुषस्तद् द्रव्यमन्यस्यां पङ्क्तौ ६ अन्यः पुरुषोऽन्यद् द्रव्यं तस्यां पङ्क्तौ ७ अन्यः पुरुषोऽन्यद् द्रव्यमन्यस्यां पङ्क्तौ ८ ॥ १८२३ ॥ एतेषां मध्याद् येषु यथा कल्पते तदेतद् दर्शयति—

कप्पइ समेसु तह सत्तमम्मि तइयम्मि छिन्नवावारे ।
20 **अत्तद्वियम्मि दोसुं, सव्वत्थ य भयसु कर-मत्ते ॥ १८२४ ॥**

'समेषु' द्वितीय-चतुर्थ-षष्ठा-ऽष्टमेषु भङ्गेषु ग्रहीतुं कल्पते । तथाहि—द्वितीये तावदन्यस्यां पङ्क्तौ सङ्क्रान्तत्वेन तद् द्रव्यमपि वक्ष्यमाणनीत्या चतुर्थे तु द्रव्यान्तरत्वेनान्यस्यां पङ्क्तौ दीयमानत्वेन च षष्ठे तु पुरुषान्तरेणापरस्यां पङ्क्तौ तद् द्रव्यं दीयत इति हेतोः अष्टमे तु तिसृणामपि पुरुष-द्रव्य-पङ्क्तीनामन्यत्वेन परिस्फुटमेव कल्पत इति । तथा सप्तमेऽपि भङ्गे कल्पत एव, पुरु-25 षान्तरेणान्यद्रव्यस्य दीयमानत्वात् । तृतीये तु च्छिन्नव्यापारे सति कल्पते, यः साधुदानार्थं हस्त-मात्रकप्रक्षालनव्यापारः कृतः स यदा व्यापारान्तरेण च्छिन्नो भवति तदा तेनैव पुरुषेणान्यद् द्रव्यं तस्यां पङ्क्तौ दीयमानं कल्पत इति भावः । 'द्वयोः' प्रथम-पञ्चमयोर्यदि तद् द्रव्यं तेनात्मार्थितं भवति ततः कल्पते नान्यथा । 'सर्वत्र च' अष्टस्वपि भङ्गेषु कर-मात्रके 'भज' विकल्पय, यदि हस्तो वा मात्रकं वा सस्निग्धमुदकार्द्रं वा न भवति ततः कल्पते अन्यथा तु नेत्येवं 30 भजना कर्त्तव्येत्यर्थः ॥ १८२४ ॥ अथ किमर्थं पुरःकर्म करोति ? इत्याह—

अच्छुसिण चिक्कणे वा, कूरे धुविउं पुणो पुणो देइ ।

---

१ °रः 'प्रमाणपुरुषो वा' देयद्रव्यस्वामी यस्यां पङ्क्तौ भा० कां० ॥ २ नेयं गाथा विशेषचूर्णौ दृश्यते ॥

आयमिऊणं पुव्वं, दइज्ज जइणं पढमयाए ॥ १८२५ ॥

परिवेषणं कुर्वतो यद्यत्युष्णश्चिक्कणो वा कूरस्तत एकत्र हस्तदाहभयादपरत्र हस्ते विलग-नात् कुण्डकादिस्थितेनोदकेन स दाता पुनः पुनः 'धौत्वा' हस्तमार्द्रीकृत्य 'ददाति' परिवेषयतीत्यर्थः, साधोरप्यागतस्य तथैव यदि भिक्षां ददाति तदा पुरःकर्म भवति । यदि वा पूर्वम् 'आचम्य' हस्तं मात्रकं वा प्रक्षाल्य प्रथमत एव यतीनां दद्यात् ततोऽन्येभ्यः परिवेषयेत् तदाऽपि 5 पुरःकर्म भवति ॥ १८२५ ॥

एवं पुरःकर्मणि कृते यद् यत्र कल्पते तदेतद् **निर्युक्तिगाथया** दर्शयति—

दाऊण अन्नदव्वं, कोई दिज्जा पुणो वि तं चेव ।
अत्तट्ठिय-संकामियगहणं गीयत्थसंविग्गे ॥ १८२६ ॥

तद् अनेषणाकृतं द्रव्यं मुक्त्वा अन्यस्यान्यद् द्रव्यं 'दत्त्वा' परिवेष्य कश्चित् 'तदेव' अने-10 षणाकृतं द्रव्यं पुनरपि तस्यामन्यस्यां वा पङ्क्तौ साधूनां दद्यात्, एवं छिन्नव्यापारे आत्मार्थितं सत् कल्पते । अथवा "संकामिय" त्ति तदनेषणाकृतं द्रव्यं स दाता अन्यस्मै परिवेषयेत् स यदि दद्यात् तत एवं सङ्क्रामितं सत् कल्पते । एतच्च ग्रहणं गीतार्थस्यानुज्ञातम्, यतो गीतार्थ-स्तद् द्रव्यमित्थं गृह्णानोऽपि संविग्नो भवति ॥ १८२६ ॥ एतदेवान्त्यपदं[3] भाष्यकारो भावयति—

गीयत्थग्गहणेणं, अत्तट्ठियमाइ गिण्हई गीतो । 15
संविग्गग्गहणेणं, तं गिण्हंतो वि संविग्गो ॥ १८२७ ॥

गीतार्थग्रहणेन कृतेनैतद् ज्ञापितं यद् आत्मार्थितम्, आदिशब्दात् सङ्क्रामितं च तद् आगम-प्रमाणतो गीतार्थ एव गृह्णाति नागीतार्थः । संविग्नग्रहणेन तु 'तद्' आत्मार्थितादि गृह्णानोऽपि गीतार्थः संविग्नो भवति नासंविग्न इत्युक्तं भवति ॥ १८२७ ॥

इत्थं पुनः पुरतः कृतमपि न पुरःकर्म भवतीति दर्शयति— 20

पुरतो वि हु जं धोयं, अत्तट्ठाए न तं पुरेकम्मं ।
तं उदउल्लं ससिणिद्धगं व सुक्खे तहिं गहणं ॥ १८२८ ॥

यत् 'पुरतोऽपि' साधोरग्रतोऽप्यात्मार्थं धौतं तत् पुरःकर्म न भवति, किन्तु तद् उदकार्द्रं सस्निग्धं वा मन्तव्यम् । 'उदकार्द्रं' बिन्दुसहितम्, 'सस्निग्धं' बिन्दुरहितम् । तस्मिन्नुभयेऽपि 'शुष्के' परिणते ग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥ १८२८ ॥ पुरःकर्मोदकार्द्रयोर्विशेषमाह— 25

तुल्ले वि समारंभे, सुक्के गहणेक एक पडिसेहो ।
अन्नत्थ छूढ ताविय, अत्तट्ठे होइ खिप्पं तु ॥ १८२९ ॥

उदकार्द्र-पुरःकर्मणोस्तुल्येऽप्यप्कायसमारम्भे 'एकस्मिन्' उदकार्द्रे शुष्के सति ग्रहणं भवति 'एकस्मिन्' पुरःकर्मणि पुनः शुष्केऽप्यनात्मार्थिते ग्रहणस्य प्रतिषेधः । तथाहि—संयतार्थं द्वाभ्यां पृथक्पृथक्पङ्क्तौ पुरःकर्म कृतम्, तच्च परिणतम् उदकार्द्र-सस्निग्धौ न स्तः, परं येनात्मार्थितं 30 तस्य हस्तात् कल्पते, येन तु नात्मार्थितं तस्य हस्ताद् न कल्पते । एवं चिरकालिके पुरःकर्म-ण्युक्तम् । यत्र तु हस्तो मात्रकं वा तत्क्षणमेव 'अन्यत्र' तक्रादौ प्राशुकद्रव्ये प्रक्षिप्तमग्निना वा

१ °ऊण य पु° ता० ॥ २ °द् दर्श° भा० ॥ ३ °पदं भाव° भा० कां० ॥

तापितं तत्रात्मार्थिते क्षिप्रमपि ग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥ १८२९ ॥

गतं कस्येति द्वारम् । अथारोपणाद्वारमाह—

चाउम्मासुक्कोसे, मासिय मज्झे य पंचग जहन्ने ।
पुरकम्मे उदउल्ले, ससिणिद्धाऽऽरोवणा भणिया ॥ १८३० ॥

5 उदकसमारम्भे पुरःकर्मोत्कृष्टमपराधपदम्, उदकार्द्रं मध्यमम्, सस्निग्धं जघन्यम् । उत्कृष्टे चत्वारो मासा लघवः, मध्यमे लघुमासिकम्, जघन्ये पञ्चरात्रिन्दिवानि । एवं पुरःकर्मोदकार्द्र-सस्निग्धेषु यथाक्रममारोपणा भणिता ॥ १८३० ॥ अथ परिहरणाद्वारमाह—

परिहरणा वि य दुविहा, विहि-अविहीए अ होइ नायव्वा ।
पढमिल्लुगस्स सव्वं, बिइयस्स य तम्मि गच्छम्मि ॥ १८३१ ॥
10 **तइयस्स जावजीवं, चउथस्स य तं न कप्पए दव्वं ।**
तद्दिवस एगगहणे, नियट्टगहणे य सत्तमए ॥ १८३२ ॥

परिहरणाऽपि च द्विविधा—विधिपरिहरणा अविधिपरिहरणा च भवति ज्ञातव्या । अविधिपरिहरणा सप्तविधा—तत्र प्रथमस्य नोदकस्य सर्वमपि द्रव्यजातं स्वगच्छे परगच्छे च यावज्जीवमकल्पनीयम् १, द्वितीयस्य तु तस्मिन्नेव गच्छे यावज्जीवम् २, तृतीयस्य यावज्जीवं तस्यै-
15 वैकस्य साधोः सर्वमपि द्रव्यजातम् ३, चतुर्थस्य तु तद् द्रव्यमेकं यावज्जीवम् ४, पञ्चमस्य तु तद्दिवसं सर्वद्रव्याणि ५, षष्ठस्य तु तस्यैवैकद्रव्यस्य ग्रहणं न कल्पते ६, सप्तमस्य निवृत्तः सन् स एव साधुः परिणतेन हस्तेन ग्रहणं करोतीत्यभिप्रायः ७ ॥ १८३१ ॥ १८३२ ॥

अथैतेषामेव पराभिप्रायेण व्याख्यानमाह—

पढमो जावज्जीवं, सव्वेसिं संजयाण सव्वाणि ।
20 **दव्वाणि निवारेई, बीओ पुण तम्मि गच्छम्मि ॥ १८३३ ॥**

प्रथमो नोदको यस्मिन् गृहे पुरःकर्म कृतं तत्र यावदसौ पुरःकर्मकारी दाता यदर्थं च तत् पुरःकर्म कृतं तौ यावद् जीवतस्तावत् स्वगच्छ-परगच्छसत्कानां सर्वेषां संयतानां सर्वाणि द्रव्याणि निवारयति । द्वितीयः पुनस्तस्मिन् गच्छे सर्वेषामपि साधूनां यावज्जीवं सर्वद्रव्याणि निवारयति ॥ १८३३ ॥

25 **तइओ जावज्जीवं, तस्सेवेगस्स सव्वदव्वाइं ।**
वारेइ चउत्थो पुण, तस्सेवेगस्स तं दव्वं ॥ १८३४ ॥

तृतीयो ब्रवीति—यदर्थं पुरःकर्म कृतं तस्यैवैकस्य यावज्जीवं सर्वद्रव्याणि न कल्पन्ते । चतुर्थस्तु तदेवैकं द्रव्यं तस्यैवैकस्य यावज्जीवं वारयति ॥ १८३४ ॥

सव्वाणि पंचमो तद्दिणं तु तस्सेव छट्ठो तं दव्वं ।
30 **सत्तमओ नियट्टंतो, गिण्हइ तं परिणयकरम्मि ॥ १८३५ ॥**

पञ्चमो ब्रवीति—तदेवैकं दिनं सर्वाणि द्रव्याणि तदीयगृहे न कल्पन्ते । षष्ठो ब्रूते—तदेवैकं द्रव्यं तस्य गृहे तद्दिनं मा गृह्यताम् । सप्तमः प्राह—'परिणतकरे' परिणताप्काये सति हस्ते भिक्षामटित्वा निवर्त्तमानस्तत्रैव गृहे स एव साधुः सर्वद्रव्याणि गृह्णातु न कश्चिद् दोषः ॥१८३५॥

इत्थं परैरुक्ते सति सूरिराह—

एगस्स पुरेकम्मं, वत्तं सव्वे वि तत्थ वारिंति ।
दव्वस्स य दुल्लभता, परिचत्तो गिलाणओ तेहिं ॥ १८३६ ॥

'एकस्य' साधोरर्थाय पुरःकर्म यत्र 'वृत्तं' सञ्जातं तत्र ये सर्वेषामेकस्य वा सर्वद्रव्याणि उपलक्षणत्वादेकमपि द्रव्यं यावज्जीवं तद्दिनं वा वारयन्ति तैर्द्रव्यस्य ग्लानप्रायोग्यस्यान्यत्र 5 दुर्लभतया ग्लानः परित्यक्तो मन्तव्यः ॥ १८३६ ॥ एतदेव सविशेषमाह—

जेसिं एसुवएसो, आयरिया तेहि ऊ परिच्चत्ता ।
खमगा पाहुणगा वि य, सुव्वत्तमजाणगा ते उ ॥ १८३७ ॥

'येषां' यथाच्छन्दवादिनां 'एषः' सर्वद्रव्यग्रहणादिप्रतिषेधरूप उपदेशस्तैराचार्याः क्षपकाः प्राघूर्णकाश्च परित्यक्ता द्रष्टव्याः, तत्प्रायोग्यस्य घृतादिद्रव्यस्यान्यत्र दुर्लभत्वात् । ते च 'सुव्यक्तं' 10 परिस्फुटम् 'अज्ञाः' मूर्खाः, अतत्त्ववेदित्वात् । स्वच्छन्दप्ररूपणानिष्पन्नं चामीषां चतुर्गुरु प्रायश्चित्तम् ॥ १८३७ ॥ तत्र ये सर्वानपि साधून् परिहारं कारयन्ति ते स्वपक्षसाधनसमर्थं विधिमाहुः—

अद्धाणनिग्गयाई, उब्भामग खमग अक्खरे रिक्खा ।
मग्गण कहण परंपर, सुव्वत्तमजाणगा ते वि ॥ १८३८ ॥

यत्र गृहे पुरःकर्म कृतं तत्राध्वनिर्गतादयः 'उद्भ्रामका वा' बहिर्ग्रामे भिक्षाटनशीलाः 'अजा- 15 नन्तो मा प्रविक्षन्' इति कृत्वा क्षपकस्तत्र स्थाप्यते । अथ नास्ति क्षपकस्ततः कुड्यादावक्षराणि लिख्यन्ते, यथा—अत्र पुरःकर्म कृतम्, न केनापि भिक्षा ग्राह्येति । अथ तावक्षराणि लिखितुं न जानीतस्ततो रेखा कर्त्तव्या । अथ कृताऽपि सा केनापि भज्येत ततोऽपरेषां साधूनां मार्गणं कृत्वा मिलितानां कथनीयम्—अमुष्मिन् गृहे पुरःकर्म कृतम् । तेऽपि परम्परया सर्वसाधून् ज्ञापयन्ति । इत्थं ये ब्रुवते सुव्यक्तं तेऽप्यज्ञा मन्तव्याः ॥ १८३८ ॥ अथैतदेव भावयति— 20

उब्भामग-ऽणुब्भामग-सगच्छ-परगच्छजाणणट्ठाए ।
अच्छइ तहियं खमओ, तस्सऽसइ स एव संघाडो ॥ १८३९ ॥
जइ एगस्स वि दोसा, अक्खर न उ ताइँ सव्वतो रिक्खा ।
जइ फुसण संकदोसा, हिंडंता चेव साहंति ॥ १८४० ॥

उद्भ्रामकाणां—बाह्यग्रामे भिक्षाटनं विधायापर्याप्ते तत्रैव भिक्षामटताम् अनुद्भ्रामकाणां—मौल- 25 ग्रामे भिक्षापरिभ्रमणशीलानां स्वगच्छीयानां परगच्छीयानां च सर्वेषां ज्ञापनार्थं क्षपकस्तत्र गृहे निषण्णस्तिष्ठति । स च यो यः सङ्घाटकस्तत्रागच्छति तस्य तस्य कथयति—अत्र पुरःकर्म कृतं वर्तते । अथ नास्ति क्षपकः पारणकं वा तस्य तद्दिने ततो यदर्थं पुरःकर्म कृतं स एव सङ्घाटकस्तत्र तिष्ठति ॥ १८३९ ॥

अथ तयोरेकः प्रथम-द्वितीयपरीषहपीडितो न शक्नोति स्थातुम् ततः स प्रतिश्रयं व्रजति 30 द्वितीयस्तु तत्रास्ते । अथैकस्य तस्य तिष्ठतः स्त्रीसमुत्थादयो दोषाः ततः कुड्यादिषु पुरःकर्म-करणसूचकान्यक्षराणि लिख्यन्ते । अथ 'न तु' नैव 'तानि' अक्षराणि सर्वेऽपि लिखितुं जानते

१ सुत्तत्थम° डे० ॥

ततः साधुजनसाङ्केतिकी रेखा करणीया । यदि तस्याः 'स्पर्शना' पादोपघातेन मर्दना तद्विषया आशङ्कादोषा भवेयुः, बहुवचननिर्देशादन्योऽपि रेखां करोतीत्याद्याशङ्कापरिग्रहः, ततस्तावेव साधू भिक्षामटन्तावपरेषां साधूनां कथयतः, तेऽपि हिण्डमाना एव परम्परया सर्वसाधूनां कथयन्ति । इत्थं येषां परिहरणविधिस्ते सुव्यक्तमज्ञा मन्तव्याः ॥ १८४० ॥ उपसंहरन्नाह—

5 **एसा अविही भणिया, सत्तविहा खलु इमा विही होइ ।**
तत्थाई चरिमदुए, अत्तट्ठियमाइ गीयस्स ॥ १८४१ ॥

एषा अविधिपरिहरणा सप्तविधा भणिता । 'इयं तु' वक्ष्यमाणा विधिपरिहरणा भवति । सा चाष्टविधा । 'तत्र' अष्टानां भङ्गानां मध्याद् यदाद्यं पदं यच्च चरमम्—अन्तिमं प्रकारद्वयं तेषु त्रिषु भेदेषु आत्मार्थिते आदिशब्दात् सङ्क्रामिते च सति गीतार्थस्य ग्रहणं भवति । एतच्च 10 यथास्थानं भावयिष्यते ॥ १८४१ ॥ के पुनस्तेऽष्टौ भेदाः ? उच्यन्ते—

एगस्स बीयगहणे १, पसज्जणा तत्थ होइ २ कप्पट्ठी ३ ।
वारण ललियासणिओ ४, गंतूणं ५ कम्म ६ हत्थ ७ उप्फोसे ८ ॥ १८४२ ॥

"एगस्से"ति विभक्तिव्यत्ययादेकेन पुरःकर्मणि कृते यदि द्वितीयो ददाति तदा तस्य द्वितीयस्य हस्ताद् ग्रहणे विधिर्वक्तव्यः १ । तथा "पसज्जण" त्ति अगीतार्थाभिप्रायेण "तत्थ" 15 त्ति 'तत्र' द्वितीयेऽपि दायके 'प्रसजना' प्रसङ्गदोषो भवतीति वक्तव्यम् २ । "कप्पट्ठि" त्ति 'कल्पस्थिकाः' तरुणस्त्रियः केलिप्रियतया अभीक्ष्णं पुरःकर्म यथा कुर्वन्ति तथा निरूपणीयम् ३ । "वारण ललियासणिओ" त्ति यदि साधुः 'त्वं मा देहि एषा दास्यति' इत्यविधिना पुरःकर्मकारिणीं वारयति तदा ललिताशनिक इति[3] तया यथा गण्यते तथा वक्तव्यम् ४ । "गंतूणं" ति 'गत्वा प्रतिनिवृत्तायास्मै दास्यामि' इति बुद्ध्या यदि दाता हस्तगृहीतया भिक्षया तिष्ठति तदा न कल्पते[4] 20 इति वाच्यम् ५ । "कम्मे" त्ति द्रव्यभावभेदभिन्नं पुरःकर्म यथा भवति तथा दर्शनीयम् ६ । "हत्थ" त्ति तत्र पुरःकर्मणि किं हस्ते उपघातः ? उत मात्रके ? इत्यादि चिन्तनीयम् ७ । "उप्फोसे" त्ति उत्स्पर्शनं—छन्दनं तद् वस्त्रविषयं वक्तव्यम् इति द्वारगाथासमासार्थः ॥१८४२॥

अथ विस्तरार्थमभिधित्सुराह—

एगेण समारद्धे, अन्नो पुण जो तहिं सयं देइ ।
25 **जयऽजाणगा भवंती, परिहरियव्वं पयत्तेण ॥ १८४३ ॥**

'एकेन' दायकेन पुरःकर्मणि समारब्धे साधुना प्रतिषिद्धे तद् द्रव्यं यद्यन्यः स्वयमेव कश्चिद् ददाति तदा ते साधवो यदि 'अज्ञाः' अगीतार्था अगीतार्थमिश्रा वा भवन्ति ततः परिहर्तव्यं प्रयत्नेन ॥ १८४३ ॥ इदमेव व्यतिरेकेणाह—

---

१ तत्र यदाद्यं मो० ले० विना ॥ २ यद्यन्यो ददाति तदा किं कल्पते ? न वा ? इति वक्तव्यं विधिर्वक्तव्यः । तृतीयोऽपि दाता यदि पुरःकर्म करोति तदा तत्र 'प्रसजना' प्रसङ्गदोषो भवति तां च 'कल्पस्थिकाः' तरुणस्त्रियः कुर्वन्ति । "वारण भा० ॥ ३ °ति गण्यते ४ । "गं° मो० ले० विना ॥ ४ °ते ५ । "क° मो० ले० विना ॥ ५ °कर्म भवति ६ । "ह° मो० ले० विना ॥ ६ °त्सुः प्रथमतः एकेन इति द्वारं विवृणोति भा० ॥ ७ °दा यदि मो० ले० विना ॥ ८ °व स्पष्टतरमाह भा० ॥

समणेहिं अभणंतो, गिहिभणिओ अप्पणो व छंदेणं ।
मोत्तु अजाणग मीसे, गिण्हंति उ जाणगा साहू ॥ १८४४ ॥

पुरःकर्मकारिणि प्रतिषिद्धे 'श्रमणैः' साधुभिरभण्यमानो यद्यन्यो दाता गृहिणा केनापि भणित आत्मनो वा 'छन्देन' अभिप्रायेण ददाति तदा मुक्त्वा 'अज्ञान्' अगीतार्थान् 'मिश्रांश्च' अगीतार्थमिश्रान् 'ज्ञायकाः' गीतार्थास्तद् द्रव्यमात्मार्थितं गृह्णन्ति ॥ १८४४ ॥ अथ किमर्थम- 5 गीतार्थेषु न गृह्यते ? इति सम्बन्धायातं प्रसजनाद्वारं विवृण्वन् तावदगीतार्थाभिप्रायमाह—

अम्हट्ठसमारद्धे, तदन्नवऽण्णेण किह णु निद्दोसं ।
सविसन्नाहरणेणं, मुज्झइ एवं अजाणंतो ॥ १८४५ ॥

अस्माकमर्थायाप्काये समारब्धे सति दायकेन यद् द्रव्यं गृहीतं तद् अन्येन दीयमानं कथं नु निर्दोषम् ? सदोषमेवेति भावः । कुतः ? इत्याह—'**सविषान्नाहरणेन**' सविषं यद् अन्नं 10 तद्दृष्टान्तेन । यथा हि वैरिणोऽर्थाय केनचिद् विषयुक्तं भक्तं कृतं तद् अन्येन दीयमानं किं सदोषं न भवति ? एवमस्मदर्थमुदकस्यारम्भं कृत्वा या भिक्षा गृहीता तां यद्यन्यो ददाति तदा किं दोषो न प्रसजति ? इति । एवमजानन्नगीतार्थो मुह्यति, न पुनर्भावयति, यथा—तद् अन्येन दीयमानं पुरःकर्मैव न भवति । यत एवमतोऽगीतार्थेषु मिश्रेषु वा परिहर्त्तव्यम् ॥ १८४५ ॥

गीतार्थेषु विधिमाह— 15

एगेण समारद्धे, अन्नो पुण जो तहिं सयं देइ ।
जइ जाणगा उ साहू, परिभोत्तुं जे सुहं होइ ॥ १८४६ ॥

एकेन पुरःकर्मणि समारब्धे यद्यन्यः स्वयं ददाति यदि च 'ज्ञायकाः' गीतार्थाः साधवस्ततः परिभोक्तुं "जे" इति पादपूरणे सुखं भवति, परिभोक्तव्यं तदिति भावः ॥१८४६॥ अथवा—

गीयत्थेसु वि भयणा, अन्नो अन्नं व तेण मत्तेणं । 20
विप्परिणयम्मि कप्पइ, ससिणिद्धुदउल्ल पडिकुट्ठा ॥ १८४७ ॥

गीतार्थेष्वपि भजना कार्या । कथम् ? इत्याह—'अन्यः' पुरुषोऽन्यद् वा तद् वा द्रव्यं 'तेन' पुरःकर्मकृतेन मात्रकेण यदि ददाति तदा विपरिणतेऽप्काये आत्मार्थिते च सति कल्पते । यदि तु सस्निग्धमुदकार्द्रं वा दायकस्य पाणितलं भवति ततः प्रतिकुष्टा सा भिक्षा, न कल्पत इत्यर्थः ॥ १८४७ ॥ अथ कल्पस्थिकाद्वारं व्याख्याति— 25

तरुणीउ पिंडियाओ, कंदप्पा जइ करे पुरेकम्मं ।
पढम-बिइयासु मोत्तुं, सेसे आवज्ज चउलहुगा ॥ १८४८ ॥

काश्चित् 'तरुण्यः' युवतयः 'पिण्डिताः' एकत्र मिलिताः साधुं समायान्तं दृष्ट्वा परस्परं जल्पन्ति—'एतेषां तावदेतदर्थं धौतेन हस्तेन मात्रकेण वा दीयमानं न कल्पते, अतः पश्यामस्तावदेनम्, अस्माभिः खलीकृतः किमेष करोति ?' इत्येकया तासां मध्यादुत्थाय पुरःकर्म 30 कृतम्, ततः साधुः प्रतिनिवर्त्तितुं लग्नः; द्वितीया ब्रवीति—प्रतीक्षस्व भगवन्! अहं ते दास्यामि; ततो भूयोऽप्यागतस्य तस्य तयाऽपि पुरःकर्म कृतम्; ततः प्रतिनिवर्त्तमानं यदि तृतीया काचि-

१ °र्थो गृह्णन्ति ॥१८४४॥ गतम् "एकेन द्वितीयग्रहणे" इति द्वारम् । अथ किमर्थं° भा० ॥

दाकारयति तदा ज्ञातव्यम्, यथा—एता मां खलीकुर्वन्ति; अतो न प्रतिनिवर्त्तितव्यम्। अत एवाह—यदि ताः कन्दर्पात् पुरःकर्म कुर्वीरन् ततः प्रथम-द्वितीये तरुण्यौ मुक्त्वा शेषाभिराकारितः प्रतिनिवर्त्तमान आपद्यते चतुर्लघुकम् ॥ १८४८ ॥

अथ वारणललिताशनिकद्वारं व्याचष्टे—

5 **पुरकम्मम्मि कयम्मी, जइ भणइ मा तुमं इमा देउ।**
संकापदं व होज्जा, ललितासणिओ व सुव्वत्तं ॥ १८४९ ॥

पुरःकर्मणि कृते यदि साधुना दात्री भण्यते 'मा दास्त्वम् इयं ददातु' ततः सा चिन्तयति—अहं विरूपा वृद्धा वा अतो नास्मै प्रतिभामि, इयं तु सुरूपा यौवनमभिरूढा प्रतिभासते। शङ्कापदं वा तस्याश्चेतसि भवेत्—किमेष एतया सह घटितो यदेवमस्याः पार्श्वाद्
10 भिक्षां ग्रहीतुमिच्छति ? । यदि वा ब्रूयात्—भवान् सुव्यक्तं ललिताशनिको लक्ष्यते यदेवं यथाभिलषितां परिवेषिकामभिकाङ्क्षसि । ◁ अत इयं ददातु मा त्वमिति न वक्तव्यम् ▷ ॥१८४९॥

अथ गत्वेतिद्वारं व्याख्यानयति—

गंतूण पडिनियत्तो, सो वा अन्नो व से तयं देइ।
अन्नस्स व दिज्जिहिई, परिहरियव्वं पयत्तेणं ॥ १८५० ॥

15 कृतपुरःकर्मा दायको भिक्षां ददानः साधुना प्रतिषिद्धश्चिन्तयति—'यदैष साधुरस्यां गृहपङ्क्तौ गत्वा प्रतिनिवृत्तः समायास्यति तदा दास्यामि' इति तद् द्रव्यं स वा अन्यो वा दायकः "से" तस्य साधोर्ददाति तदा न कल्पते। अथ यद्येष न गृह्णाति ततः 'अन्यस्य' साधोर्दास्यते इति सङ्कल्पयति ततस्तेनापि परिहर्त्तव्यं तद् भक्तं प्रयत्नेन। एषा निर्युक्तिगाथा ॥ १८५० ॥

अस्या एव भाष्यकारो व्याख्यानमाह—

20 **पुरकम्मम्मि कयम्मी, पडिसिद्धो जइ भणिज्ज अन्नस्स।**
दाहं ति पडिनियत्ते, तस्स व अन्नस्स व न कप्पे ॥ १८५१ ॥

पुरःकर्मणि कृते प्रतिषिद्धो दायको यदि भणेत्—अन्यस्मै साधवे दास्यामीति। ततः प्रतिनिवृत्तस्य तस्य वा अन्यस्य वा न कल्पते ॥ १८५१ ॥ तथा—

भिक्खयरस्सऽन्नस्स व, पुव्वं दाऊण जइ दए तस्स।
25 **सो दाया तं वेलं, परिहरियव्वो पयत्तेणं ॥ १८५२ ॥**

पुरःकर्मणि कृते पूर्वमन्यस्य भिक्षाचरस्य भिक्षां दत्त्वा पश्चादच्छिन्नव्यापारः 'तस्य' साधोर्भिक्षां दद्यात्, स दाता तस्यां वेलायां प्रयत्नेन परिहर्त्तव्य इति ॥ १८५२ ॥

अमुमेवार्थं किञ्चिद्विशेषयुक्तमाह—

अन्नस्स व दाहामी, अण्णस्स व संजयस्स न वि कप्पे।
30 **अत्तट्ठिए व चरगाइणं च दाहं ति तो कप्पे ॥ १८५३ ॥**

अन्यस्मै वा साधवे दास्यामीति यदि सङ्कल्पयति तदा अन्यस्यापि संयतस्य नैव कल्पते।

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० त० डे० नास्ति ॥ २ °षा पुरातना गा° भा० कां०। "गंतूण पडिनियत्तो० गाहा पुरातना" इति विशेषचूर्णौ ॥ ३ °ष व्या° भा० कां० ॥

अथ आत्मार्थयति 'चरकादीनां वा दास्यामि' इति सङ्कल्पयति ततः परिणते हस्ते मात्रके वा कल्पते ॥ १८५३ ॥ अथ कर्मेति द्वारं विवृणोति—

दव्वेण य भावेण य, चउक्कभयणा भवे पुरेकम्मे ।
सागरिय भावपरिणय, तइओ भावे य कम्मे य ॥ १८५४ ॥
सुद्धो चउत्थ भंगो, मज्झिल्ला दोण्णि वी पडिकुट्ठा ।
संपत्तीइ वि असती, गहणपरिणते पुरेकम्मं ॥ १८५५ ॥

पुरःकर्म-द्वारम्

5

द्रव्येण च भावेन च 'चतुष्कभजना' चतुर्भङ्गीरचना पुरःकर्मणि भवति । तद्यथा—द्रव्यतः पुरःकर्म न भावतः १ भावतः पुरःकर्म न द्रव्यतः २ द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि पुरःकर्म ३ न द्रव्यतो न भावतः पुरःकर्म ४ । अथामीषां भावना—"सागरिय" त्ति ये शौचवादिनोऽभाविताश्च गृहस्थास्ते पुरःकर्मणि कृते यदि न गृह्यते ततः 'अशुचयोऽमी' इति मन्येरन्; इत्थं सागारिक- 10 भयात् पुरःकर्मकृतेन हस्तादिना भक्तादिकं गृहीत्वाऽपि परिष्ठापयतो द्रव्यतः पुरःकर्म भवति न भावत इति । "भावपरिणय" त्ति भिक्षामवतरन् 'पुरःकर्मकृतमपि भक्तादिकं ग्रहीष्ये' इति भावेन परिणतस्तथापि पुरःकर्मकृतं न लब्धमिति भावतः पुरःकर्म न द्रव्यत इति । "तइओ भावे य कम्मे य" त्ति 'पुरःकर्मकृतं ग्रहीष्यामि' इति भावपरिणतो भिक्षामवतीर्णः प्राप्तं च तेन पुरः-कर्मकृतमिति[3] तृतीयभङ्गो द्रष्टव्यः ॥ १८५४ ॥   15

चतुर्थस्तु [भङ्गः] पुरःकर्म प्रतीत्योभयथाऽपि शून्यः, अयं चात्र निरवद्यः प्रतिपत्तव्यः । 'मध्यमौ' द्वितीय-तृतीयभङ्गौ द्वावपि 'प्रतिक्रुष्टौ' प्रतिषिद्धौ, भावस्याविशुद्धत्वात् । प्रथमभङ्गस्तु शुद्ध इव मन्तव्यः, प्रयोजनापेक्षत्वात् । द्वितीयभङ्गे तु "संपत्तीइ वि असई गहणपरिणए पुरे-कम्मं" ति द्रव्यतः सम्प्राप्तावसत्यामपि भावतो ग्रहणपरिणतस्य पुरःकर्म भवति ॥ १८५५ ॥

अस्यैव **निर्युक्तिगाथाद्वयस्य** भावार्थमाक्षेप-परिहाराभ्यां स्पष्टयितुमाह—   20

पुरकम्मम्मि कयम्मी, जइ गिण्हइ जइ य तस्स तं होइ ।
एवं खु कम्मबंधो, चिट्ठइ लोए व बंभवहो ॥ १८५६ ॥

पुरःकर्मणि कृते यदि गृह्णाति, यदि च 'तस्य' यतेः 'तत्' पुरःकर्मग्रहणं प्रति भावो भवति तदा तृतीयभङ्गो भवतीति वाक्यशेषः । आह पुरःकर्मदोषस्तावद् दायकस्य न भवति, कृतोऽपि चासौ प्रथमभङ्गे साधोर्गृह्णतोऽपि यदि न भवति, एवं 'खुः' अवधारणे पुरःकर्मकृतः कर्मबन्धो दायक- 25 ग्राहकयोरस्थितस्तटस्थ एव तिष्ठति, यथा लोके **ब्रह्मवध** इति । [एत्थ] इमं लोइयं उदाहरणं—

इंदेण **उडंकरिसिपत्ती** रूववती दिट्ठा । तओ अज्झोववन्नो तीए समं अहिगमं गतो सो तओ निग्गच्छंतो रिसिणा दिट्ठो । रुट्ठेण रिसिणा तस्स सावो दिन्नो । जम्हा तुमे अगम्मा रिसि-

१ °ओ दव्वे य भावे य ता० ॥ २ भवेत् । त° मो० ले० ॥ ३ °कर्मेति तृतीयो भङ्गः ॥ १८५४ ॥ चतु° मो० ले० विना ॥

४ °व्यः, यतस्तत्र प्रयोजनापेक्षतया द्रव्यतः पुरःकर्मणि सम्प्राप्तावपि भावतो न सम्प्राप्तः । द्वितीयभङ्गे तु द्रव्यतः "असइ" त्ति सम्प्राप्ताव[सत्याम]पि भावतो ग्रहण-परिणतस्य पुरःकर्म भवति ॥ १८५५ ॥ तृतीयभङ्गस्य परिस्फुटतरं व्याख्यानमाह—भा० ॥

पत्ती अभिगया तम्हा ते बंभवज्झा उवट्ठिया । सो तीए भीओ कुरुखेत्तं पविट्ठो । सा बंभवज्झा कुरुखेत्तस्स पासओ भमइ । सो वि तओ तब्भया न नीति । इंदेण विणा सुन्नं इंदट्ठाणं । ततो सव्वे देवा इंदं मग्गमाणा जाणिऊण कुरुखेत्ते उवट्ठिया भणंति—एहि, सणाहं कुरु देवलोगं । सो भणइ—मम इओ निग्गच्छंतस्स बंभवज्झा लग्गइ । तओ सा देवेहिं बंभवज्झा 5 चउहा विहत्ता—एक्को विभागो इत्थीणं रिउकाले ठिओ, बिइओ उदगे काइयं निसिरंतस्स, तइओ बंभणस्स सुरापाणे, चउत्थो गुरुपत्तीए अभिगमे । सा बंभवज्झा एएसु ठिया । इंदो वि देवलोगं गओ । एवं तुब्भं पि पुरेकम्मकओ कम्मबंधदोसो ब्रह्महत्यावद् वेगलो भवति ॥ १८५६ ॥ पर एवाह—

संपत्तीइ वि असती, कम्मं संपत्तिओ वि य अकम्मं ।

10 एवं खु पुरेकम्मं, ठवणामित्तं तु चोएइ ॥ १८५७ ॥

यदि सम्प्राप्तावसत्यामपि द्वितीयभङ्गे साधोः पुरःकर्म भवति, सम्प्राप्तावपि च प्रथमभङ्गे यदि 'अकर्म' पुरःकर्म न भवति, ततः एवं 'खुः' अवधारणे इत्थमेव मदीयमनसि प्रतिष्ठितं यदेतत् पुरःकर्म तत् स्थापनामात्रमेव, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् प्ररूपणामात्रमेवेदमिति 'नोदयति' प्रेरयति ॥ १८५७ ॥ अत्रोच्यते—यत् तावदुक्तम्—"एवं पुरःकर्मकृतः कर्मबन्धस्तटस्थ एव 15 तिष्ठति" (गा० १८५६) तत्र तिष्ठतु नाम, न काचिदस्माकं क्षतिरुपजायते, तथा चात्र त्वदुक्तमेव दृष्टान्तमनूद्यास्माभिः स्वाभिमतमर्थं साधयितुमिदमुच्यते—

इंदेण बंभवज्झा, कया उ भीओ अ तीएँ नासंतो ।

तो कुरुखेत्त पविट्ठो, सा वि बहिं पडिच्छए तं तु ॥ १८५८ ॥

निग्गय पुणो वि गिण्हे, कुरुखेत्तं एव संजमो अम्हं ।

20 जाहे ततो नीइ जीवो, घेप्पइ तो कम्मबंधेणं ॥ १८५९ ॥

इन्द्रेण ब्रह्महत्या कृता, ततो भीतः सन् तस्या नश्यन् कुरुक्षेत्रं प्रविष्टः । साऽपि ब्रह्महत्या 'तम्' इन्द्रं बहिः प्रतीक्षते । यदाऽसौ कुरुक्षेत्रान्निर्गच्छति ततो निर्गतं तमिन्द्रं पुनरपि ब्रह्महत्या गृह्णाति । एवमस्माकमपि संयमः कुरुक्षेत्रम्, कर्मबन्धस्तु ब्रह्महत्यासदृशः, ततो यदा संयमकुरुक्षेत्राद् द्वितीय-तृतीयभङ्गयोरशुभाध्यवसायपरिणतो जीवो निर्गच्छति ततो गृह्यतेऽसौ कर्मबन्धेन 25 ब्रह्महत्याकल्पेन, अनिर्गतस्तु प्रथम-चतुर्थभङ्गयोर्न गृह्यते ॥ १८५८ ॥ १८५९ ॥ यच्चोक्तम्—"स्थापनामात्रं पुरःकर्म" (१८५७) तदपि न सङ्गच्छते, कुतः ? इति चेद् उच्यते—

जे जे दोसाययणा, ते ते सुत्ते जिणेहिँ पडिकुट्ठा ।

ते खलु अणायरंतो, सुद्धो इहरा उ भइयव्वो ॥ १८६० ॥

यानि यानि दोषाणां—प्राणातिपातादीनामायतनानि—स्थानानि पुरःकर्मप्रभृतीनि तानि तानि 30 सूत्रे 'जिनैः' भगवद्भिः 'प्रतिक्रुष्टानि' निषिद्धानि । अतः 'तानि खलु' दोषायतनानि अनाचरन् साधुः शुद्धो मन्तव्यः । 'इतरथा तु' समाचरन् 'भक्तव्यः' विकल्पयितव्यः ॥ १८६० ॥

१ °भङ्गे यथैव पुरः° भा० ॥ २ न कदाचिद्° भा० विना ॥ ३ °स्तु न गृह्यते, प्रथमचतुर्थभङ्गयोरित्यर्थः ॥ १८५८ ॥ भा० ॥

परः प्राह—

का भयणा जइ कारणि, जयणाएँ अकप्प किंचि पडिसेवे ।
तो सुद्धो इहरा पुण, न सुज्झए दप्पओ सेवं ॥ १८६१ ॥

का पुनः 'भजना ?' विकल्पना ? । सूरिराह—कारणे यतनया पुरःकर्मादि किञ्चिदकल्प्यं यदि प्रतिसेवेत ततः शुद्धः । 'इतरथा पुनः' अयतनया दर्पतो वा सेवमानो न शुध्यति 5 ॥ १८६१ ॥ अथ पुरःकर्मवर्जने कारणमुपदर्शयति—

समणुन्नापरिसंकी, अवि य पसंगं निसेह वारिंता ।
गिण्हंति असढभावा, सुविसुद्धं एसियं समणा ॥ १८६२ ॥

समनुज्ञा नाम—पुरःकर्मकृतं गृह्णतामप्कायविराधनानुमतिस्तत्परिशङ्किनः—तद्दोषभीताः पुरःकर्म परिहरन्ति । अपि च यदि पुरःकर्मकृतां भिक्षां ग्रहीष्यामस्ततो गृहिणां भूयः पुरःकर्म-10 करणे प्रसङ्गो भवति अतस्तं 'वारयन्तः' तदग्रहणेनार्थात् प्रतिषेधयन्तोऽशठभावाः सन्तः श्रमणाः सुविशुद्धमेषणीयं गृह्णन्ति ॥ १८६२ ॥ अथ हस्तद्वारं विवृणोति—

किं उवघातो हत्थे, मत्ते दव्वे उदाहु उदगम्मि ।
तिन्नि वि ठाणा सुद्धा, उदगम्मि अणेसणा भणिया ॥ १८६३ ॥

शिष्यः प्रश्नयति—पुरःकर्मणि कृते किं हस्ते 'उपघातः' अनेषणीयता ? उत मात्रके ? 15 आहोश्विद् द्रव्ये ? उताहो उदके ? । सूरिराह—हस्त-मात्रक-द्रव्याणि त्रीण्यपि स्थानानि 'शुद्धानि' नैतान्यनेषणीयानि, किन्तूदकेऽनेषणीयता भणिता ॥ १८६३ ॥ अत्रैवोपपत्तिमाह—

जम्हा तु हत्थ-मत्तेहिँ कप्पती तेहिँ चेव तं दव्वं ।
अत्तट्ठिय परिभुत्तं, परिणत तम्हा दगमणेसिं ॥ १८६४ ॥

यस्मात् ताभ्यामेव हस्त-मात्रकाभ्यां तदेव द्रव्यमात्मार्थितं सत् परिभुक्तशेषं वा परिणतेऽ-20 प्काये कल्पते, तस्मादुदकमेवानेषणीयं न हस्त-मात्रक-द्रव्याणीति ॥ १८६४ ॥

एवमशनादिविषयो विधिरुक्तः । सम्प्रति[3] निर्युक्तिगाथया वस्त्रविषयं तमेवाह—

किं उवघातो धोए, रत्ते चोक्खे सुइम्मि व कयम्मि ।
अत्तट्ठिय-संकामियगहणं गीयत्थसंविग्गे ॥ १८६५ ॥

'धौतं' मलिनं सत् प्रक्षालितम्, 'रक्तं' धात्वादिभिर्द्रव्यै रक्तीकृतम्, 'चोक्खं' रजकपार्श्वा-25 दतीवोज्ज्वलं कारितम्, 'शुचिकम्' अशुच्यादिनोपलिप्तं सत् पवित्रीकृतम्, एतानि साध्वर्थं वस्त्रे कृतानि भवेयुः । ततश्च शिष्यः पृच्छति—किं धौते उपघातः ? उत रक्ते ? उताहो चोक्खे ? आहोश्वित् शुचीकृते ? । अत्रापि तदेव निर्वचनम्, नैतेषां चतुर्णामेकतरस्मिन्नप्युपघातः, किन्तूदक एव । अत एतदपि साधुना प्रतिषिद्धं सद् यथात्मार्थितं सङ्क्रामितं वा अन्यस्मै

---

१ कारणे पुरःकर्मादिकमासेवमानः शुध्यति । निष्कारणे अयतनया वा सेवमानो भा० ॥ २ समनुज्ञां परिशङ्कितुं शीलमेषां ते समनुज्ञापरिशङ्किनः, 'मा भूदस्माकं पुरःकर्मकृतं गृह्णतामनुमतिदोषः' इत्याशङ्कया परिहरन्तीति भावः । तथा यदि पुरःकर्म° भा० ॥ ३ °ति वस्त्र° मो० ले० विना ॥

दत्तं ततो गीतार्थसंविग्नस्य ग्रहणं भवति नान्यस्य ॥ १८६५ ॥

किमर्थमेतद् ग्रहणम्? इति चेद् उच्यते—

गीयत्थग्गहणेणं, अत्तट्ठियमाइ गिण्हई गीतो ।
संविग्गग्गहणेणं, तं गिण्हंतो वि संविग्गो ॥ १८६६ ॥

5 गीतार्थग्रहणेनैतद् ज्ञाप्यते—आत्मार्थितं सङ्क्रामितं वा गीतार्थो गृह्णाति नागीतार्थः । संविग्नग्रहणेन तु—'तद्' आत्मार्थितादिकं गृह्णन्नपि 'संविग्नः' मोक्षाभिलाष्येव असौ नासंविग्न इति सूच्यते ॥ १८६६ ॥ उत्स्पर्शनद्वारं व्याचष्टे—

एमेव य परिभुत्ते, नवे य तंतुग्गए अधोयम्मि ।
उप्फुसिऊणं देंते, अत्तट्ठिय सेविए गहणं ॥ १८६७ ॥

10 यद् वस्त्रं गृहिणा परिधानादिना परिमलितं तत् परिभुक्तं भण्यते, तद्विपरीतं नवं—तन्तुभ्य उद्गतमात्रम् । ततः परिभुक्तं वा नवं वा तन्तूद्गतमधौतं सद् यद् 'उत्स्पृश्य' उदकेनाभ्युक्षणं दत्त्वा ददाति तत्राप्येवमेव द्रष्टव्यम्[1], न कल्पत इत्यर्थः । अथात्मार्थितमात्मना वा सेवितं—परिभुक्तं ततो ग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥ १८६७॥ अथ विनेयानुग्रहार्थं प्रसङ्गतः पश्चात्कर्मण्यपि विधिमाह—

संसट्ठमसंसट्ठे, य सावसेसे य निरवसेसे य ।
15 **हत्थे मत्ते दव्वे, सुद्धमसुद्धे तिगट्ठाणा ॥ १८६८ ॥**

[2] इह भिक्षादातुः सम्बन्धी हस्तः संसृष्टो वा भवेदसंसृष्टो वा, येन च कांस्यिकादिना मात्रकेण भिक्षां ददाति तदपि संसृष्टमसंसृष्टं वा, द्रव्यमपि सावशेषं वा स्यान्निरवशेषं वा; अतः संसृष्टा-ऽसंसृष्ट-सावशेष-निरवशेषपदैर्हस्त-मात्रक-द्रव्यविषयैरष्टौ भङ्गा भवन्ति । तद्यथा—संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रकं सावशेषं द्रव्यं १ संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रकं निरवशेषं द्रव्यं २ संसृष्टो 20 हस्तोऽसंसृष्टं मात्रकं सावशेषं द्रव्यं ३ संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रकं निरवशेषं द्रव्यं ४, एवमसंसृष्टेनापि हस्तेन चत्वारो भङ्गाः प्राप्यन्ते ८ । एतस्यामष्टभङ्ग्यां यानि 'त्रीणि स्थानानि' हस्त-मात्रक-द्रव्यरूपाणि तैर्यत्र पश्चात्कर्मदोषो न भवति ते भङ्गकाः शुद्धा इतरे अशुद्धाः ॥१८६८॥

अमुमेवार्थं स्पष्टयति—

पढमे भंगे गहणं, सेसेसु य जत्थ सावसेसं तु ।
25 **अन्नेसु उ अग्गहणं, अलेव-सुक्खेसु ऊ गहणं ॥ १८६९ ॥**

[3] अस्यामष्टभङ्ग्यां यः प्रथमो भङ्गस्त्रिभिरपि पदैः शुद्धस्तत्र ग्रहणं भवति । शेषेष्वपि भङ्गकेषु यत्र सावशेषं द्रव्यं भवति तत्र ग्रहीतुं कल्पते, पश्चात्कर्मासम्भवात् । 'अन्येषु' निरवशेषपदयुक्तेषु भङ्गकेष्वग्रहणम्, न कल्पते ग्रहीतुमिति भावः । इयमत्र भावना—इह हस्तो मात्रकं वा द्वे वा स्वयोगेन संसृष्टे वा भवतामसंसृष्टे वा न तद्वशेन पश्चात्कर्म सम्भवति, किं तर्हि? 30 द्रव्यवशेन । तथाहि—यत्र द्रव्यं सावशेषं तत्रैते साध्वर्थं खरण्टिते अपि न दात्री प्रक्षालयति, भूयोऽपि परिवेषणसम्भवात्; यत्र तु निरवशेषं द्रव्यं तत्र साधुदानानन्तरं नियमतो हस्तं मात्रकं

१ °म्, तदपि न क° मो० ले० ॥ २ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥ ३ 'प्रथमे भङ्गे' त्रिभिरपि पदैः शुद्धे ग्रहणं भा० ॥

वा प्रक्षालयति । ततो द्वितीयादिषु समेषु भङ्गेषु पश्चात्कर्मसम्भवान्न कल्पते, प्रथमादिषु तु भङ्गेषु तदसम्भवात् कल्पते ग्रहीतुमिति । यदि चैतेष्वपि यद् 'अलेपकृतं' सक्तु-मण्डकादि यच्च 'शुष्कं' गुडपिण्डकादि तयोर्निरवशेषयोरपि ग्रहणं कल्पते ॥ १८६९ ॥

उक्तं समसङ्गं पुरःकर्मद्वारम् । अथ ग्लान्यद्वारं बिभावयिषुराह—

ग्लान्य-द्वारम्

> सग्गामे सउवसए, सग्गामे परउवस्सए चेव । 5
> खेत्तंतो अन्नगामे, खेत्तबहि सगच्छ परगच्छे ॥ १८७० ॥
> सोऊण ऊ गिलाणं, उम्मग्गं गच्छ पडिवहं वा वि ।
> मग्गाओ वा मग्गं, संकमई आणमाईणि ॥ १८७१ ॥

स्वग्रामे स्वोपाश्रये तिष्ठता श्रुतम्, यथा—अमुकत्र ग्लान इति, स्वग्रामे वा परेषां—साधूनामुपाश्रये कुतोऽपि प्रयोजनादायातेन, यद्वा 'क्षेत्रान्तः' क्षेत्राभ्यन्तरे अन्यग्रामे भिक्षाचर्यां गतेन, यदि 10 वा क्षेत्रबहिरन्यग्रामे पथि वा वर्त्तमानेन एतेषु स्थानेषु स्वगच्छे वा परगच्छे वा ग्लानः श्रुतो भवेत्, श्रुत्वा च ग्लानं यः 'उन्मार्गम्' अटवीगामिनं पन्थानं 'प्रतिपथं वा' येन पथा आयातस्तमेव पन्थानं गच्छति 'मार्गाद्वा' विवक्षितपथादन्यमार्गं सङ्क्रामति स प्राप्नोति आज्ञादीनि दोषपदानि, आदिशब्दादनवस्था-मिथ्यात्व-विराधनापरिग्रहः । एवंकुर्वाणस्य चास्य यद् ग्लानोऽप्रतिजागरितः परितापनादिकं प्राप्नोति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ॥ १८७० ॥ १८७१ ॥ 15

अत एवाह—

> सोऊण ऊ गिलाणं, पंथे गामे य भिक्खवेलाए ।
> जइ तुरियं नागच्छइ, लग्गइ गुरुए स चउमासे ॥ १८७२ ॥

श्रुत्वा ग्लानं पथि वा गच्छन् ग्रामे वा प्रविष्टो भिक्षायां वा पर्यटन् यदि 'त्वरितं' तत्क्षणादेव नागच्छति ततः 'लगति' प्राप्नोति स चतुरो मासान् गुरुकान् ॥१८७२॥ यत एवमतः— 20

> जह भमर-महुयरिगणा, निवतंती कुसुमियम्मि चूयवणे ।
> ईय होइ निवइअव्वं, गेलन्ने कइयवजढेणं ॥ १८७३ ॥

यथा भ्रमर-मधुकरीगणाः 'कुसुमिते' मुकुरिते 'चूतवने' सहकारवनखण्डे मकरन्दपानलोलुपतया निपतन्ति 'इति' अमुनैव प्रकारेण भगवदाज्ञामनुवर्त्तमानेन कर्मनिर्जरालाभलिप्सया ग्लान्ये समुत्पन्ने 'कैतवजढेन' मायाविप्रमुक्तेन त्वरितं 'निपतितव्यम्' आगन्तव्यं भवति । एवं- 25 कुर्वता साधर्मिकवात्सल्यं कृतं भवति, आत्मा च निर्जराद्वारे नियोजितो भवति ॥ १८७३ ॥

तस्य च ग्लानत्वस्य प्रतिबद्धामिमां द्वारगाथामाह—

> सुद्धे सड्ढी इच्छकारे, असत्त सुहिय ओमाण लुद्धे य ।
> अणुअत्तणा गिलाणे, चालण संकामणा तत्तो ॥ १८७४ ॥

प्रथमतः शुद्ध इति द्वारं वक्तव्यम् । ततः 'श्रद्धी' श्रद्धावानिति द्वारम्, तत इच्छाकार- 30 द्वारम्, तदनन्तरमशक्तद्वारम्, ततः सुखितद्वारम्, तदनु अपमानद्वारम्, ततोऽपि लुब्धद्वारम्,

---

१ उक्तं पुरः° मो० ले० विना ॥ २ °चर्यागते° भा० ॥ ३ मो० ले० कां० विनाऽन्यत्र—°क्षां वा त० डे० । °क्षावेलायां वा भा० ॥ ४ तह हो° ता० ॥

ततोऽनुवर्तना ग्लानस्य उपलक्षणत्वाद् वैद्यस्य च वक्तव्या, ततश्चालना संक्रामणा च ग्लानस्याभि-धातव्येति द्वारगाथासमुदायार्थः ॥ १८७४ ॥ अथावयवार्थं प्रतिद्वारं प्रचिकटयिषुः "यथोद्देशं निर्देशः" इति वचनात् प्रथमतः शुद्धद्वारं भावयति—

सोऊण ऊ गिलाणं, जो उवयारेण आगओ सुद्धो ।
5 जो उ उवेहं कुज्जा, लग्गइ गुरुए सवित्थारे ॥ १८७५ ॥

श्रुत्वा ग्लानं 'यः' साधुः 'उपचारेण' वक्ष्यमाणलक्षणेन ग्लानसमीपमागतः सः 'शुद्धः' न प्रायश्चित्तभाक् । यस्तूपेक्षां कुर्यात् सः 'लगति' प्राप्नोति चतुरो गुरुकान् 'सविस्तरान्' ग्लाना-रोपणासंयुक्तान् ॥ १८७५ ॥ उपचारपदं व्याचष्टे—

उवचरइ को णऽतिष्णो, अहवा उवचारमित्तगं एइ ।
10 उवचरइ व कज्जत्थी, पच्छित्तं वा विसोहेइ ॥ १८७६ ॥

यत्र ग्लानो वर्तते तत्र गत्वा पृच्छति—"को णऽतिण्णो" त्ति द्वितीयार्थे प्रथमा, 'नुः' इति प्रश्ने, युष्माकं मध्ये 'अतिन्नं' ग्लानं 'क उपचरति ?' कः प्रतिजागर्त्ति ?; यद्वा धातूनामनेकार्थ-त्वाद् 'उपचरति' पृच्छति—को नु युष्माकं मध्ये "अतिण्णो ?" ग्लानो येनाहं तं प्रतिजा-गर्मि ? । अथवा 'उपचारमात्रं' लोकोपचारमेव केवलमनुवर्त्तयितुं ग्लानसमीपम् 'एति' आगच्छति ।
15 यदि वा कार्यार्थी सन्नुपचरति । किमुक्तं भवति ?—कार्यं किमपि ज्ञान-दर्शनादिकं तत्स-मीपादीहमानः प्रतिजागर्ति । 'प्रायश्चित्तं वा मे भविष्यति यदि न गमिष्यामि' इति विचिन्त्या-गत्य च प्रायश्चित्तं विशोधयति । एष सर्वोऽप्युपचारो द्रष्टव्यः ॥ १८७६ ॥

अथ श्रद्धावानिति द्वारमाह—

सोऊण ऊ गिलाणं, तूरंतो आगओ दवदवस्स ।
20 संदिसह किं करेमी, कम्मि व अट्ठे निउज्जामि ॥ १८७७ ॥
पडिचरिहामि गिलाणं, गेलन्ने वावडाण वा काहं ।
तित्थाणुसज्जणा खलु, भत्ती य कया हवइ एवं ॥ १८७८ ॥

'ग्लानं प्रतिजाग्रदहं महतीं निर्जरामासादयिष्यामि' इत्येवंविधया धर्मश्रद्धया युक्तः श्रद्धावा-नुच्यते । स च श्रुत्वा ग्लानं 'त्वरमाणः' श्रवणानन्तरं शेषकार्याणि विहाय पन्थानं प्रतिपन्नः
25 सन् "दवदवस्स" त्ति द्रुतं द्रुतं गच्छन् झगिति ग्लानसमीपमागतस्ततो ग्लानप्रतिचारकानाचा-र्यान् वा गत्वा भणति—सन्दिशत भगवन्तः ! किं करोम्यहं ? कस्मिन् वा 'अर्थे' ग्लानसम्ब-न्धिनि प्रयोजने युष्माभिरहं नियोज्ये ?, अहं तावदनेनाभिप्रायेणायातः, यथा—प्रतिजागरि-ष्यामि ग्लानं ग्लानवैयावृत्त्ये वा व्यापृता ये साधवस्तेषां भक्त-पानप्रदान-विश्रामणादिना वैया-वृत्त्यं करिष्यामि । एवंकुर्वता तीर्थस्यानुसजना—अनुवर्त्तना कृता भवति, भक्तिश्च भगवतां
30 तीर्थकृतां कृता भवति, "जे गिलाणं पडियरइ से ममं णाणेणं दंसणेणं चरित्तेणं पडिवज्जइ" (भगवतीसूत्र श० पत्र) इत्यादिभगवदाज्ञाऽऽराधनात् । इत्थं तेनोक्ते यदि ते स्वयमेव ग्लानवैयावृत्त्यं कर्तुं प्रभवन्ति ततो ब्रुवते—आर्य ! व्रजतु यथास्थानं भवान्, वयं ग्लानस्य

१ °षुः प्रथ° त० डे० कां० ॥ २ °भागेन ग्ला° त० डे० कां० ॥

सकलमपि वैयावृत्त्यं कुर्वाणाः स इति ॥ १८७७ ॥ १८७८ ॥

अथ ते न प्रभवन्ति यदि वाऽसावेवंविधगुणोपेतो वर्त्तते—

[1]संजोगदिट्ठपाढी, तेणुवलद्धा व दव्वसंजोगा ।
सत्थं व तेणऽधीयं, वेज्जो वा सो पुरा आसि ॥ १८७९ ॥

संयोगाः—औषधद्रव्यमीलनप्रयोगास्तद्विषयो दृष्टः पाठः—चिकित्साशास्त्रावयवविशेषो येन स 5
संयोगदृष्टपाठः, आर्षत्वाद् गाथायामिन्प्रत्ययः, यदि वा तेन द्रव्यसंयोगाः कुतोऽपि सातिशय-
ज्ञानविशेषादुपलब्धाः, 'शास्त्रं वा' चरक-सुश्रुतादिकं सकलमपि तेनाधीतम्, वैद्यो वा सः
'पुरा' पूर्वं गृहाश्रम आसीत्, ततो न विसर्जनीयः ॥ १८७९ ॥

अत्थि य से योगवाही, गेलन्नतिगिच्छणाएँ सो कुसलो ।
सीसे वावारेत्ता, तेगिच्छं तेण कायव्वं ॥ १८८० ॥ 10

यदि 'तस्य' आगन्तुकस्य गच्छे योगवाहिनः सन्ति, स च स्वयं ग्लान्यचिकित्सायां कुशलः,
ततः शिष्यान् सूत्रार्थपौरुषीप्रदानादौ व्यापार्य स्वयं तेन ग्लानस्य 'चैकित्स्यं' चिकित्साकर्म कर्त्त-
व्यम् । उपलक्षणमिदम्, तेन कुल-गण-सङ्घप्रयोजनेषु गुरुकार्यप्रेषणे वस्त्र-पात्राद्युत्पादने वा यो
यत्र योग्यस्तं तत्र व्यापार्य सर्वप्रयत्नेन स्वयं ग्लानस्य चिकित्साकर्म कर्त्तव्यम् ॥ १८८० ॥

सूत्रार्थपौरुषीव्यापारणे विधिमाह— 15

दाऊणं वा गच्छइ, सीसेण व वायएहि वा वाए ।
तत्थऽन्नत्थ व काले, सोहिएँ सव्वुद्दिसइ हट्ठे ॥ १८८१ ॥

सूत्रार्थपौरुष्यौ दत्त्वा ग्लानस्य समीपं गच्छति, गत्वा च चिकित्सां करोति । अथ दूरे
ग्लानस्य प्रतिश्रयस्ततः सूत्रपौरुषीं दत्त्वा अर्थपौरुषीं शिष्येण दापयति । अथ दवीयान् स
प्रतिश्रयस्ततो द्वे अपि पौरुष्यौ शिष्येण दापयति । अथात्मीयः शिष्यो वाचनां दातुमशक्तस्ततो 20
येषां वाचकानाम्—आचार्याणां स ग्लानस्तैः सूत्रमर्थं वा स्वशिष्यान् वाचयति । अथ तेषामपि
नास्ति वाचनाप्रदाने शक्तिस्ततो यदि तेऽनागाढयोगवाहिनस्तदा तेषां योगो निक्षिप्यते ।
(ग्रन्थाग्रम्—२००० । सर्वग्रन्थाग्रम्—१४२२०) अथागाढयोगवाहिनस्ततोऽयं विधिः—
"तत्थऽन्नत्थ व" इत्यादि । यत्र क्षेत्रे स ग्लानस्तत्रान्यत्र वा क्षेत्रे स्थितास्ते आगाढयोगवाहिन
आचार्येण वक्तव्याः, यथा—आर्याः! कालं शोधयत । ततस्तैर्यथावत् कालग्रहणं कृत्वा यावतो 25
दिवसान् कालः शोधितस्तावतां दिवसानामुद्देशनकालान् सर्वानप्याचार्यो ग्लाने 'हृष्टे' प्रगुणी-
भूते सति एकदिवसेनैवोद्दिशति, यावन्ति पुनर्दिनानि कालग्रहणे प्रमादः कृतो गृह्यमाणे वा
कालो न शुद्धः तेषामुद्देशनकाला न उद्दिश्यन्ते ॥ १८८१ ॥

तत्र क्षेत्रे संस्तरणाभावेऽन्यत्र गच्छतां विधिमाह—

निग्गमणे चउभंगो, अद्धा सव्वे वि निंति दोण्हं पि । 30
भिक्ख-वसहीइ असती, तस्साणुमए ठविज्जा उ ॥ १८८२ ॥

ततः क्षेत्राद् निर्गमने चतुर्भङ्गी भवति । गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । वास्तव्याः

---

१ गाथेयं चूर्णौ विशेषचूर्णौ च "अत्थि य०" गाथानन्तरं वर्त्तते ॥ २ ग्लानचि° मो० ले० बिना ॥

संस्तरन्ति नागन्तुकाः १ आगन्तुकाः संस्तरन्ति न वास्तव्याः २ न वास्तव्या न चागन्तुकाः संस्तरन्ति ३ वास्तव्या अप्यागन्तुका अपि संस्तरन्ति ४। तत्र यत्र द्वयेऽपि संस्तरन्ति तत्र विधिः प्रागेवोक्तः। यत्र तु न संस्तरन्ति तत्रायं विधिः—प्रथमभङ्गे आगन्तुकानां द्वितीयभङ्गे वास्तव्यानामर्द्धं वा यावन्तो वा न संस्तरन्ति तावन्तो निर्गच्छन्ति, तृतीयभङ्गे द्वयोरपि वर्गयोरर्द्धाः 5 सर्वे वा ग्लानं सप्रतिचरकं मुक्त्वा निर्गच्छन्ति। एवं भिक्षाया वसतेश्च 'असति' अभावे निर्गमनं द्रष्टव्यम्। के पुनस्तत्र ग्लानसन्निधौ स्थापनीयाः? इत्याह—'तस्य' ग्लानस्य ये 'अनुमताः' अभिप्रेतास्तान् प्रतिचरकान् ग्लानस्य समीपे स्थापयेत्॥ १८८२॥

गतं श्रद्धावानिति द्वारम्। अथेच्छाकारद्वारमाह—

अभणितो कोइ न इच्छइ, पत्ते थेरेहिँ होउवालंभो।
10 **दिट्ठंतो महिड्डीए, सवित्थरारोवणं कुज्जा॥ १८८३॥**
बहुसो पुच्छिज्जंता, इच्छाकारं न ते मम करिंति।
पडिमुंडणा य दुक्खं, दुक्खं च सलाहिउं अप्पा॥ १८८४॥

कोऽपि साधुर्वैयावृत्त्यकुशलः, परमन्येन 'अभणितः' 'आर्य! एहि इच्छाकारेण ग्लानस्य वैयावृत्त्यं कुरु' इत्यनुक्तः सन् नेच्छति वैयावृत्त्यं कर्तुम्, स च श्रुत्वाऽपि ग्लानं न तस्य समीपं 15 गतः। कुल-गण-सङ्घस्थविराश्च ये कारणभूताः पुरुषाः 'कुत्र सामाचार्यः सीदन्ति? कुत्र चोत्सर्पन्ति?' इति प्रतिचरणाय गच्छान्तरेषु पर्यटन्ति ते तत्र प्राप्ताः, तैश्च स पृष्टः—आर्य! उत्सर्पन्ति ते ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि? सन्ति वा केचित् प्रत्यासन्नपरिसरे साधवो ग्लानो वा कुत्रापि भवता श्रुतः? इति। स प्राह—इतः प्रत्यासन्न एव ग्रामे सन्ति साधवः, तेषां चास्त्येको ग्लान इति। ततस्तैस्तस्योपालम्भः प्रदत्तः—यदि तेषां ग्लानो वर्त्तते ततस्त्वं तस्य प्रतिचरणाय 20 किं न गतः? स प्राह—'बहुशः' भूयो भूयः पृच्छ्यमाना अपि ते साधवः कदापि ममेच्छाकारं न कुर्वन्ति, अन्यच्च अहमनभ्यर्थितस्तत्र गतः, तैश्च प्रतिमुण्डितः—निषिद्धः, यथा—पूर्णं भवता वैयावृत्त्यकरेणेति, एवं प्रतिमुण्डनया महद् मानसं दुःखमुत्पद्यते, 'यादृशं चाहं ग्लानस्य वैयावृत्त्यं करोमि ईदृशमन्यः कोऽपि न वेत्ति' एवमात्मानं श्लाघितुं 'दुःखं' दुष्करं भवति, अतः कथमनभ्यर्थितस्तत्र गच्छामि? इति।

25 ततः स्थविरैस्तस्य पुरतो **महर्द्धिको राजा तस्य दृष्टान्तः** कृतः। यथा—

एगो राया कत्तियपुन्निमाए मरुयाणं दाणं देइ। एगो मरुगो चोद्दसविज्जाठाणपारगो भोइयाए भणिओ—तुमं सव्वमरुगाहिवो, वच्च रायसमीवं, उत्तमं ते दाणं दाहिइ त्ति। सो मरुओ भणाइ—एगं ताव रायकिब्बिसं गिण्हामि, बिइयं अणिमंतिओ गच्छामि, जइ से पिति-पितामहस्स अणुग्गहेण पओअणं तो मं आगंतुं तत्थ नेहिइ, इह ठियस्स वा मे दाहिइ। भोइयाए 30 भणिओ—तस्स अत्थि बहू मरुगा तुज्झ सरिच्छा अणुग्गहकारिणो, जइ अप्पणो तद्दविणेण कज्जं तो गच्छ। जहा सो मरुओ अब्भत्थणं मग्गंतो इहलोइयाणं कामभोगाणं अणाभागी जाओ, एवं तुमं पि अब्भत्थणं मग्गंतो निज्जरालाहस्स अणाभागी भविस्ससि॥

१ °म्। ये च 'तस्य' ग्लानस्य 'अनु° मो० ले० विना॥ २ परिमुंडणा ता०॥

इत्थमुपालभ्य चतुर्गुरुकारोपणां 'सविस्तरां' परितापनादिप्रायश्चित्तविस्तरयुक्तां तस्य प्रयच्छन्ति ॥ १८८३ ॥ १८८४ ॥ गतमिच्छाकारद्वारम् । अथाशक्तद्वारमाह—

किं काहामि वराओ, अहं खु ओमाणकारओ होहं ।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥ १८८५ ॥

कोऽपि साधुः कुल-गण-सङ्घस्थविरैस्तथैव पृष्टः प्राह—क्षमाश्रमणाः ! लोके यः सर्वथा 5 अशक्तः—पङ्गुप्रायः स वराक उच्यते, सोऽहं वराकस्तादृशस्तत्र गतः किं करिष्यामि ? नवरमहं तत्र प्राप्तोऽवमानकारको भविष्यामि । एवं तत्र स्थविराणां पुरतो भणतस्तस्य चतुर्मासा गुरवो भवन्ति ॥ १८८५ ॥ स च स्थविरैरित्थमभिधातव्यः—

उव्वत्त-खेल-संथार-जग्गणे पीस-भाणधरणे य ।
तस्स पडिजग्गयाण व, पडिलेहेउं पि सि असत्तो ॥ १८८६ ॥ 10

आर्य ! किं ग्लानस्योद्वर्त्तनमपि कर्तुं न शक्नोषि ? एवं खेलमल्लकस्य भस्मना भरणं भस्मपरिष्ठापनं वा संस्तारकस्य रचनं जागरणं—रात्रौ प्रहरकप्रदानं पेषणम्—औषधीनां चूर्णनं भाणधरणं—सपान-भोजनभाजनानां धारणं 'तस्य' ग्लानस्य प्रतिजागरकाणां वा साधूनामुपधिमपि प्रत्युपेक्षितुमशक्तः ? येनेदं ब्रवीषि—किं करिष्यामि वराकोऽहम् ? इति ॥ १८८६ ॥

अथ सुखितद्वारमाह— 15

सुहिया मो त्ति य भणती, अच्छह वीसत्थया सुहं सव्वे ।
एवं तत्थ भणंते, पायच्छित्तं भवे तिविहं ॥ १८८७ ॥

एकत्र क्षेत्रे मासकल्पस्थितैः साधुभिः श्रुतम्—अमुकत्र ग्लान इति । तत्र केऽपि साधवो भणन्ति—ग्लानं प्रतिजागरका व्रजामो वयम् । इतरः कोऽपि[1] भणति—सुखितानस्मान् दुःखितान् कुरुत, यूयमपि सर्वे 'विश्वस्ताः' निरुद्विग्नाः 'सुखं' सुखेन तिष्ठत, किं तत्र गत्वा मुधैव 20 दुःखस्यात्मानं प्रयच्छामः ? किं युष्माकमयं श्लोको न कर्णकोटरमुपागमत् ? । यथा—

सर्वस्य सर्वकारी, स्वार्थविघाती परस्य हितकारी ।
सर्वस्य च विश्वासी, मूर्खो[3] यो नाम विज्ञेयः ॥

एवं तत्र तस्य भणतस्त्रिविधं प्रायश्चित्तं भवति । तद्यथा—यद्याचार्य एवं ब्रवीति ततश्चतुर्गुरु, उपाध्यायो ब्रवीति चतुर्लघु, भिक्षुर्ब्रवीति मासगुरु ॥ १८८७ ॥ अथापमानद्वारमाह— 25

भत्तादिसंकिलेसो, अवस्स अम्हे वि तत्थ न तरामो ।
काहिंति केत्तियाणं, तेणं चिय तेसु अद्दण्णा ॥ १८८८ ॥
अम्हेहिँ तहिँ गएहिं, ओमाणं उग्गमाइणो दोसा ।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥ १८८९ ॥

तथैव ग्लानं श्रुत्वा केचिद् भणन्ति—व्रजामो ग्लानप्रतिजागरणार्थम् । अपरे ब्रुवते— 30 तत्राऽन्येऽपि ग्लानं श्रुत्वा बहवः प्रतिचारकाः समायाता भविष्यन्ति ततो महान् भक्त-पानादि-

---

१ °लब्धे यदि प्रत्यावर्तते तदा चतु° भा० ॥ २ °पि ब्रूते—सु° भा० ॥ ३ मूर्खाचार्यो नाम भा० कां० चूर्णौ च ॥

शैक्षको भविता, 'अवमम्' असन्दिग्धं वयमपि तत्र गताः 'न तरामः' न निर्वहामः, ग्लान-प्रतिचारणार्थमागतानां कियतां वा ते वास्तव्या विश्रामणादि प्राघूर्णककर्म करिष्यन्ति ? यतः ते 'तेनैव' ग्लानेनै 'तेषु' कार्येषु 'अहन्नाः' आकुलीभूताः ॥ १८८८ ॥ तथा—

अस्माभिरपि तत्र गतैर्नियमाद् 'अवमानम्' अवमम् 'उद्गमदोषाश्च' आधाकर्म-मिश्रजात-5 प्रभृतयः आदिशब्दादेषणादोषाश्च भविष्यन्ति । एवं तत्र तेषां भणतां चत्वारो मासा गुरुका भवेयुः ॥ १८८९ ॥ अथ लुब्धद्वारमाह—

अम्हे मो निज्जरट्ठी, अच्छह तुब्भे वयं से काहामो ।
अत्थि य अभाविया णे, ते वि य णाहिंति काऊण ॥ १८९० ॥

मासकल्पस्थितैः साधुभिः श्रुतम्, यथा—अमुकत्र ग्रामे ग्लानः सञ्जातोऽस्ति । तच्च क्षेत्रं 10 वसति-पानक-गोरसादिभिः सर्वैरपि गुणैरुपेतम्, ततस्ते लोभाभिभूतचेतसश्चिन्तयन्ति—'ग्लान-मिषमन्तरेण न शक्यते क्षेत्रमिदं प्रेरयितुम्, अतो गच्छामो वयम्' इति चिन्तयित्वा तत्र गत्वा भणन्ति—वयं 'निर्जरार्थिनः' ग्लानवैयावृत्त्यकरणेन कर्मक्षयमभिलषमाणा इहायाताः स्मः, अतो यूयं तिष्ठथ वयं "से" तस्य ग्लानस्य वैयावृत्त्यं करिष्यामः, सन्ति चास्माकमभाविताः शैक्षा-स्तेऽपि चास्मान् वैयावृत्त्यं कुर्वतो दृष्ट्वा ज्ञास्यन्ति ॥ १८९० ॥

ग्लानमि-षेण क्षेत्रं प्रेरयतां प्रायश्चि-त्तानि

15 **एवं गिलाणलक्खेण संठिया पाहुण त्ति उक्कोसं ।**
मग्गंता चमढिंती, तेसिं चारोवणा चउहा ॥ १८९१ ॥

एवं ग्लानसम्बन्धि यद् लक्ष्यं—मिषं तेन तत्र संस्थिताः सन्तः प्राघूर्णका इति कृत्वा लोकाद् 'उत्कृष्टं' स्निग्ध-मधुरद्रव्यं लभन्ते, अथ न स्वयं लोकः प्रयच्छति ततः 'मार्गयन्तः' 'प्राघूर्णका वयम्' इति मिषेणावभाषमाणास्तत् क्षेत्रं चमढयन्ति, चमढिते च क्षेत्रे ग्लानप्रायोग्यं न लभ्यते 20 ततस्तेषामियं चतुर्विधाऽऽरोपणा कर्त्तव्या । तद्यथा—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च ॥ १८९१ ॥

तत्र द्रव्यतस्तावदाह—

फासुगमफासुगे वा, अचित्त चित्ते परित्तऽणंते य ।
असिणेह-सिणेहकए, अणहारा-ऽऽहार लहु-गुरुगा ॥ १८९२ ॥

क्षेत्रोद्वेजनादोषेण ग्लानप्रायोग्यमलभमाना यदि प्राशुकमवभाषन्ते परिवासयन्ति वा ततश्च-25 त्वारो लघुकाः । अथाप्राशुकमवभाषन्ते परिवासयन्ति वा ततश्चत्वारो गुरुकाः । इह च प्राशु-कमेषणीयम् अप्राशुकमनेषणीयम् । ◁ आह च निशीथचूर्णिकृत्—

इह फासुगं एसणिज्जं ति । ▷

अचित्ते अवभाष्यमाणे परिवास्यमाने वा चतुर्लघु । सचित्ते चतुर्गुरु । एवं परीत्ते चतुर्लघु । अनन्ते चतुर्गुरु । अस्नेहे चतुर्लघु । सस्नेहे चतुर्गुरु । अनाहारे चतुर्लघु । आहारे चतुर्गुरु 30 ॥ १८९२ ॥ उक्तं द्रव्यनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अथ क्षेत्रनिष्पन्नमाह—

[illegible]ंतरो, चाउम्मासा हवंति उग्घाता ।
बहिया य अणुग्घाया, दव्वालंभे पसज्जणया ॥ १८९३ ॥

१ °न सुष्ठु-अतीव अहन्नाः-आकुलीकृताः भा० ॥ २ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० नास्ति ॥

उत्कृष्टद्रव्यलोभेन क्षेत्रमुद्वेजयतो लुब्धस्य क्षेत्राभ्यन्तरतो ग्लानप्रायोग्येऽलभ्यमाने चत्वारो मासा उद्घाताः । क्षेत्रस्य बहिरलभ्यमाने त एव चत्वारो मासाः 'अनुद्घाताः' गुरवः । अत्र च ग्लानप्रायोग्यस्य द्रव्यस्यालाभे 'प्रसजना' प्रायश्चित्तस्य वृद्धिः प्राप्नोति ॥ १८९३ ॥

कथम् ? इत्याह—

खेत्तबहि अद्धजोअण, वुड्ढी दुगुणेण जाव बत्तीसा ।
चउगुरुगादी चरिमं, खेत्ते काले इमं होइ ॥ १८९४ ॥

क्षेत्राद् बहिरर्द्धयोजनं गत्वा ततो यदि ग्लानप्रायोग्यं द्रव्यमानयति तदा चतुर्गुरव एव । योजनादानयति षड् लघवः । योजनद्वयादानयति षड् गुरवः । योजनचतुष्टयादानयति च्छेदः । योजनाष्टकादानयति मूलम् । योजनषोडशकादानयति अनवस्थाप्यम् । द्वात्रिंशद् योजनानि गत्वा ग्लानप्रायोग्यमानयति पाराञ्चिकम् । अत एवाह—क्षेत्रबहिरर्द्धयोजनादारभ्य द्विगुणेन परिमाणेन क्षेत्रस्य वृद्धिस्तावत् कर्तव्या यावद् द्वात्रिंशद् योजनानि । एषु च चतुर्गुरुकादिकं 'चरमं' पाराञ्चिकं यावत् प्रायश्चित्तम् । इत्थं क्षेत्रविषयं प्रायश्चित्तमुक्तम् । 'काले' कालविषयम् 'इदं' वक्ष्यमाणं भवति ॥ १८९४ ॥ तत्र तावत् प्रकारान्तरेण क्षेत्रनिष्पन्नमेवाह—

अंतो बहिं न लब्भइ, ठवणा फासुग महय मुच्छ किच्छ कालगए ।
चत्तारि छ च लहु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ १८९५ ॥

क्षेत्रस्यान्तर्वा बहिर्वा ग्लानप्रायोग्यं न लभ्यत इति कृत्वा प्राशुकस्य 'स्थापनां' परिवासनां करोति चतुर्लघु । तेन परिवासितेन भक्तेन ग्लानो यद्यनागाढं परिताप्यते ततश्चतुर्गुरुकम् । महतीं दुःखासिकामाप्नोति षड्लघु । मूर्च्छामूर्च्छे षड्गुरु । कृच्छ्रप्राणे च्छेदः । कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलम् । समवहते—मारणान्तिकसमुद्घातं कुर्वाणे ग्लानेऽनवस्थाप्यम् । कालगते पाराञ्चिकम् । ॥ १८९५ ॥ अथ कालनिष्पन्नमाह—

पढमं राइ ठविंते, गुरुगा बिइयादि सत्तहिं चरिमं ।
परितावणाइ भावे, अप्पत्तिय-कूवणाईया ॥ १८९६ ॥

प्रथमां रात्रिं परिवासयतश्चतुर्गुरुकाः । द्वितीयां रात्रिमादौ कृत्वा सप्तभी रात्रिभिश्चरमम् । तद्यथा—द्वितीयां [1]रजनीं परिवासयति षड् लघवः, तृतीयस्यां षड् गुरवः, चतुर्थ्यां छेदः, पञ्चम्यां मूलम्, षष्ठ्यामनवस्थाप्यम्, सप्तम्यां पाराञ्चिकम् । अथ भावनिष्पन्नमाह—"परितावणाइ" इत्यादि पश्चार्द्धम् । परितापनादि भावनिष्पन्नं मन्तव्यम् । तथा स परितापितः सन्नप्रीतिकं करोति चतुर्लघु, कूजनं—सशब्दाक्रन्दनम्, आदिग्रहणाद् 'अनाथोऽहम्, न किमप्यमी मह्यं प्रयच्छन्ति' इत्येवमुड्डाहं कुर्यात् ततश्चतुर्गुरुकम् ॥ १८९६ ॥

अथ परितापनादिपदं व्याख्यानयति—

अंतो बहिं न लब्भइ, परितावण महय मुच्छ किच्छ कालगए ।
चत्तारि छ च लहु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ १८९७ ॥

क्षेत्रस्यान्तर्बहिर्वा न लभ्यते इति कृत्वा ग्लानस्यानागाढा परितापना भवति चतुर्लघु ।

---

[1] रात्रिं परि° भा० ॥

आगाढपरितापनायां चतुर्गुरु। दुःखादुःखे षड्लघु। मूर्च्छामूर्च्छे षड्गुरु। कृच्छ्रप्राणे च्छेदः। कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलम्। समवहते अनवस्थाप्यम्। कालगते पाराञ्चिकम् ॥ १८९७ ॥

एवं तावदाहारविषयमुक्तम्। अथोपधिविषयमभिधीयते—

अंतो बहिं न लब्भइ, संथारग महय मुच्छ किच्छ कालगए।
5 **चत्तारि छ च लहु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ १८९८ ॥**

अतिचमढिते क्षेत्रेऽन्तर्वा बहिर्वा संस्तारको न लभ्यते ततो ग्लानस्यानागाढपरितापनादिषु चतुर्लघुकादिकं तथैव प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् ॥ १८९८ ॥

अत्र परितापनापदं समुद्घातपदं च गाथायां साक्षान्नोक्तम्, अतो मा भूद् मुग्धमतिविनेयवर्गस्य व्यामोह इति कृत्वा साक्षात् तदभिधानार्थमिमां गाथामाह—

10 **परिताव महादुक्खे, मुच्छामुच्छे य किच्छपाणगते।**
किच्छुस्सासे य तहा, समुघाए चेव कालगते ॥ १८९९ ॥

गतार्था ॥ १८९९ ॥ उक्तं लुब्धद्वारम्। अथानुवर्त्तनाद्वारमाह—

अनुवर्त्तना-द्वारम्

अणुयत्तणा गिलाणे, दव्वट्ठा खलु तहेव विज्जट्ठा।
असतीइ अन्नओ वा, आणेउं दोहि वी कुज्जा ॥ १९०० ॥

15 ग्लानप्रायोग्यं यद् भक्त-पानादिकं द्रव्यं स एवार्थः—प्रयोजनं द्रव्यार्थस्तमुत्पादयद्भिर्ग्लानस्यानुवर्त्तना कर्त्तव्या। "तहेव विज्जट्ठे"ति तथैव वैद्यस्यार्थमुत्पादयद्भिर्ग्लानस्यानुवर्त्तना विधेया। यदि स्वग्रामे द्रव्य-वैद्ययोरभावस्ततोऽन्यग्रामादपि द्रव्य-वैद्यावानीय द्वाभ्यामप्यनुवर्त्तनां कुर्यात् ॥ १९०० ॥ अथैनामेव गाथां व्याचिख्यासुराह—

जायंते उ अपत्थं, भणंति जायामो तं न लब्भइ णे।
20 **विणियट्टणा अकाले, जा वेल न बेंति उ न देमो ॥ १९०१ ॥**

ग्लानो यद्यपथ्यं द्रव्यं याचते ततः साधवो भणन्ति—वयं याचामः परं किं कुर्महे? तद् भवतामभिप्रेतं भूयोभूयः पर्यटद्भिरपि न लभ्यते "णे" अस्माभिः; इत्थं भणद्भिर्ग्लानोऽनुवर्त्तितो भवति। यद्वा ग्लानस्याग्रतः पात्रकाण्युद्ग्राह्य प्रतिश्रयान्निर्गत्यापान्तरालपथाद् 'विनिवर्त्तनां' प्रत्यागमनं कुर्वन्ति, तस्य पुरतश्चेत्थं ब्रुवते—वयं गता अभूम परं न लब्धम्; अकाले वा 25 गत्वा याचन्ते येन न लभ्यते। अकाले च याचमानं ग्लानं ब्रुवते—यावद् वेला भवति तावत् प्रतीक्षस्व, ततो वयमानीय दास्याम इति, न पुनर्ब्रुवते—न दद्मो वयमिति ॥ १९०१ ॥

अथ क्षेत्रतो ग्लानस्यानुवर्त्तनामाह—

तत्थेव अन्नगामे, वुत्थंतरऽसंथरंत जयणाए।
असंथरणेसणमादी, छन्नं कडजोगि गीयत्थे ॥ १९०२ ॥

30 प्रथमतस्तत्रैव ग्रामे ग्लानप्रायोग्यमन्वेषणीयम्। तत्र यदि न लभ्यते तदाऽन्यग्रामेऽपि। अथासावन्यग्रामो दूरतरस्ततः "वुत्थंतर" त्ति 'अन्तरा' अपान्तरालग्रामे उषित्वा द्वितीये दिने आनयन्ति। अथैवमप्यसंस्तरणं भवति ततः "संथरंत जयणाए" त्ति अकारप्रश्लेषादसंस्तरतो

---

१ परं तद् भा० ॥

ग्लानस्यार्थाय 'यतनया' पञ्चकपरिहाण्या गृह्णन्ति । अथ ग्लानार्थं व्यापृतानां प्रतिचरकाणामसंस्तरणं ततः "एसणमाइ" त्ति एषणादोषेषु आदिशब्दाद् उद्गमादिदोषेषु च पञ्चकपरिहाण्या यतितव्यम् । अथ प्रतिदिवसं ग्लानप्रायोग्यं न लभ्यते ततः 'छन्नम्' अप्रकटं कृतयोगी गीतार्थो वा तत्प्रायोग्यं द्रव्यं परिवासयति । इह आकर्णितच्छेदश्रुतार्थः प्रत्युच्चारणाऽसमर्थः कृतयोगी । यस्तु च्छेदश्रुतार्थं श्रुत्वा प्रत्युच्चारयितुमीशः स गीतार्थ उच्यते । एष द्वारगाथासमासार्थः 5 ॥ १९०२ ॥ अथैनामेव विवरीषुराह—

पडिलेह पोरुसीओ, वि अकाउं मग्गणा उ सग्गामे ।
खित्तंतो तद्दिवसं, असइ विणासे व तत्थ वसे ॥ १९०३ ॥

अपिशब्दः सम्भावनायाम् । यदि सुलभं द्रव्यं ततः प्रत्युपेक्षणां सूत्रार्थपौरुष्यौ च कृत्वा स्वग्रामेऽनवभाषितस्य मार्गणा कर्त्तव्या । अथैवं न लभ्यते ततोऽर्थपौरुषीं हापयित्वा, यद्येवमपि 10 न लभ्यते ततः सूत्रपौरुषीं परिहाप्योत्पादनीयम् । अथ तथापि न लभ्यते दुर्लभं वा तद् द्रव्यं ततः प्रत्युपेक्षणां द्वे अपि च पौरुष्यौ अकृत्वा स्वग्रामेऽनवभाषितं मार्गयन्ति । अथ स्वग्रामेऽनवभाषितं न लभ्यते ततः 'क्षेत्रान्तः' सक्रोशयोजनक्षेत्राभ्यन्तरे परग्रामे पौरुषीद्वयमपि कृत्वा अनवभाषितमुत्पादयन्ति, अत्राप्यर्थपौरुष्यादिहापना तथैव द्रष्टव्या । अथ तत्राप्यनवभाषितं न लभ्यते ततः स्वक्षेत्रे स्वग्राम-परग्रामयोरवभाषितमुत्पाद्य तद्दिवसमानयन्ति । अथ स्वक्षेत्रे 15 तद्दिवसं न प्राप्यते ततः परक्षेत्रादपि तद्दिवसमानेतव्यम् । अथ क्षेत्रबहिर्वर्तिनो यतो ग्रामादेरानीयते तद् न प्रत्यासन्नं किन्तु दूरतरं न तद्दिवसं गत्वा ततः प्रत्यायातुं शक्यते, विनाशि वा तद् द्रव्यं दुग्धादिकम्; ततः प्रत्यासन्नग्रामस्यासति विनाशिनि वा द्रव्ये ग्रहीतव्ये अपराह्णे गत्वा तत्र रात्रौ वसेत्, उषित्वा च सूर्योदयवेलायां गृहीत्वा द्वितीये दिने तत्रानयन्ति । अथ दवीयस्तरं तत् क्षेत्रमविनाशि द्रव्यं च ग्रहीतव्यम् ततोऽपान्तरालग्रामे रजन्यामुषिताः सूर्योदये 20 तत्र गत्वा तद् द्रव्यं गृहीत्वा भूयः समागच्छन्ति ॥ १९०३ ॥ एतदेवाह—

खित्तबहिया व आणे, विसोहिकोडिं वतिच्छितो काढे ।
पइदिवसमलब्भंते, कम्मं समइच्छिओ ठवए ॥ १९०४ ॥

क्षेत्रबहिर्वा गत्वा प्रथममनवभाषितं ततोऽवभाषितं पूर्वं तद्दिवसे ततो द्वितीयेऽपि दिवसेऽनन्तरोक्तया नीत्या यथायोगमानयेत् । एष विधिरेषणीयविषयो भणितः । अथैषणीयेन नासौ ग्लानः 25 संस्तरति ततः सक्रोशयोजनक्षेत्रस्यान्तः स्वग्राम-परग्रामयोः पञ्चकपरिहाण्या तदप्राप्तौ क्षेत्रबहिरपि पञ्चकपरिहाण्या तद्दिवसं ग्लानप्रायोग्यमुत्पादयन्ति । एवं यदा प्रायश्चित्तानुलोम्येन क्रीतकृताऽभ्याहृतादिकां विशोधिकोटीं[2] व्यतिक्रान्तो भवति तदा "काढि" त्ति ग्लानयोग्यमौषधादिकमन्येन स्वयं वा यतनया क्वाथयेत् । एवं प्रतिदिवसमलभ्यमाने यदा आधाकर्मापि समतिक्रान्तो[3] भवति, तदपि प्रतिदिवसं न प्राप्यत इत्यर्थः, ततो विशुद्धमविशुद्धं वा ग्लानप्रायोग्यं द्रव्यमुत्पाद्य 30

---

१ ततः क्षेत्रान्तः क्षेत्रबहिर्वा पञ्चकपरिहाण्या यदा क्रीतकृता-ऽभ्याहृतादिकां भा० कां० ॥
२ °कोटीमति° मो० ले० विना ॥ ३ °क्रान्तः, तद्° मो० ले० विना ॥

स्थापयेत् । ये तु ग्लानस्य प्रतिचरकास्ते यदि ग्लानकार्यव्यापृताः परक्षेत्रं वा व्रजन्तः स्वार्थम-हिण्डमाना न संस्तरन्ति तत एषणादिदोषेषु पञ्चकपरिहाणियतनया गृह्णन्ति ॥ १९०४ ॥

यत् तद् ग्लानार्थं परिवास्यते तत् कीदृशे स्थाने स्थाप्यते? इत्याह—

उव्वरगस्स उ असती, चिलिमिणि उभयं च तं जह न पासे ।
तस्सऽसइ पुराणादिसु, ठविंति तद्दिवस पडिलेहा ॥ १९०५ ॥

कृतयोगिना गीतार्थेन वा तद् अन्यस्मिन् गृहापवरके स्थापनीयम्। अथ नास्ति पृथगपवरकस्ततो वसतावेव योऽपरिभोग्यः कोणकस्तत्रै चिलिमिलिकया आवृत्य 'उभयं' ग्लाना-ऽगीतार्थलक्षणं यथा न पश्यति तथा स्थाप्यम् । यदि ग्लानस्तत् पश्यति तदा स यदा तदा तस्याभ्यवहारं कुर्वीत । अगीतार्थस्य तु तद् दृष्ट्वा विपरिणामा-ऽप्रत्ययादयो दोषा भवेयुः । "तस्सऽसइ" त्ति 'तस्य' अपरिभोग्यस्थानस्याभावे पुराणः—पश्चात्कृतस्तस्य गृहे आदिशब्दाद् मातापितृसमानेषु गृहेषु स्थापयन्ति । तस्य च तत्र स्थापितस्य तद्दिवसं प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या । तद्दिवसं नाम प्रतिदिनम् । यदुक्तं देश्याम्— तद्दिवसं अणुदिअहे (वर्ग ५ गा० ८) इति । ॥ १९०५ ॥

अथ "आणेउं दोहि वी कुज्जा" (गा० १९००) इत्यस्य व्याख्यानमाह—

फासुगमफासुगेण व, अचित्तेतर परित्तऽणंतेणं ।
आहार-तद्दिणेतर, सिणेह इअरेण वा करणं ॥ १९०६ ॥

प्रासुकेन अप्रासुकेन वा अचित्तेन 'इतरेण वा' सचित्तेन परीत्तेन अनन्तेन वा आहारेण अनाहारेण वा तद्दैवसिकेन 'इतरेण वा' परिवासितेन सस्नेहेन 'इतरेण वा' अस्नेहेन ग्लानस्य चिकित्सायाः करणमनुज्ञातम् ॥ १९०६ ॥

गता ग्लानानुवर्त्तना । अथ वैद्यानुवर्त्तनामभिधित्सुः प्रस्तावनां रचयन्नाह—

विज्जं न चेव पुच्छह, जाणंता विंति तस्स उवदेसो ।
दट्ठ-पिलगाइएसु व, अजाणगा पुच्छए विज्जं ॥ १९०७ ॥

ग्लानो ब्रूयात्—यूयं वैद्यं नैव पृच्छथ, आत्मच्छन्देनैव प्रतिचरणं कुरुथ । ततो यदि साधवो जानन्तः—चिकित्सायां कुशलास्ततो ब्रुवते—अस्माभिर्वैद्यः प्रागेव पृष्टस्तस्यैवायमुपदेश इति। यद्वा प्रतिश्रयान्निर्गत्य कियन्तमपि भूभागं गत्वा मुहूर्तमात्रं तत्र स्थित्वा समागत्य ब्रुवते—अयं वैद्येनोपदेशो दत्त इति । तथा दष्टं—सर्पडङ्कः पिलगं—गण्डः आदिग्रहणेन शीतलिका दुष्ट-वातो वेत्यादिपरिग्रहः, एतेष्वपि यदि ज्ञास्ततः स्वयमेव कुर्वन्ति । अथाज्ञास्ततो वैद्यं पृच्छन्ति ॥ १९०७ ॥ अत्र शिष्यः पृच्छति—

किह उप्पन्नो गिलाणो, अट्ठम उम्होदमाइया वुड्ढी ।
किंचि बहु मागमद्दे, ओमे जुत्तं परिहरंतो ॥ १९०८ ॥

---

१ °त्—परिवासयेत् । ये च ग्ला° भा० कां० ॥ २ ओवर° ता० ॥ ३ °क अथवा चिलिमिलिया वा आ° भा० ॥ ४ हेमचन्द्रीयदेशीनाममालायामित्यर्थः ॥ ५ "दट्ठ त्ति सप्पदट्ठादि, पिलगं फोडिया, आदिग्गहणेणं गंडादि" इति चूर्णौ । "दट्ठ त्ति सप्पदट्ठाइ, पिलगं गंडं, आदिग्गहणेणं फोडिया" इति विशेषचूर्णौ ॥

'कथं ?' केन हेतुना ग्लान उत्पन्नः ? इति । सूरिराह—बहवः खलु रोगातङ्का यैरसौ ग्लानत्वमुपजायते । तत्र ◁ "शुष्यन्ति त्रीणि शुष्यन्ति, चक्षूरोगो ज्वरो व्रणः ।" इति वचनाद् ▷ यदि ज्वरादिको विशोषणसाध्यो रोगः ततो जघन्येनाप्यष्टमं कारयितव्यः । यस्य यस्य रोगस्य पथ्यं तत् तस्य कार्यम्, यथा—वातरोगिणो घृतादिपानं पित्तरोगिणः शर्कराद्युपयोगः श्लेष्मरोगिणो नागरादिग्रहणमिति । "उण्होदगाइया वुड्ढि" त्ति उपवासं कर्तुमसहिष्णुर्यदि रोगेणामुक्तः पारयति तत एष क्रमः—उष्णोदके प्रक्षिप्य कूरसिक्थानि अमलितानि ईषन्मलितानि वा सप्त दिनानि एकं वा दिनं दीयन्ते । ततः "किंचि" त्ति उष्णोदके मधुरोल्लणं स्तोकं प्रक्षिप्य तेन सह ओदनं द्वितीये सप्तके दिने वा दीयते । एवं तृतीये "बहु" त्ति बहुतरं मधुरोल्लणं उष्णोदके प्रक्षिप्य दीयते । "भागि" त्ति चतुर्थे सप्तके दिने वा त्रिभागो मधुरोल्लणस्य द्वौ भागावुष्णोदकस्य, "अद्धे" त्ति पञ्चमे सप्तके दिने वा अर्द्धं मधुरोल्लणस्यार्द्धमुष्णोदकस्य, षष्ठे "ओमि" त्ति त्रिभाग उष्णोदकस्य द्वौ भागौ मधुरोल्लणस्य, सप्तमे सप्तके दिने वा "चुयं" ति 'युक्तं' किञ्चिन्मात्रमुष्णोदकं शेषं तु सर्वमपि मधुरोल्लणमित्येवं दीयते । तदनन्तरं द्वितीयादिकैरपि सहापथ्यान्यवगाहिमादीनि परिहरन् समुद्दिशति यावत् पुरातनमाहारं परिणमयितुं समर्थः सम्पन्न इति । ◁ एषा उष्णोदकादिका वृद्धिर्द्रष्टव्या । इह च सर्वत्राप्येकं दिनं [विशेष-चूर्णि-]बृहद्भाष्याभिप्रायेण दिनसप्तकं तु चूर्ण्यभिप्रायेणेति मन्तव्यम् ▷ ॥ १९०८ ॥

अथ "अट्ठम" त्ति पदं व्याख्यानयन्नाह—

जाव न मुक्को ता अणसणं तु मुक्के वि ऊ अभत्तट्ठो ।
असहुस्स अट्ठ छट्ठं, नाऊण रुयं व जं जोगं ॥ १९०९ ॥

यावदसौ ज्वर-चक्षूरोगादिना रोगेण न मुक्तस्तावद् 'अनशनम्' अभक्तार्थलक्षणं कर्त्तव्यम् । मुक्तेनापि चैकं दिवसमभक्तार्थो विधेयः । अथासावसहिष्णुस्ततोऽष्टमं वा षष्ठं वा करोति । ज्ञात्वा वा 'रुजं' रोगविशेषं यद् यत्र योग्यं शोषणमशोषणं वा तत् तत्र कार्यम् ॥ १९०९ ॥

यद्येवंकुर्वाणानामसौ रोग उपशाम्यति ततः सुन्दरम्, अथ नोपशाम्यति ततः को विधिः ? इत्याह—

एवं पि कीरमाणे, विज्जं पुच्छे अठायमाणम्मि ।
विज्जाण अट्ठगं दो, अणिड्ढि इड्ढी अणिड्ढियरे ॥ १९१० ॥

एवमपि क्रियमाणे यदि रोगो न तिष्ठति—नोपशाम्यति ततस्तस्मिन्नतिष्ठति वैद्यं पृच्छति । अथ कियन्तो वैद्या भवन्ति ? इत्याह—वैद्यानां खल्वष्टकं मन्तव्यम् । तत्र द्वौ वैद्यौ नियमाद् 'अनृद्धिकौ' ऋद्धिरहितौ, 'इतरे' षड् वैद्या ऋद्धिमन्तो अनृद्धिमन्तो वा ॥ १९१० ॥

तदेव वैद्याष्टकं दर्शयति—

अष्टौ वैद्याः

संविग्गमसंविग्गे, दिट्ठत्थे लिंगि सावए सण्णी ।
अस्सण्णि इड्ढि गइरागई य कुसलेण तेगिच्छं ॥ १९११ ॥

'संविग्नः' उद्यतविहारी १ 'असंविग्नः' तद्विपरीतः २ 'लिङ्गी' लिङ्गावशेषमात्रः ३ 'श्रावकः'

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० नास्ति ॥ २ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० कां० नास्ति ॥

प्रतिपन्नाणुव्रतः ४ 'संज्ञी' अविरतसम्यग्दृष्टिः ५ 'असंज्ञी' मिथ्यादृष्टिः, स च त्रिधा—अनभिगृहीतमिथ्यादृष्टिः ६ अभिगृहीतमिथ्यादृष्टिः ७ परतीर्थिकश्चेति[1] ८। "दिट्ठत्थे" त्ति दृष्टः—उपलब्धोऽर्थः—छेदश्रुताभिधेयरूपो येन स दृष्टार्थो गीतार्थ इत्यर्थः, एतत् पदं सप्रतिपक्षमत्र सर्वत्र योजनीयम्। तद्यथा—यः संविग्नः स गीतार्थो वा स्यादगीतार्थो वा। एवमसंविग्न-
5 लिङ्गस्थ-श्रावक-संज्ञिष्वपि गीतार्थत्वमगीतार्थत्वं च द्रष्टव्यम्, तथा चूर्णिकृता व्याख्यातत्वात्। अनभिगृहीतादयस्तु त्रयोऽपि नियमादगीतार्थाः। "इड्ढि" त्ति संविग्ना-ऽसंविग्नौ नियमादनृद्धिकौ, शेषास्तु ऋद्धिमन्तोऽनृद्धिमन्तो वा भवेयुः। सर्वेऽपि चैते प्रत्येकं द्विधा—कुशला अकुशलाश्च। 'गत्यागतिः' चारणिका, सा चामीषां कर्त्तव्या। तद्यथा—प्रथमं संविग्नगीतार्थेन चिकित्साकर्म कारयितव्यम्, अथासौ न लभ्यते ततोऽसंविग्नगीतार्थेन, तदभावे संविग्ना-
10 गीतार्थेन, तदप्राप्तावसंविग्नागीतार्थेनापि। एवं लिङ्गस्थादिष्वपि संज्ञिपर्यन्तेषु भावनीयम्। तेषामप्राप्तौ पूर्वमनभिगृहीतमिथ्यादृष्टिना, ततोऽभिगृहीतमिथ्यात्वेन, तदनन्तरं परतीर्थिकेनापि कारयितव्यम्। एते च पूर्वमनृद्धिमन्तो गवेषणीयाः न ऋद्धिमन्तः, तदीयगृहेषु दुःप्रवेशतया बहुदोषसद्भावात्। एते च यदि चिकित्साकुशला भवन्ति तत इत्थं क्रमः प्रतिपत्तव्यः। अथ यः संविग्नगीतार्थः सोऽकुशलो यस्त्वसंविग्नगीतार्थः स कुशलस्ततः संविग्नगीतार्थं परित्य-
15 ज्यासंविग्नगीतार्थेन कारापणीयम्। एवं बहूनप्यपान्तराले परित्यज्य यः कुशलस्तेन चैकित्स्यं कारयितव्यम्, एषा गत्यागतिः प्रतिपत्तव्या। यद्वा "इड्ढि गइरागइ" त्ति ऋद्धिमति गत्यागती कुर्वाणे महदधिकरणं भवति, अतोऽनृद्धिना कारयितव्यम्। ◁[2] न चैतत् स्वमनीषिकाविजृम्भितम्। यत आह विशेषचूर्णिकृत्—

अहवा गइरागइ त्ति इड्ढिमंताणं इंत-जंताणं अहिगरणदोसा, तम्हा अणिड्ढिणा कारेयव्वं ति। ▷
20 ॥ १९११ ॥ अमुमेवार्थमपराचार्यपरिपाट्या दर्शयति—

संविग्गेतर लिंगी, वइ अवइ अणागाढ आगाढे।[3]
परउत्थिय अट्ठमए, इड्ढी गइरागई कुसले ॥ १९१२ ॥

संविग्नः १ 'इतरश्च' असंविग्नः २ लिङ्गी च ३ इति त्रयोऽपि प्राग्वत्, 'व्रती' प्रतिपन्नाणुव्रतः ४ 'अव्रती' अविरतसम्यग्दृष्टिः ५ 'अनागाढः' अनभिगृहीतदर्शनविशेषः ६ 'आगाढः'
25 अभिगृहीतमिथ्यादर्शनः ७ 'परयूथिकः' शाक्य-परिव्राजकादिरष्टमः ८। "इड्ढी गइरागई कुसले" त्ति व्याख्यातार्थम् ॥ १९१२ ॥ अनन्तरोक्तक्रमविपर्यासे प्रायश्चित्तमाह—

वोच्चत्थे चउलहुगा, अगीयत्थे चउरो मासऽणुग्घाया।
चउरो य अणुग्घाया, अकुसले कुसलेण करणं तु ॥ १९१३ ॥

संविग्नगीतार्थं मुक्त्वा असंविग्नगीतार्थेन कारयति एवमादिविपर्यस्तकरणे चत्वारो लघवः।
30 गीतार्थं मुक्त्वा अगीतार्थेन कारयति चत्वारो मासा अनुद्घाताः। कुशलं विहायाकुशलेन कारयति चत्वारोऽनुद्घाता मासाः। यत एवमतः कुशलेन चिकित्साकरणमनुज्ञातम् ॥ १९१३ ॥

१ °ति ८। दृष्टार्थो नाम गीतार्थः, एतत् भा० ॥ २ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० नास्ति ॥
३ नेयं गाथा चूर्णिकृता विशेषचूर्णिकृता बृहद्भाष्यकृता वा व्याख्याताऽस्ति ॥

ग्लानार्थं वैद्यसमीपं गमन-विधिः

अथ वैद्यसमीपं गच्छतां विधिमभिधित्सुराह—

चोयगपुच्छा गमणे, पमाण उवगरण सउण वावारे ।
संगारो य गिहीणं, उवएसो चेव तुलणा य ॥ १९१४ ॥

प्रथमतो नोदकपृच्छा वक्तव्या, ततो गमनं वैद्यसकाशे साधूनाम्, ततस्तेषामेव प्रमाणम्, तत उपकरणम्, ततः शकुनाः, तदनन्तरं वैद्यस्य 'व्यापारः' प्रशस्ता-ऽप्रशस्तरूपः, ततः 5 'सङ्गारः' सङ्केतो गृहिणां पश्चात्कृतादीनां यथा कर्त्तव्यः, ततो वैद्येनौषधादिविषय उपदेशो यथा दीयते, ततस्तमुपदेशं श्रुत्वा यथा स्वयं तुलना कर्त्तव्या, तदेतत् सर्वमपि वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः ॥ १९१४ ॥ अथ विस्तरार्थः प्रतिपाद्यते—तत्र प्रथमं नोदकपृच्छाद्वारम्, शिष्यः पृच्छति—किं ग्लानो वैद्यसमीपं नीयताम्? अथ वैद्य एव ग्लानसकाशमानीयताम्? अत्र कश्चिदाचार्यदेशीयः प्रतिवचनमाह— 10

पाहुडिय त्ति य एगो, नेयव्वो गिलाणओ उ विज्जघरं ।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥ १९१५ ॥

'एकः' कश्चित् प्राह—वैद्ये ग्लानान्तिकमानीयमाने 'प्राभृतिका' वक्ष्यमाणलक्षणा भवति, अतो ग्लान एव वैद्यगृहं नेतव्यः । इत्थमाचार्यदेशीयेनोक्ते सूरिराह—एवं 'तत्र' ग्लाननयनविषये भणतो भवतश्चत्वारो मासा गुरुका भवन्ति ॥ १९१५ ॥ 15

केयं पुनः प्राभृतिका? इत्यत आह—

रह-हत्थि-जाण-तुरए-अणुरंगाईहिँ इंति कायवहो ।
आसण मट्टिय उदए, कुरुकुय सघरे उ परजोगो ॥ १९१६ ॥

रथ-हस्तिनौ—प्रतीतौ यानं—शिबिकादिकं तुरगः—प्रसिद्धः अनुरङ्गा—गन्त्री एतैः आदिशब्दादपरेण वा विच्छर्देन 'आयाति' आगच्छति वैद्ये कायानां—पृथिव्यादीनां वधो भवति । तथा 20 समायातस्यासनं दातव्यम् । ग्लानस्य च शरीरे परामृष्टे व्रणादिपाटने वा कृते कुरुकुचाकारापणे मृत्तिकाया उदकस्य च वधो भवति । स्वगृहे तु परयोगो भवति, परप्रयोगेण सर्वमपि भवति न साधूनां किमप्यधिकरणं भवतीत्यर्थः । एषा प्राभृतिका वैद्ये ग्लानसमीपमानीयमाने यतो भवति ॥ १९१६ ॥ अतः किम्? इत्याह—

लिंगत्थमाइयाणं, छण्हं वेज्जाण गम्मऊ मूलं । 25
संविग्गमसंविग्गे, उवस्सगं चेव आणेज्जा ॥ १९१७ ॥

लिङ्गस्थादीनां षण्णामपि वैद्यानां गृहं ग्लानं गृहीत्वा गम्यताम् नैते उपाश्रयमानेतव्याः, अधिकरणदोषभयात् । संविग्नोऽसंविग्नश्च एतौ द्वावप्युपाश्रयमेवानयेत्, दोषाभावात् ॥१९१७॥

ऍवं परेणोक्ते[1] सूरिराह—

वाता-ऽऽतवपरितावण, मयपुच्छा सुण्ण किं सुसाणकुडी । 30
स च्चेव य पाहुडिया, उवस्सए फासुया सा उ ॥ १९१८ ॥

ग्लानो वैद्यगृहं नीयमानो वातेन आतपेन च महतीं परितापनामनुभवति । "मयपुच्छ" त्ति

---

१ एवं नोदकेनोक्ते भा० ॥

लोकस्तं तथानीयमानं दृष्ट्वा पृच्छति—किमेष मृतो यदेवं नीयते? । "सुण्णे"ति स ग्लानो नीयमानोऽपान्तरालेऽपद्राणस्ततो वैद्येन यावद् मुखमुद्घाटितं तावत् 'शून्यं' जीवरहितं शवं तिष्ठतीति विज्ञाय ब्रूयात्—किं मदीयं गृहं श्मशानकुटी यदेवं मृतमानयत? । ततः स वैद्यः 'शवस्य स्पृष्टोऽहम्' इति कृत्वा सचेलः स्नायात्, फलहकाभ्यन्तरे वा छगणपानीयं दापयेत्, ततो ननु 5 सैव प्राभृतिका समधिकतरा भवेत् । उपाश्रये पुनः प्राशुकपानकादिना सा क्रियेत ततो न काचिद् विराधना भवतीति ॥ १९१८ ॥ गतं नोदकपृच्छाद्वारम् । अथ गमनद्वारमाह—

उग्गह-धारणकुसले, दक्खे परिणामए य पियधम्मे ।
कालन्नू देसन्नू, तस्साणुमए अ पेसिज्जा ॥ १९१९ ॥

वैद्येन दीयमानमुपदेशं ये झगित्येवावबुध्यन्ते न च चिरादपि विस्मारयन्ति तेऽवग्रह-धार- 10 णाकुशलास्तान् तथा 'दक्षान्' शीघ्रकारिणः 'परिणामकान्' यथास्थानमपवादपदपरिणमनशीलान् 'प्रियधर्मिणः' धर्मश्रद्धालून् 'कालज्ञान्' वैद्यान्तिके प्रविशतां यः कालः—प्रस्तावस्तद्वेदिनः 'देशज्ञान्' यत्र प्रदेशे वैद्य उपविष्टस्तं प्रशस्तमप्रशस्तं वा ये जानते तान् तथा 'तस्य' ग्लानस्य वैद्यस्य वा येऽनुमताः—अभिप्रेतास्तान् वैद्यसकाशं प्रेषयेत् ॥ १९१९ ॥

अत्रैव व्यतिरेके प्रायश्चित्तमाह—

15 **एअगुणविप्पमुक्के, पेसिंतस्स चउरो अणुग्घाया ।**
गीयत्थेहि य गमणं, गुरुगा य इमेहिँ ठाणेहिं ॥ १९२० ॥

एते—अवग्रह-धारणाकुशलत्वादयो ये गुणास्तैर्विप्रमुक्तान् प्रेषयत आचार्यस्य चत्वारोऽनुद्धाताः प्रायश्चित्तम् । गीतार्थैश्च तत्र गमनं कर्त्तव्यम् । चतुर्गुरुकाश्च प्रायश्चित्तम् 'एभिः' वक्ष्यमाणैः स्थानैः क्रियमाणैर्मन्तव्यम् ॥ १९२० ॥ तान्येवाभिधित्सुः प्रमाणोपकरणद्वारद्वयमाह—

20 **एक्कग दुगं चउक्कं, दंडो दूया तहेव नीहारी ।**
किण्हे नीले मइले, चोल रय निसिज्ज मुहपत्ती ॥ १९२१ ॥

यद्येकः साधुर्वैद्यसमीपे प्रेष्यते ततः स वैद्यः 'यमदण्डोऽयमागतः' इति दुर्निमित्तं गृह्णीयात्, अथ द्वौ प्रेष्येते ततः 'यमदूतावेतौ' इति मन्येत, अथ चत्वारः प्रेष्यन्ते ततः 'नीहारिणः' शवस्य स्कन्धदायिनोऽमी इति मिनुयात्, एतावतां च प्रेषणे चतुर्गुरुकम् । उपकरणद्वारे— 25 यदि कृष्णं नीलं मलिनं वा उपकरणं प्रावृण्वन्ति तदा चतुर्गुरु । उपकरणं चेह चोलपट्टको रजोहरणं निषद्याद्वयोपेतं मुखवस्त्रिका उपलक्षणत्वादौर्णिक-सौत्रिकौ च कल्पाविति मन्तव्यम् । ततः शुद्धं श्वेतं चोपकरणं ग्रहीतव्यम् ॥ १९२१ ॥ अथ शकुनद्वारमाह—

मइल कुचेले अब्भंगियल्लए साण खुज्ज वडभे य ।
कासायवत्थ उद्धूलिया य कज्जं न साहेंति ॥ १९२२ ॥
30 **नंदीतूरं पुण्णस्स, दंसणं संख-पडहसद्दो य ।**
भिंगार छत्त चामर, एवमादी पसत्थाइं ॥ १९२३ ॥

अनयोर्व्याख्या प्राग्वत् (गा० १५४७–५०) ॥ १९२२ ॥ १९२३ ॥

---

१ °शुकेन पानीयादिना भा० ॥ २ मनु° त० डे० ॥

आवडणमाइएसुं, चउरो मासा हवंतऽणुग्घाया ।
एवं ता वच्चंते, पत्ते य इमे भवे दोसा ॥ १९२४ ॥

'आपतनं' द्वारादौ शिरसो घट्टनम्, आदिशब्दात् प्रपतनं प्रस्खलनं वा सञ्जातम्, अपरेण वा वस्त्रादौ गृहीत्वा पश्चान्मुख आकृष्टः, 'कुत्र वा व्रजसि ?' इत्यादि भणितः, गच्छतामेव वा केनापि क्षुतम्, एवमादिष्वपशकुनेषु जातेषु यदि गच्छति तदा चत्वारो मासा अनुद्धाता 5 भवन्ति । एवं तावद् व्रजतो मन्तव्यम् । अथ वैद्यगृहं प्राप्तस्तत इमे दोषाः परिहर्त्तव्या भवन्ति ॥ १९२४ ॥ तानेव प्रतिपादयन् व्यापारद्वारमाह—

साड-ऽब्भंगण-उव्वलण-लोय-छारु-कुरुडे य छिंद-भिंदंतो ।
सुहआसण रोगविहिं, उवएसो वा वि आगमणं ॥ १९२५ ॥

शुक्लशाटकपरिधानो यदा वैद्यो भवति तदा न प्रष्टव्यः । एवं तैलादिना अभ्यञ्जनं कल्क- 10 लोध्रादिना वा उद्वर्त्तनं लोचकर्म वा—कूर्चमुण्डनादिलक्षणं कारयन्, क्षारस्य—भस्मन उत्कुरुटकस्य—कचवरपुञ्जकस्य उपलक्षणत्वाद् बुसादीनां वा समीपे स्थितः, कोष्ठादिकं वा रप्फकादिना वा दूषितं कस्याप्यङ्गं छिन्दानः, घटम् अलाबुकं वा भिन्दानः, शिराया वा भेदं कुर्वाणो न प्रच्छनीयः, अथ ग्लानस्यापि किञ्चित् छेत्तव्यं भेत्तव्यं ततश्छेदन-भेदनयोरपि प्रष्टव्यः । अथासौ शुभासने उपविष्टः 'रोगविधिं' वैद्यशास्त्रपुस्तकं प्रसन्नमुखः प्रलोकयति, अथवा रोगविधिः—चिकित्सा 15 तां कस्यापि प्रयुञ्जान आस्ते ततो धर्मलाभयित्वा प्रष्टव्यः । स च वैद्यः पृष्टः सन्नुपदेशं वा दद्याद् ग्लानसमीपे वा आगमनं कुर्यात् ॥ १९२५ ॥ अथ सञ्चारश्च गृहिणामिति द्वारं व्याख्यानयति—

पच्छाकडे य सण्णी, दंसणऽहाभद्द दाणसड्ढे य ।
मिच्छदिट्ठि संबंधिए अ परतित्थिए चेव ॥ १९२६ ॥

'पश्चात्कृतः' चारित्रं परित्यज्य गृहवासं प्रतिपन्नः, 'संज्ञी' गृहीताणुव्रतः, "दंसण" त्ति 20 दर्शनसम्पन्नोऽविरतसम्यग्दृष्टिः, 'यथाभद्रकः' सम्यक्त्वरहितः परं सर्वज्ञशासने साधुषु च बहुमानवान्, 'दानश्राद्धः' दानरुचिः, 'मिथ्यादृष्टिः' शाक्यादिशासनस्थः, 'सम्बन्धी' ग्लानस्यैव स्वजनः, 'परतीर्थिकः' सरजस्क-परिव्राजकादिः परं भद्रकः । एतेषां सङ्केतः क्रियते, यथा—वैद्यस्य पार्श्वे वयं गच्छामः, भवद्भिस्तत्र सन्निहितैर्भवितव्यम्, यदसौ ब्रूयात् तद् युष्माभिः सर्वमपि प्रतिपत्तव्यम् ॥ १९२६ ॥ ये वैद्यसमीपे प्रस्थापितास्ते वैद्यस्येदं कथयन्ति— 25

वाहि नियाण विकारं, देसं कालं वयं च धातुं च ।
आहार अग्गि-धिइबल, समुइं च कहिंति जा जस्स ॥ १९२७ ॥

'व्याधिं' ज्वरादिकं रोगं 'निदानं' रोगोत्थानकारणं 'विकारं' प्रवर्द्धमानरोगविशेषं 'देशं' ग्लानत्वोत्पत्तिनिबन्धनप्रवात-निवातादिप्रदेशरूपं 'कालं' रोगोत्[3]थानसमयं पूर्वाह्णादिकं 'वयश्च' शैशव-तारुण्यादिकं 'धातुं च' वातादीनां धातूनामन्यतमो यस्तस्योत्कटो वर्त्तते तं 'चः' समुच्चये 30

---

१ वा उपरि अवष्टभ्य वा स्थि° भा० ॥ २ °स्त्रं वाचयति ततः प्रष्टव्यः । स च भा० ॥ ३ °गोत्पत्तिकारणभूतं वसन्तादिकं रोगोत्थानसमयं वा पूर्वा° भा० । ४ मो० ले० विनाऽन्यत्र—°तमो य उत्कटस्तम् 'आहा° त० डे० कां० । °तमो धातुरस्योत्कटो वर्त्तते इत्येवं 'आहा° भा० ॥

'आहारम्' अल्पभोजित्वादिलक्षणम् अग्निबलं—जाठरो वह्निरस्य मन्दः प्रबलो वा इत्येवं धृतिबलं—सात्त्विकः कातरो वाऽयमित्येवं तथा "समुइं" ति प्रकृतिः सा च या यस्य जन्मतः प्रभृति तां च कथयन्ति ॥ १९२७ ॥ अथोपदेशद्वारमाह—

कलमोदणो य खीरं, ससक्करं तूलियाइयं दव्वे ।
5 भूमिघरेट्टग खेत्ते, काले अमुगीइ वेलाए ॥ १९२८ ॥
इच्छाणुलोम भावे, न य तस्सऽहिया जहिं भवे विसया ।
अहवण दित्तादीसुं, पडिलोमा जा जहिं किरिया ॥ १९२९ ॥

अनन्तरोक्तं व्याधि-निदानादिकं श्रुत्वा वैद्यः स्वगृहस्थित एव द्रव्यादिभेदात् चतुर्विधमुपदेशं दद्यात् । तद्यथा—द्रव्यतः कलमशालिरोदनस्तथा क्षीरं च सशर्करमस्य दातव्यम्, तथा तूलि-10 कायां शाययितव्यः[1], आदिशब्दाद् गोशीर्षचन्दनादिना विलेपनीय इत्यादि । क्षेत्रतो भूमिगृहे पक्वेष्टकागृहे वाऽयं स्थापनीयः । कालतोऽमुकस्यां वेलायां प्रथमप्रहरादौ भोजनमयं कारणीयः । भावतो यदस्य स्वकीयाया इच्छाया अनुलोमम्—अनुकूलं तदेव कर्त्तव्यम्, नास्याज्ञा कोपनीयेति भावः, तथा यत्र 'तस्य' ग्लानस्य विषयाः 'अहिताः' अनिष्टाः क्रन्दित-विलपितादिरूपा गीत-वादित्रगोचरा वा शब्दादयो न भवन्ति तत्र स्थापनीय इति शेषः । 'अहवण" त्ति अथवा 15 'दृप्तादिषु' दृप्तचित्तप्रभृतिषु प्रतिलोमा क्रिया कर्त्तव्या । तत्र दृप्तचित्तस्यापमानना, यथा ◁ अपमानादिनाऽपहृतचित्तस्य[2] ▷ दर्पातिरेकज[3] उन्मादः शाम्यति, ◁ क्षिप्तचित्तस्यापमानादिनोप-हृतचित्तस्य[4] ▷ सम्मानना; यक्षाविष्टस्य तु यथायोगमपमानना सम्मानना वा विधेया; ज्वरादौ वा रोगे विशोषणादिका क्रिया या यत्र युज्यते सा तत्र विधेयेति ॥ १९२८ ॥ १९२९ ॥

अथ तुलनाद्वारमाह—

20 अपडिहणंता सोउं, कयजोगाऽलंभि तस्स किं देमो ।
जहविभवा तेगिच्छा, जा लंभो ताव जूहंति ॥ १९३० ॥

वैद्येन दीयमानमुपदेशम् 'अप्रतिघ्नन्तः' तद्वचनमविकुट्टयन्तः श्रुत्वाऽऽत्मानं तोलयन्ति—किमेतत् कलमशाल्यादिकं लप्स्यामहे न वा ? इति । यदि विज्ञायते 'ध्रुवं लप्स्यामहे' ततो न किमपि भणन्ति । अथ न तस्य ध्रुवो लाभः ततो भणन्ति—यथा युष्माभिरुपदेशो दत्तस्तथा 25 वयं योगं करिष्यामः, परं यदि कृतेऽपि योगे न लभामहे ततस्तस्य किं दद्मः ?; अपि च वैद्यकशास्त्रे 'यथाविभवा' विभवानुरूपा चिकित्सा भणिता, यस्य यादृशी विभूतिस्तस्य तदनुरूपैरौषधैः पथ्यैश्च चिकित्सा क्रियते इत्यर्थः; अतो यूयमपि जानीथ, यथा—अस्माकं सर्वमपि याचितं लभ्यते नायाचितम्, अतो यदा कलमशाल्यादिकं याच्यमानमपि न प्राप्यते तदा किं दातव्यम् ? इति । एवं वैद्योपदेशमपसर्पयन्तस्तावद् "जूहंति[5]" त्ति देशीशब्दत्वाद् आनयन्ति यावद् 30 यस्य द्रव्यस्य कोद्रव-कूरादेर्ध्रुवः[6] प्रतिदिनभावी लाभो भवतीति ॥ १९३० ॥

---

१ °रयितव्यः । भा° भा० ॥ २ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० नास्ति ॥ ३ मो० ले० विनाऽन्यत्र—°स्य तस्य दर्पा° त० डे० कां० ॥ ४ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० पुस्तक एव वर्त्तते ॥ ५ °ति" आन° मो० ले० विना ॥ ६ °वो लाभो भवति मो० ले० विना ॥

अथ तुलनामेव प्रकारान्तरेणाह—

नियएहिँ ओसहेहिं, कोइ भणेज्जा करेमऽहं किरियं ।
तस्सऽप्पणो य थामं, नाउं भावं च अणुमन्ना ॥ १९३१ ॥

तस्य ग्लानस्य 'कोऽपि' सज्ञातको वैद्यो भणेत्—निजकैरौषधैरहं ग्लानस्य करोमि क्रियाम्, प्रेषयत मदीये गृहे ग्लानमिति । ततो गुरुभिः पृष्टेन ग्लानेन तस्यात्मनश्च 'स्थाम' वीर्यं तोल- 5 नीयम्—किमेष वैद्य औषधानि पूरयितुं समर्थो न वा ?, अहमपि किं धृत्या बलवान् ? आहोश्विदबलवान् ?, भावो नाम–किमेष धर्महेतोश्चिकित्सां चिकीर्षुः स्वगृहे मामाकारयति ? उताहो उन्निष्कामणाभिप्रायेण ? इति । यद्यसौ गृहस्थ औषधपूरणे समर्थो यदि च स्वयं धृत्या बलवान् यदि च धर्महेतोः सज्ञातकस्तमाकारयति तत एवं तस्यात्मनश्च वीर्यं भावं च ज्ञात्वा गुरूणामनुज्ञां गृहीत्वा तत्र गन्तव्यं नान्यथेति ॥ १९३१ ॥ अथासौ वैद्यो ब्रूयात्— 10

जारिसयं गेलन्नं, जा य अवत्था उ वट्टए तस्स ।
अद्दट्ठूण न सक्का, वोत्तुं तं वच्चिमो तत्थ ॥ १९३२ ॥

यादृशं युष्माभिः 'ग्लान्यं' ग्लानत्वमाख्यातं 'या च' यादृशी तस्यावस्था वर्त्तते तदेतदद्दृष्ट्वा न शक्यते किमप्यौषधादि 'वक्तुम्' उपदेष्टुम्, ततः 'तत्रैव' ग्लानसमीपे व्रजाम इति ॥१९३२॥

एवं भणित्वा प्रतिश्रयमागतस्य तस्य यो विधिः कर्त्तव्यस्तमभिधित्सुर्द्वारगाथामाह— 15

अब्भुट्ठाणे आसण, दायण भद्दे भती य आहारो ।
गिलाणस्स य आहारे, नेयव्वो आणुपुव्वीए ॥ १९३३ ॥

प्रथममभ्युत्थानविषयो विधिर्वक्तव्यः, तत आसनविषयः, ततो ग्लानस्य दर्शना यथा क्रियते, ततः "भद्दे" त्ति भद्रको वैद्यो यथा चिकित्सामेवमेव करोति, इतरस्य तु 'भृतिः' मज्जनादिकं चिकित्सावेतनम् आहारश्च यथा दातव्यः, ग्लानस्य च यथा आहारे यतना कर्त्तव्या 20 तथा सर्वोऽपि विधिरानुपूर्व्या प्ररूप्यमाणो ज्ञातव्य इति समुदायार्थः ॥ १९३३ ॥

अवयवार्थं तु प्रतिद्वारमभिधित्सुराह—

अब्भुट्ठाणे गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो भवे दोसा ।

---

१ तस्य ग्लानस्य कोऽपि सज्ञातिको भणेत्—निजकैरौषधैरहं ग्लानस्य करोमि क्रियाम्, प्रेषयत मदीये गृहे ग्लानमिति । ततः किं कर्त्तव्यम् ? इत्याह—'तस्य' गृहस्थस्य 'स्थाम' वीर्यम्–'किमौषधानि पूरयितुं [समर्थो वा ? अ]समर्थः ?' इत्येवं ज्ञात्वा, 'आत्मनो वा' तस्य ग्लानस्य स्थाम ज्ञात्वा–' किं धृत्या बलवान् ? आहोश्विदबलवान् ?' इति, भावं च ज्ञात्वा–'किमेष धर्महेतोश्चिकित्सां चिकीर्षुः स्वगृहे ग्लानमाकारयति ? उताहो उन्निष्कामणाभिप्रायेण ?' इति । यद्यसौ गृहस्थ औषधपूरणे समर्थो यदि च ग्लानो धृत्या बलवान् यदि च धर्महेतोः सज्ञातिकस्तमाकारयति ततोऽनुज्ञा दातव्या अन्यथा तु नेति ॥ १९३१ ॥ इति भा० पुस्तके टीका ।

"अथवा सण्णातओ से कोइ भणेज्जा—णियगाणि० गाथा ॥ तस्स थामं–किं ओसधाणं समत्थो असमत्थो ?, अप्पणो थामं–किं ति धितिए बलिओ एस ण वा ?, भावं च त्ति–किं णेहेणं ? धम्महेउं वा ? अथ परिणामेंतओ ?, एवं णातुं अणुण्णा ॥" इति चूर्णौ ॥

मिच्छत्त रायमादी, विराहणा कुल गणे संघे ॥ १९३४ ॥

आचार्यो यदि वैद्यस्यागतस्याभ्युत्थानं करोति तदा चत्वारो गुरुकाः । तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवेयुः । तथा मिथ्यात्वं राजादयो व्रजेयुः, आदिग्रहणेन राजामात्यादिपरिग्रहः । ते हि चारपुरुषादिमुखादाचार्यं वैद्यस्याभ्युत्थितं श्रुत्वा स्वयं वा दृष्ट्वा चिन्तयेयुः—अमी श्रमणा अस्माकमभ्युत्थानं न कुर्वन्ति, अस्मद्भृत्यस्य तु नीचतरस्येत्थमभ्युत्तिष्ठन्ते, अहो ! दुर्दृष्टधर्माणोऽमी इति । प्रद्विष्टा वा यत् तस्यैवाचार्यस्य यदि वा कुलस्य गणस्य सङ्घस्य वा विराधनां कुर्युः तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ॥ १९३४ ॥

अणब्भुट्ठाणे गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो भवे दोसा ।
मिच्छत्त सो व अन्नो, गिलाणमादीविराहणया ॥ १९३५ ॥

अथैतद्दोषभयादाचार्यो नोत्तिष्ठति तत्रापि चतुर्गुरुकाः । तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवन्ति । 'स वा' वैद्योऽन्यो वा तं दृष्ट्वा मिथ्यात्वं गच्छेत्, यथा—अहो ! तपस्विनोऽप्यमी गर्वमुद्वहन्ति । प्रद्विष्टो वा वैद्यो ग्लानस्य क्रियां न कुर्याद् अपप्रयोगं वा कुर्यात्, एवं ग्लानविराधना। आदिशब्दादाचार्यादेर्वा राजवल्लभतया विराधनां कुर्यात्, यद्वा 'युष्माकं देहेऽमुको व्याधिर्वर्तते तच्चिकित्सार्थममुकमौषधं भवतां दास्यते' इति भणित्वा विरुद्धौषधप्रदानेनाचार्यं विराधयेत् ॥ १९३५ ॥ यत एते दोषा अतोऽयं विधिः कर्त्तव्यः—

गीयत्थे आणयणं, पुव्विं उट्ठित्तु होइ अभिलावो ।
गिलाणस्स दावणं धोवणं च चुन्नाइगंधे य ॥ १९३६ ॥

गीतार्थैर्वैद्यस्य प्रतिश्रये आनयनं कर्त्तव्यम् । यदि ते पञ्च जनास्ततः सङ्घाटकः प्रथमत एवागच्छति । अथ त्रयस्तत एकस्तन्मध्यात् प्रथममागच्छति, आगत्य च गुरूणां कथयति—वैद्य आगच्छतीति । ततो गुरवो द्वे आसने तत्र साधुभिः स्थापयन्ति । स्वयं तु चङ्क्रमणलक्ष्येण 'पूर्वं' वैद्यागमनात् प्रागेवोत्थायोर्द्ध्वं स्थिता आसते । गीतार्थैश्च निवेदयितव्यम् 'एष वैद्यः' इति । आचार्यैश्च पूर्वमनालपतोऽपि वैद्यस्याभिलापः कर्त्तव्यः, पूर्वन्यस्तेन चासनेनोपनिमन्त्रणीयः । तत आचार्यो वैद्यश्च द्वावप्यासने उपविशतः । ततो ग्लानस्य दर्शना कार्या । कथम् ? इत्याह—ग्लानस्य यद् उपकरणे शरीरे वा अशुचिनोपलिप्तं तस्य 'धावनं' प्रक्षालनं कर्त्तव्यम्, चशब्दात् खेल-कायिकी-संज्ञामात्रकाण्येकान्ते स्थापनीयानि, भूमिकाया उपलेपनं सम्मार्जनं च विधेयम्, तथापि यदि दुर्गन्धो भवति ततः पटवासादिचूर्णानि तत्र विकीर्यन्ते, आदिशब्दात् कर्पूरादिभिः सुगन्धिद्रव्यैरशुभो गन्धोऽपनीयते, ततः प्रावृतशुक्लवासाः शुचीभूतो ग्लानो वैद्यस्य दर्श्यते । यदि तस्य किञ्चिद् व्रणादिकं पाटयितव्यं तदा तस्मिन् पाटिते सति उष्णोदकादि प्रासुकं हस्तधावनं दातव्यम् । अथोष्णोदकमसौ नेच्छति ततः पश्चात्कृतादयो मृत्तिकामुदकं वा प्रयच्छन्ति ॥ १९३६ ॥ गतमभ्युत्थाना-ऽऽसन-दर्शनाद्वारत्रयम् । अथ भद्रकद्वारमाह—

चउपादा तेगिच्छा, को भेसज्जाइँ दाहिई तुब्भं ।
तहियं च पुव्वपत्ता, भणंति पच्छाकडाद्ऽम्हे ॥ १९३७ ॥

वैद्यो ब्रूयात्—चिकित्सा चतुष्पादा भवति, चत्वारः पादाः—चतुर्थांशरूपा यस्यां सा चतु-

ष्पादा, तद्यथा—आतुरः प्रतिचरका वैद्यो भेषजानि । ◁ एतैश्चतुर्भिर्वैद्यशास्त्रोक्तगुणोपेतैश्चिकित्सा निष्पद्यते, ▷ अतः को नाम ग्लानस्य योग्यानि भेषजानि युष्माकं प्रदास्यति ? । ततस्तत्र दत्तसङ्केततया पूर्वप्राप्ताः पश्चात्कृतादयो भणन्ति—वयं दास्याम इति । एवं तावद् भद्रको वैद्यः क्रियां करोति न चान्यत् किमपि स्पृहयति ॥ १९३७ ॥

यस्तु प्रान्तस्तमुद्दिश्य भृतिद्वारमाहारद्वारं चाह—   5

कोई मज्जणगविहिं, सयणं आहार उवहि केवडिए ।
गीयत्थेहि य जयणा, अजयण गुरुगा य आणाई ॥ १९३८ ॥

कश्चिद् वैद्यो ब्रूयात्—मज्जनं–स्नानं तस्य विधिः–प्रकारः 'मज्जनविधिः' तैलाभ्यङ्गनादिप्रक्रियापुरस्सरं स्नानमित्यर्थः, 'शयनं' पल्यङ्कादि, 'आहारः' भोजनम्, 'उपधिः' वस्त्रादिरूपः, "केवडिय" त्ति रूपकाः, एतत् सर्वं मम को नाम दास्यति ? इति । ततः पश्चात्कृतादिभिर-   10
भ्युपगन्तव्यम्—वयं दास्यामः । तेषामभावे गीतार्थैर्यतनया सर्वमप्यभ्युपगन्तव्यम् । यद्ययतनया अभ्युपगच्छन्ति प्रतिषेधयन्ति वा ततश्चत्वारो गुरुकाः आज्ञादयश्च दोषाः । एषा निर्युक्तिगाथा ॥ १९३८ ॥ अथैनामेव विभावयिषुराह—

एयस्स नाम दाहिह, को मज्जणगाइ दाहिई मज्झं ।
ते चेव णं भणंती, जं इच्छसि अम्हे तं सव्वं ॥ १९३९ ॥   15

'एतस्य' ग्लानस्य 'नाम' इति सम्भावनायां यद् यत् प्रायोग्यं भेषजादि तत् तत् सर्वं दास्यथ, मम पुनर्मज्जनकादिकं को दास्यति ? इत्युक्ते 'त एव' पश्चात्कृतादयः "णं" इति तं वैद्यं भणन्ति—यद् इच्छसि तत् सर्वं वयं दास्याम इति ॥ १९३९ ॥

जं एत्थ अम्हे सव्वं, पडिसेहे गुरुग दोस आणादी ।
एएसिं असईए, पडिसेहे गुरुग आणादी ॥ १९४० ॥   20

ये ते पूर्वं पश्चात्कृतादयः प्रज्ञापितास्तैः 'यदत्र ग्लानस्य युष्माकं चोपयुज्यते तत् सर्वं वयं दास्यामः' इत्युक्ते सति यः साधुस्तानधिकरणभयात् प्रतिषेधयति तस्य चत्वारो गुरुका आज्ञादयश्च दोषाः । अथ न सन्ति पश्चात्कृतादयस्तत एतेषाम् 'असति' अभावे यो वैद्यं 'प्रतिषेधयति' 'न वयं भवतो मज्जनादि दास्यामः' इति तस्यापि चतुर्गुरुका आज्ञादयश्च दोषाः ॥ १९४० ॥

पश्चात्कृतादिषु प्रतिषिध्यमानेषु यद् वैद्यश्चिन्तयति तदाह—   25

जुत्तं सयं न दाउं, अन्ने दिंते वि ऊ निवारिंति ।
न करिज्ज तस्स किरियं, अवप्पओगं वं से दिज्जा ॥ १९४१ ॥

युक्तममीषां स्वयमदातुम् अपरिग्रहत्वात्, यत् पुनरन्यान् ददतो निवारयन्ति तन्न युज्यते । एवं प्रद्विष्टः सन् 'तस्य' ग्लानस्य क्रियां न कुर्यात्, 'अपप्रयोगं वा' विरुद्धौषधयोगं "से" तस्य 'दद्यात्' प्रयुञ्जीत, तस्मादन्यान् न निवारयेदिति ॥ १९४१ ॥   30

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः त० डे० कां० नास्ति ॥ २ °तुर्भिर्मिलितैश्चि° भा० ॥ ३ °पधिः' तूलीप्रभृतिकं "के° भा० ॥ ४ °षा पुरातना गाथा° मो० ले० विना । "कोई मज्जणगविहिं० गाहा पुरातना" इति विशेषचूर्णौ ॥ ५ त० डे० विनाऽन्यत्र–व से देज्ज मो० ले० । व देसिज्जा भा० कां० ॥

दाहामो त्ति य गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो भवे दोसा ।
संका व सूयएहिं, हिय नट्ठे तेणए वा वि ॥ १९४२ ॥

पश्चात्कृतादीनामभावे यदि साधवो भणन्ति 'वयमवश्यं ते सर्वमपि दास्यामः' इति तदा चत्वारो गुरुकाः, तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवेयुः । तथा कस्यापि हिरण्यादौ केनचिद् हृतेऽन्यथा 5 वा नष्टे सति शङ्का भवति—अहिरण्य-सुवर्णा अप्यमी यद् दास्याम इति भणन्ति तद् नूनमेतैरेव गृहीतमिति । यद्वा 'सूचकैः' आरक्षिकादिभिस्तच्छ्रुत्वा राजकुले गत्वा सूच्यते, यथा—स्तेनका एते श्रमणाः, येन वैद्यस्य हिरण्यादिकं दातव्यतया प्रतिपद्यन्ते । ततो ग्रहणा-ऽऽकर्षणादयो दोषाः ॥ १९४२ ॥

पडिसेह अजयणाए, दोसा जयणा इमेहिं ठाणेहिं ।
10 **भिक्खण इड्ढी बिइयपद रहिय जं भाणिहिसि जुत्तं ॥ १९४३ ॥**

पश्चात्कृतादीनामभावे यद्ययतनया 'प्रतिषेधयन्ति' 'न तव भृतिं वा भक्तं वा दास्यामः' इति ततश्चतुर्गुरुका आज्ञादयश्च दोषाः । तस्माद् यतना एभिः स्थानैः कर्त्तव्या—"भिक्खण" त्ति भिक्षां कृत्वा वयं दास्यामः, "इड्ढि" त्ति ऋद्धिमता वा निष्क्रामता यत् क्वापि निक्षिप्तं तद् गृहीत्वा दास्यामः, "बिइयपदे"ति 'द्वितीयपदे वा' क्वचित् कारणजाते सञ्जाते सति यदर्थ-15 जातं गृहीतं तद् उद्धरितं दास्यामहे । "रहिए" त्ति पश्चात्कृतादिरहिते एवं भणन्ति—"जं भाणिहिसि जुत्तं" यत् त्वं भणिष्यसि तद् यथाशक्ति करिष्यामः, यद् वा अस्माकं 'युक्तम्' उचितं तद् विधास्याम इति ॥ १९४३ ॥ अथासौ वैद्यो ब्रूयात्—

अहिरण्णग त्थ भगवं !, सक्खी ठावेह जे ममं देंति ।
धंतं पि दुद्धकंखी, न लभइ दुद्धं अधेणूतो ॥ १९४४ ॥

20 भगवन् ! अहिरण्यकाः स्थ यूयम् अतः साक्षिणः स्थापयत ये मम पश्चात् प्रयच्छन्ति । अमुमेवार्थं प्रतिवस्तूपमया द्रढयति—"धंतं पि" त्ति देशीवचनत्वाद् अतिशयेनापि दुग्धकाङ्क्षी न लभते दुग्धमधेनोः सकाशा[3]त् ॥ १९४४ ॥ एवं वैद्येनोक्ते किं कर्त्तव्यम् ? इत्याह—

१ °व्यादिके केन° भा० ॥ २ ये वै° त० डे० ॥

३ °शात् । एवं वैद्येनोक्ते साधुभिरभिधातव्यम्—अस्माकं दीक्षितानामलीकमुल्लपितुं न कल्पते अतः किं कार्यं साक्षिणां स्थापनया ? इति । अथैवमपि न तिष्ठति ततः कोऽपि गृही साक्षित्वेन स्थाप्यते, यथा—वयं भिक्षाटनं कृत्वा यथालब्धमेतस्य दास्यामः, यद्वाऽस्माकं युक्तं तत् करिष्यामः, अत्रार्थे भवान् साक्षिक इति ॥ १९४४ ॥ अथ ऋद्धिपदं व्याख्याति—पंचसयदाणगहणे० गाथा इति भा० पुस्तके पाठः ॥

"अहिरण्ण० गाथा कंठा । 'धंतं पि' त्ति णिरातं भणियं होति । एवं भणिते पच्छा भणति—अम्हं दिक्खियाणं ण कप्पति अलियं उल्लावेउं । एवं पि भणिते जति ण ठाति तो को वि गिही जतणाए सक्खी ठविज्जति, जधा—भिक्खणीयं काउं जं अम्ह जुत्तं तं अम्हे दाहामो, तुमं सक्खी ॥ 'इड्ढी' त्ति कोइ वा इड्ढिमंतो पव्वइतो सो ताधे भणति—पंचसतदाण० गाथाद्वयं कण्ठ्यम् ॥" इति चूर्णौ ॥

"अहिरण्णग त्थ० गाहा कण्ठ्या । णवरं 'धंतं पि' त्ति णिराइं ति भणियं होइ ॥ 'इड्ढि' त्ति कोइ इड्ढिमंतो पव्वइओ ताहे सो भणइ—पंचसयदाणगहणे० गाहा ॥" इति विशेषचूर्णौ ॥

भा० पुस्तके चूर्णि-विशेषचूर्ण्यनुसारिणी टीकेति तस्मिन् चूर्णि-विशेषचूर्णिवत् "पच्छाकडाइ जयणा०" इति १९४५ गाथा न वर्त्तते ॥

पच्छाकडाइ जयणा, दावणकज्जेण जा भणिय पुव्विं ।
सद्धा-विभवविहूणा, ति च्चिय इच्छंतगा सक्खी ॥ १९४५ ॥

पश्चात्कृतादिविषया मज्जनकादिदापनकार्येण या पूर्वं यतना भणिता सैव इह मन्तव्या । नवरं ये पश्चात्कृतादयः श्रद्धया विभवेन च विहीनास्त एव इच्छन्तः सन्त इह साक्षिणः स्थाप्यन्ते, यथा—वयं भिक्षाटनं कृत्वा यथालब्धमेतस्य दास्याम इति ॥ १९४५ ॥ 5

अथ ते साक्षीभवितुं नेच्छन्ति ततो य ऋद्धिमत्प्रव्रजितः स इदं ब्रूयात्—

पंचसयदाण-गहणे, पलाल-खेलाण छड्डणं व जहा ।
सहस्सं व सयसहस्सं, कोडी रज्जं व अमुगं वा ॥ १९४६ ॥
एवं ता गिहवासे, आसी य इयाणि किं भणीहामो ।
जं तुब्भऽम्ह य जुत्तं, तं उग्गाढम्मि काहामो ॥ १९४७ ॥ 10

यथा पलाल-खेलयोश्छर्दनं विधीयते तथा दीना-ऽनाथादिभ्यो वयं रूपकाणां पञ्च शतानि हेलयैव दानं दत्तवन्तः, उपार्जनामपि कुर्वाणाः पञ्चशतानां ग्रहणमेवमेव कृतवन्तः, एवं सहस्रं शतसहस्रं कोटिं राज्यम् 'अमुकं वा' अनिर्दिष्टं सङ्ख्यास्थानं लीलयैव वयं दत्तवन्तः स्वीकृतवन्तो वा, एवं तावदस्माकं गृहवासे विभूतिरासीत्, इदानीं पुनरकिञ्चनाः श्रमणाः सन्तः किं भणिष्यामः ? किं करिष्यामः ? इति भावः, परं तथापि ग्लाने 'उद्गाढे' प्रगुणीभूते सति यत् 15 तवास्माकं च 'युक्तम्' अनुरूपं तत् करिष्याम इति ॥ १९४६ ॥ १९४७ ॥

एवं तावत् स्वग्रामे वैद्यविषया यतना भणिता । अथ स्वग्रामे वैद्यो न प्राप्यते ततः परग्रामादप्यानेतव्यः तत्र विधिमाह—

परग्रामाद् वैद्यस्यानयने विधिः

पाहिज्जे नाणत्तं, बाहिं तु भईए एस चेव गमो ।
पच्छाकडाइएसुं, अरहिय रहिए उ जो भणिओ ॥ १९४८ ॥ 20

पाथेयं नाम—कण्टकमर्दनवेतनं यत् तस्य भक्तादि दीयते तत्र 'नानात्वं' विशेषः, वास्तव्यवैद्यस्य तन्न सम्भवति अस्य तु भवतीति भावः । तत्र च बहिर्ग्रामादागतस्य 'भृतौ' मज्जनादौ वेतने एष एव गमो द्रष्टव्यः, पश्चात्कृतादिभिररहिते रहिते वा योऽनन्तरमेव भणितः ॥ १९४८ ॥

अथात्रैव यतनाविशेषमाह—

मज्जणगादिच्छंते, बाहिं अब्भितरे व अणुसट्ठी । 25
धम्मकह-विज्ज-मंते, निमित्त तस्सऽट्ठ अन्नो वा ॥ १९४९ ॥

मज्जनं—स्नानम् आदिशब्दाद् अभ्यञ्जनोद्वर्त्तनादिकं 'बहिः' मार्गे आगच्छन् 'अभ्यन्तरे वा' ग्लानसकाशे प्राप्तो यदीच्छति ततः सर्वं तस्य पश्चात्कृतादयः कुर्वते । तेषामभावेऽनुशिष्टिः क्रियते, यथा—यतीनां न कल्पते गृहिणः स्नपनादि कर्तुम्, भवतश्च मुधा कुर्वतो बहु फलं भवति । अथ तथापि नोपरमते ततो धर्मकथा कर्त्तव्या । तथाप्यप्रतिपद्यमाने विद्या-मन्त्र-निमित्तानि 'तस्य' 30 वैद्यस्यावर्जनार्थं प्रयुज्यन्ते, अन्यो वा तानि प्रयुज्य वशीक्रियते, ततस्तस्य वैद्यस्यासौ मज्जनादिकं काराप्यते ॥ १९४९ ॥ अथ धर्मकथापदं भावयति—

तह से कहिंति जह होइ संजओ सन्नि दाणसड्ढो वा ।

बहिया उ अण्हायंते, कारेंति खुड्डा इमं अंतो ॥ १९५० ॥

आक्षेपणीप्रभृतिभिर्धर्मकथाभिस्तस्य तथा धर्मं कथयन्ति यथाऽसौ संयतो भवति 'संज्ञी वा' गृहीताणुव्रतोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्वा 'दानश्राद्धो वा' मुधैव साधूनामारोग्यदानशीलो भवति । अथ धर्मकथालब्धिर्नास्ति ततो विद्या-मन्त्रादयः प्रयुज्यन्ते । तेषामभावे तस्य आमलकादीनि दीयन्ते, 5 भण्यते चासौ—बहिर्गत्वा तडागादिषु स्नानं कुरुत । अथ बहिः स्नातुं नेच्छति ततो बहिर-स्नाति तस्मिन् क्षुल्लकाः 'इदं' वक्ष्यमाणम् 'अन्तः' प्रतिश्रयस्याभ्यन्तरे कुर्वन्ति ॥ १९५० ॥

किं तत् ? इत्याह—

उसिणे संसट्ठे वा, भूमी-फलगाइ भिक्ख चड्डाई ।
अणुसट्ठी धम्मकहा, विज्ज-निमित्ते य अंतो बहिं ॥ १९५१ ॥

10 'उष्णोदकेन' प्रतीतेन 'संसृष्टेन' गोरसरसभावितेन अपरेण वा प्राशुकेन पानकेन क्षुल्लकास्तं स्नपयन्ति । शयनमाश्रित्य भूमौ फलके आदिशब्दात् पल्यङ्कादिषु वा स शाय्यते । भोजनं प्रतीत्य 'भैक्षं' भिक्षापर्यटनेन लब्धमानीय तस्य दातव्यम् । "चड्डाइ" त्ति 'चड्डुं' कमढकमयं भाजनम् आदिग्रहणात् कांस्यपात्र्यादिपरिग्रहः, एतेषु भोजनमसौ कारयितव्यः । हिरण्यादिकं द्रविणजातं याचमानस्य 'अन्तः' इति वास्तव्यवैद्यस्य 'बहिः' इत्यागन्तुकवैद्यस्योभयस्याप्यनुशिष्टि- 15 धर्मकथा-विद्या-निमित्तानि प्रयोक्तव्यानीति[1] निर्युक्तिगाथासमासार्थः ॥ १९५१ ॥

अथैनामेव भावयन्नाह—

तेल्लुव्वट्टण ण्हावण, खुड्डाऽसति वसभ अन्नलिंगेणं ।
पट्टदुगादी भूमी, अणिच्छि जा तूलि-पल्लंके ॥ १९५२ ॥

क्षुल्लकास्तं वैद्यं तैलेनाभ्यज्य कल्केनोद्वर्त्योष्णोदकादिना प्राशुकेनैकान्ते स्नपयन्ति । अथ 20 क्षुल्लका न सन्ति स्नपयितुं वा न जानते ततो ये 'वृषभाः' गच्छस्य शुभा-ऽशुभकारणेषु भारोद्वहन-समर्थास्ते 'अन्यलिङ्गेन' गृहस्थादिसम्बन्धिना स्नानादिकं वैद्यस्य कुर्वन्ति । "पट्टदुगाई" इत्यादि, स वैद्यः शयितुकामः प्रथमतो भूमौ संस्तारपट्टमुत्तरपट्टकं च प्रस्तीर्य शाय्यते । अथ नासौ पट्ट-द्वये स्वप्तुमिच्छति तत और्णिक-सौत्रिकौ कल्पौ प्रस्तीर्येते । तथापि यदि नेच्छति ततः काष्ठफ-लके संस्तारोत्तरपट्टकावास्तीर्य शयनं कार्यते । तथाप्यनिच्छति उत्तरोत्तरं तावन्नेतव्यं यावत् 25 तूली-पल्यङ्कावप्यानीय शाययितव्य इति ॥ १९५२ ॥ अथ भैक्षपदं भावयति—

समुदाणिओदणो मत्तओ वऽणिच्छंति वीसु तवणा वा ।
एवं पऽणिच्छमाणे, होइ अलंभे इमा जयणा ॥ १९५३ ॥

समुदानं नाम—उच्चावचकुलेषु भिक्षाग्रहणम् तत्र लब्धः सामुदानिकः, "अध्यात्मादिभ्य इकण्" (सिद्ध० ६–३–७८) इति इकण्प्रत्ययः, स चासावोदनश्च सामुदानिकौदनः, स 30 प्रथमतो वैद्यस्य दातव्यः । अथासौ तं भोक्तुं नेच्छति ततो मात्रकं वर्त्तापनीयम्, तत्र प्रायोग्यं तदर्थं ग्रहीतव्यमिति भावः । अथ तथापि नेच्छति ततः "वीसु" त्ति पृथग् ओदनं व्यञ्जनमपि

---

१ 'चड्डुकम्' अट्टकमयं मो० ले० विना ॥ २ °ति सङ्क्षेपगा° मो० ले० विना ॥ ३ स्नापनां तस्य कुर्वन्ति । अथ मो० ले० ॥

पृथक् तदर्थं ग्राह्यम् । अथ शीतलमिति कृत्वाऽसौ तद् नेच्छति तदा "तवण" त्ति तदेव (ग्रन्थाग्रम्—२५०० । सर्वग्रन्थाग्रम्—१४७२०) गृहीत्वा यतनया तापयितव्यम् । एवमप्यनिच्छति अलभ्यमाने वा 'इयं' वक्ष्यमाणलक्षणा यतना भवति ॥ १९५३ ॥ तामेवाह—

तिगसंवच्छर तिग दुग, एगमणेगे य जोणिघाए अ ।
संसट्ठमसंसट्ठे, फासुयमप्फासुए जयणा ॥ १९५४ ॥ 5

येषां शालि-व्रीहिप्रभृतीनां धान्यानां संवत्सरत्रयादूर्द्धमागमे विध्वस्तयोनिकत्वमुक्तं तेषां सम्बन्धिनो ये त्रिवार्षिकास्तन्दुलास्ते "तिग दुग एग"न्ति प्रथमतस्त्रिच्छटिता ग्रहीतव्याः, तदभावे द्विच्छटिताः, तेषामलाभे एकच्छटिता अपि । अथ त्रिवार्षिका न प्राप्यन्ते ततो द्विवार्षिकाः, तेषामलाभे एकवार्षिका अपि व्युत्क्रान्तयोनिकाः सन्तस्त्रिद्व्येकच्छटिताः क्रमेण ग्राह्याः । "अणेगे य" त्ति येषां धान्यानाम् 'अनेकानि' वर्षत्रयाद् बहुतराणि वर्षाणि स्थितिः प्रतिपादिता, यथा—तिल-मुद्ग-माषादीनां पञ्च वर्षाणि अतसी-कङ्गु-कोद्रवप्रभृतीनां तु सप्त वर्षाणीत्यादि, तेषामपि तन्दुलाः पञ्चवार्षिकाः सप्तवार्षिका वा त्रिद्व्येकच्छटिताः क्रमेण ग्राह्याः । अत्रापि वर्षपरिहाणिर्व्युत्क्रान्तयोनिकत्वं च तथैव द्रष्टव्यम् । इह च येषां यावती स्थितिरुक्ता ते तावतीं स्थितिं प्राप्ताः सन्तो नियमाद् व्युत्क्रान्तयोनिकाः, ये त्वद्यापि न परिपूर्णां स्थितिं प्राप्नुवन्ति ते व्युत्क्रान्तयोनिका अव्युत्क्रान्तयोनिका वा भवेयुरिति[3] । "जोणिघाए अ" त्ति व्युत्क्रान्तयोनिकानामभावेऽव्युत्क्रान्तयोनिका अपि ये 'योनिघातेन' जीवोत्पत्तिस्थानविध्वंसनेन गृहिभिः साध्वर्थमचित्तीकृतास्तेऽप्येवमेव वैद्यार्थं ग्रहीतव्याः । तथा पानकं पुनरिदं तस्य दातव्यम्—"संसट्ठ" इत्यादि, दध्यादिभाजनधावनं संसृष्टपानकम्, उष्णोदकं तन्दुलधावनादि वा असंसृष्टपानकम्, उभयमपि प्रथमतः प्राशुकं तदभावेऽप्राशुकमपि यतनया यत् त्रसविरहितं तत् तदर्थं ग्रहीतव्यम् ॥१९५४॥

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां भावयति— 20

वक्कंतजोणितिच्छडदुएक्कछडणे वि होइ एस गमो ।
एमेव जोणिघाए, तिगाइ इतरेण रहिए वा ॥ १९५५ ॥

त्रिवार्षिकादयो ये व्युत्क्रान्तयोनिकास्ते त्रिच्छटिता ग्राह्याः । तेषामभावे द्व्येकच्छटितानामपि 'एष एव गमः' यत्तेऽपि व्युत्क्रान्तयोनिका गृह्यन्ते । एवमेव च योनिघातेऽपि साध्वर्थं कृते "तिगाइ" त्ति त्रिद्व्येकच्छटिताः क्रमेण ग्रहीतव्याः । तेषामभावे त्रिवार्षिकादयो यथाक्रमं कण्डापनीयाः । अथ नास्ति कोऽपि कण्डयिता ततः 'इतरेण' अव्यक्तलिङ्गेन 'रहिते वा' सागारिकवर्जिते प्रदेशे स्वयमेव कण्डयति । यद्वा "रहिए" त्ति पश्चात्कृतादिभिर्गृहस्थै रहिते एषा ◁ प्रागुक्ता वक्ष्यमाणा च ▷ यतना कर्त्तव्या, ◁ यत्र तु पश्चात्कृतादयो भावितगृहस्थाः प्राप्यन्ते तत्र सर्वमपि वैद्यस्य समाधानं त एवोत्पादयन्तीति भावः ▷ ॥ १९५५ ॥

ते च तन्दुलाः कथमुपस्कर्त्तव्याः ? इत्याह— 30

---

१ °ण ग्रहीतव्याः । "अ° भा० ॥ २ °णिस्तथैव द्रष्टव्या । अत्र च येषां भा० ॥ ३ °ति कृत्वा त्रिवार्षिकादिषु व्युत्क्रान्तयोनिकत्वविशेषणं कृतमिति । "जो° भा० ॥ ४ गृह्यन्ते । तथा त० डे० कां० ॥ ५-६ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० विना न ॥

पुव्वाउत्ते अवचुल्लि चुल्लि सुक्ख-घण-मज्झुसिर-मविद्धे ।
पुव्वकय असइ दाणे, ठवणा लिंगे य कल्लाणे ॥ १९५६ ॥

पूर्वं–प्रथमं गृहिभिः काष्ठप्रक्षेपणादायुक्तः पूर्वायुक्तस्तस्मिन् 'पूर्वायुक्ते' पूर्वतप्तेऽवचुल्लके प्रथमं तन्दुलानुपस्करोति । तदभावे पूर्वतप्तायां चुल्ल्याम् । अथ चुल्ल्यपि पूर्वतप्ता न प्राप्यते तत 5 ईदृशानि दारूणि प्रक्षिप्योपस्करोति, तद्यथा—"सुक्खघणमज्झुसिरमविद्धि" त्ति शुष्काणि–नार्द्राणि घनानि–वंशवद् न रन्ध्रयुक्तानि अशुषिराणि–अस्फुटितानि त्वचारहितानि वा अविद्धानि–घुणैरकृतच्छिद्राणि । ईदृशानि दारूणि वक्ष्यमाणप्रमाणोपेतानि पूर्वकृतानि च ग्रहीतव्यानि । अथ पूर्वकृतानि न सन्ति ततः स्वयमपि तेषां प्रमाणोपेतत्वं कर्त्तव्यम् । तथा याचमानस्य वैद्यस्य "दाणे" त्ति अर्थजातदानं कर्त्तव्यम् । कथम् ? इति अत आह—"ठवण" त्ति शैक्षेण 10 प्रव्रजता यद् निकुञ्जादिषु द्रविणजातं स्थापितं तस्य दानं कर्त्तव्यम् । "लिङ्गि" त्ति स्वलिङ्गेन परलिङ्गेन गृहिलिङ्गेन वा अर्थजातमुत्पादनीयम् । "कल्लाणे" त्ति प्रगुणीभूतस्य ग्लानस्य तत्प्रतिचरकाणां च पञ्चकल्याणकं दातव्यम् ॥ १९५६ ॥ अथ प्रक्षिप्यमाणदारूणां प्रमाणादिकमाह—

हत्थद्धमत्त दारुग, निच्छल्लिय अघुणिया अहाकडगा ।
असईइ सयंकरणं, अघट्टणोवक्खडमहाउं ॥ १९५७ ॥

15 हस्तार्द्धं–द्वादशाङ्गुलानि तन्मात्राणि–तावत्प्रमाणदैर्घ्योपेतानि 'निच्छल्लिकानि' छल्लीरहितानि 'अघुणितानि' घुणैरविद्धानि दारूणि भवन्ति । ईदृशानि च यथाकृतानि ग्रहीतव्यानि । यथाकृतानाम् 'असति' अभावे 'स्वयंकरणम्' आत्मनैव हस्तार्द्धप्रमाणानि क्रियन्ते छल्लिश्चापनीयते इत्यर्थः । उपस्कृते च भक्ते उल्मुकानां घट्टना न कर्त्तव्या किन्तु तेऽग्निजीवा यथायुष्कमनुपाल्य स्वयमेव विध्यायन्ति ॥ १९५७ ॥ अथ पानकयतनामाह—

20 **कंजिय-चाउलउदए, उसिणे संसट्ठमेतरे चेव ।**
ण्हाण-पियणाइपाणग, पादासइ वार दद्दरए ॥ १९५८ ॥

पानीयं यावतो वैद्यस्य काञ्जिकं दातव्यम् । यदि तद् नेच्छति ततः 'चाउलोदकं' तन्दुलधावनम् । तदप्यनिच्छत्युष्णोदकं वा संसृष्टपानकं वा । "इतरं" ति प्राशुकमनिच्छति अप्राशुकमपि, यावत् कर्पूरवासितम् । एवं स्नान-पानादिषु कार्येषु पानकं तस्य दातव्यम् । तच्च 25 प्रथमतः पात्रके स्थाप्यते । अथ नास्त्यतिरिक्तं पात्रकं न वाऽसौ तत्र स्थापयितुं ददाति ततो वारके स्थापयित्वा 'दर्दरयति' मुखे घनेन चीवरेण बध्नाति येन कीटिकादयः सत्त्वा नाभिपतन्ति ॥ १९५८ ॥ भावितं भैक्षपदम् । अथ "चङ्कादि" (गा० १९५१) त्ति पदं भावयति—

---

१ °पणेनायु° भा० ॥ २ °णि पूर्वकृतान्येव ग्र° भा० ॥ ३ °मपि कर्त्तव्यानीति वाक्यशेषः । तथा भा० ॥ ४ तदानीय दातव्यम् भा० ॥ ५ °पस्कुर्वता चोल्मुकानां परस्परं घट्टना न कर्त्तव्या, उपस्कृते चाग्निर्यथायुष्कमनुपाल्य स्वयमेव विध्यायति, न पुनः साधुना विध्यापयितव्य इति ॥ १९५७ ॥ कंजिय गाथा० भा० । "असतीय०" पच्छद्धं । उवक्खडिते ण घट्टेति, सयमेव अधाउयं पालेंति ॥ पाणगं इमं—" इति चूर्णौ । "अघट्टण" त्ति जयणाए अवसंतुअति (?), उवक्खडिए ताव ण घट्टेइ, जाव सयमेव विज्झातो ताहे ते अहाउयं पालेंति ॥ पाणगं इमं—" इति विशेषचूर्णौ ॥

चड्डग सराव कंसिय, तंबक रयए सुवन्न मणिसेले ।
भोत्तुं स एव धोवइ, अणिच्छि किढि खुड्ड वसभा वा ॥ १९५९ ॥

'चड्डकं' कमढकं तत्रासौ भोजनं कार्यते । अथ तत्र नेच्छति भोक्तुं ततः शरावे । तत्रानिच्छति कांस्यभाजने ताम्रभाजने वा । तत्राप्यनिच्छति रजतस्थाले सुवर्णस्थाले मणिशैलमये वा भाजने भोजयितव्यः । भुक्त्वा चासौ स्वयमेव तद् भाजनं धावति । अथ नेच्छति धावितुं ततः 5 'किढी' स्थविरश्राविका सा प्रक्षालयति । तस्या अभावे क्षुल्लकाः । क्षुल्लकाणामभावे वृषभाः ॥ १९५९ ॥ शिष्यः पृच्छति—कथमसंयतस्य संसृष्टभाजनं संयतः प्रक्षालयति ? किं निमित्तं वा वैद्यस्य मज्जनादिकमियत् परिकर्म क्रियते ? उच्यते—

पूयाईणि वि मग्गइ, जह विज्जो आउरस्स भोगट्ठी ।
तह विज्जे पडिकम्मं, करिंति वसभा वि मुक्खट्ठा ॥ १९६० ॥ 10

यथा वैद्यः 'भोगार्थी' भोगाङ्गद्रव्याभिलाषी 'आतुरस्य' रोगिणः 'पूयादीन्यपि' पूयं—पक्करक्तं तदादीनि आदिशब्दात्[1] शोणितप्रभृतीन्यप्यशुचिस्थानानि 'मार्गयति' शोधयति तथा वृषभा अपि मोक्षार्थं वैद्यस्य सर्वमपि 'प्रतिकर्म' मज्जनादिकं कुर्वन्ति ॥ १९६० ॥

यस्तु न कुर्यात् तस्य प्रायश्चित्तमाह—

तेइच्छियस्स इच्छाणुलोमगं जो न कुज्ज सइ लाभे । 15
अस्संजमस्स भीतो, अलस पमादी व गुरुगा से ॥ १९६१ ॥

चिकित्सया चरति जीवति वा चैकित्सिकः—वैद्यस्तस्य या मज्जनादाविच्छा तस्याः अनुलोमम्—अनुकूलं प्रतिकर्म 'सति लाभे' लाभसम्भवे "अस्संजमस्स भीउ" त्ति पञ्चम्यर्थे षष्ठी 'असंयमाद्' असंयतवैयावृत्त्यकरणलक्षणाद् भीतोऽलसः प्रमादी वा यो न कुर्यात् तस्य चत्वारो गुरुकाः ॥ १९६१ ॥ अथ ग्लान-वैद्ययोर्वैयावृत्त्यकारणान्युपदर्शयति— 20

लोगविरुद्धं दुप्परिचओ उ कयपडिकिई जिणाणा य ।
अतरंतकारणेते, तदट्ठ ते चेव विज्जम्मि ॥ १९६२ ॥

ग्लानस्य यदि वैयावृत्त्यं न क्रियते ततो लोकविरुद्धं भवति, लोको ब्रूयात्—धिगमीषां धर्मं यत्रैवं मान्द्यसम्भवेऽपीदृशमनाथत्वमिति । तथा परस्परमेकप्रवचनप्रतिपत्त्यादिना यः कोऽपि लोकोत्तरिकः सम्बन्धः सः 'दुष्परित्यजः' दुष्परिहर इति ग्लानस्य वैयावृत्त्यं कार्यम् । कृतप्रति- 25 कृतिश्चैवं कृता भवति[2], यत् तेन ग्लानेन पूर्वं हृष्टेन सता यदात्मन उपकृतं तस्य प्रत्युपकारः कृतो भवतीति भावः । 'जिनानां' तीर्थकृतां या 'आज्ञा' 'अग्लान्या ग्लानस्य वैयावृत्त्यं कुर्यात्' इत्यादिलक्षणा सा कृता भवति । एतानि अतरन्तः[3]—ग्लानस्तस्य वैयावृत्त्ये कारणानि । 'तदर्थं' ग्लानार्थं यद् वैद्यस्य वैयावृत्त्यकरणं तत्रापि 'तान्येव' लोकविरुद्धपरिहारादीनि कारणानि द्रष्टव्यानि ॥ १९६२ ॥ अथ ग्लानस्य मज्जनादिविधिमतिदिशन्नाह— 30

एसेव गिलाणम्मि वि, गमो उ खलु होइ मज्जणाईओ ।
सविसेसो कायव्वो, लिंगविवेगेण परिहीणो ॥ १९६३ ॥

---

१ °द् अपराण्यप्यशु° भा० ॥ २ °ति, तेनापि ग्ला° भा० ॥ ३ अतरतः—ग्लानस्य वै° भा० ॥

एष एव ग्लानेऽपि मज्जनादिकः 'गमः' प्रकारो भवति, यथा वैद्यविषय उक्तः । नवरं 'सविशेषः' भक्ति-बहुमानादिविशेषसहितो लिङ्गविवेकेन परिहीनः सर्वोऽपि कर्त्तव्यः ॥ १९६३ ॥

अथ ग्लान-वैद्ययोरनुवर्त्तनाया महार्थत्वं दर्शयन्नाह—

को वोच्छिइ गेलन्ने, दुविहं अणुअत्तणं निरवसेसं ।
जह जायइ सो निरुओ, तह कुज्जा एस संखेवो ॥ १९६४ ॥ 5

ग्लान्ये सति या द्विविधा अनुवर्त्तना—ग्लानविषया वैद्यविषया च तां 'निरवशेषां' सम्पूर्णां को नाम वक्ष्यति ? बहुवक्तव्यत्वाद् न कोऽपीत्यभिप्रायः । अतो यथाऽसौ ग्लानो नीरुग् जायते तथा कुर्यात् । एषः 'सङ्क्षेपः' सङ्ग्रहः, उपदेशसर्वस्वमिति यावत् ॥ १९६४ ॥

अथ वैद्यस्य दानं दातव्यं तत्र विधिमाह—

10 **आगंतु[1] पउण जायण, धम्मावण तत्थ कइयदिट्ठंतो ।**
पासादे कूवादी, वत्थुकुरुडे तहा ओही ॥ १९६५ ॥

ग्लाने प्रगुणे जाते सति आगन्तुकवैद्यो यदा[2] दक्षिणां याचते तदा[3] तस्यानुशिष्टिर्दातव्या—यथा न वर्त्तते यतीनां हस्ताद् वेतनकं ग्रहीतुम्, मुधाकृतममीषां बहुफलं भवति, अपि च 'धर्मापणः' धर्मव्यवहरणहट्टोऽयमस्माकम्, अतो यदत्र सम्भवति तदेव ग्रहीतव्यम् ।

15 **क्रयिकदृष्टान्तश्च** तत्रोच्यते । यथा—

केनचित् क्रयिकेण गान्धिकापणे रूपकान् निक्षिप्य भणितम्—ममैतैः किञ्चिद् भाण्डजातं दद्याः । ततः सोऽन्यदा तत्रापणे मद्यं मार्गयितुं लग्नः । वणिजा प्रोक्तः—ममापणे गन्धपण्यमेव व्यवह्रियते, नास्ति मम मद्यम्, अतस्त्वं गन्धपण्यं गृहाणेति । एवमस्माकमपि धर्मापणाद् धर्मं गृह्णातु भवान्, नास्ति द्रविणजातम् ॥

20 इत्युक्ते यदि नोपरमते ततः शैक्षेण प्रव्रजता यद् निकुञ्जादिषु परिष्ठापितं तदानीय दीयते । तस्याभावे यद् उत्सन्नस्वामिकं क्वापि प्रासादे कूपे वा आदिशब्दाद् निर्धमनादिषु वा निधानं तथा शटितपतितं यद् वास्तु–गृहं तद् उत्कुरुटमिवेति कृत्वा वास्तूत्कुरुटमुच्यते तत्र वा यद् निधानं तद् अवधिज्ञानिन उपलक्षणत्वाद् दशपूर्विप्रभृतीनां वा पार्श्वे पृष्ट्वा ततः प्रासादादिस्थानादानीय वैद्यस्य दातव्यम् ॥ १९६५ ॥ वास्तव्यवैद्यस्य दानविधिमाह—

25 **वत्थव्व पउण जायण, धम्मादाणं पुणो अणिच्छंते ।**
स च्चेव होइ जयणा, रहिए पासायमाईया ॥ १९६६ ॥

प्रगुणीभूते ग्लाने वास्तव्यवैद्योऽपि यदि याचनं कुरुते ततस्तस्यापि धर्म एवादानं–द्रव्यं तद् दातव्यम् । "पुणो अणिच्छंते" त्ति 'पुनः' भूयो भूयः प्रज्ञाप्यमानोऽपि यदि धर्मादानं नेच्छति

---

१ इत आरभ्य "विज्जस्स य दव्वस्स व०" इति १९७३ गाथायावद्वर्त्तिन्यो गाथाः **चूर्णौ** एतत्क्रमेण वर्त्तन्ते—आगंतु पउण० गाथा १९६५ । उवहिम्मि पडग० गाथा १९६७ । कवड्डगमादी० गाथा १९६९ । वत्थव्व पउण० गाथा १९६६ । बितियपदे० गाथा १९६८ । बितियपदे० गाथा १९७० । पउणम्मि य० गाथा १९७१ । विज्जस्स व दव्वस्स० गाथा १९७३ । **विशेषचूर्णौ** पुनः **टीकानुसारी** गाथाक्रमो वर्त्तते ॥ २ **यदा भृतिं या°** भा० ॥ ३ **तदा भण्यते—'धर्मापणः'** त० डे० कां० ॥

तदा पश्चात्कृतादिभिर्गृहस्थै रहिते सैव प्रासादादिका यतना कर्त्तव्या या अनन्तरगाथायामभिहिता ॥ १९६६ ॥ द्वयोरप्यागन्तुक-वास्तव्यवैद्ययोरुपधिं याचतोर्विधिमाह—

उवहिम्मि पडगसाडग, संवरणं वा वि अत्थुरणगं वा ।
दुगभेदादाहिंडणेऽणुसट्ठि परलिंगे हंसाई ॥ १९६७ ॥

'उपधौ' उपकरणे 'पैटशाटकः' परिधानं 'संवरणं' प्रच्छदपटः 'आस्तरणं' प्रस्तरणकं तूली 5 वा यद्येतानि मार्गयति ततस्तथैव धर्मापणदृष्टान्तः क्रियते । अथ नोपरमते ततो द्विकं—साधुयुगं तल्लक्षणो यो भेदः—प्रकारस्तेन आदिशब्दाद् वृन्देन वा हिण्डित्वा पटशाटकादिकमुत्पाद्य वैद्यस्य प्रयच्छन्ति । अथ सर्वथैव न प्राप्यते ततोऽनुशिष्टि-धर्मकथादीनि प्रयोक्तव्यानि । तथाऽप्यनुपरतस्य परलिङ्गं कृत्वा हंसादिप्रयोगेणोत्पाद्य प्रयच्छन्ति ॥ १९६७ ॥

द्वितीयपदे न दद्यादपि, यत आह— 10

बिइयपदे कालगए, देसुट्ठाणे व बोहिगाईसु ।
असिवाई असईइ व, ववहारऽपमाण अदसाई ॥ १९६८ ॥

द्वितीयपदे वैद्ये ग्लाने वा कालगते सति वस्त्रादिकं न दद्यादपि । यद्वा बोधिकाः—म्लेच्छास्तेषाम् आदिशब्दात् परचक्रस्य वा भयेन 'देशस्योत्थाने' उद्वसीभवने । अशिवे वा आदिग्रहणाद् दुर्भिक्षे राजद्विष्टे वा सञ्जाते सति । 'असति वा' सर्वथैव वस्त्राणामलाभे व्यवहारः क्रियते, 15 व्यवहारेण च निर्जितस्य न प्रयच्छन्ति, व्यवहारेण वा कारणिकैर्दाप्यमानाः प्रमाणहीनानि 'अदशाकानि' वस्त्राणि दर्शयन्ति—अस्माकमीदृशान्येव स्वाधीनानि अन्यानि न सन्ति ॥१९६८॥

अथ द्रविणजातं मार्गयति वैद्ये विधिमाह—

कवड्डगमादी तंबे, रुप्पे पीते तहेव केवडिए ।
हिंडण अणुसट्ठादी, पूइयलिंगे तिविह भेदो ॥ १९६९ ॥ 20

कपर्दकादयो मार्गयित्वा तस्य दीयन्ते । ताम्रमयं वा नाणकं यद् व्यवह्रियते, यथा—**दक्षिणापथे काकिणी** । रूपमयं वा नाणकं भवति, यथा—**भिल्लमाले द्रम्मः** । पीतं नाम—

---

१ °ण, **अणुसट्ठाई वि परलिंगे** भा० ॥ २ त० डे० कां० ता० विनाऽन्यत्र—°**ग हिंसाई** मो० ले० ॥ ३ **'पटकः' प्रावरणं 'शाटकः' परि°** भा० । पडगसाडगं 'संवरणं' सुंदरं पाउरणं 'अत्थुरणं' परथरणं वा मग्गंते तहेव धम्मावणदिट्ठंतो ।" इति **विशेषचूर्णौ** ॥ ४ °**ष्टिर्दातव्या । तथाप्यनुप°** त० डे० कां० ॥ ५ °**त्वा हिंसा°** भा० मो० ले० । "अलंभे परलिंगेण वा गिहत्थलिंगेण वा हंसादिविभासा ।" इति **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च । "असति परिलिंगेण वा गिहिलिंगेण वा संघायादिविभासा ।" इति **चूर्णिप्रत्यन्तरे** पाठः ॥ ६ °**दपि, कथम्? इति चेद् उच्यते**—भा० ॥

७ **द्वितीयपदे स वैद्यो ग्लानो वा कालगतः, देशस्य वा उत्थाने-उद्वसीभवने बोधिकाः-म्लेच्छास्तद्भयेन वा दिशोदिशं पलायिताः, आदिशब्दात् परचक्रादिभयपरिग्रहः, अशिवं वा तत्र जातम्, आदिशब्दाद् दुर्भिक्षं राजद्विष्टं वा समजनि, 'असति वा' सर्वथा अलब्धे व्यवहारः क्रियते** भा० ।

"**बिइयपदे 'कालगए'** वेज्जो कालगओ गिलाणो वा, देसो वा उट्ठिओ बोहियादिभएणं, बोहिया-मेच्छा, असिवं वा जायं, आदिग्गहणेणं दुब्भिक्खं रायदुट्ठं वा, अलब्भमाणे ववहारं करेंति ।" **चूर्णौ विशेषचूर्णौ** च ॥

सुवर्णं तन्मयं वा नाणकं भवति, यथा—पूर्वदेशे दीनारः । 'केवडिको नाम' यथा तत्रैव पूर्वदेशे केतराभिधानो नाणकविशेषः । एतेषामप्युत्पादनं कुर्वता सङ्घाटकेन वृन्देन वा हिण्डनं तथैव कर्त्तव्यम् । अलब्धेऽनुशिष्ट्यादीनि प्रयोक्तव्यानि । लिङ्गमिति पदं व्याख्यायते—पूजितम्–अर्चितं यल्लिङ्गं तत्र त्रिविधो भेदः कर्त्तव्यः । किमुक्तं भवति ?—तस्मिन् देशे यत् 5 त्रयाणां स्वलिङ्ग-गृहिलिङ्ग-कुलिङ्गानां मध्यात् पूजितं तेन लिङ्गेन द्रविणजातमुत्पादयन्ति वैद्यं वा मङ्गापयन्ति ॥ १९६९ ॥ द्वितीयपदे द्रविणजातमपि न दद्यात्, कथम् ? इत्याह—

बिइयपदे कालगए, देसुट्ठाणे व बोहियादीसु ।
असिवादी असईइ व, ववहारऽहिरण्णगा समणा ॥ १९७० ॥

द्वितीयपदे वैद्ये ग्लाने वा कालगते सति, देशस्य वा बोधिकादिभयेनोत्थाने–उद्वसने, अशि-10 वादौ वा सञ्जाते, 'असत्तायां वा' सर्वथैवालाभेऽर्थजातं वैद्यस्य न दद्यात् । व्यवहारे च समुपस्थिते ब्रुवते—अहिरण्यकाः श्रमणा भवन्तीति तावत् सर्वत्रापि सुप्रतीतम्, परं तथाप्येतेनारब्धैरस्माभिस्तदपि द्रविणजातं गवेषयितुमारब्धम्, ततो लोको ब्रवीति—न वर्त्तते शिष्टानां यतिभ्यो हिरण्यादि दातुम् । यत उक्तम्—

गृहस्थस्यान्नदानेन, वानप्रस्थस्य गोरसात् ।
15 यतीनां च हिरण्येन, दाता स्वर्गं न गच्छति ॥ इति ।

एवं व्यवहारो लभ्यते ॥ १९७० ॥ अथ कल्याणकपदं व्याख्यानयति—

पउणम्मि य पच्छित्तं, दिज्जइ कल्लाणगं दुवेण्हं पि ।
वूढे पायच्छित्ते, पविसंती मंडलिं दो वि ॥ १९७१ ॥

ग्लाने प्रगुणीभूते सति 'द्वयोरपि' ग्लान-प्रतिचरकवर्गयोः 'कल्याणकं' प्रायश्चित्तं दीयते[5] । 20 इहैवमविशेषेणोक्तेऽपि ग्लानस्य पञ्चकल्याणकं प्रतिचरकाणां त्वेककल्याणकं दातव्यम्, आदेशान्तरेण वा द्वयोरपि पञ्चकल्याणकं मन्तव्यम् । ◁ आह च निशीथचूर्णिकृत्—

१ यथा पश्चिमदेशे दी° मो० ले० ॥ २ °ष्टिप्रभृतीनि प्र° भा० ॥ ३ °यन्ति द्वितीयपदे द्रविणजातमुत्पादयन्ति वैद्यं वा मो० ले० ॥ ४ द्वितीयपदे वैद्यो ग्लानो वा कालगतः, देशो वा उद्वसितः, बोधिकादीनां वा भयमुदपादि, अशिवादिकं वा समजनि, 'असता वा' सर्वथैव न लब्धं ततो न दद्याद् । व्यवहारे भा० ॥ ५ °ते । तत्रैवम° भा० ॥ ६ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः त० डे० कां० नास्ति ॥

७ मो० ले० विनाऽन्यत्र—°कृत्—जाहेगे गिलाणो पउणो ताहे से पंचकल्लाणगं दिज्जइ, पडियरगाणं एक्ककल्लाणगं, आदेसंतरेण वा दुण्ह वि पंचकल्लाणं ति । ततो व्यूढे प्रायश्चित्ते 'द्वावपि' ग्लान-प्रतिचरकवर्गौ मण्डलीभोजनादिषु प्रविशतो नान्यथा ॥ १९७१ ॥ गतमनुवर्त्तनेति मूलद्वारम् । अथ चालनाद्वारमाह—विज्जस्स व० गाथा भा० ॥

"पउणस्स य० गाथा कंठा । जेहिं वेतावच्चं कतं तेसिं पाएसु पडितुं 'इच्छामो वेतावच्चं' भणति । अणुयत्तण त्ति दारं गतं । इदाणीं चालण त्ति दारं—वेजस्स व० गाथा ॥" इति चूर्णौ ॥

"पउणम्मि य पच्छित्तं० गाहा कण्ठ्या । गिलाणस्स पडियरयस्स य पंचकल्लाणगं दिज्जइ । वूढे पंचकल्लाणए मंडलिं पविसंति । जेहिं वेयावच्चं कयं तेसिं पादेसु पडिउं 'इच्छामो वेयावच्चं' भणइ ॥ अणुयत्तण त्ति दारं गयं । इदाणीं चालण त्ति दारं, तत्थ गाहा—वेज्जस्स व० गाहा ॥" इति विशेषचूर्णौ ॥

भा० पुस्तके टीका चूर्णी-विशेषचूर्ण्यनुसारिणीति चूर्णि-विशेषचूर्णीवत् तस्मिन् "अणुयत्तणा उ एसा०" इति १९७२ गाथा नास्ति ॥

आदेसन्तरेण वा दुण्ह वि पंचकल्लाणं ति । ▷

ततो व्यूढे प्रायश्चित्ते 'द्वावपि' ग्लान-प्रतिचरकवर्गौ भोजनादिमण्डलीं प्रविशतः ॥१९७१॥

अथोपसंहरन्नाह—

अणुयत्तणा उ एसा, दव्वे विज्जे य वण्णिया दुविहा ।

इत्तो चालणदारं, वुच्छं संकामणं चुभओ ॥ १९७२ ॥ 5

ग्लानप्रायोग्यद्रव्यविषया वैद्यविषया चैषा द्विविधाऽनुवर्त्तना वर्णिता । इत ऊर्द्ध्वं चालनाद्वारं सङ्क्रामणाद्वारं च 'उभयतः' ग्लानद्वयविषयं वक्ष्ये ॥ १९७२ ॥

विज्जस्स व दव्वस्स व, अट्ठा इच्छंते होइ उक्खेवो ।

पंथो य पुव्वदिट्ठो, आरक्खिओ पुव्वभणिओ उ ॥ १९७३ ॥

वैद्यस्य वा 'द्रव्यस्य' औषधादिलक्षणस्य वा अर्थाय यदि ग्लान इच्छति ग्रामान्तरं गन्तुं तदा 10 तस्य 'उत्क्षेपः' चालना कर्त्तव्या । यदि रात्रौ गन्तव्यं भवति तदा पन्थाः पूर्वमेव दृष्टः कर्त्तव्यः । आरक्षिकश्च पूर्वमेव 'वयं रात्रौ ग्लानं गृहीत्वा गमिष्यामः, भवता चौरादिशङ्कया न ग्रहीतव्याः' इति भणितः कर्त्तव्य इति ॥ १९७३ ॥

अथास्या एवं **निर्युक्तिगाथायाः** पूर्वार्द्धं भावयति—

चउपाया तेगिच्छा, इह विज्जा नत्थि न वि य दव्वाइं । 15

अमुगत्थ अत्थि दोन्नि वि, जइ इच्छसि तत्थ वच्चामो ॥ १९७४ ॥

क्वापि क्षेत्रे वैद्या औषधानि वा न सन्ति ततो ग्लानं प्रतिचरका ब्रुवीरन्—चिकित्सा चतुष्पादा पूर्वोक्तनीत्या भवति, तत्रेह क्षेत्रे वैद्या न सन्ति नापि च 'द्रव्याणि' औषधादीनि अत्र सन्ति, अमुकत्र ग्रामे नगरे वा द्वे अपि विद्येते, अतो यदि त्वमिच्छसि ततस्तत्र व्रजाम इति ॥ १९७४ ॥ ग्लानः प्रतिभणति— 20

किं काहिइ मे विज्जो, भत्ताइ अकारयं इहं मज्झं ।

तुब्भे वि किलेसेमि य, अमुगत्थ महं हरह खिप्पं ॥ १९७५ ॥

आर्याः ! यदि नाम अत्र वैद्यो भवति ततः किं ममासौ करिष्यति ? ◁ उपलक्षणमिदम्, तेन यद्यौषधान्यपि भवेयुस्तान्यपि मे किं करिष्यन्ति ? ▷ यतो भक्तादिकमकारकं ममेह विद्यते, तस्मिँश्चाकारके युष्मानपि मुधैव परिक्लेशयामि । ◁ यत उक्तम्— 25

भेषजेन विना व्याधिः, पथ्यादेव निवर्त्तते ।

न तु पथ्यविहीनस्य, भेषजानां शतैरपि ॥ ▷

ततो माममुकत्र ग्रामे नगरे वा क्षिप्रं 'हरत' नयत, येन मे तत्र भक्तादि कारकं स्यात् । एवंब्रुवाणोऽसौ ग्रामान्तरं प्रति चालयितव्यः ॥ १९७५ ॥ चालनायामेव कारणान्तरमाह—

साणुप्पगभिक्खट्ठा, खीणे दुद्धाइयाण वा अट्ठा । 30

---

१ **एव पूर्वार्द्धं** भा० कां० ॥ २ **न भवेयुः ततो** भा० ॥ ३ °ति, **परमिह क्षेत्रे** मो० ले० विना ॥ ४ °**ष्यति ? । कुतः ? इत्याह—भक्ता°** भा० ॥ ५ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥ ६ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥

अब्भितरेतरा पुण, गोरससिंभुदय-पित्तट्ठा ॥ १९७६ ॥

नागरं ग्लानं सानुग्गे—प्रत्यूषवेलायां लभ्यते या भिक्षा सा सानुमगभिक्षा तदर्थं ग्रामं नयन्ति। नगरे हि प्राय उत्सूरे भिक्षा लभ्यते, तावतीं च वेलां प्रतीक्षमाणस्य ग्लानस्य कालातिक्रान्तभोजित्वेन जाठराग्निमान्द्यमुपजायते, अतः सानुग्गे—सवारमेव भिक्षा यद्ग्रामे लभ्यते तदर्थं ग्लानो 5 ग्रामं नीयते। नगरे वा दुग्धादीनि दुर्लभद्रव्याणि क्षीणानि अतस्तेषामर्थाय आभ्यन्तराः—नगरवास्तव्यसाधवो ग्लानमन्यत्र नयन्ति। 'इतरे पुनः' ग्रामीणग्लानप्रतिचरका ग्लानस्य गोरसेन ◁ उपलक्षणत्वादन्येन तादृशेन श्लेष्मजनकद्रव्येण ▷ सिम्भः—श्लेष्मा तस्योदयो जातः पित्तं वा क्षुभितमिति परिभाव्य तदुपशामकद्रव्याणामुत्पादनार्थं ग्लानं नगरं नयन्ति ॥ १९७६ ॥

अथवा नागरग्लानचालनायामिदं कारणम्—

10 **परिहीणं तं दव्वं, चमढिज्जंतं तु अन्नमन्नेहिं।**
कालाइकंतेण य, वाही परिवड्ढिओ तस्स ॥ १९७७ ॥

अन्यान्यग्लानसङ्घाटकैः स्थापनाकुलेषु चमढ्यमानं सत् परिक्षीणं 'तद् द्रव्यं' ग्लानप्रायोग्यम्, अथवा वैद्येन ग्लानस्योपदिष्टम्—सवारमेव भवता भोक्तव्यम्; तदानीं च नगरे न लभ्यते ततस्तेन कालातिक्रान्तेन तस्य व्याधिः सुष्ठुतरं परिवर्द्धितः ॥ १९७७ ॥

15 एवमादीनि कारणानि विज्ञाय ते परस्परं भणन्ति—

उक्खिप्पउ गिलाणो, अन्नं गामं वयं तु नेहामो।
नेऊण अन्नगामं, सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥ १९७८ ॥

उत्क्षिप्यतां ग्लानः, ततस्तमन्यं ग्रामं वयं नेष्याम इत्येकवाक्यतया निश्चित्य सवारमेव तैर्निर्गन्तव्यम्। यतः प्रत्युषसि शीतलायां वेलायां[3] नीयमानो ग्लानो न परिताप्यते। किञ्च—

20 प्रत्युषसि हता मार्गाः, परिहासहताः स्त्रियः।
मन्दबीजं हतं क्षेत्रं, हतं सैन्यमनायकम् ॥

ततो नीत्वा ग्लानमन्यं ग्रामं सर्वप्रयत्नेन प्रतिचरणं कर्त्तव्यमिति ॥ १९७८ ॥

गतं चालनाद्वारम्। अथ सङ्क्रामणाद्वारमाह—

सो निज्जई गिलाणो, अंतर सम्मेलणा य संछोभो।
25 **नेऊण अन्नगामं, सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥ १९७९ ॥**

एवमुत्क्षिप्य यं ग्रामं 'सः' नागरग्लानो नीयते ततो ग्रामादन्यो ग्लानो नगरमानीयमानोऽस्ति तेषामुभयेषामपि साधूनाम् 'अन्तरा' अपान्तराले सम्मिलना भवति ततः परस्परं वन्दनं कृत्वा निराबाधं पृष्ट्वा ग्लानयोः 'संछोभं' सङ्क्रामणं कुर्वन्ति, नागरा ग्रामीणग्लानं गृह्णन्ति ग्रामीणास्तु नागरग्लानमित्युक्तं भवति। नीत्वा चान्यं ग्रामं सर्वप्रयत्नेन प्रतिचरणमुभयैरपि कर्त्तव्यम् 30 ॥ १९७९ ॥ किं पुनरभिप्राय ते ग्लानसङ्क्रामणां कुर्वन्ति? इति उच्यते—

जारिस दव्वे इच्छह, अम्हे मुत्तूण ते न लब्भिहिह।

१ °प्रगभिक्षार्थं ग्रामं नीयते भा०॥ २ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव॥ ३ °यां सुखेनैव मार्गो भूयानतिलङ्घ्यते। उक्तं च—प्रत्यु° भा०॥ ४ °यते ततस्तेषा° भा०॥

इयरे वि भणंतेवं, नियत्तिमो नेह अतरंते ॥ १९८० ॥

नागरा ग्रामेयकान् ब्रुवते—'यादृशानि' तिक्त-कटुकादीनि द्रव्याणि ग्लानार्थमिच्छत 'तानि' तादृशानि अस्मान् 'मुत्तवा' विना न लप्स्यध्वे । 'इतरेऽपि' ग्रामेयका नागरान् एवं भणन्ति—यूयमस्माभिर्विना दुग्धादीनि न लप्स्यध्वे । ततस्ते द्वयेऽपि परस्परमभिदधति—यद्येवं ततो निवर्त्तामहे, यूयममुम् 'अतरन्तं' ग्लानं नयत, वयं युष्मदीयं नयाम इति ॥ १९८० ॥ 5

एवं सङ्क्रामणां कृत्वा तत्र च ग्रामे नगरे वा नीत्वा सर्वप्रयत्नेन प्रतिचरणा विधेया । न पुनर्निर्धर्मतयेत्थं चिन्तनीयं भणनीयं वा—

देवा हु णे पसन्ना, जं मुक्का तस्स णे कयंतस्स ।
सो हु अइतिक्खरोसो, अहिगं वावारणासीलो ॥ १९८१ ॥
तेणेव साइया मो, एयस्स वि जीवियम्मि संदेहो । 10
पउणो वि न एसऽम्हं, ते वि करिज्जा न व करिज्जा ॥ १९८२ ॥

'हुः' अवधारणे, नूनं "णे" अस्माकं देवाः प्रसन्नाः यद् मुक्ता वयं तस्मात् कृतान्तात्, गाथायां पञ्चम्यर्थे षष्ठी । इह कृतान्तशब्देन कृतं–निष्पादितं बह्वपि कार्यमन्तं नयतीति व्युत्पत्त्या कृतघ्न उच्यते, यद्वा कृतान्तः—यमस्तत्तुल्यत्वादसावपि कृतान्तः । अत एवाह—स हि 'अति-तीक्ष्णरोषः' पुनः पुना रोषणशीलो दीर्घरोषी वेत्यर्थः । 'अधिकम्' अत्यर्थं 'व्यापारणाशीलः' 15 कृताकृतेषु कार्येषु भूयो भूयो नियुङ्क्ते । यद्वा तेनैव ग्लानेन 'सादिताः' खेदं प्रापिता वयमतोऽस्य कर्तुं न शक्नुमः । अथवा एतस्यापि जीविते सन्देहस्ततः किं निरर्थकमात्मानं परिक्लेशयामः ?, प्रगुणीभूतोऽपि चैष नास्माकं भविष्यति, तेऽप्यस्मदीयस्य कुर्युर्वा न वा, अतो वयमपि न कुर्महे । एवमादीनि ब्रुवाणानां तेषां निर्धर्माणामाचार्येण शिक्षा दातव्या न तूपेक्षा विधेया ॥१९८१॥ १९८२ ॥ यत आह— 20

जो उ उवेहं कुज्जा, आयरिओ केणई पमादेणं ।
आरोवणा उ तस्सा, कायव्वा पुव्वनिद्दिट्ठा ॥ १९८३ ॥

'यस्तु' यः पुनराचार्यः केनापि प्रमादेन प्रमत्तः सन्नुपेक्षां कुर्यात् तस्यारोपणा पूर्वनिर्दिष्टा कर्त्तव्या, चत्वारो गुरव इत्यर्थः ॥ १९८३ ॥ अथवेयमारोपणा—

उवेहऽप्पत्तिय परितावण महय मुच्छ किच्छ कालगए । 25
चत्तारि छ च लहु-गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च ॥ १९८४ ॥

यो ग्लानस्योपेक्षां करोति तस्य चत्वारो गुरुकाः । उपेक्षायां कृतायां यद्यप्रीतिकं ग्लानस्य जायते ततोऽपि चत्वारो गुरवः । अनागाढपरितापे चतुर्लघु । आगाढपरितापे चतुर्गुरु । महादुःखे षड्लघु । मूर्च्छायां षड्गुरु । कृच्छ्रप्राणे च्छेदः । कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलम् । समवहतेऽनवस्थाप्यम् । कालगते पाराञ्चिकम् ॥ १९८४ ॥ 30

उवेहोभासण परितावण महय मुच्छ किच्छ कालगए ।
चत्तारि छ च लहु-गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च ॥ १९८५ ॥

उपेक्षायां स ग्लानः स्वयमेव गत्वा गृहस्थानवभाषते चत्वारो लघवः । तस्य तत्र गच्छतः

शीत-वाता-ऽऽतपैः परिश्रमेण वाऽनागाढपरितापनादीनि जायन्ते ततः प्रायश्चित्तमनन्तरगाथोक्त-नीत्या द्रष्टव्यम् ॥ १९८५ ॥

उवेहोभासण ठवणे, परितावण महय मुच्छ किच्छ कालगए ।
चत्तारि छ च्च लहु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ १९८६ ॥

5 उपेक्षायां ग्लानो भक्त-पानमौषधं वा अवभाषणेनोत्पाद्य स्थापयति न शक्नोम्यहं दिने दिने पर्यटितुं ततश्चत्वारो गुरवः । तेन परिवासितेन शीतलत्वाद् अनागाढपरितापनादीन्युपजायन्ते प्रायश्चित्तयोजना प्राग्वत् ॥ १९८६ ॥

उवेहोभासण करणे, परितावण महय मुच्छ किच्छ कालगए ।
चत्तारि छ च्च लहु-गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥ १९८७ ॥

10 उपेक्षायां कृतायां यदि ग्लानोऽवभाष्य स्वयमेवौषधादिकं करोति गृहस्थैर्वा कारयति तदा चत्वारो गुरवः । स्वयंकुर्वतश्चिकित्साद्यनभिज्ञैर्गृहस्थैर्वा चिकित्सां कारयतोऽनागाढपरितापादीनि भवन्ति । शेषं प्राग्वत् ॥ १९८७ ॥

वेहाणस ओहाणे, सलिंगपडिसेवणं निवारिंते ।
गुरुगा अनिवारिंते, चरिमं मूलं च जं जत्थ ॥ १९८८ ॥

15 अप्रतिजागरितो ग्लानो यदि निर्वेदेन वैहायसं मरणमभ्युपगच्छति ततस्तेषामप्रतिजागर-काणां 'चरमं' पाराञ्चिकम् । अथ 'अवधावनम्' उत्प्रव्रजनं करोति ततो मूलम् । स्वलिङ्गस्थितो यद्यकल्प्यप्रतिसेवनां करोति ततश्चतुर्गुरुकाः । यदि तं तथा प्रतिसेवमानं निवारयति तदापि चतुर्गुरुकाः । अथ न निवारयति ततो यद् यत्र अप्राशुकेऽनेषणीये वा गृह्यमाणे प्रायश्चित्तं तत् तत्र प्राप्नोति ॥ १९८८ ॥ ◁[1] अथ निर्द्धर्मा येषु स्थानेषु ग्लानं त्यजेत् तान्याह—▷

20 **संविग्गा गीयत्थाऽसंविग्गा खलु तहेव गीयत्था ।**
संविग्गमसंविग्गा, नवरं पुण ते अगीयत्था ॥ १९८९ ॥
संविग्ग संजईओ, गीयत्था खलु तहेवऽगीयत्था ।
गीयत्थ अगीयत्था, नवरं पुण ता असंविग्गा ॥ १९९० ॥

संयताश्चतुर्द्धा, तद्यथा—संविग्ना गीतार्थाः १ असंविग्ना गीतार्थाः २ संविग्ना अगीतार्थाः ३
25 असंविग्ना अगीतार्थाश्च ४ इति । संयत्योऽपि चतुर्विधाः, तद्यथा—संविग्ना गीतार्थाः १ संविग्ना अगीतार्थाः २ असंविग्ना गीतार्थाः ३ असंविग्ना अगीतार्थाः ४ ॥१९८९॥१९९०॥

एतेष्वष्टसु स्थानेषु ग्लानं परित्यजतः प्रायश्चित्तमाह—

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥ १९९१ ॥

30 प्रथमे स्थाने ग्लानं परित्यजति चत्वारो लघुकाः । द्वितीये चत्वारो गुरुकाः । तृतीये षण्मासा लघवः । चतुर्थे षण्मासा गुरवः । पञ्चमे च्छेदः । षष्ठे मूलम् । सप्तमेऽनवस्थाप्यः । अष्टमे पारा-ञ्चिको भवति ॥ १९९१ ॥ यदि वा—

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० नास्ति ॥

संविग्ग नीयवासी, कुसील ओसन्न तह य पासत्था ।
संसत्ता विंठाया, अहछंदा चेव अट्ठमगा ॥ १९९२ ॥

संविग्नाः १ नित्यवासिनः २ कुशीलाः ३ अवसन्नाः ४ पार्श्वस्थाः ५ संसक्ताः ६ वेण्ठकाः ७ यथाच्छन्दाश्चैवाष्टमाः ८ ॥ १९९२ ॥ एतेषु परित्यजतो यथासङ्ख्यमिदं प्रायश्चित्तम्—

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य । 5
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥ १९९३ ॥

चत्वारो लघुकाः १ चत्वारो गुरुकाः २ षण्मासा लघुकाः ३ षण्मासा गुरुकाः ४ छेदः ५ मूलं च तथा ६ अनवस्थाप्यश्च ७ पाराञ्चिकः ८ ॥ १९९३ ॥ अथवा—

संविग्गा सिज्ञातर, सावग तह दंसणे अहाभद्दे ।
दाणे सड्ढी परतित्थिगे य परतित्थिगी चेव ॥ १९९४ ॥ 10

'संविग्नाः' प्रतीताः १ 'शय्यातरः' प्रतिश्रयदाता २ 'श्रावकः' गृहीताणुव्रतः ३ दर्शनसम्पन्नः—अविरतसम्यग्दृष्टिः ४ 'यथाभद्रकः' शासनबहुमानवान् ५ 'दानश्राद्धिकः' दानरुचिः ६ 'परतीर्थिकः' शाक्यादिपुरुषः ७ 'परतीर्थिकी' शाक्यादिपाषण्डिनी ८ ॥ १९९४ ॥

एतेषु परित्यजतो यथाक्रममिदं प्रायश्चित्तम्—

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य । 15
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥ १९९५ ॥

उक्तार्था ॥ १९९५ ॥ अथ क्षेत्रतः प्रायश्चित्तमाह—

उवस्सय निवेसण साही, गाममज्झे य गामदारे य ।
उज्जाणे सीमाए, सीममइक्कामइत्ताणं ॥ १९९६ ॥
चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य । 20
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥ १९९७ ॥

क्षेत्रान्तरं सङ्क्रामन्नुपाश्रये ग्लानं परित्यज्य यदि गच्छति तदा चत्वारो लघुकाः । उपाश्रयान्निष्काश्य निवेशनं यावदानीय परिहरति चत्वारो गुरुकाः । साहिकायां षण्मासा लघवः । ग्राममध्ये षण्मासा गुरवः । ग्रामद्वारे च्छेदः । उद्याने मूलम् । ग्रामसीमनि परिष्ठापयति अनवस्थाप्यम् । स्वग्रामसीमानमतिक्राम्य परित्यजन् पाराञ्चिक इति । यत एवमतो न परित्यजनीयः 25 ॥ १९९६ ॥ १९९७ ॥ कियन्तं पुनः कालमवश्यं प्रतिचरणीयः ? उच्यते—

छम्मासे आयरिओ, गिलाण परियट्टई पयत्तेणं ।
जाहे न संथरेज्जा, कुलस्स उ निवेदणं कुज्जा ॥ १९९८ ॥

येन स ग्लानः प्रव्राजितो यस्य वा उपसम्पदं प्रतिपन्नः स आचार्यः सूत्रार्थपौरुषीप्रदानमपि परिहृत्य प्रयत्नेन षण्मासान् ग्लानं 'परिवर्त्तयति' प्रतिचरति । यदा षट्स्वपि मासेषु पूर्णेषु स ग्लानः 30 'न संस्तरेत्' न प्रगुणीभवेत्, यद्वा आचार्य एव स्वयमन्याभिर्गणचिन्ताभिर्न संस्तरेत् ततः 'कुलस्य निवेदनं कुर्यात्' कुलसमवायं कृत्वा तस्य समर्पयेदित्यर्थः ॥ १९९८ ॥ ततः—

संवच्छराणि तिन्नि य, कुलं पि परियट्टई पयत्तेणं ।

जाहे न संथरिज्जा, गणस्स उ निवेदणं कुज्जा ॥ १९९९ ॥

त्रीन् संवत्सरान् कुलमपि प्रायोग्यभक्त-पानौषधादिभिः प्रयत्नेन परिवर्त्तयति । ततस्त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु यदा न संस्तरेत् तदा गणस्य निवेदनं कुर्यात् ॥ १९९९ ॥ ततः—

संवच्छरं गणो वी, गिलाण परियट्टई पयत्तेणं ।

5 **जाहे न संथरिज्जा, संघस्स निवेयणं कुज्जा ॥ २००० ॥**

एकं संवत्सरं यावद् गणोऽपि ग्लानं महता प्रयत्नेन परिवर्त्तयति । ततो यदा न संस्तरेत् ततः सङ्घस्य निवेदनं कुर्यात् । ततः सङ्घो यावज्जीवं तं सर्वप्रयत्नेन परिवर्त्तयति ॥ २००० ॥

गाथात्रयोक्तमर्थमेकगाथया संगृह्य प्रतिपादयति—

छम्मासे आयरिओ, कुलं तु संवच्छराइँ तिन्नि भवे ।

10 **संवच्छरं गणो वी, जावज्जीवाय संघो उ ॥ २००१ ॥**

व्याख्यातार्था ॥ २००१ ॥

एतच्च यो भक्तविवेकं कर्तुं न शक्नोति तमुद्दिश्य द्रष्टव्यम् । यस्तु भक्तविवेकं कर्तुं शक्नोति तेनाष्टादश मासान् यावत् प्रथमतश्चिकित्सा कारयितव्या, विरतिसहितस्य जीवितस्य पुनः संसारे दुरापत्वात् । ततः परं यदि न प्रगुणीभवति ततो भक्तविवेकः कर्त्तव्य इति । आगाढे कारण-15 जाते सञ्जाते सति ग्लानस्य वैयावृत्त्यं न कुर्यादपि परित्यजेद् वा ग्लानम् । किं पुनस्तत् कारण-जातम् ? इति उच्यते—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भये व गेलन्ने ।

एएहिँ कारणेहिं, अहवा वि कुले गणे संघे ॥ २००२ ॥

अशिवे ◁ समुत्पन्ने सति ग्लानं परित्यजेद् न च प्रायश्चित्तमाप्नुयात् । एवम् ▷ अवमौदर्ये 20 राजद्विष्टे 'भये वा' शरीरस्तेनसमुत्थे "गेलन्ने" त्ति सर्वो वा गच्छो ग्लानीभूत इत्यतः कस्य कः प्रतिचरणं करोतु ? एतैः कारणैः, अथवा कुलस्य गणस्य सङ्घस्य वा समर्पिते ग्लाने स्वयम-कुर्वन्नपि शुद्धः । परित्यजने त्वियं यतना—अशिवे समुत्पन्ने देशान्तरं सङ्क्रामन् ग्लानमन्येषां प्रतिबन्धस्थितानां साधूनामर्पयति, तेषामभावे शय्यातरादीनां समीपे साधर्मिकस्थलीषु वा देव-कुलिकेषु वा निक्षिपन्ति । एवमवमौदर्ये भये च द्रष्टव्यम् । राजद्विष्टे यद्येकस्य गच्छस्य 25 प्रद्वेषमापन्नो राजा ततोऽन्येषां साधूनां समर्पयन्ति, अथ सर्वेषामपि प्रद्विष्टस्ततः श्रावकादिषु निक्षिप्य व्रजन्ति । उत्सर्गतः पुनरेतैरपि कारणैर्न निक्षिपन्ति किन्तु स्कन्धे न्यस्य वहन्तीति ॥ २००२ ॥ आह च—

एएहिँ कारणेहिं, तह वि वहंती न चेव छड्डिंति ।

असहू वा उवगरणं, छड्डिंति न चेव उ गिलाणं ॥ २००३ ॥

30 एतैः कारणैर्यद्यपि ग्लानो निक्षेप्तुं कल्पते तथापि वहन्ति नैव परित्यज्यन्ति । अथ 'अस-हिष्णवः' वोढुमसमर्थाः तत उपकरणं परित्यजन्ति नैव ग्लानम् ॥ २००३ ॥

अहवा वि सो भणेज्जा, छड्डेउ ममं तु गच्छहा तुब्भे ।

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥ २ °नरेतेष्वपि कारणेषु न नि° भा० ॥

होउ त्ति भणिय गुरुगा, इणमन्ना आवई बिइया ॥ २००४ ॥

अथवा स ग्लानो भणेत्—मां 'छर्दयित्वा' परित्यज्य यूयं गच्छत । एवमुक्ते यदि कोऽपि साधुः 'भवत्वेवम्' इति भणति तदा तस्य चत्वारो गुरुकाः । 'इयं' वक्ष्यमाणलक्षणा प्रकारान्तरेण 'अन्या' द्वितीया आपदुच्यते ॥ २००४ ॥ तामेवाह—

पच्चंतमिलक्खेसुं, बोहियतेणेसु वा वि पडिएसु । 5
जणवय-देसविणासे, नगरविणासे य घोरम्मि ॥ २००५ ॥
बंधुजणविप्पओगे, अमायपुत्ते वि वट्टमाणम्मि ।
तह वि गिलाण सुविहिया, वच्चंति वहंतगा साहू ॥ २००६ ॥

प्रत्यन्ताः—प्रत्यन्तदेशवासिनो ये म्लेच्छास्तेषु तथा बोधिकस्तेना नाम—ये मानुषाणि हरन्ति तेषु वा पतितेषु सत्सु यो जनपदस्य—मगधादेः देशस्य वा—तदेकदेशभूतस्य विनाशः—विध्वंसस्त- 10 स्मिन्, तथा नगरविनाशे च 'घोरे' रौद्रे उपस्थिते, बन्धुजनानां—स्वज्ञातिलोकानां मरणभयातिरेकात् पलायमानानां यः परस्परं विप्रयोगस्तस्मिन्, कथम्भूते ? 'अमातापुत्रे' स्वस्वजीवितरक्षणाक्षणिकतया यत्र माता पुत्रं न स्मरति पुत्रोऽपि मातरं न स्मरति तदमातापुत्रम् "मयूरव्यंसकेत्यादयः" [सिद्ध० ३-१-११६] इति समासः तस्मिन्नपि वर्तमाने ये 'सुविहिताः' शोभनविहितानुष्ठानास्ते तथापि ग्लानं वहन्तो व्रजन्ति न पुनः परित्यजन्ति ॥ २००५ ॥ २००६ ॥ 15

ततोऽसौ ग्लानः प्राह—

तारेह ताव भंते !, अप्पाणं किं मएल्लयं वहह ।
एगालंबणदोसेण मा हु सव्वे विणस्सिहिह ॥ २००७ ॥

तारयत तावद् भदन्त ! यूयमात्मानमस्मादपारादापत्पारावारात्, किं मां मृतमिव मृतम्—अवश्यम्भावीमृत्युसम्भवतया शवप्रायं वहत ? । अपि च 'एकालम्बनदोषेण' मदीयमेव यदेकमालम्बनं तदेव 20 बहूनां विनाशकारणतया दोषस्तेन मा यूयं सर्वे विनङ्क्ष्यथ ॥ २००७ ॥

एवं च भणियमेत्ते, आयरिया नाण-चरणसंपन्ना ।
अचवलमणलिय हितयं, संताणकरिं वइमुदासी ॥ २००८ ॥

एवं च ग्लानेन भणितमात्रे सति आचार्याः 'ज्ञान-चरणसम्पन्नाः' संविग्नगीतार्था इति भावः 'अचपलाम्' अत्वरितां त्वराकारणस्य मरणभयस्याभावात् 'अनलीकां' सत्यां सद्भावसारत्वात् 25 'हिताम्' अनुकूलां परिणामसुन्दरत्वात् 'सत्राणकरीं' आर्त्तजनपरित्राणकारिणीं वाचमुदाहृतवन्तः ॥ २००८ ॥ कथम् ? इत्याह—

सव्वजगज्जीवहियं, साहुं न जहामो एस धम्मो णे ।
जति य जहामो साहुं, जीवियमित्तेण किं अम्हं ॥ २००९ ॥

सर्वस्मिन् जगति ये जीवाः—त्रस-स्थावरभेदभिन्नास्तेषामभयदायकतया हितं सर्वजगज्जीव- 30

---

१ °साणा 'अन्या' भा० ॥ २ °पदः-मगधादिः देशः-तदवयवस्तयोः विना° भा० ॥ ३ भगवन्तः ! आत्मानमस्मादापदर्णवात्, किं भा० ॥ ४ सत्राणं-परित्राणं रक्षणमित्येकोऽर्थः तत्करीं-तत्कारिणीं वाच° भा० ॥

हितं साधुं 'न प्रजहिमः' न परित्यजामः, एषोऽस्माकं 'धर्मः' समाचारः। यदि च साधुं प्रजहीमस्ततः किमस्माकं 'जीवितमात्रेण' सदाचारजीवितविकलेन बहिःप्राणधारणमात्रेण प्रयोजनम्? न किञ्चिदित्यर्थः ॥ २००९ ॥

तं वयणं हिय मधुरं, आसासंकुरसमुब्भवं सयणो।
5 **समणवरगंधहत्थी, बेइ गिलाणं परिवहंतो ॥ २०१० ॥**

'तद्' एवंविधं वचनं 'हितं' परिणामपथ्यं 'मधुरं' श्रोत्र-मनसां प्रल्हादकं तथाऽऽश्वास एवाङ्कुरः–प्ररोहस्तस्य समुद्भवः–उत्पत्तिर्यस्मात् तद् आश्वासाङ्कुरसमुद्भवम्, ग्लानस्याश्वासप्ररोहबीजमिति भावः, स्वजन इव स्वजनः स आचार्यः 'श्रमणवरगन्धहस्ती' यथा हि **गन्धहस्ती** गजकलभानां यूथाधिपत्यपदमुद्वहमानो गिरिकन्दरादिविषमदुर्गेष्वपि पतितो न तत्परित्यागं करोति, 10 एवमयमपि गणधरपदमनुपालयन् विषमदशायामपि श्रमणवरान्न परित्यजतीति श्रमणवरगन्धहस्तीत्युच्यते, स ग्लानं 'परिवहन्' परिवर्त्तयन्नेवमनन्तरोक्तं ब्रवीति ॥ २०१० ॥

तत इत्थं तदीयवचनं श्रुत्वा समीपवर्तिनामगारिणामित्थं स्थिरीकरणमुपजायते—

जइ संजमो जइ तवो, दढमित्तित्तं जहुत्तकारित्तं।
जइ बंभं जइ सोयं, एएसु परं न अन्नेसुं ॥ २०११ ॥

15 यदि 'संयमः' पञ्चाश्रवविरमणादिरूपो यदि 'तपः' अनशनादिरूपं 'दृढमैत्रीकत्वं' निश्चलसौहृदं 'यथोक्तकारित्वं' भगवदाज्ञाराधकत्वं यदि 'ब्रह्म' अष्टादशभेदभिन्नं ब्रह्मचर्यं यदि 'शौचं' निरुपलेपता सद्भावसारता वा, एतानि यदि परमेतेष्वेव साधुषु प्राप्यन्ते 'नान्येषु' शाक्यादिपरतीर्थिकेषु, तेषामेवंविधस्य ग्लानप्रतिचरणविधेरभावात् ॥ २०११ ॥

इत्थं तावद् विषमायामपि दशायां ग्लानो न परित्यक्तव्य इत्युक्तम्। अथात्यन्तिके भये 20 तमपरित्यजतां यदि सर्वेषामपि विनाश उपढौकते ततः को विधिः? इत्याह—

अच्चागाढे व सिया, निक्खित्तो जइ वि होज्ज जयणाए।
तह वि उ दोण्ह वि धम्मो, रिजुभावविचारिणो जेणं ॥ २०१२ ॥

'अत्यागाढे' प्रत्यन्तम्लेच्छादिभये, वाशब्दः पातनायाम्, सा च प्रागेव कृता, 'स्यात्' कदाचिद् यतनया निष्प्रत्यपाये प्रदेशे यद्यप्यसौ ग्लानो निक्षिप्तो भवेत् तथापि 'द्वयोरपि' 25 ग्लान-प्रतिचरकवर्गयोः 'धर्मः' "सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति" इति न्यायाद् धर्म एव मन्तव्यः। कुतः? इत्याह—'येन' कारणेन द्वावपि तौ ऋजुः–अकुटिलो मोक्षं प्रति प्रगुणो यो भावः–परिणामस्तत्र विचरितुं शीलमनयोरिति ऋजुभावविचारिणौ, ◁ [1] अशठपरिणामयुक्ताविति भावः ▷ ॥ २०१२ ॥ ततश्च—

पत्तो जसो य विउलो, मिच्छत्त विराहणा य परिहरिया।
30 **साहम्मियवच्छल्लं, उवसंते तं विमग्गंति ॥ २०१३ ॥**

तैराचार्यैः साधुभिश्च तादृशेऽपि भये सहसैव ग्लानमपरित्यजद्भिः 'विपुलं' दिग्विदिक्प्रचारि यशः प्राप्तम्। ◁ [2] गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्, एवमन्यत्रापि यथायोगं लिङ्गव्यत्ययो मन्तव्यः। ▷

१-२ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥

तथा 'मिथ्यात्वं' तत्परित्यागसमुत्थमन्येषां गृहस्थानां ग्लानस्य वा मिथ्यात्वगमनलक्षणं तत् परिहृतं भवति । विराधना च ग्लानस्य सहायविरहितस्य संयमा-ऽऽत्मविषया सा च परिहृता । साधर्मिकवात्सल्यं चानुपालितं भवति । यदा च तदत्यागाढं भयमुपशान्तं भवति तदा 'तं' ग्लानं 'विमार्गयन्ति' शोधयन्तीत्यर्थः ॥ २०१३ ॥

गतं ग्लानद्वारम् । अथ गच्छप्रतिबद्धयथालन्दिकद्वारमाह— 5

पडिबद्धे को दोसो, आगमणेगाणियस्स वासासु ।
सुय-संघयणादीओ, सो चेव गमो निरवसेसो ॥ २०१४ ॥

प्रतिबन्धनं प्रतिबद्धं गच्छप्रतिबन्ध इत्यर्थः तत्र कारणं यथालन्दिकानां वक्तव्यम् । "को दोसो" त्ति को नाम दोषो भवति यत् ते यथालन्दिका आचार्याधिष्ठिते क्षेत्रे न तिष्ठन्ति ? । "आगमणेगाणियस्स" त्ति यद्याचार्याः स्वयं क्षेत्रबहिर्गन्तुं न शक्नुवन्ति तत एकाकिनो यथाल- 10 न्दिकस्यागमनं ◁ गुरूणां समीपे ▷ भवति । "वासासु" त्ति वर्षासु उपयोगं दत्त्वा यदि जानाति वर्षं न पतिष्यति तत आगच्छति ◁ यथालन्दिको गुरुसमीपे, ▷ अन्यथा तु नेति । श्रुत-संहननादिकस्तु गमः स एव निरवशेषो वक्तव्यः यो जिनकल्पिकानाम्, यस्तु विशेषः स प्रागेवोक्तः ॥ २०१४ ॥ अथ प्रतिबद्धपदं व्याख्याति—

सुत्तत्थ सावसेसे, पडिबंधो तेसिमो भवे कप्पो । 15
आयरिए किइकम्मं, अंतर बहिया व वसहीए ॥ २०१५ ॥

सूत्रस्यार्थस्तैर्गृहीतः परमद्यापि 'सावशेषः' न सम्पूर्णः एष तेषां गच्छविषयः प्रतिबन्धो द्रष्टव्यः । तेषां च 'अयं' वक्ष्यमाणः कल्पः, यथा—आचार्यस्यैव 'कृतिकर्म' वन्दनकं तैर्दातव्यं नान्येषां साधूनाम् । तथा यद्याचार्यो न शक्नोति गन्तुं ततोऽन्तरा वा ग्रामस्य बहिर्वा वसतौ यथालन्दिकस्य वाचनां ददाति । एतदुत्तरत्र भावयिष्यते ॥ २०१५ ॥ अथ को दोष इति 20 द्वारम् । शिष्यः पृच्छति—यद्याचार्याधिष्ठिते क्षेत्रे ते तिष्ठेयुस्ततः को दोषः स्यात् ? उच्यते—

नमणं पुव्वब्भासा, अणमणे दुस्सील थप्पगासंका ।
आयट्ठ कुकुड त्ति य, वातो लोगे ठिई चेव ॥ २०१६ ॥

यथालन्दिकानां न वर्त्तते आचार्यं मुक्त्वा अन्यस्य साधोः प्रणामं कर्त्तुम्, तथाकल्पत्वात् । ततस्ते क्षेत्रान्तस्तिष्ठन्तः पूर्वाभ्यासाद् 'नमनं' प्रणामं साधूनां कुर्युः । गच्छवासिनश्च यथाल- 25 न्दिकान् वन्दन्ते, ते पुनर्यथालन्दिकास्तान् भूयो न प्रतिवन्दन्ते, ततस्तेषामनमने लोको ब्रूयात्—'दुःशीलाः' शैलस्तम्भकल्पा अमी, येनान्येषामित्थं वन्दमानानामपि न प्रतिवन्दनं प्रयच्छन्ति, न वा कमप्यालापं कुर्वन्ति । गच्छवासिषु वा लोकस्य स्थाप्यकाशङ्का भवति, अवश्यं स्थाप्याः—दुःशीलत्वादवन्दनीयाः कृता अमी, अन्यथा कथं न प्रतिवन्द्यन्ते ?, आत्मार्थिका वा अमी येनाप्रतिवन्दमानानपि वन्दन्ते, 'कौक्कुटिका वा' मातृस्थानकारिणोऽमी लोकपङ्क्तिनिमि- 30 त्तमित्थं वन्दन्ते । एवं लोके वाद उपजायते । एतैः कारणैः क्षेत्रबहिस्ते यथालन्दिकास्तिष्ठन्ति । अपि च 'स्थितिरेव' कल्प एवायममीषाम्, यत् क्षेत्राभ्यन्तरे न तिष्ठन्ति ॥ २०१६ ॥

१ °षां तस्य वा मिथ्या° मो० ले० विना ॥ २-३ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥

अथामीषामेव कल्पमाह—

दोन्नि वि दाउं गमणं, धारणकुसलस्स खेत्तबहि देइ ।
किइकम्म चोलपट्टे, ओवग्गहिया निसिज्जा य ॥ २०१७ ॥

आचार्यः सूत्रार्थपौरुष्यौ द्वे अपि गच्छवासिनां दत्त्वा यथालन्दिकानां समीपे गमनं करोति । 5 गत्वा च तत्र तेषामर्थं कथयति । अथाचार्यो न शक्नोति तत्र गन्तुं ततो यस्तेषां यथालन्दिकानां मध्ये धारणाकुशलः–अवधारणाशक्तिमान् स क्षेत्रबहिरन्तरा पल्लिकायाः प्रत्यासन्ने भूभागे समायाति, तत्र च गत्वा आचार्यस्तस्यार्थं ददाति । स च श्रुतभक्तिहेतोराचार्याणां 'कृतिकर्म' वन्दनकं दत्त्वा चोलपट्टकद्वितीय औपग्रहिक्यां निषद्यायामुपविष्टश्चार्थं शृणोति ॥ २०१७ ॥

अथ "दोन्नि वि दाउं गमणं" इत्यपवदन्नाह—

10 **अत्थं दो व अदाउं, वच्चइ वायावए व अन्नेणं ।**
एवं ता उडुबद्धे, वासासु य काउमुवओगं ॥ २०१८ ॥

यद्याचार्यो द्वे अपि पौरुष्यौ दत्त्वा गन्तुं न शक्नोति ततोऽर्थमदत्त्वा, तथाप्यशक्तौ 'द्वावपि' सूत्रार्थावदत्त्वा व्रजति, अन्येन वा शिष्येण स्वशिष्यान् 'वाचयति' वाचनां दापयति । अथाचार्यस्तत्र गन्तुमशक्तस्ततो यथालन्दिक एकः सूरिसमीपमायाति । एवं तावद् ऋतुबद्धे द्रष्ट-15 व्यम् । वर्षासु चशब्दः पुनरर्थे वर्षासु पुनरयं विशेषः—'उपयोगं कृत्वा' 'किं वर्षं पतिष्यति न वा ?' इति विमृश्य यदि जानाति पतिष्यति ततो नाचार्याणां समीपमायाति, ◁ अथ जानाति न पतिष्यति ततः समायाति ▷ ॥२०१८॥ अथ गुरवस्तत्र गताः कथं समुद्दिशन्ति ? इत्याह—

संघाडो मग्गेणं, भत्तं पाणं च नेइ उ गुरूणं ।
अच्चुण्हं थेरा वा, तो अंतरपल्लिए एइ ॥ २०१९ ॥

20 'गुरूणां' यथालन्दिकसमीपमुपगतानां योग्यं भक्तं पानं च गृहीत्वा सङ्घाटकः 'मार्गेण' पृष्ठतो गत्वा तत्र नयति । अथ यावता कालेन यथालन्दिकानामुपाश्रयं गुरवो व्रजन्ति तावता 'अत्युष्णम्' अतीवातपश्चटति 'स्थविरा वा' वार्द्धकवयःप्राप्तास्ते आचार्यास्ततोऽन्तरपल्लिकायामेको यथालन्दिको धारणासम्पन्नः समायाति । तत्र गुरवोऽपि गत्वा तस्य वाचनां दत्त्वा सङ्घाटकेनानीतं भक्त-पानं समुद्दिश्य सन्ध्यासमये मूलक्षेत्रमायान्ति ॥ २०१९ ॥

25 अथान्तरपल्लिमपि गन्तुमसमर्था गुरवस्ततः किम् ? इत्याह—

अंतर पडिवसभे वा, बिइयंतर बाहि वसभगामस्स ।
अन्नवसहीएँ तीए, अपरीभोगम्मि वाएइ ॥ २०२० ॥

अन्तरपल्लिका-प्रतिवृषभग्रामयोः 'अन्तरा' अपान्तराले गत्वा यथालन्दिकं वाचयति । तत्र गन्तुमशक्तौ प्रतिवृषभग्रामे । अथ तत्रापि गन्तुं न शक्नोति ततः "बिइयंतर" त्ति द्वितीयं–30 प्रतिवृषभ-मूलक्षेत्रयोरपान्तराललक्षणं यदन्तरं तत्र गत्वा वाचनां प्रयच्छति । तत्रापि गमनाशक्तौ 'वृषभग्रामस्य' मूलक्षेत्रस्य बहिर्विजने प्रदेशे गत्वा वाचयति । यदि तत्रापि गन्तुं न प्रभविष्णुस्ततो मूलक्षेत्र एवान्यस्यां वसतौ । तत्रापि गन्तुमशक्तौ तस्यामेव मूलवसतावपरिभो-

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० पुस्तक एव वर्त्तते ॥

न्येऽवकाशो वाचयति ॥ २०२० ॥ तत्र चेयं सामाचारी—

तस्स जई किइकम्मं, करिंति सो पुण न तेसि पकरेइ ।
जा पढइ ताव गुरुणो, करेइ न करेइ उ परेणं ॥ २०२१ ॥

'तस्य' यथालन्दिकस्य 'यतयः' गच्छवासिनः साधवः कृतिकर्म कुर्वन्ति, 'स पुनः' यथालन्दिकः 'तेषां' गच्छवासिनां पर्यायज्येष्ठानामपि कृतिकर्म न करोति । यावच्च 'पठति' अर्थशेषमधीते गुरोरपि तावदेव करोति, परतस्तु न करोति, तथाकल्पत्वात् ॥ २०२१ ॥ 5

अमीषामेव मासकल्पविधिमाह—

एको वा सवियारो, हवंतऽहालंदियाण छ ग्गामा ।
मासो विभज्जमाणो, पणगेण उ निट्ठिओ होइ ॥ २०२२ ॥

यदि गुर्वधिष्ठितमूलक्षेत्रस्य बहिरेको ग्रामः 'सविचारः' सविस्तरो वर्त्तते । ◁ ईह विचारशब्देन 10 विस्तार उच्यते, ततः सह विचारेण वर्त्तते यः स सविचारो विस्तीर्ण इत्यर्थः । ▷

आह च **चूर्णिकृत्**—सवियारो त्ति वित्थिन्नो ।

ततस्तस्मिन् ग्रामे षड् वीथीः परिकल्प्य यथालन्दिका एकैकस्यां वीथ्यां पञ्च पञ्च दिवसान् भिक्षामटन्ति, तस्यामेव च वीथ्यां वसतिमपि गृह्णन्ति । एवं प्रतिवीथ्यां "पणगेण" रात्रिन्दिवपञ्चकेन मासो विभज्यमानः सन् षड्भिरहोरात्रपञ्चकैः 'निष्ठितः' सम्पूर्णो भवति । अथ नास्ति 15 विस्तीर्णो ग्रामस्ततः "हवंतऽहालंदियाण छ ग्गामा" इति मूलक्षेत्रपार्श्वतो ये लघुतराः षड् ग्रामा भवन्ति तेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च दिवसान् पर्यटतां यथालन्दिकानां तथैव षड्भिरहोरात्रपञ्चकैर्मासः परिपूर्णो भवतीति ॥ २०२२ ॥

गतं गच्छप्रतिबद्धयथालन्दिकद्वारम् । अथोपरि दोषा अपवादश्चेति द्वारद्वयमाह—

मासस्सुवरिं वसती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य । 20
बिइयपदं च गिलाणे, वसही भिक्खं च जयणाए ॥ २०२३ ॥

मासस्य उपलक्षणत्वात् चतुर्णां वा मासानामुपरि यदि वसति तदा प्रायश्चित्तं दोषाश्च भवन्ति । द्वितीयपदं च 'ग्लाने' ग्लानार्थम् उपलक्षणत्वादशिवादिभिश्च कारणैर्मासस्योर्द्ध्वमप्यवस्थानलक्षणं भवति । तत्र च वसतिर्भैक्षं च यतनया ग्रहीतव्यम् ॥ २०२३ ॥

अथैनामेव **निर्युक्तिगाथां** विवरीषुः प्रायश्चित्तापत्तिस्थानानि तावदाह— 25

परिसाडिमपरिसाडी, संथाराऽऽहार दुविह उवहिम्मि ।
डगलग-सरक्ख-मल्लग-मत्तगमादीण पच्छित्तं ॥ २०२४ ॥
ओवासे संथारे, वीयारुच्चार वसहि गामे य ।
मास-चउम्मासाधिगवसमाणे होइमा सोही ॥ २०२५ ॥

संस्तारको द्विधा—परिशाटी अपरिशाटी च । परिशाटी—तृणमयः ◁ परिशटति—उत्पाद्य- 30

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥ २ मो० ले० विनाऽन्यत्र—**अथैनामेव विवरीषुः** त० डे० कां० । **अथैतदापत्तिस्थानानि प्रतिपादयति**—परि° भा० ॥ ३ मो० ले० विनाऽन्यत्र—**च । यस्य परिभुज्यमानस्य किञ्चित् तदन्तर्गतं तृणादि परिशटति स परिशाटी—तृणमयः संस्तारकः, तद्विप°** भा० ॥ ४ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः त० डे० कां० नास्ति ॥

मानः सन्नवश्यं विशीर्यते इति व्युत्पत्तेः, तद्विपरीतो ▷ अपरिशाटी फलकादिरूपः । एवं द्विविधमपि संस्तारकं यत्र मासकल्पं वर्षावासं वा कृतवान् तत्रैव ग्रामादौ गृह्णतः । एवमाहारमपि तेष्वेव कुलेषु गृह्णतः । औधिकौपग्रहिकभेदाद् द्विविधो य उपधिस्तस्मिँश्च तत्रैव गृह्यमाणे । तथा डगलकानि—पुतप्रोञ्छनलेष्टुकाः सरजस्कः—क्षारः मल्लक-मात्रके प्रतीते तेषामादिशब्दात् काष्ठ-किलिञ्चादीनां च तत्रैव ग्रहणे प्रायश्चित्तं वक्ष्यमाणलक्षणं भवति ॥ २०२४ ॥

तथा 'अवकाशः' प्रतिश्रयैकदेशः 'संस्तारः' संस्तारकभूमिः, एतौ पूर्वपरिभुक्तावेव परिभुङ्क्ते । 'विचारः' प्रश्रवणम् 'उच्चारः' संज्ञा, एतौ तत्रैव स्थण्डिले समाचरति । वसतिं प्राक्परिभुक्तां परिभुङ्क्ते । ग्रामस्योपरि ममत्वं करोति, यद्वाऽवकाशादिषु सर्वेष्वपि ममत्वं करोति । तथा ऋतुबद्धे मासाधिकं वर्षावासे चतुर्मासाधिकं वसति । एतेषु स्थानेषु 'इयम्' अनन्तरमेव वक्ष्यमाणा शोधिः ॥ २०२५ ॥ तामेवाह—

उक्कोसोवहि-फलए, वासातीए अ होंति चउलहुगा ।
डगलग सरक्ख मल्लग, पणगं सेसेसु लहुओ उ ॥ २०२६ ॥

उत्कृष्टे उपधौ—वर्षाकल्पादिके फलके च तत्रैव गृह्यमाणे वर्षातीते चत्वारो लघवः । डगलक-सरजस्क-मल्लकेषु उपलक्षणत्वात् काष्ठ-किलिञ्चादौ च रात्रिन्दिवपञ्चकम् । 'शेषेषु' परिशाटिसंस्तारकादिषु सर्वेष्वपि ◁ अनन्तरगाथाद्वयोक्तेषु स्थानेषु ▷ लघुको मासः ॥ २०२६ ॥

अथ मासाद्युपरि तिष्ठतो दोषानाह—

संवासे इत्थिदोसा, उग्गमदोसा व नेहतो कुज्जा ।
चमढण गिलाणदुल्लभ, वारत्तिसिभासियाहरणं ॥ २०२७ ॥

ऋतुबद्धे वर्षावासे वा यथोक्तकालावधेरुपरि 'संवासे' एकत्रावस्थाने क्रियमाणे सन्दर्शन-सम्भाषणादिना स्त्रीविषया आत्मपरोभयसमुत्था दोषा भवेयुः । प्रभूतकालावस्थानतश्च साधूनामुपरि भद्रकगृहिणां गाढतरः स्नेह उपजायते, ततश्च ते स्नेहतः 'उद्गमदोषान्' आधाकर्मादीन् कुर्युः । ये तु प्रान्ता गृहपतयस्ते ब्रूयुः—कियच्चिरमस्माभिरमीषामद्यापि दातव्यं तिष्ठति ? इति । अतिचमढणया च क्षेत्रं नीरसं भवति, ततो ग्लानस्य उपलक्षणत्वादाचार्यादीनां च प्रायोग्यं दुर्लभं भवेत् । अत्र च वारत्तकमहर्षेः कृतस्वल्पमात्रगृहिसङ्गस्य प्रद्योतनृपेणोपहसितस्याहरणम् । अत एव तेन भगवता ऋषिभाषितेषु यत् सप्तविंशमध्ययनं विरचितं तत्रादावेवेदमुपदेशसूत्रमभाणि—

न चिरं जणि संवसे मुणी, संवासेण सिणेहि वड्ढई ।
भिक्खुस्स अणिच्चचारिणो, आयट्ठे जम्हा उहायई ॥ इति । ॥ २०२७ ॥

---

१ °ल्लकं मात्रकं च प्रतीतम्, आदिशब्दात् काष्ठ-किलिञ्चादीनां परिग्रहः एतेषां तत्रैव भा० ॥ २ °ल्पादौ फल° मो० ले० विना ॥ ३ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥ ४ °परि तिष्ठतः 'सं° भा० ॥ ५ °स्थानं तत्र सन्द° भा० ॥ ६ कुर्युः । एवं तावद् भद्रककृता दोषा भवन्ति । ये तु प्रान्ता गृहपतयस्ते प्रद्वेषं गच्छेयुः—कियच्चिरमस्माभिरमीषामद्यापि दातव्यमवशिष्यते ? इति । अति° भा० ॥ ७ °हर्षेः सम्बन्धि यद् ऋषिभाषितनामकमध्ययनं तदुदाहरणं वक्तव्यम् । तेन हि भगवता भा० ॥

गतमुपरि दोषा इति द्वारम् । अथ द्वितीयपदं भावयति—

बहुदोसे वऽतिरित्तं, जइ लब्भे वेज्ज-ओसहाणि बहिं ।
चउभाग तिभागऽद्धे, जयंतऽणिच्छे अलंभे वा ॥ २०२८ ॥

ग्लाननिमित्तमतिरिक्तमपि कालं वसेत् । अथोद्गमादिभिर्दोषैर्बहुदोषं तत् क्षेत्रं तत उत्पाट्य ग्लानं बहिर्गन्तव्यं यदि वैद्यौषधानि तत्र लभ्यन्ते । अथ ग्लानो बहिर्गन्तुं नेच्छति वैद्यौषधानि वा बहिर्न लभ्यन्ते ततोऽनिच्छति अलाभे वा तत्रैव ग्रामे चतुर्भागीकृते त्रिभागीकृतेऽर्द्धीकृते वा यथायोगं वसतौ भिक्षायां च यतन्ते । इह च यद्यप्युत्सर्गतस्तं ग्राममष्टौ भागान् कृत्वा यतन्ते, तथा चेन्न संस्तरति ततः सप्त भागान्, एवं यावदेकभागमपि कृत्वा यतन्ते इति पुरस्ताद् (गा० २०३१) वक्ष्यते, तथापि चतुर्भाग-त्रिभागा-ऽर्द्धग्रहणं "तुलादण्डमध्यग्रहण"-न्यायेनाष्टभागादीनामपि ग्रहणार्थम् ॥ २०२८ ॥ प्रकारान्तरेण द्वितीयपदमाह— 10

ओमा-ऽसिव-दुट्ठेसुं, चउभागादि न करिंति अच्छंता ।
पोरुसिमाईवुड्ढी, करिंति तवसो असंथरणे ॥ २०२९ ॥

अवमा-ऽशिव-राजद्विष्टेषु बहिः सञ्जातेषु तत्रैव क्षेत्रेऽतिरिक्तमपि कालं तिष्ठन्ति यावद् बहिः सुभिक्षादीनि जायन्ते । तच्च क्षेत्रं यदि लघुतरं ततस्तत्र तिष्ठन्तोऽसंस्तरणे सति चतुर्भागादि-रचनां न कुर्वन्ति, किन्तु तत्र पौरुष्यादितपसो वक्ष्यमाणनीत्या वृद्धिं कुर्वन्ति । ◁ अथ बृह- 15 त्तरं तत् क्षेत्रं पूर्यते चतुर्भागादिरचनयाऽपि क्रियमाणं परं तत्राप्यवमादीनि समुत्पन्नानि, तत्रावमं तादृशमुत्पन्नं यादृशे चतुर्भागादिपरिपाट्या पर्यटन्तो न संस्तरन्ति, अशिवे भागाद् भागा-न्तरेषु सङ्क्रामतामशिवं सञ्चरति, राजद्विष्टेऽपरापरभागेषु सञ्चरन्तः प्रकटीभवन्ति, अतस्त्रिष्वप्य-वमा-ऽशिव-राजद्विष्टेषु चतुर्भागादिरचनामकुर्वन्तः पौरुष्यादितपसो वृद्धिं कुर्वन्ति । ▷ तद्यथा— ये पौरुषीप्रत्याख्यानिनस्ते पूर्वार्द्धं प्रत्याचक्षते, ये पूर्वार्द्धं प्रत्याख्यातारस्ते एकाशनं प्रत्याख्या- 20 न्तीत्यादि ॥ २०२९ ॥ अथ यतनामेव स्पष्टयति—

मासे मासे वसही, तण-डगलादी य अन्न गिण्हंति ।
भिक्खायरिय-वियारा, जहिं ठिया तत्थ नऽन्नासु ॥ २०३० ॥

मासे मासे वसतिरन्या तृण-डगलादीनि च पूर्वपरिभुक्तानि परित्यज्य अन्यानि गृह्णन्ति । यस्मिंश्च भागे मासकल्पं स्थितास्तत्रैव भागे तस्मिन् मासे भिक्षाचर्यां[3] विचारभूमिं च गच्छन्ति 25 'नान्यासु' भिक्षा-विचारभूमिषु ॥ २०३० ॥ अथ भागकरणस्यैव विधिमाह—

---

१ 'अवमं' दुर्भिक्षम् अशिवं वा राजद्विष्टं वा बहिः सञ्जातं ततस्तत्रैवातिरिक्तमपि कालं तिष्ठन्ति यावद् बहिः सुभिक्षादीनि जायन्ते । तच्च क्षेत्रं यदि लघुतरं ततस्तत्र तिष्ठन्तश्च-तुर्भागादिकल्पनां न कुर्वन्ति । यदि वा तत्रैव क्षेत्रे अवममशिवं राजद्विष्टं वा समुत्पन्नम्, तत्र च ग्लानादिप्रतिबन्धेन स्थितास्ततोऽवमोदरिके चतुर्भागादिपरिपाट्या पर्यटन्तो न संस्तरन्ति, अशिवे भागाद् भागान्तरं सङ्क्रामतामशिवं सञ्चरति, राजद्विष्टे अपरापरेषु भागेषु सञ्चरन्तः प्रकटीभवन्ति ततस्त्रिष्वपि चतुर्भागादिरचनां न कुर्वन्ति । यत्र चाशिवं भवति तत्र यदि चतुर्थ-षष्ठादिकं तपः कर्तुं संस्तरण-सामर्थ्यं नास्ति ततः पौरुष्यादिप्र-त्याख्यानस्य वृद्धिं कुर्वन्ति । तद्यथा—भा० ॥

२ एतदन्तर्गतः पाठः त० डे० कां० नास्ति ॥ ३ भिक्षां वि° भा० ॥

अट्ठाइ जाव एकं, करिंति भागं असंथरे गामं ।
अट्ठाइ चिय वसही, जयंति जा मूलवसही उ ॥ २०३१ ॥

कदाचिदष्टौ ऋतुबद्धमासान् ग्लानकार्येण स्थातव्यं भवेद् अतो ग्राममष्टौ भागान् कुर्वन्ति । ततः प्रथमेऽष्टभागे वसतिं तृण-डगलादीनि च गृह्णन्ति, मासं च यावत् प्रथम एवाष्टभागे 5 भिक्षाचर्यां विचारभूमिगमनं च कुर्वन्ति । ततो यदि मध्येमासं पूर्णे वा मासे ग्लानः प्रगुणीभूतस्ततस्तदैव निर्गन्तव्यम् । अथ न प्रगुणीभूतस्ततः पूर्णे मासे द्वितीयेऽष्टभागे तिष्ठन्ति, तत्राप्येष एव विधिर्मन्तव्यः । एवं तृतीयमष्टभागमादौ कृत्वा अष्टममष्टभागं यावद् द्रष्टव्यम् । अथाष्टभिर्भागैर्विभक्ते ग्रामे न संस्तरति ततः सप्तभागीकृत्य तथैव यतन्ते । एवमप्यसंस्तरणे षड् भागानादौ कृत्वा यावदेकमपि भागं कुर्वन्ति । एवं वसतीरपि प्रथमतः पृथक् पृथग् मास-10 कल्पप्रायोग्या अष्टौ गृह्णन्ति । तदभावे सप्त-षट्-पञ्चादिक्रमेण यतन्ते, यावत् तस्यामेव मूलवसतौ तिष्ठन्ति ॥ २०३१ ॥ अथात्रैव भङ्गकानाह—

इत्थं पुण संजोगा, इक्किक्कस्स उ अलंभें लंभे य ।
णेगा विहाणगुणिया, तुल्ला-तुल्लेसु ठाणेसु ॥ २०३२ ॥

अत्र पुनः प्रक्रमे 'एकैकस्य' वसतिभागस्य भिक्षाचर्याभागस्य वा अलाभे लाभे च यानि 15 तुल्यानि—समानसङ्ख्याकानि स्थानानि अतुल्यानि—विसदृशसङ्ख्याकानि तेषु विधानेन—चारणिकाविधिना गुणिताः सन्तः 'अनेके' बहवः 'संयोगाः' भङ्गका भवन्ति । चारणिकाक्रमश्चायम्—अष्टौ वसतयोऽष्टौ भिक्षाचर्याः १ अष्टौ वसतयः सप्त भिक्षाचर्याः २ एवं षड् भिक्षाचर्याः ३ पञ्च भिक्षाचर्याः ४ चतस्रो भिक्षाचर्याः ५ तिस्रो भिक्षाचर्याः ६ द्वे भिक्षाचर्ये ७ एका भिक्षाचर्या ८, एवं सप्त वसतयोऽष्टौ भिक्षाचर्याः १ सप्त वसतयः सप्त भिक्षाचर्याः २ 20 इत्यादिचारणिकया सप्तादिसङ्ख्यास्वपि वसतिविषयासु प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गकाः प्राप्यन्ते, सर्वसङ्ख्यया लब्धा भङ्गकानां चतुःषष्टिरिति ॥ २०३२ ॥ अथैतेष्वेव भङ्गकेषु विधिमाह—

एकाइ वि वसहीए, ठिया उ भिक्खयरियाएँ पयतंति ।
वसहीसु वि जयणेवं, अवि एकाए वि चरियाए ॥ २०३३ ॥

येषु भङ्गकेष्वेकैव वसतिः प्राप्यते तेष्वेकस्यामपि वसतौ स्थिता भिक्षाचर्यायां प्रयतन्ते, 25 प्रथममष्टौ भागान् ग्रामं विभज्य भिक्षां पर्यटन्ति, असंस्तरणे यावदेकमपि भागं कृत्वेति भावः । अपिशब्दो द्व्यादिसङ्ख्याकासु वसतिषु तिष्ठन्तः सुतरां भिक्षाचर्यायां प्रयतन्ते इति सूचनार्थः । यत्र त्वेकैव भिक्षाचर्या प्राप्यते तत्रैकस्यामपि भिक्षाचर्यायां पर्यटद्भिः एवमेव वसतिष्वपि यतना कर्त्तव्या ॥ २०३३ ॥ उक्तमपवादद्वारम् । तदुक्तौ च समर्थितं "पडिलेहण निक्खमणे" (गा० १६५८-५९) इति द्वारगाथाद्वयम् ॥ सूत्रम्—

30 **से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथाणं हेमंत-गिम्हासु दो**

---

१ °ष्वेकैव° मो० ले० विना ॥ २ इत्यादि द्वा° भा० ॥

मासे वत्थए । अंतो इक्कं मासं, बाहिं इक्कं मासं । अंतो वसमाणाणं अंतो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणाणं बाहिं भिक्खायरिया २-७ ॥

अस्य सम्बन्धो व्याख्या च प्राग्वत् । नवरं 'सबाहिरिके' प्राकारबहिर्वर्तिगृहपद्धतिरूपया बाहिरिकया सहिते कल्पते निर्ग्रन्थानां हेमन्त-ग्रीष्मेषु द्वौ मासौ वस्तुम् । कथम्? इत्याह— 5 'अन्तः' प्राकाराभ्यन्तरे एकं मासम्, 'बहिः' बाहिरिकायामप्येकं मासम् । अन्तर्वसतामन्तर्भिक्षाचर्या, बहिर्वसतां बहिर्भिक्षाचर्येति ॥

अथ भाष्यविस्तरः—

एसेव कमो नियमा, सपरिक्खेवे सबाहिरीयम्मि ।
नवरं पुण नाणत्तं, अंतो मासो बहिं मासो ॥ २०३४ ॥ 10

'एष एव' प्रथमसूत्रोक्तः क्रमः सपरिक्षेपे सबाहिरिकेऽपि ग्रामादौ नियमाद् वक्तव्यः । नवरं पुनः 'नानात्वं' विशेषोऽयम्—'अन्तः' प्राकाराभ्यन्तरे मासो बहिरपि मास इत्येवं मासद्वयं ऋतुबद्धे स्थातव्यम् ॥ २०३४ ॥

पुण्णम्मि मासकप्पे, बहिया संकमण तं पि तह चेव ।
नवरं पुण नाणत्तं, तणेसु तह चेव फलएसु ॥ २०३५ ॥ 15

आभ्यन्तरे मासकल्पे पूर्णे 'बहिः' बाहिरिकायां सङ्क्रमणं कर्त्तव्यम् । तदपि सङ्क्रमणं 'तथैव' पूर्वसूत्रवद् द्रष्टव्यम् । नवरं पुनरत्र नानात्वं तृणेषु तथा फलकेषु । तत्र यदि बाहिरिकायामेव तृण-फलकानि प्राप्यन्ते ततस्तत्रैव ग्रहीतव्यानि । अथ तत्र तानि न लभ्यन्ते ◁ ततोऽन्यं ग्रामं व्रजन्तु, अथ तत्राशिवादीनि कारणानि ▷ तत आभ्यन्तराण्येव तृण-फलकानि बाहिरिकायां नेतव्यानि ॥ २०३५ ॥ तत्र विधिमाह— 20

अन्नउवस्सयगमणे, अणपुच्छा नत्थि किंचि नेयव्वं ।
जइ नेइ अणापुच्छा, तत्थ उ दोसा इमे होंति ॥ २०३६ ॥

द्वितीये मासकल्पे बाहिरिकायामन्यमुपाश्रयं गच्छद्भिरनापृच्छया नास्ति किञ्चित् तृण-फलकादि नेतव्यम् । यद्यनापृच्छया नयति ततस्तत्रेमे दोषा भवन्ति ॥ २०३६ ॥

ताइं तण-फलगाइं, तेणाहडगाइँ अप्पणो वा वि । 25
निज्जंतय-गहियाइं, सिट्ठाइँ तहा असिट्ठाइं ॥ २०३७ ॥

तानि तृण-फलकानि येन साधूनां दत्तानि तस्य स्तेनाहृतानि वा भवेयुः आत्मसम्बन्धीनि वा । तानि च प्रतिश्रयान्तरं नीयमानानि—प्राप्यमाणानि गृहीतानि वा—नीतानि सन्ति शिष्टानि अशिष्टानि वा भवेयुः ॥ २०३७ ॥ शिष्टा-ऽशिष्टपदद्वयं व्याख्यानयति—

कस्सेते तण-फलगा, सिट्ठे अमुकस्स तस्स गहणादी । 30
निण्हवइ व सो भीओ, पसंगिर लोगउड्डाहो ॥ २०३८ ॥

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः भा० नास्ति ॥

स्तेनाहृतानि तृण-फलकान्यनापृच्छया नीयमानानि पूर्वस्वामिना राजपुरुषैर्वा दृष्टानि ततः साधुः पृष्टः—कस्यैतानि ? साधुः प्राह—अमुकस्य गृहपतेः इति 'शिष्टे' कथिते सति तस्य ग्रहणा-ऽऽकर्षणादयो दोषा भवन्ति । अथासौ साधुः भीतः सन् 'निह्नुते' अपलपति न कथयतीत्यर्थः ततोऽशिष्टे साधोः प्रत्यङ्गिरादोषो भवति, तृण-फलकदायकस्य गृहपतेः सम्बन्धी यश्चौर्यकरणल-
5 क्षणो दोषः स परकीयोऽप्यात्मनि लगतीत्यर्थः । लोके चोड्डाहो भवति—अहो ! साधवोऽपि परद्रव्यमपहरन्ति ॥ २०३८ ॥ अथात्रैव प्रायश्चित्तमाह—

नयणे दिट्ठे सिट्ठे, गिण्हण कड्ढण ववहारमेव ववहरिए ।
लहुओ लहुगा गुरुगा, छम्मासा छेय मूल दुगं ॥ २०३९ ॥

स्तेनाहृततृणानामपृच्छया[1] बाहिरिकायां नयनं करोति लघुको मासः । अथ तानि नीयमा-
10 नानि राजपुरुषैर्दृष्टानि ततश्चत्वारो लघुकाः । तैः पृष्टे साधुना 'शिष्टं' कथितं यथा (ग्रन्थाग्रं ३००० । सर्वग्रन्थाग्रम्—१५२२०) अमुकस्येति ततश्चत्वारो गुरुकाः । अथ[2] स गृही राज-पुरुषैर्गृहीतस्ततो ग्रहणेऽपि चत्वारो गुरुकाः । अथासौ तै राजपुरुषै राजकुलाभिमुखमाकर्षितस्ततः षण्मासा लघवः । अथ[3] राजकुलाभिमुखमाकर्षतस्तान् स गृहस्थः प्रतिलोममाकर्षति ततः षड् गुरुकाः । अथ राजकुलं नीत्वा व्यवहारं कारितस्ततः छेदः । व्यवहृते सति यदि स गृहस्थः
15 पश्चात्कृतस्ततो मूलम् । ततो बहुलोकसमक्षमुड्डाहे हस्त-पाद्याद्यवयवव्यङ्गिते वा कृतेऽनवस्था-प्यम् । अपद्राविते निर्विषये वा कृते पाराञ्चिकम् । सर्वत्र संयतस्यैतत् प्रायश्चित्तम् ॥ २०३९ ॥ अथ निह्नवनपदं[4] व्याख्याति—

अहवा वि असिट्ठम्मी, एसेव उ तेण संकणे लहुगा ।
नीसंकियम्मि गुरुगा, एगमणेगे य गहणादी ॥ २०४० ॥

20 अथवा मया कथिते सत्येष तृणफलकदाता ग्रहणा-ऽऽकर्षणादिकं प्राप्स्यते इति मत्वा यदि न कथयति ततः 'अशिष्टे' अकथिते एष एव स्तेनः सम्भाव्यत इत्येवं[5] 'शङ्कने' शङ्कायां राजपुरुषैः क्रियमाणायां चतुर्लघुकाः । निःशङ्किते चत्वारो गुरवः । ततश्च तस्यैवैकस्यानेकेषां वा साधूनां ग्रहणादयो दोषा भवन्ति ॥ २०४० ॥ तद्यथा—

नयणे दिट्ठे गहिए, कड्ढण ववहारमेव ववहरिए ।
25 **उड्डहणे य विरुंगण, उद्दवणे चेव निव्विसए ॥ २०४१ ॥**
लहुओ लहुया गुरुगा, छल्लहु छग्गुरुग छेय मूलं च ।
अणवट्ठप्पो दोसु अ, दोसु अ पारंचिओ होइ ॥ २०४२ ॥

तृणानि प्रतिश्रयान्तरमनापृच्छया नयति लघुको मासः[6] । राजपुरुषैर्दृष्टेषु चत्वारो लघवः ।

---

१ °या प्रतिश्रयान्तरे नयनं भा० ॥ २ अथ तस्य तेन राजपुरुषानानीय ग्रहणं कारितं तथापि चत्वा° भा० ॥ ३ अथ राजपुरुषैरसौ 'पूर्वस्वामिना सह व्यवहारं कुरु' इति भणि-तस्ततः षण्मासा गुरवः । अथ व्यवहृतं-कारणिकानां पुरतो व्यवहारः कर्तुमारब्धस्ततः छेदः । व्यवहारे कृते सति यदि पश्चात्कृतस्ततो मूलम् भा० ॥ ४ °पदं भावयति भा० ॥ ५ °वं यदि शङ्कितं भवति तदा चतुर्लघुकाः भा० ॥ ६ °सः । पूर्वस्वामिना दृष्टे° भा० ॥

ततः पृष्टे साधुना च निह्नुते नृपपुमांसस्तस्य साधोर्ग्रहणं[1] कुर्वन्ति चत्वारो गुरवः । राजपुरुषैः 'त्वं चौरः' इत्युक्त्वा राजकुलाभिमुखमाकर्षणे[2] कृते सति षण्मासा लघवः । अथ ते राजकुलाभिमुखमाकर्षन्ति साधुश्च तान् प्रतीपमाकर्षति एवं कर्षणाकर्षणे षण्मासा गुरवः । व्यवहारे प्रारब्धे छेदः । व्यवहृते यदि संयतः पश्चात्कृतस्ततो मूलम् । उड्डहन-व्यञ्जनयोर्द्वयोरनवस्थाप्यः । अपद्रावण-निर्विषयाज्ञापनयोर्द्वयोः पाराञ्चिक इति ॥ २०४१ ॥ २०४२ ॥ 5

आह कथं पुनस्तृणानि स्तेनाहृतानि सम्भवन्ति ? इत्युच्यते—

दंतपुरे आहरणं, तेनाहड बब्बगादिसु तणेसु ।
छायण मीराकरणे, अत्थिरफलगं च चंपादी ॥ २०४३ ॥

[3]स्तेनाहृतेषु तृणेषु दन्तपुरविषयमुदाहरणं वक्तव्यम्, यथा आवश्यके योगसङ्ग्रहेषु "दंतपुर दंतचक्के०" (नि० गा० १२८०) इत्यस्यां गाथायां यन्निदर्शनमुक्तम्, तत्र यथा 'दन्ताः 10 केनापि न ग्रहीतव्याः' इति राजाज्ञया प्रतिषिद्धत्वाद् धनमित्रसार्थवाहमित्रेण दृढमित्रेण दन्ता दर्भपूलकैराच्छाद्य प्रच्छन्नमानीताः स्तेनाहृताः संवृत्ताः, एवं राज्ञा प्रतिषिद्धानि सम्भवन्ति तृणान्यपि स्तेनाहृतानीति[4] । तैश्च बब्बकादिभिस्तृणैर्ग्लानादीनां छादनं प्रतिश्रयस्य वा मीराकरणं विधीयते । मीराकरणं नाम—कटैर्द्वारादेराच्छादनम्, उपलक्षणमेतत्, तेन प्रस्तरणार्थमपि तृणानि गृह्यन्ते । फलकं तु प्रस्तरणार्थं मीराकरणार्थं वा । तच्चास्थिरफलकं चम्पकपट्टादि मन्तव्यम् । 15 अस्थिरफलकं नाम—उपविशतां यदधो यातीव, तच्चैवंविधं चम्पकपट्टादि ॥ २०४३ ॥

अस्तेनाहृततृणानां नयने दोषानाह—

अतेणाहडाण नयणे, लहुओ लहुया य होंति सिट्ठम्मि ।
अप्पत्तियम्मि गुरुगा, वोच्छेद पसज्जणा सेसे ॥ २०४४ ॥

अस्तेनाहृतानां तृणानामनापृच्छ्य बहिर्नयने लघुको मासः । अपरेण केनापि तस्य 'शिष्टं' 20 कथितं 'त्वदीयानि तृणानि संयतैर्बाहिरिकायां नीतानि' तदा चतुर्लघु । कथिते यद्यसावनुग्रहं मन्यते ततोऽपि चतुर्लघु । अथाप्रीतिकं करोति तदा चतुर्गुरु । व्यवच्छेदं वा तद्द्रव्यस्य तस्य साधोर्भूयः प्रदाने कुर्यात् । "पसज्जणा सेस" त्ति 'शेषाणाम्' अन्येषामप्यशन-पानकादिद्रव्याणामपरेषां वा साधूनां प्रसङ्गतो दानव्यवच्छेदं कुर्यात् ॥ २०४४ ॥

---

१ °हणं—गृहीतं तत् कुर्व° मो० ले० ॥

२ मो० ले० विनाऽन्यत्र—°माकर्षणं कृतं ष° भा० । °माकृष्टे ष° त० डे० कां० ॥

३ मो० ले० विनाऽन्यत्र—स्तेनाहृतेषु बल्बजादितृणेषु दन्तपुरविषयमुदाहरणं वक्तव्यम्, यथा आवश्यके योगसङ्ग्रहेषु "दंतपुर दंतचक्के" इत्यस्यां गाथायां प्रतिपादितम् । तत्र यथा भा० । आवश्यके योगसङ्ग्रहेषु "दंतपुर दंतचक्के" इत्यस्यां गाथायां यद् 'आहरणम्' निदर्शनमुक्तम्, तत्र यथा त० डे० कां० ॥

४ °ति । तानि च किमर्थं साधुभिरानीयन्ते ? इत्याह—ग्लानादीनां हेतोरुपाश्रयस्य च्छादनार्थं प्रतिश्रयस्य वा मीराकरणार्थम् । मीराकरणं नाम—कटैः पार्श्वाणामाच्छादनमित्यर्थः, उपलक्षणमेतत्, तेन प्रस्तरणार्थमित्यपि द्रष्टव्यम् । फलकं पुनः प्रस्तरणार्थं भा० ॥

एसेव गमो नियमा, फलएसु वि होइ आणुपुव्वीए ।
नवरं पुण नाणत्तं, चउरो मासा जहन्नपदे ॥ २०४५ ॥

एष एव 'गमः' प्रकारः फलकेष्वपि भवत्यानुपूर्व्या यस्तृणेषु "नयणे दिट्ठे सिट्ठे" (गा० २०३९) इत्यादिना भणितः । नवरं पुनरत्र नानात्वं चत्वारो मासा जघन्यपदे भवन्ति । जघ-5न्यपदं नाम—यत्र तृणेषु लघुमासिकमापद्यते तत्रानापृच्छया बहिर्नयनमिति द्रष्टव्यम् तत्र फलकेषु चतुर्लघु ॥ २०४५ ॥ अथ मासद्वयादूर्द्ध्वमवस्थाने दोषान् द्वितीयपदं चाह—

दोण्हं उवरिं वसती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य ।
बिइयपदं च गिलाणे, वसही भिक्खं च जयणाए ॥ २०४६ ॥

सबाहिरिके क्षेत्रे द्वयोर्मासयोरुपरि यदि वसति ततः प्रायश्चित्तं प्रागुक्तमेव मासलघुकास्यम्, 10दोषाश्च त एवावसातव्याः ये अबाहिरिके क्षेत्रे "संवासे इत्थिदोसा" (गा० २०२७) इत्या-दिना उक्ताः । द्वितीयपदं च ग्लानविषयं तदेव वक्तव्यम् । तत्र च तिष्ठता वसतिर्भैक्षं च यतनया ग्रहीतव्यम् ॥ २०४६ ॥ सूत्रम्—

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंत-गेम्हासु दो मासा वत्थए ३-८ ॥

15

अस्यापि व्याख्या प्राग्वत् । नवरमबाहिरिके क्षेत्रे कल्पते निर्ग्रन्थीनां हेमन्त-ग्रीष्मेषु द्वौ मासौ वस्तुमिति ॥ अथ भाष्यविस्तरः—

एसेव कमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो ।
जं एत्थं नाणत्तं, तमहं वोच्छं समासेणं ॥ २०४७ ॥

20 'एष एव' निर्ग्रन्थसूत्रोक्तः "पव्वज्जा सिक्खापय" (गा० ११३२) इत्यादिकः क्रमो निय-माद् निर्ग्रन्थीनामपि ज्ञातव्यो भवति । यत् पुनः अत्र विहारद्वारे नानात्वं तदहं वक्ष्ये समा-सेन ॥ २०४७ ॥ प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

निग्गंथीणं गणहरपरूवणा खेत्तमग्गणा चेव ।
वसही वियार गच्छस्स आणणा वारए चेव ॥ २०४८ ॥
25 **भत्तट्ठणाएँ य विही, पडिणीए भिक्खनिग्गमे चेव ।**
निग्गंथाणं मासो, कम्हा तासिं दुवे मासा ॥ २०४९ ॥

निर्ग्रन्थीनां यो गणधरः—गच्छवर्त्तापकस्तस्य प्ररूपणा कर्त्तव्या । ततः क्षेत्रस्य संयतीप्रायोग्यस्य मार्गणा—प्रत्युपेक्षणा वक्तव्या । ततस्तासां योग्या वसतिर्विचारभूमिश्च । ततः 'गच्छस्य' संयती-गणस्य आनयना । ततः 'वारकः' घटस्तत्स्वरूपम् । तदनन्तरं भक्तार्थना—समुद्देशनं तस्याः 'विधिः' 30व्यवस्था । ततः प्रत्यनीककुलोपद्रवतो यथा निवारणम् । ततो भिक्षायां निर्गमः । ततो निर्ग्र-न्थानां कस्मादेको मासः ? तासां च कस्माद् द्वौ मासौ ? । एतानि द्वाराणि वक्तव्यानीति द्वार-

१ °भरव मासा° भा० ॥

गाथाद्वयसमुदायार्थः ॥ २०४८ ॥ २०४९ ॥

अथावयवार्थं प्रतिद्वारमाह—

पियधम्मे दढधम्मे, संविग्गेऽवज्ज ओय-तेयस्सी ।
संगहुवग्गहकुसले, सुत्तत्थविऊ गणाहिवई ॥ २०५० ॥

प्रियः—इष्टो धर्मः—श्रुत-चारित्ररूपो यस्य स प्रियधर्मा । यस्तु तस्मिन्नेव धर्मे दृढो द्रव्य-क्षेत्राद्यापदुदयेऽपि निश्चलः स दृढधर्मा, राजदन्तादित्वाद् दृढशब्दस्य पूर्वनिपातः । संविग्नो द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतो मृगः, सदैव त्रस्तमानसत्वात् । भावतो यः संसार-भयोद्विग्नः सन् नित्यं पूर्वरात्रा-ऽपररात्रकाले सम्प्रेक्षते—किं मया कृतम् ? किं वा मे कर्त्तव्यशे-षम् ? किं वा शक्यमपि तपःकर्मादिकमहं न करोमि ? इत्यादि ।

◁ तौ[3]··············उद्विग्नवासा न शयं लभन्ते ।
एवं बुधा ज्ञानविशेषबुद्धाः, संसारभीता न रतिं लभन्ते ॥ ▷

"वज्ज" त्ति अकारप्रश्लेषाद् अवद्यं—पापं "सूचनात् सूत्रम्" इति कृत्वा तद्भीरुः—अवद्यभीरुः । ओजः तेजश्च उभयमपि वक्ष्यमाणलक्षणं तद् विद्यते यस्य स ओजस्वी तेजस्वी चेति । सङ्ग्रहः—द्रव्यतो वस्त्रादिभिर्भावतः सूत्रार्थाभ्याम्, उपग्रहः—द्रव्यत औषधादिभिर्भावतो ज्ञानादिभिः, एतयोः संयतीविषययोः सङ्ग्रहोपग्रहयोः कुशलः—दक्षः । तथा 'सूत्रार्थविद्' गीतार्थः । एवं-विधः 'गणाधिपतिः' आर्यिकाणां गणधरः स्थापनीयः ॥ २०५० ॥ अथौजस्तेजसी व्याचष्टे—

आरोह-परीणाहा, चियमंसो इंदिया य पडिपुण्णा ।
अह ओओ तेओ पुण, होइ अणोतप्पया देहे ॥ २०५१ ॥

आरोहो नाम—शरीरेण नातिदैर्घ्यं नातिह्रस्वता, परिणाहो नाम—नातिस्थौल्यं नातिदुर्बलता; अथवा आरोहः—शरीरोच्छ्रायः, परिणाहः—बाह्वोर्विष्कम्भः, एतौ द्वावपि तुल्यौ न हीनाधिक-प्रमाणौ । "चियमंसो" त्ति भावप्रधानत्वाद् निर्देशस्य 'चितमांसत्वं नाम' वपुषि पांसुलिका नाव-लोक्यन्ते । तथा इन्द्रियाणि च प्रतिपूर्णानि, न चक्षुः-श्रोत्राद्यवयवविकलतेति भावः । 'अथ' एतद् आरोहादिकमोज उच्यते, तद् यस्यास्ति स ओजस्वी । तेजः पुनः 'देहे' शरीरे 'अनप-त्रप्यता' अलज्जनीयता दीप्तियुक्तत्वेनापरिभूतत्वम्, तद् विद्यते यस्य स तेजस्वी ॥ २०५१ ॥

गतं गणधरप्ररूपणाद्वारम् । अथ क्षेत्रमार्गणाद्वारमाह—

खित्तस्स उ पडिलेहा, कायव्वा होइ आणुपुव्वीए ।
किं वच्चई गणहरो, जो चरई सो तणं वहइ ॥ २०५२ ॥

'क्षेत्रस्य' संयतीप्रायोग्यस्य 'आनुपूर्व्या' "थुइमंगलमामंतण" (गा० १४६१) इत्यादिना पूर्वोक्तक्रमेण प्रत्युपेक्षणा गणधरेण कर्त्तव्या । आह 'किं' केन हेतुना गणधरः स्वयमेव क्षेत्रप्रत्यु-

---

१ अत्र भा० प्रतौ १५३०० ग्रन्थाग्रं विद्यते, प्रथमखण्डश्चास्या अत्र समाप्यते ॥
२ °ग्गहसुत्तत्थतदुभयविदू ता० ॥ ३ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥
४ त्ति वर्ज्यम् अकारप्रश्लेषाद् अवद्यं वा—पापं भा० ॥
५ "अथवा 'आरोहो' उच्चत्तं 'परिणाहो' बाहूणं विक्खंभो, समचउरंससंठाणमित्यर्थः ।" इति चूर्णौ ॥

पेक्षणाय व्रजति ? उच्यते—यो बलीवर्दादिश्चारिं चरति स एव तृणभारं वहति, एवं यो निर्ग्र-न्थीगणस्याधिपत्यमनुभवति स एव सर्वमपि तच्चिन्ताभारमुद्वहति ॥ २०५२ ॥

आह संयत्यः किमर्थं न गच्छन्ति ? इत्युच्यते—

संजइगमणे गुरुगा, आणादी सउणि पेसि पिल्लणया ।
5 **[उव]लोभे तुच्छा आसियावणाइणो भवे दोसा ॥ २०५३ ॥**

यदि संयत्यः क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुं गच्छन्ति तत आचार्यस्य चतुर्गुरव आज्ञादयश्च दोषाः । यथा 'शकुनिका' पक्षिणी श्येनस्य गम्या भवति यथा वा "पेसि" त्ति मांसपेशिका आम्रपेशिका वा सर्वस्याप्यभिलषणीया भवति तथा एता अपि; अत एव "पेल्लणय" त्ति विषयार्थिना प्रेर्यन्ते । तथा तुच्छास्ताः, ततो येन तेनाप्याहारादिलोभेनोपप्रलोभ्य आसियावणम्—अपहरणं तासां क्रियते । 10 एवमादयो दोषा भवन्ति ॥ २०५३ ॥ इदमेव भावयति—

तुच्छेण वि लोभिज्जइ, भरुयच्छाहरण नियडिसड्ढेणं ।
णंतनिमंतण वहणे, चेइय रूढाण अक्खिवणं ॥ २०५४ ॥

तुच्छेनापि आहार-वस्त्रादिना स्त्री लोभ्यते । अत्र च **भृगुकच्छप्रान्तेन निकृतिश्राद्धेनोदाहरणम्** । कथम् ? इत्याह—"णंत" त्ति वस्त्राणि तैर्निमन्त्रणं कृत्वा 'वहने' प्रवहणे चैत्यवन्द-15 नार्थमारूढानां संयतीनां तेन 'आक्षेपणम्' अपहरणं कृतमिति ॥

जहा—**भरुअच्छे** आगंतुगवाणियओ **तच्चन्नियसड्ढो** संजईओ रूववईओ दट्ठूण कवडसड्ढत्तणं पडिवन्नो । ताओ तस्स वीसंभियाओ । गमणकाले पवत्तिणिं विन्नवेइ—वहणट्ठाणे मंगलट्ठा पडिलाहणं करेमि तो संजईओ पट्ठवेह, अम्हे वि अणुग्गहिया होज्जामो । तओ पट्ठविया । तत्थ गया कवडसड्ढेणं भण्णंति—पढमं वहणे चेइयाइं वंदह, तो पडिलाहणं करेमि त्ति । 20 ताओ जाणंति—अहो ! विवेको । तओ चेइयवंदणत्थमारूढाणं पयट्टियं वहणं, जाव आसियावियाओ ॥ ॥ २०५४ ॥

एएहिं कारणेहिं, न कप्पई संजईण पडिलेहा ।
गंतव्व गणहरेणं, विहिणा जो वण्णिओ पुव्विं ॥ २०५५ ॥

एतैः कारणैः संयतीनां क्षेत्रप्रत्युपेक्षा कर्तुं न कल्पते । केन पुनस्तर्हि प्रत्युपेक्षणाय गन्त-25 व्यम् ? इत्याह—गन्तव्यं गणधरेण विधिना । कः पुनर्विधिः ? इत्याह—यः पूर्वमत्रैव **मासकल्पप्रकृते** (गा० १४४७–१६२२) स्थविरकल्पिकविहारद्वारे वर्णितः ॥ २०५५ ॥

आह कीदृशं क्षेत्रं ◁ तासां योग्यं गणधरेण ▷ प्रत्युपेक्षणीयम् ? उच्यते—

जत्थाहिवई सूरो, समणाणं सो य जाणइ विसेसं ।
एतारिसम्मि खेत्ते, समणाणं होइ पडिलेहा ॥ २०५६ ॥
30 **जहियं दुस्सीलजणो, तक्कर-सावयभयं व जहि नत्थि ।**
निप्पच्चवाय खेत्ते, अज्जाणं होइ पडिलेहा ॥ २०५७ ॥

'यत्र' ग्रामादौ 'अधिपतिः' भोगिकादिकः 'शूरः' चौर-चरटादिभिरनभिभवनीय इत्यर्थः, स

१ °णायां ग° त० डे० कां० ॥ २ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥

च 'श्रमणानां' साधूनां विशेषं जानाति, यथा—ईदृशममीषां दर्शने व्रतम्, ईदृशश्च समाचारः । एतादृशे क्षेत्रे साध्वीयोग्ये श्रमणानां प्रत्युपेक्षणा भवति, ◁ एवंविधं क्षेत्रं तासां हेतोः प्रत्युपेक्षणीयमिति भावः ▷ ॥ २०५६ ॥

तथा यत्र दुःशीलजनः तस्कर-श्वापदभयं वा यत्र नास्ति ईदृशे निष्प्रत्यपाये क्षेत्रे आर्यिकाणां प्रायोग्ये प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या भवति ॥ २०५७ ॥ अथ वसतिद्वारमाह— 5

गुत्ता गुत्तदुवारा, कुलपुत्ते सत्तमंत गंभीरे ।
भीयपरिस मद्दविए, ओभासण चिंतणा दाणे ॥ २०५८ ॥

'गुप्ता' वृत्या कुड्येन वा परिक्षिप्ता । 'गुप्तद्वारा' कपाटद्वयोपेतद्वारा । यस्यां च शय्यातरः कुलपुत्रकः, कथम्भूतः ? 'सत्त्ववान्' न केनापि क्षोभ्यते, महदपि च प्रयोजनं कर्तुमध्यवस्यति । 'गम्भीरो नाम' संयतीनां पुरीषाद्याचरणं दृष्ट्वाऽपि विपरिणामं न याति । तथा भीता—चकिता 10 पर्षद् यस्य स भीतपर्षद्, आज्ञैकसारतया यस्य भ्रुकुटिमात्रमपि दृष्ट्वा परिवारः सर्वोऽपि भयेन कम्पमानस्तिष्ठति न च कश्चिदन्याये प्रवृत्तिं करोति । मार्दवम्—अस्तब्धता तद् विद्यते यस्य स मार्दविकः । एवंविधो यदि कुलपुत्रको भवति ततः "ओभासण" त्ति संयतीनामुपाश्रयस्यावभाषणं कर्त्तव्यम् । अवभाषिते च यद्यसावुपाश्रयमनुजानीते– ◁ 'अनुग्रहो मे, तिष्ठन्तु भगवत्यो यथाऽभिप्रेतं कालमत्र' इति ▷ ततो भण्यते—"चिंतण" त्ति यथा स्वकीयाया दुहितुः स्नुषाया वा 15 चिन्तां करोषि तथा यद्येतासामपि प्रत्यनीकादुपसर्गरक्षणे चिन्तां कर्तुमुत्सहसे ततोऽत्र स्थापयामः । स प्राह—बाढं करोमि चिन्तां परं कथं पुनरमू रक्षणीयाः ? । ततोऽभिधातव्यम्—यथा किलाक्षिणी स्वहस्तेन परहस्तेन वा दूयमाने रक्ष्येते तथैता अपि यद्यात्ममानुषैरपरमानुषैर्वा उपद्रूयमाणा रक्षसि तत एता रक्षिता भवन्तीति । यद्येवं प्रतिपद्योपाश्रयस्य दानं करोति ततः स्थापनीयाः । अथाप्रतिपद्यमाने स्थापयन्ति ततश्चत्वारो गुरुकाः ॥ २०५८ ॥ 20

अन्याचार्याभिप्रायेणामुमेवार्थमाह—

घणकुड्डा सकवाडा, सागारियमाउ-भगिणिपेरंता ।
निप्पच्चवाय जोग्गा, विच्छिन्नपुरोहडा वसही ॥ २०५९ ॥

'घनकुड्या' पक्वेष्टकादिमयभित्तिका, 'सकपाटा' कपाटोपेतद्वारा, सागारिकसत्कानां मातृभगिनीनां गृहाणि पर्यन्ते–पार्श्वतो यस्याः सा सागारिकमातृ-भगिनीगृहपर्यन्ता, गाथायामनुक्तोऽपि गृहशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, 'निष्प्रत्यपाया' दुर्जनप्रवेशादिप्रत्यपायरहिता, विस्तीर्णं पुरोहडं–गृहपश्चाद्भागो यस्यां सा विस्तीर्णपुरोहडा, एवंविधा वसतिः संयतीनां योग्या ॥ २०५९ ॥ 25

नासन्ने नातिदूरे, विहवापरिणयवयाण पडिवेसे ।
मज्झत्थ-ऽवियाराणं, अकुऊहल-भावियाणं च ॥ २०६० ॥

विधवाश्च ताः परिणतवयसश्च–स्थविरस्त्रियस्तासाम् तथा मध्यस्थानां–कन्दर्पादिभावविकलानाम् अविकाराणां–गीतादिविकाररहितानाम् अकुतूहलानां–'संयत्यो भोजनादिक्रियाः कथं 30

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥ २ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव । "अज्जाणं वसहिं देहि । सो भणइ—अणुग्गहो मे । ताहे भण्णइ" इति विशेषचूर्णौ ॥

कुर्वन्ति ?' इति कौतुकवर्जितानाम् भावितानां–साधु-साध्वीसामाचारीवासितानां सम्बन्धि यत् प्रतिवेश्म–प्रत्यासन्नगृहं तत्र नासन्ने नातिदूरे संयतीप्रतिश्रयो ग्राह्यः ॥ २०६० ॥

अथान्याचार्यपरिपाट्या शय्यातरस्वरूपमाह—

भोइय-महत्तरगादी, बहुसयणो पिल्लओ कुलीणो य ।
5 परिणतवओ अभीरू, अणभिग्गहिओ अकुतूहली ॥ २०६१ ॥
कुलपुत्त सत्तमंतो, भीयपरिस भद्दओ परिणओ अ ।
धम्मट्ठी य विणीओ, अज्जासेज्जायरो भणिओ ॥ २०६२ ॥

यो भोगिक-महत्तरादिः 'बहुस्वजनः' बहुपाक्षिकः, तथा 'प्रेरकः' षिङ्गादीनां स्वगृहे प्रविशतां निवारकः, कुलीनः परिणतवयाश्च प्रतीतः, 'अभीरुः' उत्पन्ने महत्यपि कार्ये न बिभेति 10 'कथमेतत् कर्त्तव्यम् ?' इति, 'अनभिगृहीतः' आभिग्रहिकमिथ्यात्वरहितः, 'अकुतूहली' संयतीनां भोजनादिदर्शने कौतुकवर्जितः ॥ २०६१ ॥

यस्तु कुलपुत्रकः 'सत्त्ववान्' न केनाप्यभिभवनीयः, 'भीतपर्षत्' प्राग्वत्, 'भद्रकः' शासने बहुमानवान्, परिणतो वयसा मत्या वा, तथा 'धर्मार्थी' धर्मश्रद्धालुः, 'विनीतः' विनयवान्, एष आर्यिकाणां शय्यातरो भणितस्तीर्थकरैः ॥ २०६२ ॥

15 गतं वसतिद्वारम् । अथ विचारद्वारमाह—

अणावायमसंलोगा, अणावाया चेव होइ संलोगा ।
आवायमसंलोगा, आवाया चेव संलोगा ॥ २०६३ ॥

अनापाता असंलोका १ अनापाता संलोका २ आपाता असंलोका ३ आपाता संलोका चेति ४ चतस्रो विचारभूमयः ॥ २०६३ ॥ एतासु संयतीनां विधिमाह—

20 वीयारे बहि गुरुगा, अंतो वि य तइयवज्जि ते चेव ।
तइए वि जत्थ पुरिसा, उवेंति वेसित्थियाओ अ ॥ २०६४ ॥

यदि पुरोहडे विद्यमाने संयत्यो ग्रामाद् बहिर्विचारभुवं गच्छन्ति ततश्चतुर्ष्वपि स्थण्डिलेषु प्रत्येकं चतुर्गुरुकाः प्रायश्चित्तम् । 'अन्तरपि च' ग्रामाभ्यन्तरे पुरोहडादौ आपातासंलोकलक्षणं तृतीयं स्थण्डिलं वर्जयित्वा शेषेषु त्रिषु स्थण्डिलेषु गच्छन्तीनां 'त एव' चत्वारो गुरुकाः । 25 'तृतीयेऽपि' स्थण्डिले यत्र पुरुषा वेश्यास्त्रियश्च 'उपयन्ति' आपतन्ति तत्र चत्वारो गुरुकाः । यत्र तु कुलजानां स्त्रीणामापातो भवति तत्र गन्तव्यम् ॥ २०६४ ॥

आह किं पुनः कारणं प्रथमादीनि स्थण्डिलानि तासां नानुज्ञायन्ते ? उच्यन्ते—

जत्तो दुस्सीला खलु, वेसित्थि नपुंस हेट्ठ तेरिच्छा ।
सा उ दिसा पडिकुट्ठा, पढमा बिइया चउत्थी य ॥ २०६५ ॥

30 "जत्तो" त्ति यस्यां दिशि 'दुःशीलाः' परदाराभिगामिनः पुरुषा आपतन्ति तथा वेश्यास्त्रियो

---

१ °म्मट्ठिओ वि° ता० ॥ २ आर्याणां भा० ॥ ३-४ अणवा° ता० ॥ ५ °रभूमिं ग° भा० ॥
६ चत्वारो गुरुकाः । 'अन्तरपि च' ग्रामाभ्यन्तरेऽपि तृतीयभङ्गवर्जे आपाता° भा० ॥
७ °काः । ग्रामाभ्यन्तरेऽपि तृतीये स्थण्डिले तत्रैवानुज्ञा यत्र कुल° भा० ॥

नपुंसकाश्च "हेट्ठ" त्ति अधोनापिताः 'तिर्यञ्चश्च' वानरादय आपतन्ति 'सा तु' सा पुनः दिक् प्रथमा द्वितीया चतुर्थी च 'प्रतिक्रुष्टा' निषिद्धा, प्रथमादीनि स्थण्डिलानीत्यर्थः ॥ २०६५ ॥

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां व्याचष्टे—

चारभड घोड मिंठा, सोलग तरुणा य जे य दुस्सीला ।
उब्भामित्थी वेसिय, अपुमेसु उ इंति उ तदट्ठा ॥ २०६६ ॥ 5

'चारभटाः' राजपुरुषाः 'घोटाः' चट्टाः 'मिण्ठाः' गजपरिवर्त्तकाः 'सोलाः' तुरगचिन्तानियुक्ताः, एवमादयो ये तरुणाः सन्तो दुःशीलास्ते प्रथम-द्वितीययोः स्थण्डिलयोरनापातत्वादेकान्तमिति कृत्वा उद्भ्रामकस्त्रीषु वा वेश्यासु वा "अपुमेसु उ" त्ति नपुंसकेषु वा पूर्वप्राप्तेषु 'तदर्थं' तेषाम्–उद्भ्रामकस्त्रीप्रभृतीनां प्रतिसेवनार्थमायान्तीति। चतुर्थे स्थण्डिले संलोकत्वादेते दुःशीलादयः संयतीवर्गं पश्येयुः संयतीवर्गेण वा ते दृश्येरन्नित्यतस्तदपि निषिध्यते ॥ २०६६ ॥ 10

हेट्ठउवासणहेउं, णेगागमणम्मि गहण उड्डाहो ।
वानर-मयूर-हंसा, छाला सुणगादि तेरिच्छा ॥ २०६७ ॥

अधस्तादुपासनम्–अधोलोचकर्म तद्धेतोरधोनापितेषु पूर्वप्राप्तेषु 'अनेकेषां' मनुष्याणामधोलोचकर्मकारापकाणामागमने सति यद्युदीर्णमोहास्ते संयतीर्गृह्णन्तीति ततो ग्रहणे उड्डाहो भवति । तथा वानर-मयूर-हंसाश्छगलाः शुनकादयश्च तिर्यञ्चस्तत्रायाताः संयतीमुपसर्गयेयुः ॥ २०६७ ॥ 15

यत एवं ततः किम्? इत्यत आह—

जइ अंतो वाघाओ, बहिया तासि तइया अणुन्नाया ।
सेसा नाणुन्नाया, अज्जाण वियारभूमीतो ॥ २०६८ ॥

यदि 'अन्तः' ग्रामाभ्यन्तरे 'व्याघातः' पुरोहडादेरभावस्ततो बहिस्तासां 'तृतीया विचारभूमिः' आपाताऽसंलोकरूपाऽनुज्ञाता, तत्रापि स्त्रीणामेवापातो प्रायो न पुरुषाणाम् । शेषा विचारभूमयोऽनापाताऽसंलोकाद्या आर्यिकाणां नानुज्ञाताः ॥ २०६८ ॥ 20

गतं विचारद्वारम् । अथ संयतीगच्छस्यानयनमिति द्वारमाह—

पडिलेहियं च खेत्तं, संजइवग्गस्स आणणा होइ ।
निक्कारणम्मि मग्गतों, कारणे समगं व पुरतो वा ॥ २०६९ ॥

एवं वसति-विचारभूम्यादिविधिना प्रत्युपेक्षितं च संयतीप्रायोग्यं क्षेत्रम् । ततः संयतीवर्गस्यानयनं तत्र क्षेत्रे भवति । कथम्? इत्याह—'निष्कारणे' निर्भये निराबाधे वा सति साधवः पुरतः स्थिताः संयत्यस्तु 'मार्गतः' पृष्ठतः स्थिता गच्छन्ति । कारणे तु 'समकं वा' साधूनां पार्श्वतः 'पुरतो वा' साधूनामग्रतः स्थिताः संयत्यो गच्छन्ति ॥ २०६९ ॥ 25

---

१ अथैतदेव व्या° भा० ॥ २ °काः, अपरे च ये त° भा० ॥

३ °स्त्रीर्वेश्या वा गृहीत्वा "अपुमेसु उ" त्ति नपुंसकेषु तानि वा गृहीत्वेत्यर्थः आयान्ति । किमर्थम्? इत्याह—'तदर्थं' तेषां प्रतिसेवनार्थमित्यर्थः ॥ २०६६ ॥ भा० ॥

४ "णिक्कारणे पुरओ संजया ठायंति । अह सव्वओ भयं तो मज्झे तरुणीओ पासे मज्झिमाओ थेरीओ खुड्डियाओ थेरा खुड्डगा मज्झिमा तरुणा वसभ त्ति, कारणे एयाए विहीए वच्चंति" इति विशेषचूर्णौ ॥

निप्पच्चवाय संबंधि भाविए गणहरऽप्पबिइ-तइओ।
नेइ भए पुण सत्थेण सद्धि कयकरणसहितो वा ॥ २०७० ॥

'निष्प्रत्यपाये' उपद्रवाभावे संयतीनां ये 'सम्बन्धिनः' स्वज्ञातीयाः 'भाविताश्च' सम्यक्परिणतजिनवचना निर्विकाराः संयतास्तैः सह गणधर आत्मद्वितीय आत्मतृतीयो वा संयतीर्विवक्षितं 5 क्षेत्रं नयति। अथ स्तेनादिभयं वर्त्तते ततः सार्थेन सार्द्धं नयति, यो वा संयतः कृतकरणः—इषुशास्त्रे कृताभ्यासस्तेन सहितोऽसौ संयतीस्तत्र नयति। स च गणधरः स्वयं पुरतः स्थितो गच्छति, संयत्यस्तु मार्गतः स्थिताः ॥ २०७० ॥ अत्रैव मतान्तरमुपन्यस्य दूषयन्नाह—

उभयट्ठाइनिविट्ठं, मा पेल्ले वइणि तेण पुर एगे।
तं तु न जुज्जइ अविणय विरुद्ध उभयं च जयणाए ॥ २०७१ ॥

10 एके सूरयो ब्रुवते—उभयं—कायिकी-संज्ञे तदर्थम् आदिशब्दात् परस्मिन् वा क्वचित् प्रयोजने निविष्टम्—उपविष्टं सन्तं संयतं व्रतिनी मा प्रेरयतु इत्यनेन हेतुना संयत्यः पुरतो गच्छन्ति। अत्राचार्यः प्राह—'तत् तु' तदुक्तं न युज्यते। कुतः ? इत्याह—पुरतो गच्छन्तीनां तासामविनयः साधुषु सञ्जायते, लोकविरुद्धं चैवं परिस्फुटं भवति—अहो ! महेलाप्रधानममीषां दर्शनम्। यत एवमतो मार्गतः स्थिता एव ता गच्छन्ति। 'उभयं च' कायिकी-संज्ञारूपं यतनया 15 कुर्यात्। का पुनर्यतना ? इति चेद् उच्यते—यत्रैकः कायिकीं संज्ञां वा व्युत्सृजति तत्र सर्वेऽपि तिष्ठन्ति। तथास्थितांश्च तान् दृष्ट्वा संयत्योऽपि नाग्रतः समागच्छेयुः, ता अपि पृष्ठत एव शरीरचिन्तां कुर्वन्तीति ॥ २०७१ ॥ गतं गच्छस्यानयनमिति द्वारम्। अथ वारकद्वारमाह—

जहियं च अगारिजणो, चोक्खब्भूतो सुईसमायारो।
कुडमुहदद्दरएणं, वारगनिक्खेवणा भणिया ॥ २०७२ ॥

20 'यस्मिंश्च' ग्रामादौ 'अगारीजनः' अविरतिकालोकश्चोक्षभूतः शुचिसमाचारश्च वर्तते तत्र वारकग्रहणं निर्ग्रन्थीभिः कर्त्तव्यम्। अथ न कुर्वन्ति ततश्चत्वारो गुरवः, यच्च प्रवचनोड्डाहादिकमुपजायते तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। यत एवमतः कुटमुखे—घटकण्ठके श्लक्ष्णचीवरदर्दरकेण पिहितस्य वारकस्य ◁ स्वच्छद्रवभृतस्य ▷ निक्षेपणा भणिता भगवद्भिः ॥ २०७२ ॥

एनामेव निर्युक्तिगाथां भावयति—

25 **थीपडिबद्धे उवस्सए, उस्सग्गपदेण संवसंतीओ।**
वच्चंति काइभूमिं, मत्तगहत्था न याऽऽयमणं ॥ २०७३ ॥

उत्सर्गपदेन संयतीभिः स्त्रीप्रतिबद्ध उपाश्रये वस्तव्यमिति कृत्वा तत्र संवसन्त्यो यदा कायिकीभूमिं व्रजन्ति तदा 'मात्रकहस्ता' वारकं हस्ते गृहीत्वा व्रजन्ति, यथा तासामगारीणां प्रत्ययो जायते—एताः कायिकीं कृत्वा पश्चादाचमनं करिष्यन्ति, अहो ! शुचिसमाचारा इति। तत्र च 30 गतास्तासामदर्शनीभूता आचमनं न कुर्वन्ति, स च वारकोऽन्तर्लिप्तः कर्त्तव्यः ॥ २०७३ ॥

कुतः ? इत्यत आह—

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥ २ एतदेव भाव° मो० ले० विना ॥ ३ इति चेद् उच्यते भा० ॥

दुक्खं विसुयावेउं, पणगस्स य संभवो अलित्तम्मि ।
संदंते तसपाणा, आवज्जण तक्कणादीया ॥ २०७४ ॥

वारकोऽलिप्तः सन् "विसुयावेउं" विशोषयितुं "दुक्खं" दुष्करो भवति । अलिप्ते च तत्र पानकभावितत्वात् पनकस्य 'सम्भवः' सम्मूर्च्छनं भवति । अलिप्तश्च वारकः पानके प्रक्षिप्ते सति स्यन्दते—परिगलति । स्यन्दमाने च 'त्रसप्राणिनः' कीटिका-मक्षिकादयः समागच्छेयुः । ◁ ततः 5 किम्? इत्यत आह—▷ "आवज्जण" त्ति यदनन्तकायिक-विकलेन्द्रियेषु सङ्घट्टनादिकमापद्यते तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । "तक्कणाईय" त्ति ततो वारकात् पानके परिगलति मक्षिकाः पतन्ति, तासां ग्रसनार्थं गृहकोकिला धावति, तस्या अपि भक्षणार्थं मार्जारीत्येवं तर्कणम्—अन्योन्यं प्रार्थनं तदादयो दोषा भवेयुः ॥ २०७४ ॥ यत्र पुनः कायिकीभूमौ सागारिकं भवति तत्रेयं यतना—

सागारिए परम्मुह, दगसद्दमसंफुसंतिओ निच्चं । 10
पुलएज्ज मा य तरुणी, ता अच्छ दवं तु जा दिवसो ॥ २०७५ ॥

सागारिके सति पराङ्मुखीभूय कायिकीं कृत्वा 'नेत्रं' भगमसंस्पृशन्त्यः 'दकशब्दं' पानकप्रक्षालनानुमापकं कुर्वन्ति । तथा 'तरुण्यः' स्त्रियः 'किमत्रास्ति पानकं न वा?' इति जिज्ञासया मा प्रलोकन्तामिति हेतोस्तस्मिन् वारके तावद् 'अच्छम्' अकलुषं 'द्रवं' पानकं प्रक्षिप्तं तिष्ठति यावद् दिवसः, ततः सन्ध्यासमये तत् पानकं परिष्ठापयन्ति ॥ २०७५ ॥ 15

गतं वारकद्वारम् । अथ भक्तार्थनाविधिद्वारमाह—

मंडलिठाणस्सऽसती, बला व तरुणीसु अहिवडंतीसु ।
पत्तेय कमढभुंजण, मंडलिथेरी उ परिवेसे ॥ २०७६ ॥

यद्यसागारिकं ततो मण्डल्यां समुद्दिशन्ति । अथ मण्डलीभूमिः सागारिकबहुला ततो मण्डलिस्थानस्यासति बलाद् वा प्रणयेन तरुणीष्वभिपतन्तीषु तत्रौर्णिकं कल्पमधः प्रस्तीर्य तस्योपरि 20 सौत्रिकं तत्राप्यलाबुपात्रकाणि स्थापयित्वा प्रत्येकं कमढकेषु भुञ्जते । प्रवर्त्तिनी च पूर्वाभिमुखा धुरि निविशते । तत एका मण्डलिस्थविरा यमलजननीसहोदरा सर्वासामपि परिवेषयेत्,[2] आत्मनोऽपि योग्यमात्मीये कमढके प्रक्षिपेत्[3] ॥ २०७६ ॥

ओगाहिमाइविगई, समभाग करेइ जत्तिया समणी ।
तासिं पच्चयहेउं, अणहिक्खद्धा अकलहो अ ॥ २०७७ ॥ 25

अवगाहिमं—पक्वान्नम् आदिशब्दाद् घृतादिकाश्च विकृतीः यावत्यः श्रमण्यस्तावतः समभागान् मण्डलिस्थविरा करोति । किमर्थम्? इत्याह—'तासां' श्रमणीनां प्रत्ययार्थम्, तथा "अणहिक्खद्ध" त्ति 'अनधिकखादनार्थं' सर्वासामप्यविषमसमुद्देशनार्थम्,[4] अकलहश्चैवं भवति, असङ्खडं न भवतीत्यर्थः ॥ २०७७ ॥ ताश्च समुद्देष्टुमुपविशन्त्य इत्थं भुवते—

निव्वीइय एवइया, व विगइओ लंबणा व एवइया । 30

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥ २ °षयति, आ° भा० ॥ ३ °क्षिपति भा० ॥
४ °षमं समुद्देशनं यथा भवतीति भावः, एवं च विधीयमाने 'अकलहः' परस्परमसङ्खडं न भवति ॥ २०७७ ॥ ताश्च समुद्दिशन्त्य इत्थं भा० ॥

अण्णगिलायंबिलिया, अन्न अहं देह अन्नासिं ॥ २०७८ ॥

एका ब्रूते—अथाहं निर्विकृतिका। द्वितीया प्राह—अथ मम 'एतावत्यः' एक-द्व्यादिसङ्ख्याका विकृतयो मुत्कलाः शेषाणां प्रत्याख्यानम्। अपरा भणति—अथ ममैतावन्तः 'लम्बनाः' कवलाः तत ऊर्द्धं नियमः। अन्याऽभिधत्ते—अथाहम् 'अन्नग्लाना' ग्लानं–पर्युषितमन्नं मया भोक्तव्यमित्येवं प्रतिपन्नाभिग्रहा। तदपरा ब्रूते—अथाहम् 'आचाम्लिका' कृताचाम्लप्रत्याख्याना अत इदं विकृत्यादिकमन्यासां प्रयच्छत। एवं समुद्दिश्य स्वच्छपानकेनाचमनं कुर्वन्ति। प्रवर्तिन्याः कमढकं क्षुल्लिका निर्लेपयति, ⊲ शेषास्तु स्वं स्वं कमढकम्। ⊳ ततः सर्वास्वपि समुद्दिष्टासु मण्डलीस्थविरा समुद्दिशति ॥ २०७८ ॥ एवंविधं विधिं दृष्ट्वा किं भवति ? इत्याह—

दट्ठूण निहुयवासं, सोयपयत्तं अलुद्धयत्तं च ।
इंदियदमं च तासिं, विणयं च जणो इमं भणइ ॥ २०७९ ॥

'तासां' संयतीनां 'निभृतवासं' विकथादिविरहेण निर्व्यापारतयैवावस्थानम्, 'शौचप्रयत्नं' वारकग्रहणादिरूपम्, अलुब्धत्वं च विकृत्यादिप्रत्याख्यानाभिग्रहश्रवणेन, 'इन्द्रियदमं च' श्रोत्रादीन्द्रियनिग्रहम्, 'विनयं च' प्रवर्तिन्यादिष्वभ्युत्थानादिरूपं दृष्ट्वा 'जनः' लोक इदं ब्रवीति ॥२०७९॥

सच्चं तवो य सीलं, अणहिक्खाओ अ एगमेगस्स ।
जइ बंभं जइ सोयं, एयासु परं न अन्नासु ॥ २०८० ॥
बाहिरमलपरिछुद्धा, सीलसुगंधा तवोगुणविसुद्धा ।
धन्नाण कुलुप्पन्ना, एआ अवि होज्ज अम्हं पि ॥ २०८१ ॥

'सत्यं' वाक्कर्मणोरविसंवादिता, 'तपः' अनशनादि, 'शीलं' सुस्वभावता, 'अनधिकखादश्च' विषमभोजनम् 'एकैकस्याः' परस्परममूषाम्, तथा यदि 'ब्रह्म' ब्रह्मचर्यं यदि 'शौचं' शुचिसमाचारता, एतानि सत्यादीनि यदि परम् 'एतासु' संयतीषु दृश्यन्ते 'नान्यासु' शाक्यादिपाषण्डिनीषु। ततो यद्यप्येता बाह्यमलेन परिक्षिप्तास्तथापि शीलेन सुगन्धाः तपोगुणैः–अनशनादिभिः यद्वा तपसा–प्रतीतेन गुणैश्च–उपशमादिभिर्विशुद्धाः 'धन्यानां कुलोत्पन्नाः' एता येषां कुले उत्पन्नास्तेऽपि धन्या इति भावः। 'अपिः' सम्भावनायाम्, सम्भाव्यते किमयमर्थः यदस्माकमपि भगिनी-दुहित्रादय एतादृश्यः—स्वकुलोज्ज्वालनकारिण्यो भवेयुः ? ॥२०८०॥२०८१॥

एवं तत्थ वसंतीणुवसंतो सो य सिं अगारिजणो ।
गिण्हेति य सम्मत्तं, मिच्छत्तपरम्मुहो जाओ ॥ २०८२ ॥

एवं तत्र वसन्तीनां तासां स अगारीजनः 'उपशान्तः' प्रतिबुद्धस्ततो मिथ्यात्वपराङ्मुखो जातः सन् सम्यक्त्वं गृह्णाति, चशब्दाद् देशविरतिं गृहवासभग्नो वा कश्चित् तद्गुणग्रामरञ्जितमनाः सर्वविरतिमपि प्रतिपद्यते ॥ २०८२ ॥ गतं भिक्षार्थनाविधिद्वारम्। अथ प्रत्यनीकद्वारमाह—

तरुणीण अभिद्दवणे, संवरितो संजतो निवारेइ ।
तह वि य अठायमाणे, सागारिओ तत्थुवालभइ ॥ २०८३ ॥

तरुणीनां संयतीनामभिद्रवणे प्रत्यनीकेन विधीयमाने सति 'संवृतः' संयतीवेषाच्छादितः

---

१ "ग्लानमन्नं अन्नगिलातं" इति चूर्णौ ॥ २ ⊲ ⊳ एतदन्तर्गतः पाठः त० डे० कां० नास्ति ॥

संयतो निवारयति । तथापि चातिष्ठति तस्मिन् 'सागारिकः' शय्यातरः 'तत्र' उपसर्गे समुपालभते ॥ २०८३ ॥ [1]एनामेव निर्युक्तिगाथां भावयति—

गणिणिअकहणे गुरुगा, सा वि य न कहेइ जइ गुरूणं पि ।
सिट्ठम्मि य ते गंतुं, अणुसट्ठी मित्तमाईहिं ॥ २०८४ ॥

कश्चित् तरुणो विषयलोलुपतया संयतीनामुपद्रवं कुर्यात् ततस्तत्क्षणादेव ताभिः प्रवर्त्तिन्याः 5 कथनीयम् । यदि न कथयन्ति ततश्चत्वारो गुरवः । साऽपि च प्रवर्तिनी यदि गुरूणां न कथयति तदापि चतुर्गुरवः आज्ञादयश्च दोषाः, तस्मात् कथयितव्यम् । ततः 'शिष्टे' कथिते 'ते' आचार्यास्तस्याविरतकस्य पार्श्वे गत्वा साध्वीशीलभङ्गस्य दारुणविपाकतासूचिकामनुशिष्टिं ददति । यद्युपरमते ततः सुन्दरम्, अथ नोपरमते ततो यानि तस्य मित्राणि आदिशब्दाद् ये वा भ्रात्रादयः स्वजनास्तेषां निवेद्य तैः प्रज्ञाप्यते । यदि स्थितस्ततो लष्टम् ॥ २०८४ ॥ 10

तह वि य अठायमाणे, वसभा भेसिंति तहवि य अठंते ।
अमुगत्थ[2] घरे एज्जह, तत्थ य वसभा वतिणिवेसा ॥ २०८५ ॥

तथाप्यतिष्ठति तस्मिन् प्रत्यनीके 'वृषभाः' गच्छस्य शुभा-ऽशुभकार्यचिन्तानियुक्तास्तं प्रत्यनीकं भापयन्ति । तथाप्यतिष्ठति यस्तरुणः कृतकरणः साधुः स संयतीनेपथ्यं कृत्वा तस्य सङ्केतं प्रयच्छति, यथा—अमुकत्र गृहे यूयमागच्छत । ततो वृषभा व्रतिनीनां वेषं परिधाय तेन 15 साधुना सह तत्र गत्वा प्रत्यनीकस्य शिक्षां कुर्वन्ति । तथाप्यनुपशान्ते तस्मिन् सागारिकस्य निवेद्यते । तेनोपलब्धो यदि स्थितस्ततः सुन्दरम् ॥ २०८५ ॥

अथ नास्ति तदानीं सन्निहितः सागारिकस्ततः किं कर्त्तव्यम् ? इत्याह—

सागारिए असंते, किच्चकरे भोइयस्स व कहिंति ।
अण्णत्थ ठाण णिंती, खेत्तस्सऽसती णिवे चेव ॥ २०८६ ॥ 20

सागारिके 'असति' असन्निहिते 'कृत्यकरस्य' ग्रामचिन्तानियुक्तस्य 'भोगिकस्य वा' ग्रामस्वामिनः कथयन्ति । तेन शासितोऽपि यदि नोपरमते ततः संयतीरन्यत्र 'स्थाने' क्षेत्रे नयन्ति । अथ नास्ति संयतीप्रायोग्यमपरं क्षेत्रं स्वयं वा संयत्यो ग्लानादिकार्यव्यापृता न शक्नुवन्ति क्षेत्रान्तरं गन्तुं ततः 'नृपस्य' दण्डिकस्य निवेद्यते, स प्रत्यनीकमुपद्रवन्तं निवारयति ॥ २०८६ ॥

गतं प्रत्यनीकद्वारम् । अथ भिक्षानिर्गमद्वारमभिधित्सुराह— 25

दो थेरि तरुणि थेरी, दोन्नि य तरुणीउ एक्किया तरुणी ।
चउरो अ अणुग्घाया, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥ २०८७ ॥

अत्र[3] गुरुनियोगतश्चूर्णिरेव लिख्यते—जति दोन्नि थेरीओ निग्गच्छंति भिक्खस्स ण्का, तरुणी थेरी य जति ण्का, दो तरुणीओ जति निग्गच्छंति ण्का, एगा थेरी जति निग्गच्छइ ण्का, एक्किया तरुणी जति निग्गच्छइ ण्का, तत्राप्याज्ञादयो दोषाः ॥२०८७॥ कुतः ? इत्याह— 30

चउकण्णं होज्ज रहं, संका दोसा य थेरियाणं पि ।
कुट्टिणिसहिता बितिए, तइय-चउत्थीसु धुत्ति त्ति ॥ २०८८ ॥

---

१ इदमेव भाव° भा० कां० ॥ २ °त्थ चेव ए° ता० ॥ ३ अत्र चूर्णिः—जति कां० ॥

दोण्हं थेरीणं दोसे—दुवे अभिलरहसीओ होज्जा, संका य—किं मन्ने केणइ दूतिकिच्चेण निउत्तियाओ ? असंकणिज्जाओ त्ति काउं । तरुणी थेरी य लोगो भणेज्जा—कुट्टिणिसहिया हिंडइ, "बितिए" त्ति पगारे निग्गमस्स । दो तरुणीओ धुत्तीओ संभाविज्जंति । एगा वि थेरी धुत्ती संभाविज्जइ । एगा तरुणी तक्कणिज्जा ॥ २०८८ ॥ यस्मादेते दोषाः तस्मादयं विधिः—

5 **पुरतो य मग्गतो या, थेरीओ मज्झ होंति तरुणीओ ।**
अइगमणे निग्गमणे, एस विही होइ कायव्वो ॥ २०८९ ॥

'पुरतः' अग्रतः 'मार्गतश्च' पृष्ठतः स्थविरा भवन्ति, मध्यभागे पुनस्तरुण्यः, एवं बह्वीनां सम्भूय पर्यटन्तीनामुक्तम् । जघन्येन तु तिस्रः सहैव पर्यटन्ति, तत्रैका स्थविरा पुरतः द्वितीया स्थविरैव पृष्ठतः तृतीया तरुणी तयोर्द्वयोरपि मध्यभागे स्थिता सती पर्यटन्ति । एवम् 'अतिग-10 मने' गृहपतिगृहप्रवेशे 'निर्गमने च' तत एव निर्गमे एष विधिः कर्त्तव्यो भवति ॥ २०८९ ॥

कुतः ? इति चेद् उच्यते—

तिगमादसंकणिज्जा, अतकणिज्जा य साण-तरुणाणं ।
अन्नोन्नरक्खणेसण, वीसत्थपवेसकिरिया य ॥ २०९० ॥

त्रिकादयः पर्यटन्त्योऽशङ्कनीया भवेयुः, श्वान-तरुणानां च 'अतर्कणीयाः' अनभिलषणीया 15 भवन्ति, उवद्रवत्स्वपि च श्वान-गवादिषु त्रिप्रभृतयोऽन्योन्यं परस्परं सुखेनैव रक्षणं कुर्वन्ति, एषणां च सम्यक् शोधयन्ति, विश्वस्ताश्च सत्यो गृहस्थकुलेषु प्रवेश-निर्गमादिकाः क्रियाः कुर्वन्ति ॥ २०९० ॥ यत्र कोष्ठको भवेत् तत्रायं विधिः—

थेरी कोट्ठगदारे, तरुणी पुण होइ तीएँ णादूरे ।
बिइय किढी ठाइ बहिं, पच्चत्थियरक्खणट्ठाए ॥ २०९१ ॥

20 एका स्थविरा 'कोष्ठकस्य' अपवरकस्य द्वारे, तरुणी पुनः 'तस्याः' स्थविराया नातिदूरे प्रदेशे, या तु द्वितीया 'किढी' स्थविरा सा द्वारस्य बहिस्तिष्ठति । किमर्थम् ? इत्याह—प्रत्यर्थी—प्रत्यनीकस्तस्य रक्षणार्थम्, यदि कोऽप्युपसर्गं कुर्यात् तदा सुखेनैव बोलं कृत्वा स निवार्यते ॥ २०९१ ॥

जाणंति तव्विह कुले, संबुद्धीए चरिज्ज अन्नोन्नं ।
25 **ओराल निच्च लोयं, खुज्ज तवो आउल सहाया ॥ २०९२ ॥**

तद्विधानि—तादृशानि सम्भावनीयोपद्रवाणि कुलानि सम्यग् जानन्ति, ज्ञात्वा च प्रथमत एव परिहरन्ति । 'अन्योऽन्यं' परस्परं 'सम्बुद्ध्या' सम्मत्या 'चेरयुः' भिक्षाचर्यां पर्यटेयुः, मा भूवन्न-सम्मत्या पर्यटने परस्परमसङ्खडादयो दोषाः । या च 'उदारा' रूपातिशयसंयुक्ता संयती सा नित्यमेव लोचमात्मनः करोति, "खुज्ज" त्ति तस्याः पृष्ठदेशे कुब्जकरणी स्थापयितव्या, 'तपः' 30 चतुर्थादिकं सा कारापणीया, 'आकुले' जनाकीर्णे बह्वीभिश्च सहायाभिः सहिता सा भिक्षादौ

१ मध्ये । एवम् मो० ले० विना ॥

२ जनाकीर्णे सा भिक्षां हिण्डापयितव्या, 'सहाया' द्वितीया तस्या दातव्या, न सहायविरहितायाः प्रतिश्रयान्निर्गन्तुं कदाचिदप्यनुज्ञातव्यमिति भावः ॥ २०९२ ॥ आह किं पुनः कारणं येन त्रिप्रभृतिवृन्देन ता भिक्षामटन्ति ? इति उच्यते—तिप्पभिइ मा० ॥

हिण्डापनीया ॥ २०९२ ॥ अथ तासां वृन्देन भिक्षाटने कारणान्तरमाह—

तिप्पभिइ अडंतीओ, गिण्हंतऽन्नन्नहिं चिमे तिन्नि ।
संजम-दव्वविरुद्धं, देहविरुद्धं च जं दव्वं ॥ २०९३ ॥

त्रिप्रभृतिवृन्देन भिक्षामटन्त्यः 'अन्योऽन्यस्मिन्' पृथक्पृथग्भाजने चशब्दः प्रागुक्तकारणापेक्षया कारणान्तरद्योतनार्थः, अमूनि त्रीणि द्रव्याणि सुखेनैव गृह्णन्ति, तद्यथा—संयमविरुद्धं 5 द्रव्यविरुद्धं देहविरुद्धं च यद् द्रव्यम् ॥ २०९३ ॥ एतान्येव यथाक्रमं प्रतिपादयति—

पालंक-लट्टसागा, मुग्गकयं चाऽऽमगोरसुम्मीसं ।
संसज्जती उ अचिरा, तं पि य नियमा दुदोसाय ॥ २०९४ ॥

पालङ्कशाकं—महाराष्ट्रादौ प्रसिद्धम्, लट्टाशाकं—कौसुम्भशालनकम्, एते अन्योऽन्यं मिलिते सूक्ष्मजन्तुभिः संसज्येते । यच्च मुद्गकृतम्, उपलक्षणत्वादन्यदपि द्विदलं तदप्यामगोरसोन्मिश्रं 10 सद् अचिरादेव सूक्ष्मजन्तुभिः संसज्यते, संसक्तं च नियमाद् द्वौ दोषौ समाहृतौ द्विदोषं तस्मै द्विदोषाय भवति, संयमोपघाता-ऽऽत्मोपघातरूपं दोषद्वयं करोतीत्यर्थः ॥ २०९४ ॥

दहि-तेल्लाई उभयं, पय-सोवीराउ होंति उ विरुद्धा ।
देहस्स विरुद्धं पुण, सी-उण्हाणं समाओगो ॥ २०९५ ॥

दधि-तैले आदिशब्दादन्यदपि 'उभयं' मिलितं सद् यत् परस्परविरुद्धम्, ये च 'पयः- 15 सौवीरे' दुग्ध-काञ्जिके परस्परं विरुद्धे एतद् द्रव्यविरुद्धं मन्तव्यम् । देहस्य पुनर्विरुद्धं यः शीतोष्णयोर्द्रव्ययोः परस्परं समायोगः । एतानि पृथक्पृथग्भाजनेषु गृह्यमाणानि न संयमाद्युपघाताय जायन्ते ॥ २०९५ ॥ अपि च—

नत्थि य मामागाइं, माउग्गामो य तासिमब्भासे ।
सी-उण्हगिण्हणाए, सारक्खण एक्कमेक्कस्स ॥ २०९६ ॥ 20

न च सन्ति तासां मामाकानि कुलानि, नहि कोऽपि स्त्रीजनं गृहे प्रविशन्तमीर्ष्यया निषे-

---

१ त्रिप्रभृतयस्ता भिक्षा° भा० ॥ २ चशब्दः कारणान्तरद्यो° भा० ॥ ३ पालक्क-° ता० ॥

४ पालङ्कशाकं महाराष्ट्रे गोल्लविषये च प्रसि° भा० । "पालक्कं महरट्ठविसए गोल्लविसए य सागो जायइ" इति विशेषचूर्णौ ॥

५ °दलमामगोरसोन्मिश्रं सदचिरादेव सूक्ष्मजन्तुभिः संसज्यते, अतस्तदपि च नियमाद् द्विदोषाय भवति, संयमा-ऽऽत्मोप° भा० ॥ ६ °ल्लाई दव्वे, पय° ता० ॥

७ दधि तैलं च प्रतीतम् एतदुभयम् आदिशब्दादपरमपि संयुक्तं सद् यत् परस्परविरुद्धम्, तथा पयः-दुग्धं सौवीरं-काञ्जिकम् एते अपि परस्परं विरुद्धे भा० ॥

८ °तायोपकल्प्यन्ते भा० ॥ ९ °गाई भा० ॥

१० न सन्ति 'तासां' संयतीनां मामाकाः—'मा मदीयं गृहं प्रविशत' इत्येवमीर्ष्यालुतया प्रतिषेधकाः पुरुषाः, आदिशब्दाद् अप्रीतिकृतोऽपि न सन्ति, 'मातृग्रामश्च' स्त्रीवर्गः तासाम् 'अभ्यासे' प्रत्यासत्तौ वर्त्तते स्त्रियः स्त्रीणां विश्वसन्तीति भावः, ततः कोऽपि प्रतिसेवनार्थी कयाचिदगार्या तरुणसंयतीं प्रज्ञापयेत्, एतैः कारणैः त्रिप्रभृतयः पर्यटन्ति, 'मा चिरं पर्यटितव्यं भविष्यति' अतो दोषान्नमपि गृह्णन्ति, एवं शीतोष्णग्रहणेन संरक्षणमेकैकस्याः परस्परं कृतं भवति ॥ २०९६ ॥ कथं पुनः शीतमुष्णं च गृह्णन्ति ? इति चेद् उच्यते—एगत्थ भा० ॥

घयतीति भावः । मातृग्रामो नाम समयपरिभाषया स्त्रीवर्गः, चशब्द एवकारार्थः, ततै इदमुक्तं भवति—स्त्रीवर्ग एव प्रायेण भिक्षादायकः, स च तासां संयतीनामभ्यासे स्त्रीत्वसम्बन्धमधिकृत्य प्रत्यासत्तौ वर्त्तते, अतस्त्रिप्रभृतीनामपि पर्यटन्तीनां सुखेनैव भक्त-पानं पर्याप्तं भवति । शीतोष्णग्रहणेन च संरक्षणमेकैकस्याः परस्परं कृतं भवति ॥ २०९६ ॥ कथं पुनः ? इत्यत आह—

5 एगत्थ सीयमुसिणं, च एगहिं पाणगं च एगत्था ।
दोसीणस्स अगहणे, चिराडणे होज्जिमे दोसा ॥ २०९७ ॥

'एकत्र' प्रतिग्रहे 'शीतं' पर्युषितं भक्तं गृह्णन्ति, एकस्मिन्नुष्णम्, एकत्र च पानकम्, एतच्च तिसृणामटन्तीनाँ घटामाटीकते । अथ द्वे पर्यटतस्तत एकत्र प्रतिग्रहे उष्णं द्वितीयत्र तु पानकं परं दोषान्नं कुत्र गृह्णन्तु ? मात्रकं तु स्वार्थे परिभोक्तुं न कल्पते, अथोष्णमध्ये दोषान्नं गृह्णन्ति 10 तदा देहविरुद्धं भवति, अथ दोषान्नं न गृह्णन्ति ततो दोषान्नस्याग्रहणे 'चिराटने' चिरं पर्यटन्तीनां तरुणादिकृतोपसर्गैः स्त्रीवेद उद्दीप्येत ॥ २०९७ ॥ तथा चामुमेवार्थं दर्शयितुं वेदत्रयस्वरूपमाह—

थी पुरिसो अ नपुंसो, वेदो तस्स उ इमे पगारा उ ।
फुंफुम-दवग्गिसरिसो, पुरदाहसमो, भवे तइओ ॥ २०९८ ॥

वेदस्त्रिधा—स्त्रीवेदः पुरुषवेदो नपुंसकवेदश्च । तस्य तु त्रिविधस्यापि यथाक्रममी प्रकाराः— 15 स्त्रीवेदः फुम्फुकाग्निसदृशः—करीषाग्नितुल्यः, यथा करीषाग्निरन्तर्धगधगन्नास्ते न परिस्फुटं प्रज्वलति न वा विध्यायति चालितस्तु तत्क्षणादेवोद्दीप्यते एवं स्त्रीवेदोऽपि । पुरुषवेदस्तु दवाग्निसदृशः, यथा दवाग्निरिन्धनयोगतः सहसैव प्रज्वल्य विध्यायति एवं पुरुषवेदोऽपि । तृतीयो नपुंसकवेदः स पुरदाहसमः, यथा हि महानगरदाहे वह्निः प्रज्वलितः सन्नार्द्रे वा शुष्के वा सर्वत्र दीप्यते एवं नपुंसकवेदोऽपि स्त्रियां पुरुषे वा सर्वत्र दीप्यते न चोपशाम्यति ॥ २०९८ ॥

20 इत्थं वेदत्रयस्वरूपमुपदर्श्य प्रस्तुतयोजनामाह—

जह फुंफुमा हसहसेइ घट्टिया एवमेव थीवेदो ।
दिप्पइ अवि किढियाण वि, आलिंगण-छे(छं)दणाईहिं ॥ २०९९ ॥

यथा फुम्फुकाग्निर्घट्टितः सन् "हसहसेइ" त्ति देदीप्यते एवमेव स्त्रीवेदोऽप्यालिङ्गन-च्छेद-(च्छन्द) नादिभिरुदीरितः ◁ सन् "किढियाण वि" त्ति ▷ स्थविराणामपि दीप्यते, किं पुनस्तरुणी- 25 नाम् ? इत्यपिशब्दार्थः ॥२०९९॥ आह स्थविराणां कथं वेदोद्दीपनं भवति ? इति उच्यते—

न वओ इत्थ पमाणं, न तवस्सित्तं सुयं न परियाओ ।
अवि खीणम्मि वि वेदे, थीलिंगं सव्वहा रक्खं ॥ २१०० ॥

---

१ ततः किमुक्तं ॥

२ एतच्च त्रिप्रभृतीनामेव पर्यटन्तीनां भवति । अथ द्वे पर्यटतस्तत एकत्रोष्णं द्वितीये च प्रतिग्रहे पानकं गृहीतं ततो दोषान्नमुत्पादितं तत् कुत्र गृह्णातु ? । अथ यस्मिन्नेव प्रतिग्रहे उष्णं गृहीतं तत्रैव शीतमपि गृह्णाति तदा देहविरुद्धं भवति । अथ दोषान्नं न गृह्णन्ति ततो दोषान्नस्याग्रहणे चिराटनं-प्रभूतां वेलां पर्यटनं भवति ॥ २०९७ ॥ तत्र चामी दोषा भवेयुः—थी पुरिसो भा० ॥

३ °नां भवति । अथ त० डे० कां० ॥ ४ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥

न 'वयः' वार्द्धकादिकम् 'अत्र' विचारे प्रमाणम्, न वा 'तपस्वित्वम्' अनशनादितपःकर्मकारिता, न वा 'श्रुतम्' आचारादिकं सुबह्वप्यवगाहितम्, न वा 'पर्यायः' द्राघीयःप्रव्रज्याकाललक्षणः, एतेषु सत्स्वपि वेदोदयो भवेदित्यर्थः। अपि च 'क्षीणेऽपि' ◁ निर्दग्धेन्धनकल्पे कृतेऽपि ▷ वेदे स्त्रीलिङ्गं सर्वथा रक्ष्यम्, अत एव स्त्रीकेवली यथोक्तामार्यिकोपकरणप्रावरणादियतनां करोतीति भावः ॥ २१०० ॥ आह यदि ताः स्नानादिपरिकर्मरहिताः ततः किं कोऽपि 5 तासु रागं व्रजति येनेत्थं यतना क्रियते ? उच्यते—

कामं तवस्सिणीओ, ण्हाणुव्वट्टणविकारविरयाओ ।
तह वि य सुपाउआणं, अपेसणाणं चिमं होइ ॥ २१०१ ॥

'कामम्' अनुमतं यथा तपस्विन्यः स्नानोद्वर्तनविकारविरतास्तथापि 'सुप्रावृतानाँ' नित्यमेव बहुभिरुपकरणैराच्छादितानाम् 'अप्रेषणानां च' अव्यापाराणाम् 'इदम्' अनन्तरमेव वक्ष्यमाणं 10 शरीरसौन्दर्यं भवति ॥ २१०१ ॥ तदेवाह—

रूवं वन्नो सुकुमारया य निद्धच्छवी य अंगाणं ।
होंति किर सन्निरोहे, अज्जाण तवं चरंतीणं ॥ २१०२ ॥

'रूपम्' आकृतिः 'वर्णः' गौरत्वादिः 'सुकुमारता' कोमलस्पर्शता स्निग्धा च—कान्तिमती छविः—त्वग् 'अङ्गानां' शरीरावयवानाम् । एतानि रूपादीनि आर्यिकाणां 'सन्निरोधे' बहूपकर- 15 णप्रावरणादौ ध्रियमाणानां तपः चरन्तीनामपि भवन्ति, ततो युक्तियुक्ता पूर्वोक्ता तासां यतनेति ॥ २१०२ ॥ गतं भिक्षानिर्गमद्वारम् । अथ निर्ग्रन्थानां मासः कस्मात् तासां द्वौ मासाविति द्वारम् । शिष्यः पृच्छति—किं निर्ग्रन्थीनामभ्यधिकानि महाव्रतानि येन तासां द्वौ मासौ निर्ग्रन्थानामेकं मासमेकत्र वस्तुमनुज्ञायते ? सूरिराह—

जइ वि य महव्वयाइं, निग्गंथीणं न होंति अहियाइं । 20
तह वि य निच्चविहारे, हवंति दोसा इमे तासिं ॥ २१०३ ॥

यद्यपि च निर्ग्रन्थीनां महाव्रतानि नाधिकानि भवन्ति तथापि 'नित्यविहारे' मासे मासे क्षेत्रान्तरसङ्क्रमणे इमे दोषास्तासां भवन्ति ॥ २१०३ ॥

मंसाइपेसिसरिसी, वसही खेत्तं च दुल्लभं जोग्गं ।
एएण कारणेणं, दो दो मासा अवरिसासु ॥ २१०४ ॥ 25

मांसादिपेशीसदृशी संयती, सर्वस्याप्यभिलषणीयत्वात् । तथा तासां योग्या वसतिर्दुर्लभा, क्षेत्रं च तत्प्रायोग्यं दुर्लभम् । ततो यथोक्तगुणविकलायां वसतौ दोषदुष्टे वा क्षेत्रे स्थाप्यमानानां बहवः प्रवचनविराधनादयो दोषा उपढौकन्ते । एतेन कारणेन तासाम् 'अवर्षासु' वर्षावासं

---

१ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥
२ आह नन्वेतदपि चिन्त्यमस्ति यत् छद्मस्थसंयत्योऽप्येवंविधां यतनां कुर्वन्ति, यावता यदि ताः स्नानादिविकाररहितास्ततः किमर्थमित्थं यतना क्रियते ? उच्यते भा० ॥
३ °नाम्' अन्तर्निवसन्यादिभिर्बहु° भा० ॥ ४ द्वारं व्याख्यायते । शिष्यः भा० त० डे० ॥
५ °वा भवन्ति । ए° भा० ॥

विमुच्य द्वौ द्वौ मासावेकत्र वस्तुमनुज्ञायते ॥ २१०४ ॥

अथ द्वयोरुपरि वसन्तीनां दोषान् द्वितीयपदं चोपदर्शयति—

दोण्हं उवरि वसंती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य ।
बिइयपयं च गिलाणे, वसही भिक्खं च जयणाए ॥ २१०५ ॥

5 द्वयोर्मासयोरुपरि वसन्ति ततः प्रायश्चित्तं दोषाश्च भवन्ति । द्वितीयपदं च ग्लाने वसतिर्भैक्षं च यतनया ग्रहीतव्यम् । भावार्थो निर्ग्रन्थानामिव द्रष्टव्यः ॥ २१०५ ॥ सूत्रम्—

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंत-गिम्हासु चत्तारि मासा वत्थए—अंतो दो मासे, बाहिं दो मासे । अंतो वसमाणीणं अंतो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणीणं बाहिं भिक्खायरिया ४-९ ॥

10

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । नवरं सबाहिरिके क्षेत्रेऽन्तर्द्वौ मासौ बहिर्द्वौ मासावित्येवं चतुरो मासान् निर्ग्रन्थीनां वस्तुं कल्पत इति ॥ अथ भाष्यम्—

एसेव कमो नियमा, सपरिक्खेवे सबाहिरीयम्मि ।
15 **नवरं पुण नाणत्तं, अंतो बाहिं चउम्मासा ॥ २१०६ ॥**

'एष एव' पूर्वसूत्रोक्तः क्रमः सर्वोऽपि नियमात् सपरिक्षेपे सबाहिरिके क्षेत्रे वसन्तीनां संयतीनां द्रष्टव्यः । नवरं पुनः 'नानात्वं' विशेषोऽयम्—'अन्तः' अभ्यन्तरे 'बहिः' बाहिरिकायाम् एवमुभयोश्चत्वारो मासाः पूरणीयाः ॥ २१०६ ॥

चउण्हं उवरि वसंती, पायच्छित्तं च होंति दोसा य ।
20 **नाणत्तं असईए उ, अंतो वसही बहिं चरइ ॥ २१०७ ॥**

चतुर्णां मासानामुपरि यदि सबाहिरिके क्षेत्रे संयती वसति तदा तदेव प्रायश्चित्तं त एव च दोषाः द्वितीयपदमपि तदेव मन्तव्यम् । 'नानात्वं' विशेषः पुनरयम्—बाहिरिकायां वसतेः शय्यातरस्य वा यथोक्तगुणस्य 'असति' अभावे 'अन्तः' प्राकाराभ्यन्तरे "वसहि" त्ति वसतौ पूर्वस्यामेव स्थिता 'बहिः' बाहिरिकायां 'चरति' भिक्षाचर्यामटति ॥ २१०७ ॥

25 इदमेव स्पष्टयति—

जोग्गवसहीइ असई, तत्थेव ठिया चरिंति बाहिं तु ।
पुव्वगहिए विगिंचिय, तत्तो च्चिय मत्तगादी वि ॥ २१०८ ॥

बहिः संयतीयोग्याया वसतेरभावे 'तत्रैव' अभ्यन्तरोपाश्रये स्थिताः सन्त्यो बहिश्चरन्ति, पूर्वगृहीतानि मात्रक-तृण-डगलादीनि 'विविच्य' परित्यज्य अपराणि 'तत एव' बाहिरिकाया 30 मात्रकादीन्यप्यानेतव्यानि, न केवलं भिक्षेत्यपिशब्दार्थः, श्रुत-संहननादिविषया सामाचारी

१ °हीतं मात्रकं-तृण-डगलादि 'वि° मो० ले० विना ॥

क्षेत्र-कालादिविषया च स्थितिः स्थविरकल्पिकानामिव द्रष्टव्या ॥ २१०८ ॥

तदेवमुक्त आर्यिकाणामपि मासकल्पविधिः । अथ शिष्यः प्रश्नयति—

गच्छे जिणकप्पम्मि य, दोण्ह वि कयरो भवे महिड्डीओ ।
निप्फायग-निप्फन्ना, दोन्नि वि होंती महिड्डीया ॥ २१०९ ॥

गच्छ-जिनकल्पयोर्द्वयोर्मध्ये कतरः 'महर्द्धिकः' प्रधानतरो भवेत् ? । गुरुराह—निष्पादक-निष्पन्नाविति कृत्वा द्वावपि महर्द्धिकौ भवतः । तत्र गच्छः सूत्रार्थग्राहणादिना जिनकल्पिकस्य निष्पादकः अतोऽसौ महर्द्धिकः, जिनकल्पिकस्तु निष्पन्नः—ज्ञान-दर्शन-चारित्रेषु परिनिष्ठित इत्यसौ महर्द्धिकः ॥ २१०९ ॥ एनामेव निर्युक्तिगाथां भावयति—

दंसण-नाण-चरित्ते, जम्हा गच्छम्मि होइ परिवुड्ढी ।
एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्डीओ ॥ २११० ॥ 10

दर्शन-ज्ञान-चारित्राणां यस्माद् गच्छे परिवृद्धिर्भवति एतेन कारणेन गच्छो महर्द्धिको भवति ॥ २११० ॥

पुरतो व मग्गतो वा, जम्हा कत्तो वि नत्थि पडिबंधो ।
एएण कारणेणं, जिणकप्पीओ महिड्डीओ ॥ २१११ ॥

'पुरतो वा' विहरिष्यमाणक्षेत्रे 'मार्गतो वा' पृष्ठतः पूर्वविहृतक्षेत्रे यस्मात् 'कुतोऽपि' द्रव्यतः 15 क्षेत्रतः कालतो भावतो वा प्रतिबन्धस्तस्य भगवतो न विद्यते एतेन कारणेन जिनकल्पिको महर्द्धिकः ॥ २१११ ॥ अथ द्वयोरपि महर्द्धिकत्वं दृष्टान्तेन दर्शयति—

दीवा अन्नो दीवो, पइप्पई सो य दिप्पइ तहेव ।
सीसो च्चिय सिक्खंतो, आयरिओ होइ नऽन्नत्तो ॥ २११२ ॥

दीपाद् 'अन्यः' द्वितीयो दीपः प्रदीप्यते, स च मौलो दीपस्तथैव दीप्यते, एवं जिन- 20 कल्पिकदीपोऽपि गच्छदीपादेव प्रादुर्भवति, स च गच्छदीपस्तथैव ज्ञान-दर्शन-चारित्रैः स्वयं प्रदीप्यते । यद्वा यथा शिष्य एव शिक्षमाणः सन् क्रमेणाचार्यो भवति 'नान्यतः' नान्येन प्रकारेण एवं स्थविरकल्पिक एव तपःप्रभृतिभिर्भावनाभिरात्मानं भावयन् क्रमेण जिनकल्पिको भवति नान्यथा । अतो द्वावपि महर्द्धिकौ ॥ २११२ ॥

अस्यैवार्थस्य समर्थनायापरं दृष्टान्तत्रयं दर्शयितुं निर्युक्तिगाथामाह— 25

दिट्ठंतो गुहासीहे, दोन्नि य महिला पया य अपया य ।
गावीण दोन्नि वग्गा, सावेक्खो चेव निरवेक्खो ॥ २११३ ॥

दृष्टान्तोऽत्र गुहासिंहविषयः प्रथमः । द्वितीयो द्वे महिले—एका 'प्रजा' अपत्यवती द्वितीया 'अप्रजा' अपत्यविकला । तृतीयो गवां द्वौ वर्गौ—एकः सापेक्षः, अपरो निरपेक्ष इति ॥ २११३ ॥

तत्र गुहासिंहदृष्टान्तं भावयति— 30

सीहं पालेइ गुहा, अविहाडं तेण सा महिड्डीया ।
तस्स पुण जोव्वणम्मि, पओअणं किं गिरिगुहाए ॥ २११४ ॥

---

१ इयमेव भा° मो० ले० विना ॥ २ °त्रयमाह भा० कां० ॥

"अविहाडं" ति देशीभाषया बालकं सिंहं गुहा 'पालयति' वनमहिष-व्याघ्रादिभ्यो रक्षति, तन्निर्गतस्य तस्य तेभ्यः प्रत्यपायसम्भवात्; तेन कारणेन गुहा महर्द्धिका । यदा तु सिंहो यौवनं प्राप्तो भवति तदा किं तस्य प्रयोजनं गिरिगुहया? न किञ्चिदित्यर्थः, स्वयमेव वनमहिषाद्युपद्रवादात्मानं पालयितुं प्रत्यलीभूतत्वात्, इत्थं सिंहो महर्द्धिकः ॥ २११४ ॥

5 अथार्थोपनयमाह—

दव्वावइमाईसुं, कुसीलसंसग्गि-अन्नउत्थीहिं ।
रक्खइ गणीपुरोगो, गच्छो अविकोवियं धम्मे ॥ २११५ ॥

गणी—आचार्यः स पुरोगः—पुरस्सरो नायको यस्य स तथाविधो गच्छो गुहास्थानीयः सिंहशावकस्थानीयं साधुं 'धर्मे' श्रुत-चारित्रात्मके 'अविकोविदम्' अद्याप्यप्रबुद्धं द्रव्यापदि आदि-10 शब्दात् क्षेत्र-काल-भावापत्सु तथा कुशीलाः—पार्श्वस्थादयस्तैरन्यतीर्थिकैर्वा सार्द्धं यः संसर्गस्तत्र च 'रक्षति' विश्रोतसिका-प्रमाद-मिथ्यात्वाद्युपद्रवात् पालयति अतो गच्छो महर्द्धिकः । यदा त्वसौ द्विविधेऽपि धर्मे व्युत्पन्नमतिः कृतपरिकर्मा जिनकल्पं प्रतिपन्नस्तदा स्वयमेवात्मानं द्रव्यापदादिष्वपि विश्रोतसिकादिविरहितः सम्यक् परिपालयति अतो जिनकल्पिको महर्द्धिकः ॥ २११५ ॥

अथ महेलाद्वयदृष्टान्तमाह—

15 **आणा-इस्सरियसुहं, एगा अणुभवइ जइ वि बहुतत्ती ।**
देहस्स य संठप्पं, भोगसुहं चेव कालम्मि ॥ २११६ ॥
परवावारविमुक्का, सरीरसकारतप्परा निच्चं ।
मंडणए वक्खित्ता, भत्तं पि न चेयई अपया ॥ २११७ ॥

द्वयोर्महेलयोर्मध्ये 'एका' सप्रसवा यद्यपि 'बहुतप्तिः' अपत्यस्नपनादिबहुव्यापारव्यापृता तथापि 20 सा गृहस्वामिनीत्वादाज्ञैश्वर्यसुखमनुभवति, 'काले च' प्रस्तावे देहस्य 'संस्थाप्यं' संस्थापनां भोगसुखमपि च प्राप्नोति ॥ २११६ ॥

या तु 'अप्रजा' अप्रसवा सा 'परव्यापारविमुक्ता' अपत्यादिचिन्तावर्जिता 'नित्यं' सदा शरीरसंस्कारे—मुखधावनादौ तत्परा—परायणा 'मण्डनके' विलेपना-ऽऽभरणादौ व्याक्षिप्ता सती 'भक्तमपि' भोजनमपि 'न चेतयति' न संस्मरति ॥ २११७ ॥ अर्थोपनयमाह—

25 **वेयावच्चे चोयण-वारण-वावारणासु य बहूसु ।**
एमादीवक्खेवा, सययं झाणं न गच्छम्मि ॥ २११८ ॥

यथा सप्रसवायाः स्त्रियो बहुव्यापारव्यग्रता भवति तथा गच्छेऽपि यद् आचार्योपाध्यायादिवैयावृत्त्यम्, या च चक्रवालसामाचारीं हापयतो नोदना, या चाकृत्यप्रतिसेवनां कुर्वतो वारणा, याश्च बहवो वस्त्र-पात्राद्युत्पादनविषया व्यापारणाः तदेवमादिषु यो व्याक्षेपः—व्याकुलत्वं तस्मा-30 द्धेतोः 'गच्छे' गच्छवासिनां 'सततं' निरन्तरं 'ध्यानम्' एकाग्रशुभाध्यवसायात्मकमात्मनो मण्डनकल्पं न भवति । जिनकल्पिकस्य तु वैयावृत्त्यादिव्याक्षेपरहितस्य निरपत्यस्त्रिया आत्मनो मण्डनमिव निरन्तरमेव तथा तद् उपजायते यथा भोक्तुमपि स्पृहा न भवति ॥ २११८ ॥

अथ गोवर्गद्वयदृष्टान्तमाह—

सद्दूलपोइयाओ, नस्संतीओ वि णेव धेणूओ ।
मोत्तूण तण्णगाइं, दवंति सपरक्कमाओ वि ॥ २११९ ॥
न वि वच्छएसु सज्जंति वाहिओ नेव वच्छमाऊसु ।
सबलमगूहंतीओ, नस्संति भएण वग्घस्स ॥ २१२० ॥ 5

'धेनवः' अभिनवप्रसूता गावस्ताः 'शार्दूलेन' व्याघ्रेण 'पोतिताः' त्रासिताः सत्यो नश्यन्त्योऽपि 'तर्णकानि' वत्सरूपाणि मुक्त्वा 'सपराक्रमा अपि' समर्था अपि 'नैव द्रवन्ति' न शीघ्रं पलायन्ते, अपत्यसापेक्षत्वात् ॥ २११९ ॥

यास्तु "वाहिओ" बष्कयिण्यस्ता नापि वत्सकेषु 'सजन्ति' ममत्वं कुर्वन्ति, नापि 'वत्समातृषु' धेनुषु, किन्तु स्वबलमगूहमाना व्याघ्रस्य भयेन नश्यन्ति, निरपेक्षत्वात् ॥ २१२० ॥ 10

एष दृष्टान्तः । अथार्थोपनयमाह—

आयसरीरे आयरिय-बाल-वुड्ढेसु आवि सावेक्खा ।
कुल-गण-संघेसु[1] तहा, चेइयकज्जाइएसुं च ॥ २१२१ ॥

यथा धेनवस्तथा गच्छवासिनोऽप्यात्मशरीरे आचार्य-बाल-वृद्धेषु अपि च कुल-गण-सङ्घकार्येषु चैत्यादिकार्येषु च सापेक्षाः, अतः संसारव्याघ्रभयेन नश्यन्तोऽपि संहननादिबलोपेता अपि न 15 शीघ्रं पलायन्ते । जिनकल्पिकास्तु भगवन्त आत्मशरीरादिनिरपेक्षा अधेनुगाव इव स्ववीर्यमगूहमानाः संसारव्याघ्राद् निःप्रत्यूहं पलायन्ते । यद्येवं तर्हि जिनकल्पो महर्द्धिकतर इत्यापन्नम्, मैवं वादीः, ◁ निर्ज[2]निजनिरुपमगुणैरुभयोरपि तुल्यकक्षत्वात् । तथाहि—अत्यन्ताप्रमादनिष्प्रतिकर्मतादिभिर्गुणैर्जिनकल्पो महार्द्धिकः, परोपकार-प्रवचनप्रभावनादिभिश्च गुणैः स्थविरकल्पिको महर्द्धिक इति ▷ ॥ २१२१ ॥ अपि[3] च— 20

रयणायरो उ गच्छो, निप्फादओ नाण-दंसण-चरित्ते ।
एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्ढीओ ॥ २१२२ ॥

रत्नाकर इव रत्नाकरः—जिनकल्पिकादिरत्नानामुत्पत्तिस्थानं यतो गच्छो वर्त्तते, निष्पादकश्च ज्ञान-दर्शन-चारित्रेषु एतेन कारणेन गच्छो महर्द्धिकः ॥ २१२२ ॥ इदमेव भावयति—

रयणेसु बहुविहेसुं, नीणिज्जंतेसु नेव नीरयणो । 25
अतरो तीरइ काउं, उप्पत्ती सो य रयणाणं ॥ २१२३ ॥
इय रयणसरिच्छेसुं, विणिग्गएसुं पि नेव नीरयणो ।
जायइ गच्छो कुणइ य, रयणभूते बहू अन्ने ॥ २१२४ ॥

॥ मासकप्पो सम्मत्तो ॥

---

१ °घे य तहा ता० ॥ २ ◁ ▷ एतदन्तर्गतः पाठः मो० ले० पुस्तकयोरेव ॥ ३ यत आह मो० ले० विना ॥

न तरीतुं शक्यत इति 'अतरः' रत्नाकरः, स यथा बहुविधेषु रत्नेषु निष्काश्यमानेष्वपि नैव 'नीरत्नः' रत्नविरहितः कर्तुं शक्यते, कुतः ? इत्याह—यतः 'उत्पत्तिः' आकरोऽसौ रत्नानाम् । "इय" अनेनैव प्रकारेण गच्छरत्नाकरोऽपि रत्नसदृक्षेषु जिनकल्पिकादिषु विनिर्गतेष्वपि नैव नीरत्नो जायते, आचार्यादिरत्नानां सर्वदैव तत्र सद्भावात्, करोति च पश्चादपि बहूनन्यान् साधून् 5 रत्नभूतानिति गच्छो जिनकल्पिकश्च उभावपि महर्द्धिकौ इति ॥ २१२३ ॥ २१२४ ॥

॥ मासकल्पप्रकृतं समाप्तम् ॥

चूर्णि-श्रीवृद्धभाष्यप्रभृतिबहुतिथग्रन्थसार्थाभिरामा-
ऽऽरामैरादर्थप्रसूनैरुचितमवचितैः सूक्तिसौरभ्यसारैः ।
चेतःपट्टे निधाय स्वगुरुशुचिवचस्तन्तुसन्तानदृब्धैः,
10 श्रीकल्पे मासकल्पप्रकृतविवरणस्रग् मर्था निर्मितेयम् ॥

॥ ग्रन्थाग्रम्— १५६०० मूलतः ॥

॥ इति श्रीकल्पे प्रथमः खण्डः समाप्तः ॥

---

१ °म् । 'इति' अमुना प्रका° भा० ॥ २ °हुविधप्र° मो० ले० कां० ॥ ३ °माद् वाक्यप्र° मो० ले० ॥ ४ °नैस्त्वरितम° त० डे० कां० ॥ ५ °न्तुभिर्गुम्फितेयं, मो० ले० विना ॥ ६ °या भव्ययोग्या त० डे० कां० ॥

॥ अर्हम् ॥

श्रीआत्मानन्दजैनग्रन्थरत्नमालायामद्यावधि मुद्रितानां ग्रन्थानां सूची।

ग्रन्थनाम	मूल्यम्
× १ समवसरणस्तवः—तपाआचार्यश्रीधर्मघोषसूरिप्रणीतः सावचूरिकः	०—१—०
× २ क्षुल्लकभवावलिप्रकरणम्—श्रीधर्मशेखरगणिगुम्फितं सावचूरिकम्	०—१—०
× ३ लोकनालिद्वात्रिंशिकाप्रकरणम्—तपाश्रीधर्मघोषसूरिसूत्रितं सावचूरिकम्	०—२—०
× ४ योनिस्तवः—तपाश्रीधर्मघोषसूरिविरचितः सावचूरिकः	०—१—०
× ५ कालसप्ततिकाप्रकरणम्—तपाश्रीमद्धर्मघोषाचार्यनिर्मितं सटीकम्	०—१—६
× ६ देहस्थितिस्तवः—तपाश्रीधर्मघोषसूरिविहितः सावचूरिकः लघ्वल्पबहुत्वप्रकरणं सटीकं च	०—१—०
× ७ सिद्धदण्डिकाप्रकरणम्—तपाश्रीमद्देवेन्द्रसूरिसंदृब्धं सावचूरिकम्	०—१—०
× ८ कायस्थितिस्तोत्रम्—तपाश्रीकुलमण्डनसूरिसंसूत्रितं सावचूरिकम्	०—२—०
× ९ भावप्रकरणम्—श्रीविजयविमलगणिविनिर्मितं स्वोपज्ञावचूर्ण्या समलङ्कृतम्	०—२—०
×१० नवतत्त्वप्रकरणम्—उपकेशगच्छीयाचार्यश्रीदेवगुप्तसूरिविहितं नवाङ्गी-वृत्तिकारश्रीमदभयदेवाचार्यप्रणीतेन भाष्येण श्रीयशोदेवोपाध्यायसूत्रितेन विवरणेन च विभूषितम् नवतत्त्वप्रकरणं मूलमात्रं च	०-१२-०
×११ विचारपञ्चाशिका—श्रीजयविमलगणिगुम्फिता स्वोपज्ञावचूर्या समेता	०—२—०
×१२ परमाणुखण्डषट्त्रिंशिका पुद्गलषट्त्रिंशिका निगोदषट्त्रिंशिका च—श्रीरत्नसिंहसूरिविहितयाऽवचूर्या सहिता	०—३—०
×१३ बन्धषट्त्रिंशिका—श्रीविजयविमलगणिप्रणीतयाऽवचूर्या समेता	०—२—०
×१४ श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणं सावचूरिकम्—	
×१५ देववन्दन-गुरुवन्दन-प्रत्याख्यानभाष्यम्—तपाश्रीमद्देवेन्द्रसूरिविहितं तपाश्रीसोमसुन्दरसूरिविनिर्मितयाऽवचूर्योपेतम्	०—५—०
×१६ सिद्धपञ्चाशिकाप्रकरणम्—तपाश्रीमद्देवेन्द्रसूरिसूत्रितं सावचूरिकम्	०—२—०
×१७ अन्नायउञ्छकुलकम्—श्रीआनन्दविजयगणिकृतयाऽवचूर्या सहितम्	०—२—०
×१८ विचारसप्ततिकाप्रकरणम्—श्रीमन्महेन्द्रसूरिसङ्कलितं श्रीविनयकुशल-प्रणीतया वृत्त्या समेतम्	०—३—०
×१९ अल्पबहुत्वविचारगर्भो महावीरस्तवः—समयसुन्दरगणिगुम्फितया स्वोपज्ञावचूर्योपेतः महादण्डकस्तोत्रं च सावचूरिकम्	०—२—०
×२० पञ्चसूत्रम्—याकिनीमहत्तरासूनुआचार्यश्रीहरिभद्रविनिर्मितया टीकयोपेतम्	०—६—०
×२१ जम्बूस्वामिचरितम्—श्रीजयशेखरसूरिप्रणीतं संस्कृतपद्यबन्धनम्	०—४—०
×२२ रत्नपालनृपकथानकम्—वाचनाचार्यसोममण्डननिर्मितं संस्कृतपद्यबन्धनम्	०—५—०
२३ सूक्तरत्नावली—श्रीमद्विजयसेनसूरिप्रणीता	०—४—०
२४ मेघदूतसमस्यालेखः—श्रीमन्मेघविजयोपाध्यायविनिर्मितः मेघदूतमहा-काव्यचतुर्थचरणसमस्यापूर्तिरूपः	०—४—०

ग्रन्थनाम	मूल्यम्
२५ चेतोदूतम्—मेघदूतमहाकाव्यचतुर्थचरणसमस्यापूर्तिरूपम्	०—४—०
×२६ पर्युषणाष्टाह्निकाद्यदिनत्रयव्याख्यानम्—श्रीविजयलक्ष्मीसूरिप्रणीतम्	०—६—०
×२७ चम्पकमालाकथा—श्रीमद्भावविजयगणिगुम्फिता संस्कृतपद्यमयी	०—६—०
×२८ सम्यक्त्वकौमुदी—श्रीमज्जिनहर्षगणिग्रथिता संस्कृतपद्यात्मका	०-१२-०
×२९ श्राद्धगुणविवरणम्—श्रीजिनमण्डनगणिप्रणीतम्	१—०—०
×३० धर्मरत्नप्रकरणम्—श्रीशान्त्याचार्यप्रणीतं स्वोपज्ञटीकोपेतम्	०-१२-०
×३१ कल्पसूत्रम्—दशाश्रुतस्कन्धस्याष्टममध्ययनं श्रीमद्विनयविजयोपाध्याय-विरचितया सुबोधिकाख्यया टीकया समेतम्	०—०—०
×३२ उत्तराध्ययनसूत्रम्—श्रीभावविजयगणिसङ्कलितया वृत्त्योपेतम्	५—०—०
×३३ उपदेशसप्ततिका—श्रीसोमधर्मगणिप्रणीता	०-१३-०
×३४ कुमारपालप्रबन्धः—श्रीमज्जिनमण्डनगणिप्रणीतो गद्यपद्यबन्धः	१—०—०
×३५ आचारोपदेशः—श्रीमच्चारित्रसुन्दरगणिविनिर्मितः	०—३—०
×३६ रोहिण्यशोकचन्द्रकथा—	०—२—०
×३७ गुरुगुणषट्त्रिंशत्षट्त्रिंशिकाकुलकम्—श्रीरत्नशेखरसूरिप्रणीतं स्वोपज्ञ-दीपिकाख्यया व्याख्यया युतम्	०-१०-०
×३८ ज्ञानसाराष्टकानि—न्यायविशारद-न्यायाचार्यश्रीमद्यशोविजयोपाध्याय-विहितानि श्रीमद्देवचन्द्रजिद्भिर्निर्मितया ज्ञानमञ्जर्याख्यया व्याख्ययोपेतानि	१—४—०
×३९ समयसारप्रकरणम्—श्रीमद्देवानन्दाचार्यप्रणीतं स्वोपज्ञटीकासमलङ्कृतम् नवतत्त्वस्वरूपवर्णनात्मकम् समयसारप्रकरणमूलं च	०-१०-०
×४० सुकृतसागरमहाकाव्यम्—श्रीरत्नमण्डनविनिर्मितं पेथडझाञ्झणचरितम्	०-१२-०
×४१ धम्मिल्लकथा—	०—२—०
×४२ प्रतिमाशतकम्—न्यायविशारदन्यायाचार्यश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविहितं श्रीभावप्रभसूरिकृतया टीकया सहितम्	०—८—०
×४३ धन्यकथानकम्—श्रीदयावर्धनप्रणीतं संस्कृतपद्यात्मकम्	०—२—०
×४४ चतुर्विंशतिजिनस्तुतिसङ्ग्रहः—श्रीशीलरत्नसूरिविनिर्मितः	०—६—०
×४५ रौहिणेयकथानकम्—	०—२—०
×४६ लघुक्षेत्रसमासप्रकरणम्—श्रीरत्नशेखरसूरिप्रणीतं स्वोपज्ञटीकोपेतम्	१—०—०
×४७ बृहत्सङ्ग्रहणी—श्रीमज्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रणीता आचार्यश्रीमलयगिरि-पूज्यविहितया टीकया समेता बृहत्सङ्ग्रहणीमूलं च	२—८—०
×४८ श्राद्धविधिः—श्रीरत्नशेखरसूरिसूत्रितः स्वोपज्ञवृत्तियुतः	२—७—०
×४९ षड्दर्शनसमुच्चयः—श्रीहरिभद्रसूरिप्रणीतः श्रीगुणरत्नसूरिकृतया टीकयोपेतः	३—०—०
×५० पञ्चसङ्ग्रहः—श्रीचन्द्रर्षिमहत्तरसूत्रितः श्रीमलयगिरिप्रणीतया टीकया सहितः	३—८—०
×५१ सुकृतसङ्कीर्तनमहाकाव्यम्—पण्डितश्रीअरिसिंहविरचितं प्रतिसर्गं श्रीअमर-चन्द्रकविविनिर्मितश्लोकचतुष्कयुतं महामात्यश्रीवस्तुपालतेजःपालचरितात्मकम्	०—८—०

ग्रन्थनाम | मूल्यम्

×५२ चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रन्थाः— २–८–०

१ कर्मविपाकः—गर्गर्षिमहर्षिप्रणीतः पूर्वाचार्यप्रणीतया व्याख्यया श्रीपरमानन्दसूरिसूत्रितया टीकया चोपेतः

२ कर्मस्तवः—श्रीगोविन्दाचार्यविरचितया टीकयोपेतः

३ बन्धस्वामित्वम्—बृहद्गच्छीयाचार्यहरिभद्रकृतया टीकया समेतम्

४ आगमिकवस्तुविचारसारप्रकरणम्—षडशीतिरित्यपरनामकं श्रीमज्जिनवल्लभगणिप्रणीतम् आचार्यश्रीमलयगिरिपादविहितया बृहद्गच्छीयाचार्यहरिभद्रकृतया च टीकया सहितम् चत्वारः कर्मग्रन्था मूलमात्राः कर्मस्तवभाष्यद्वयं षडशीतिभाष्यं च

×५३ सम्बोधसप्ततिका—नागपुरीयतपागच्छीयश्रीरत्नशेखरसूरिसङ्कलिता श्रीगुणविनयवाचकप्रणीतया व्याख्यया समलङ्कृता ०–१०–०

×५४ कुवलयमालाकथा—श्रीरत्नप्रभसूरिप्रणीता आचार्यदाक्षिण्याङ्कसूत्रितप्राकृतकथानुसारिणीसंस्कृतभाषात्मका गद्यपद्यमयी १–८–०

×५५ सामाचारीप्रकरणम् आराधकविराधकचतुर्भङ्गीप्रकरणं च—एतद्द्वयमपि न्यायविशारदन्यायाचार्यश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविनिर्मितं स्वोपज्ञटीकोपेतम् ०–८–०

×५६ करुणावज्रायुधं नाटकम्—श्रीबालचन्द्रसूरिप्रणीतम् ०–४–०

×५७ कुमारपालचरित्रमहाकाव्यम्—श्रीचारित्रसुन्दरगणिप्रणीतं संस्कृतपद्यमयम् ०–८–०

×५८ महावीरचरियं—श्रीनेमिचन्द्रसूरिविनिर्मितं प्राकृतं पद्यबन्धं च १–०–०

×५९ कौमुदीमित्राणन्दरूपकम्—प्रबन्धशतकर्तृश्रीरामचन्द्रसूरिप्रणीतम् ०–६–०

×६० प्रबुद्धरौहिणेयं नाटकम्—श्रीरामभद्रसूरिसूत्रितं प्रकरणम् ०–५–०

×६१ धर्माभ्युदयं छायानाटकं सूक्तावली च—एतद्द्वितयमपि श्रीमेघप्रभाचार्यकृतम् ०–४–०

×६२ पञ्चनिर्ग्रन्थीप्रकरणं प्रज्ञापनोपाङ्गतृतीयपदसङ्ग्रहणी च—एतद्द्वितयमपि नवाङ्गीवृत्तिकारश्रीमदभयदेवाचार्यसंसूत्रितं सावचूरिकम् ०–६–०

×६३ रयणसेहरीकहा—श्रीजिनहर्षगणिप्रणीता प्राकृतभाषामयी गद्यपद्यात्मका ०–६–०

६४ सिद्धप्राभृतं सटीकम्— ०–१०–०

×६५ दानप्रदीपः—महोपाध्यायश्रीचारित्ररत्नगणिगुम्फितः संस्कृतपद्यात्मकः २–०–०

×६६ बन्धहेतूदयत्रिभङ्ग्यादीनि प्रकरणानि सटीकानि ०–१०–०

१ बन्धहेतूदयत्रिभङ्गीप्रकरणम्—श्रीहर्षकुलगणिप्रणीतं श्रीविजयविमलगणिविरचितविवरणोपेतम्

२ जघन्योत्कृष्टपदे एककालं गुणस्थानकेषु बन्धहेतुप्रकरणं सटीकम्

३ चतुर्दशजीवस्थानेषु जघन्योत्कृष्टपदे युगपद्बन्धहेतुप्रकरणं सटीकम्

४ बन्धोदयसत्ताप्रकरणम्—श्रीमद्विजयविमलगणिविहितं सावचूरिकम्

६७ धर्मपरीक्षा—श्रीजिनमण्डनगणिप्रणीता १–०–०

×६८ सप्ततिशतस्थानकप्रकरणम्—बृहत्तपागच्छीयश्रीसोमतिलकसूरिनिर्मितं राजसूरिगच्छीयश्रीदेवविजयविरचितया वृत्त्या समेतम् १–०–०

× एतच्चिह्नाङ्किता ग्रन्था: सम्प्रति न विद्यन्ते ।

मुद्र्यमाणा ग्रन्थाः